❀ श्री परमात्मने नमः ❀

श्री योगवाशिष्ठ–भाषा की विषयानुक्रमणिका।

वैराग्य–प्रकरण

—:❀:—

❀ इति समाप्त ❀

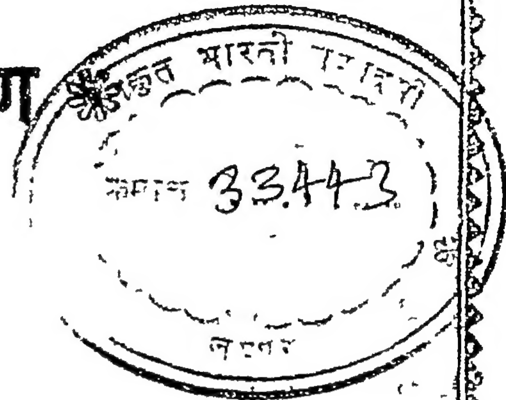


श्रीगणेशायनमः

योगवाशिष्ठ—भाषा

-:-❀-:-

❀ वैराग्य—प्रकरण ❀



पहला सर्ग

-:-❀-:-

कथारम्भ वर्णन

सर्व प्रथम उस आनन्द रूप आत्मा को नमस्कार है कि जिसके कारण यह सारा जगत भासमान होता हुआ फिर उसी में लीन हो जाता है। वह आत्मा ज्ञान का रूप है। उसी से ज्ञाता, ज्ञान ज्ञेय और कर्ता, करण, क्रिया सिद्ध होते हैं। इस कारण सत्यरूप आत्मा को नमस्कार है। उस आत्मानन्द रूपी समुद्र के कारण ही वह सारा संसार आनन्दित है और उसीसे यह समस्त जीव जीवित हैं। अतः उस आत्मा को बारम्बार नमस्कार है।

महर्षि अगस्त्य के शिष्य का नाम सुतीक्ष्ण था। एक समय सुतीक्ष्ण के मनमें मोक्ष सम्बन्धी कोई शङ्का उत्पन्न हुई। तब वह उसकी निवृत्ति के लिये अपने गुरु अगस्त्यजी के आश्रम पर गये। देखा तो गुरु महाराज ध्यानावस्थित विराजमान हैं। सुतीक्ष्ण ने निकट पहुंच कर उन्हें विधिपूर्वक प्रणाम किया। तब अगस्त्यजी ने आशीर्वाद देकर सुतीक्ष्ण को अपने निकट बैठाते हुये पूछा-कहो सुतीक्ष्ण ! कैसे आयेहो?

सुतीक्ष्ण ने नम्र भाव से कहा- भगवन ! मुझे एक शङ्का उत्पन्न होगई है।आप सर्व-शास्त्र- विशारद और तत्वज्ञाता हैं। अतः कृपाकर मेरी शङ्का निवृत्त करें। मुझे शङ्का यह है कि मोक्ष का कारण केवल

कर्म है या ज्ञान भी है अथवा दोनों हैं ? जो मोक्ष का वास्तविक कारण हो, वह कहिये।

अगस्त्यमुनि बोले—हे ब्रह्मन्! न तो केवल कर्म ही मोक्षका कारण है और न केवल ज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है। मोक्ष प्राप्तिके लिये तो दोनों ही आवश्यक हैं। कर्म से अन्तःकरण शुद्ध होता है और अन्तःकरण शुद्ध होने से ज्ञान की उत्पत्ति होती है और जब ज्ञान स्थित हो जाता है तब मोक्ष आप ही आप सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार बिना ज्ञानके उत्पन्न और स्थित हुये, मोक्षकी सिद्धि नहीं होती। और उसी प्रकार कर्म रहित ज्ञान से भी उसकी सिद्धता नहीं होती। अतः मोक्ष के लिये कर्म और ज्ञान दोनों का ही आश्रय लेना चाहिए। इसपर एक प्राचीन इतिहास है, ध्यान देकर सुनो।

हे सुतीक्ष्ण! अग्निवेश ऋषिके 'कारण' नामका एक शिष्य था, जो उनके निकट रह कर चारों वेदों और छःहों शास्त्रों का अध्ययन करता था। जब अध्ययन समाप्त कर चुका, तब वह अपने घर गया। घर जाने पर उसे यह शङ्का हो गई कि कर्म करना व्यर्थ है। इससे वह कर्म से रहित हो संशय युक्त मौन धारण कर घरमें रहने लगा।

एक दिन अग्निवेश जी वहां जा पहुंचे। देखा तो शिष्यकी विचित्र अवस्था है। उन्होंने पूछा—हे पुत्र! यह क्या है, तू कर्म का पालन क्यों नहीं करता है। बिना कर्म के तुझे सिद्धियां कैसे प्राप्त होंगी ? बतला, तू किस कारण कर्म से विस्मृत हो रहा है ?

अग्निवेश जी के ऐसा पूछने पर कारण ने कहा—हे पिताजी! मेरे मौनावलम्बका कारण यह है कि वेद के एक स्थान में यह लिखा हुआ है कि जब तक जीवित रहे तब तक (जीवन पर्यंत) अग्निहोत्रादिक यज्ञादि के समस्त कर्मों को करता ही रहे और दूसरे स्थान में यह लिखा है कि न तो कर्म करने से ही मोक्ष होता है और न धन से, न पुत्र आदिक और न केवल त्याग से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। तब इन दोनों में मुझे क्या कर्तव्य है, कृपाकर मेरी शङ्का को दूर कीजिये।

अगस्त्य जी बोले–हे सुतीक्ष्ण ! जब कारण ने पिता से ऐसे कहा तब उसका वचन सुनकर अग्निवेश ऋषि ने कहा–हे पुत्र ! इस सम्वाद में एक प्राचीन कथा है, जो मुझ से सुनकर अपने हृदय में धारण कर लो। फिर तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसी करना।

प्राचीनकाल में सब अप्सराओं में श्रेष्ठ एक सुरुचि नाम की अप्सरा थी। एक समय वह हिमालय पर्वत पर बैठी हुई क्या देख रही थी कि आकाश मार्ग से इन्द्र का दूत आरहा है। जब वह निकट आ गया, तब अप्सरा ने कहा–हे देवदूत ! तुम कहां से आ आ रहे हो और अब कहां जाओगे, कृपाकर मुझको बतलाओ।

देव दूत ने कहा–हे सुभद्रे ! अरिष्टनेमि नाम के एक राजर्षि थे जो अपने पुत्र को राज्य देकर समस्त विषयों को त्याग, वैराग्य धारण कर गंधमादन पर्वत पर तपस्या करने चले गये हैं। उनसे मेरा एक कार्य था। उसी के लिये, उनके पास गया था। सो कार्य हो गया, अब इन्द्र के पास लौट जाता हूँ।

अप्सरा ने कहा–हे दूत ! वह कौनसा कार्य था, क्या मैं उसे सुन सकती हूँ? मुझे तुम बहुत प्रिय लगते हो, इसी कारण पूछती हूँ। फिर जो सज्जन पुरुष हैं, वे प्रश्नकर्त्ता का उत्तर उद्वेग रहित होकर अवश्य देते हैं। इससे तुम मुझे सारा वृत्तान्त बतलाओ?

देवदूत ने कहा–हे सुभद्रे ! राजा अरिष्टनेमि ने गन्धमादन पर्वत पर ऐसा घोर तप किया है कि जिसे देखकर देवराज इन्द्र बहुत प्रसन्न हुये हैं और उन्होंने उनको स्वर्ग में बुलाने के लिये मुझे भेजा था। परन्तु वे ऐसे कठिन तपस्वी हैं कि जब मैंने उनके निकट पहुंचकर देवराज की आज्ञा सुनाई तब उन्होंने रथारूढ़ हो स्वर्ग आने के स्थान में मुझसे यह प्रश्न किया कि पहिले यह बतलाओ कि तुम्हारे स्वर्ग में क्या गुण हैं और क्या दोष हैं, फिर मेरी इच्छा होगी तो मैं चलूंगा और नहीं तो नहीं जाऊँगा। तब मैंने उनसे कहा–हे राजन् ! स्वर्ग में बड़े-बड़े दिव्य भोग हैं, सो बड़े पुण्य से ही जीवको उनकी प्राप्ति होती

है। बड़े पुण्य वालों को स्वर्ग का उत्तम सुख, और मध्यम पुण्य वालों को मध्यम तथा कनिष्ठ पुण्य वालों को स्वर्ग के कनिष्ठ सुख प्राप्त होते हैं उसी प्रकार जो एक दूसरे से उच्च-स्थान पर विराजमान रहते हैं, उन्हें देखकर दूसरे ईर्ष्या की आंच में तपते हैं अर्थात उनको ताप उत्पन्न होता है और जो अपने समान सुख भोगते हैं, उनको देखकर यह क्रोध उत्पन्न होता है कि ये मेरे समान कैसे बैठे हैं? और जो अपने से नीचे बैठे रहते हैं, उनको देखकर अपने को यह अभिमान होता है कि मैं इतना श्रेष्ठ हूं। हे राजन्! यह सब दोष तो है ही, साथ ही वहाँ एक दोप यह भी है कि जब जिस जीव का पुण्य क्षीण हो जाता है तब वह उसी समय मृत्युलोक में गिरा दिया जाता है और वहां एक क्षण भी नहीं रहने पाता।

हे सुभद्रे। जब राजर्षि से मैंने ऐसा कहा, तब उन परमनिष्ट ने मुझसे कहा—हे दूत। मैं तुम्हारे उस स्वर्ग के योग्य नहीं हूँ, और न वहाँ चलने की मेरी इच्छा ही है। क्योंकि अब तो मैंने उग्रतप करके इस शरीर को त्याग देने का ही निश्चय किया है सो, जैसे सर्प अपनी मणि को पुरानी समझ कर त्याग देता है, वैसे ही मैं भी त्याग कर दूंगा। इस कारण हे दूत! तुम जहाँसे विमान लेकर आयेहो, वहीं को लौट जाओ। मैं तुम्हारे इस विमान को नमस्कार करता हूँ।

हे सुभद्रे। जब राजा ने मुझसे ऐसा कहा, तब मैंने जाकर देवराज इन्द्र से उनका समाचार सुनाया उसे सुनकर इन्द्रने मुझे फिर आज्ञा दी कि अब विमान लेकर तुम फिर उनके पास जाओ और कहो कि आत्मज्ञान की शिक्षा लेने के लिये बाल्मीकि मुनिके पास चलो, क्योंकि बाल्मीक जी बड़े ज्ञानी और आत्मदर्शी हैं। हे सुभद्रे! तब इन्द्र की आज्ञा से मैं फिर राजा अरिष्टनेमि के पास गया और उन्हें विमान पर बिठाकर बाल्मीक जी के पास पहुंचा और उनसे इन्द्र का सन्देशा सुनाया। तब अरिष्टनेमि ऋषि को अपने पास बिठाकर बाल्मीकजी ने उनकी कुशल पूछी। अरिष्टनेमि ने कहा—भगवन!

आपकी कृपा से सब कुशल हैं। हे मुनिश्रेष्ठ? आप का दर्शन होते ही मेरा सब प्रकार से कल्याण हुआ-ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है। हे प्रभो? मैं आपकी सेवा में कुछ निवेदन करने आया हूँ। सो कृपा कर बतलाइये कि संसार-बन्धन से मुक्ति कैसे प्राप्त होती है?

वाल्मीकि जी ने कहा-हे राजन्। इसके उत्तर में मैं तुम्हें उस रामायण की कथा सुनाता हूँ कि जिसको श्रवण करने और यत्न पूर्वक उसका तात्पर्य हृदय में धारण करने से तुम्हारा यह जीव मुक्त होकर विचरण करेगा। वह कथा 'महारामायण-शास्त्र' की है। महा-रामायण में श्री वशिष्ठजी और श्रीरामचन्द्रजी का पारस्परिक सम्वाद है। उस सम्वाद में जहां देखो, मोक्ष का ही उपाय भरा हुआ है। उस पारस्परिक सम्वाद से ही श्रीरामजी ने अपने स्वभाव में स्थित हो जीवन मुक्त होकर विचरण किया है। अब उसी प्रकार तुम भी उससे लाभ उठाओगे।

राजर्षि अरिष्टनेमि ने कहा-हे भगवन्। रामचन्द्रजी कौन थे और कैसे थे तथा किस प्रकार उन्होंने विचरण किया है, सो कृपाकर कहिये?

बाल्मीकिजी बोले-हे राजन्। जो विष्णु भगवान ने शापके वशीभूत होकर मानव शरीर धारण किया था, वही रामचन्द्र थे।

राजा ने कहा-हे प्रभो! जो चिदानन्द भगवान हैं, उनको शाप किस कारण हुआ और किसने शाप दिया था?

वाल्मीक जी बोले-हे राजन्! एक समय जबकि सनत्कुमार जी ब्रह्मसभा में बैठे थे कि अपने स्थान से उतर कर वहाँ विष्णु भगवान आये। तब उनको देखकर समस्त ब्रह्मसभा के लोगों ने उनका पूजन किया। परन्तु सनत्कुमार जी ने उनकी पूजा नहीं की तब उनको ऐसे देख कर विष्णु जी ने कहा-हे सनत्कुमार। मुझे ज्ञात होता है कि तुम्हें अपनी निष्कामता पर बड़ा अभिमान है। अतः मैं तुम्हें शाप देता हूँ कि समय आने पर तुम कामके वशीभूत हो जाओगे और स्वामिकार्तिक तुम्हारा नाम होवेगा। तब विष्णुजीके ऐसा कहने

पर सनत्कुमार ने कहा-हे विष्णु! इधर भी यह ज्ञात होता है कि तुम्हें अपनी सर्वज्ञता का अभिमान है, सो मैं भी कहता हूँ कि समय आने पर तुम्हारी यह सर्वज्ञता नष्ट होवेगी और तुम अज्ञानी हो जावोगे।

हे राजन्! एक तो विष्णुजी को यह शाप हुआ, दूसरे एक समय में भृगुजी की स्त्री कहीं चली जा रही थी कि जिससे भृगु ऋषि तपायमान हो रहे थे, तव उनको देखकर विष्णु जी हँसे थे जिससे क्रोधित होकर उस भृगु ब्राह्मण ने उनको ऐसा शाप दिया था कि हे विष्णु! जिस प्रकार मुझे स्त्री-वियोग से दुखी देख तुमने मेरी हँसी की है, उसी प्रकार समय आवेगा, कि जब तू भी मेरे ही समान स्त्री-वियोग से महान दुखी होवेगा।

इसके अतिरिक्त जब एक दिन देवशर्मा ऋषि की पत्नी गङ्गा के तट पर स्नान करने गई थी, तब वहाँ विचरते हुये नरसिंह भगवान ने उसे देखकर अपना भयानक रूप प्रगट करके ऐसे हँस दिया था कि उन्हें देखकर ऋषि-पत्नी ने भय के मारे अपना प्राण त्याग कर दिये। तब देवशर्मा ने विष्णुजी को ऐसा शाप दिया कि तुमने मेरी स्त्री का वियोग किया है-इससे तुम भी मेरे ही समान स्त्री का वियोग पाओगे। बस, इन्हीं शापों के कारण अब विष्णु भगवान को मनुष्य शरीर धारण कर राजा दशरथ के घर जन्म लेना पड़ा है। हे राजन्! जो इस प्रकार उन्होंने शरीर धारण किया और आगे जो वृतांत हुआ है, वह सावधान होकर सुनो। हे राजन्! यह जो देवलोक, भूलोक और पाताल लोक सहित त्रिलोकी का प्रकाश हो रहा है और जो भीतर बाहर सर्वत्र आत्मसत्ता से परिपूर्ण है, वह मेरा आत्मा ही है। मैं उस अणुमात्मक सर्वात्मा को नमस्कार करता हूँ।

हे राजन्! मेरे इस शास्त्र-रचना का विषय क्या है, प्रयोजन क्या है और इसका क्या सम्बन्ध है और इसके श्रवण करने का अधिकारी कौन है-अब इस प्रश्न का उत्तर सुनो? देखो, इसका विषय यहहै कि जो आत्मा सच्चिदानन्दरूप, अचिन्त्य और चिन्मात्र

रूप में उसको ब्रह्म, भिन्न क्यों प्रकट करता है? और उस परमानन्द रूप आत्मा की प्राप्ति कैसे होती है और जीव उस आत्मा में अनात्मा करके कैसे अभिमान जनित दुख उत्पन्न कर लेता है और उसकी निवृत्ति कैसे होगी—यहीं इस शास्त्र का प्रयोजन है इसका सम्बन्ध यह है कि यह शास्त्र ब्रह्म विद्या द्वारा मोक्ष का उपाय बतलाते हुये आत्मपद का प्रतिपादक है जो यह समझता हो कि मैं अद्वैत ब्रह्म होते हुये भी इस अनात्म शरीर के साथ बँधा हुआ हूँ, सो किस प्रकार छूटूँगा-ऐसा जो विकृति आत्मावाला जिज्ञासु है, वही इस शास्त्र का अधिकारी है।

अतः इस शास्त्र में बतलाये हुये मोक्ष-उपाय से निश्चय ही परमानन्द की प्राप्ति हो जावेगी। जो पुरुष इस पर विचार करेंगे वे निश्चय ही ज्ञानवान होकर आवागमन से मुक्त हो जावेंगे। हे राजन्! इस पवित्र शास्त्र का नाम 'महारामायण' है। इसके श्रवण करने से मनुष्य के समस्त पापों का नाश होजाता है। क्योंकि इसमें 'राम-कथा' का वर्णन है। इसको मैंने सबसे पहले अपने भारद्वाज नामक शिष्य को सुनाई थी और भारद्वाज ने सुमेरु पर्वत पर जाकर इस पवित्र कथा को ब्रह्माजी से कहा था। उसे सुनकर ब्रह्माजी बहुत प्रसन्न हुये और कहा—हे भारद्वाज! मैं तुझपर प्रसन्न हूँ, कुछ वर मांग। भारद्वाज ने कहा—भगवन्! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, तो कृपा कर यह वर दीजिये कि जो सम्पूर्ण जीव संसार से दुखी हैं, मुक्त होकर परमपद को पावें।

इस पर ब्रह्मा जी ने कहा—हे पुत्र! इसके लिये तू वाल्मीकि जी के पास जा। क्योंकि आज कल वे 'महारामायण' नामक आत्म-बोधरूपी ऐसे आनिन्दित शास्त्र का प्रणयन कर रहे हैं कि जिसे श्रवण कर जीव महामोहजनित रूपी संसार-समुद्र से तर जावेंगे।

वाल्मीकिजी ने कहा—हे राजन्! भारद्वाज को ऐसा कह कर उसे साथ लिये हुये ब्रह्माजी मेरे आश्रम में चले आये। मैंने उनका

सविधि पूजन किया और पदार्घ्य देकर एक उत्तम आसन पर बिठाया। तब ब्रह्मा जी ने मुझसे कहा– हे मुनियों में श्रेष्ठ महर्षि बाल्मीक! आप जो इस महाशास्त्र में राम के स्वभाव का कथन कर रहे हैं उस उद्यम का कभी त्याग न कीजियेगा और जहाँ तक हो, इसे आदि से अन्त पर्यन्त समाप्त करके ही लेखनी को विश्राम दीजियेगा। क्योंकि यह मोक्षदायक शास्त्र संसार रूपी समुद्र को पार करने के लिये जहाज रूप है और इसके द्वारा संसार के सभी जीव कृतार्थ होवेंगे। यह कह कर ब्रह्मा जी चले गये। भारद्वाज वहीं बैठे रहे।

तब दो-एक प्रश्नों के अनन्तर वाल्मीकिजी ने भारद्वाज के आगमन का कारण पूछा। भारद्वाज ने कहा–हे भगवन्! मैं आप की सेवा में इसलिये उपस्थित हुआ हूँ कि आप मुझे यह बताइये कि मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी ने किस प्रकार जीवन मुक्त होकर विचरण किया है। मैं उस कथा को आदि से अन्त पर्यन्त सुना चाहता हूँ। आप त्रिकालदर्शी हैं, सो क्रम पूर्वक मुझे वह समस्त कथा सुना दीजिये।

बाल्मीकि जी बोले– हे भारद्वाज। एक राम ही क्यों? राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता, कौशिल्या, सुमित्रा और दशरथ ये आठों ही जीवन मुक्त हुये हैं। इनके अतिरिक्त कुन्तभासी, शतवर्धन सुखधाम, विभीषण, इन्द्रजीत, हनुमान, वशिष्ठ और बामदेव आदिक ये आठ मंत्री भी जीवन्मुक्त होकर निशङ्क चेष्टा कर गये हैं। उनको स्वप्न में भी स्वरूप से किसी द्वैतभाव की फुरना नहीं हुई है। वे सर्वदा ही चिन्मात्र और अनामय पद में स्थित रहते हुये परम पावनता को प्राप्त हुये हैं।

श्री योगवाशिष्ठ–वैराग्य–प्रकरण का पहला सर्ग समाप्त ॥ १ ॥

दूसरा सर्ग

❀-::-❀-::-❀

वासनाविवेचन-रामतीर्थाटन ।

भारद्वाज बोले-हे भगवन ! उस जीवन्मुक्त पद की स्थिति कैसी है कि जिसमें स्थित होने से रामजी जीवन्मुक्त हुये । कृपा कर अब उसे आदि से अन्त तक मुझे बतलाइये ।

वाल्मीकिजी कहने लगे-हे भारद्वाज ! यह सारा जगतजो भास रहा है, सो वास्तविक में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है, केवल अविचार के कारण ही इसकी प्रतीति होती है, अन्यथा विचार पूर्वक देखने से तो यह निवृत्त होजाता है। जैसे भ्रमके कारण ही आकाशमें नीलता भासती है और विचार करके देखा जाय तो उस नीलता की प्रतीति दूर होजाती है, वैसे ही विचार करने से यह जगत लीन हो जाता है। अतः परमपद की प्राप्ति के लिये सृष्टि का अभाव नितान्त आवश्यक है। जब तक हृदय में सर्वतोभाव से सृष्टि का अभाव नहीं होता, तब तक परमपद नहीं प्राप्त होता । परन्तु ज्योंही दृश्याभाव होजाता है कि झट उसी समय शुद्ध आत्मसत्ता भासने लगती है। यद्यपि कितने ही लोग ऐसे हैं कि जो महाप्रलय में भी दृश्यों का अभाव कदाचितही मानते है तथापि मैं तुम्हें तीनों काल का ही अभाव बतलाता हूँ। देखो, मेरा यह शास्त्र समस्त शास्त्रों में युक्त है। जो इसे श्रद्धा सहित आदि से लेकर अन्त तक श्रवण करके अपने हृदय में धारण करेगा, वह समस्त आपत्तियों से निवृत हो उस अव्यावृत पद को प्राप्त होवेगा कि जिसे तुम पूछ रहे हो। हे पुत्र! जब यह सब प्रकार से सिद्ध हो चुका है कि संसार केवल भ्रम मात्र है, तब इसको ऐसा ही समझकर विस्मरण करना चाहिये और जो इसका विस्मरण करना है, वही मुक्ति है। क्योंकि वासना ही तो

न्धनों का कारण और वासना ही के कारण तो यह जीव भटकता फिरता है? यदि वासनाका क्षयहो जाये तो परमपद की प्राप्तिहो जावे। वासना भी क्या है? वासना एक पुतला है और उसका नाम मन है। जैसे जल ठंडक की दृढ़ जड़ता को पाकर बरफ होजाता है और सूर्य के ताप से पिघल कर फिर शुद्ध जल होजाता है, वैसे ही इन आत्मरूपी जलमें संसार की सत्यतारूपी दृढ़ जड़ता लगी हुई है कि जिसके कारण उसमें (आत्मा में) मन रूपी बरफ का पुतला उत्पन्न हो गया है-इस कारण अब उसे (आत्मा को) संसार की सत्यता रूपी जड़ता और शीतलता ने आच्छादित कर लिया है। सो जब तक ज्ञानरूपी सूर्य का उदय न होवेगा-आत्मा कभी निर्मल नहीं हो सकता। जब ज्ञानरूपी सूर्य उदय होवेगा तब यह आपही आप निर्मल होजावेगा। इस प्रकार मन के कष्ट होते ही प्राणी का कल्याण होकर वह समस्त बन्धनों से छूट जाता है। क्योंकि वासना ही तो बन्धन में जकड़े हुये है।

हे भारद्वाज! वासना दो प्रकार की होती है। एक शुद्ध और दूसरी अशुद्ध। शुद्ध वासना योगियों की होती है। क्योंकि उनके जगत का अत्यन्ताभाव रहता है और वह सब कुछ करते हुये भी सबसे पृथक रहते हैं। परन्तु अज्ञानी ऐसा नहीं करते। उनका निश्चय अथवा उनकी वासना जन्म-मरण का कारण होती है। क्योंकि वे सर्वदा ही उसे अपने हृदय में धारण किये रहते हैं। परन्तु ज्ञानी ऐसा नहीं करते। यद्यपि पंचभौतिक शरीर दोनों का ही समान है, तथापि उनमें भेद यह है कि जैसे बीज एक ही होता है परन्तु कच्चा बीज फिर उगता है और भुना बीज नहीं उगता। इसी प्रकार अज्ञानीकी वासना है। उसकी वासना रससहित होने से जन्म-मरण का कारण होती है और अज्ञानी की वासना रसरहित होने से जन्म का कारण नहीं होती और उसकी सारी चेष्टायें स्वाभाविक गुणों से युक्त होती हैं और वह किसी अन्य गुणों में मिलकर अपनी चेष्टा नहीं

करता। वह खाता, पीता, देता, लेता और बोलता, चालता आदिक सब व्यवहारों को यथाविधि करता हुआ भी सर्वदा ही अद्वैत भाव को धारण किये रहता है और उसको कदाचित भी द्वैतभाव की फुरना नहीं होती। वह सर्वदा ही स्वभाव में स्थित रहता है। इस कारण निर्गुण और रूपरहित होने से उसकी चेष्टा आवागमन का कारण नहीं होती। परन्तु जो अशुद्ध वासना है, वह अज्ञानी की है। क्योंकि उसकी वासना में अहङ्कार होता है और जब तक वह ऐसी अशुद्ध वासना में पड़ रहता है, आवागमन से मुक्त नहीं होता। परन्तु ज्योंही वह अहङ्कार से रहित होता है कि आवागमन से छूट जाता है। किन्तु अहङ्कार रहित होना भी सरल नहीं है। बिना ब्रह्मविद्यारूपी इस मोक्षोपायक शास्त्र के कोई अहङ्कार रहित नहीं हो सकता। वह शास्त्र मेरा यही 'महारामायण' शास्त्र है कि जिसमें रामजी और वशिष्ठ जी का मोक्ष उपाय सम्बन्धी सम्वाद वर्णन किया जा रहा है। हे भारद्वाज! यह तुम्हारे विचार करने योग्य है। क्योंकि यह परमबोध का कारण है। अस्तु, तुम इसे आदि से अन्त तक खूब ध्यान देकर सुनो।

हे भारद्वाज! एक दिन जब रामजी पाठशालासे विद्याध्ययन कर अपने घर आये तब उनके मनमें ऐसा निश्चय हुआ कि अब तीर्था-टन कर देवदर्शन किया जाय। तब इसके लिये पिता महाराज दश-रथ की स्वीकृति आवश्यक है—ऐसा विचार कर वे राजा दशरथ के पाँव पर जाकर गिर पड़े और जैसे किसी सुन्दर कमलदण्डी को हंस ग्रहण करता हो, वैसे ही उनके चरण की उँगुलियों को ग्रहण कर बोले—हे पिताजी! मेरे चित्तमें तीर्थाटन एवं देवदर्शन करने का ऐसा दृढ़ निश्चय हो गया है कि अब वह किसी प्रकार भी टाले नहीं टलता है। सो आप कृपाकर मुझे यह आज्ञा प्रदान कीजिये कि मैं तीर्थों को एक लम्बी यात्रा करके समग्र देवस्थानों के दर्शन कर आऊँ। मैं आपको पुत्र हूँ। इस कारण मुझको आपकी सब प्रकार से याँचना

ही करनी योग्य है। फिर इसके पूर्व मैंने आप से कभी ऐसी प्रार्थना भी नहीं की है। इससे आप मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं अपना यह अभीष्ट मनोरथ पूर्ण करने के लिये जाऊँ। मुझे आशा है कि आप मेरीइसप्रार्थना को अस्वीकार न करेंगे क्योंकि इस त्रिलोकी में ऐसा कोई भी नहीं है कि जिसका मनोरथ इस घर से सिद्ध न हुआ हो, अर्थात् मेरे इस कुल से सभी का मनोरथ सिद्ध हुआ है। इससे आप कृपा करके मुझे अपनी स्वीकृति प्रदान कीजियेगा।

उस समय राजा दशरथ के पास ही महर्षि वसिष्ठ बैठे हुये थे। वह रामचन्द्र की ऐसी प्रार्थना सुनकर राजा दशरथ से बोले—राजन्! राजकुमार रामजी के विचार उत्तम हैं। अतः आप इन्हें अवश्य ही तीर्थ यात्रा की आज्ञा दे देवें और देखिए, इन्हें यात्रा में जिस प्रकार सुख पहुंचे, उस प्रकार इनके साथ सेना, धन, ब्राह्मण और मंत्री आदि जो कुछ भी आवश्यक हो सब कुछ प्रबन्ध कर दीजिये जिसमें कि इनका उत्साह भंग न होने पावे।

महर्षि वशिष्ठ राजा दशरथ के कुल गुरु थे, इस कारण उनकी बात किसी प्रकार भी टाली न जाती थी। अतः एक योग्य महूर्त देखकर राजा दशरथ ने रामजी को तीर्थयात्रा के लिये सब प्रकार से सन्तुष्ट कर दिया। रामचन्द्र, पिता-माता से मिलकर लक्ष्मण आदिक भाइयों और वशिष्ठ आदिक ब्राह्मण एवं मन्त्रियों सहित उस शुभ मुहूर्त में नगर के वाहर निकले। तव नगर के बाहर और भीतर भी जहां तक मिल सके-उन्होंने दीन-दुखियों को दान-मान से सन्तुष्ट कर दिया। नगरवासियों ने उनपर फूलों की अपार वर्षा की। चारों ओर अपूर्व समारोह छा गया।

इसप्रकार श्रीरामचन्द्रजी गंगा, यमुना और सरस्वती आदिक नदियों और समुद्रों में स्नान और पृथ्वी के चारों कोनों और दिशाओंमें दान मान-सम्मान युक्त पर्यटन करते हुये हिमालय और सुमेरुगिरि पर्वतों का भ्रमण करके शालिग्राम, वद्रिकाश्रम और केदार आदिक तीर्थों में

स्नान दान और जप तप करते हुये एक वर्ष में यात्रा समाप्त कर फिर अपने नगर को लौट आये। नगर वासियों ने बड़ा उत्सव किया। राजा दशरथ सहित समस्त राजमहल में आनन्द छा गया।

श्री योगवाशिष्ठ-वैराग्य प्रकरण का दूसरा सर्ग समाप्त ॥ २ ॥

-::-❀-::-

तीसरा सर्ग

-::-❀-::-

विश्वामित्रागमन वर्णन

उस समय राजकुमार रामजी की अवस्था सोलह वर्ष में कुछ ही कम थी। इससे वे नित्य प्रति महाराज दशरथ की आज्ञा प्राप्त करके भाइयों सहित आखेट (शिकार) खेलने जाया करते थे और बनमें सुन्दर २ पवित्र मृगों को मारकर राजा को लाकर दिखाते थे। कहीं गेंद खेलते तो कहीं भाइयों और मित्रों के साथ स्नान और सन्ध्या बन्दनादिक क्रियाओं को करते हुये नगर वासियों को सर्वदा ही प्रसन्न रखते थे। परन्तु ज्योंही सोलह वर्ष पूरे हुये कि एक दिन सहसा उनका चित्त संसार की समस्त लीलाओं से उपराम हो गया और उन्होंने खाना-पीना, खेलना कूदना, देना-लेना और यहां तक कि सोना-उठना और किसी से बोलना भी त्याग कर एक अन्धेरी कोठरी में अपना आवास बना लिया। कोई कितना ही कहता, वे उधर बिल्कुल ही ध्यान न देते थे और देखने से ऐसा मालूम होता था कि मानों किसी गहरी चिन्ता में पड़े हुये हैं। चिन्ता मनुष्य के शरीर को भक्षण कर जाती है—इस नियम से रामजी दिन दिन दुबले होते गये। शरीर सूख कर लकड़ी हो गया मुख पीला पड़ गया। परन्तु जहां उनके शरीर में इतनी निर्बलता आ गई थी वहां यह अवश्य हुआ कि इच्छा रहित होने से उनका मन निर्मल होगया। जब देखो चिबुक

पर हाथ रखे हुये दिनके दिन बैठे ही बैठे समाप्त कर देते थे। उनकी इस अवस्था से अन्तःपुर में हर समय एक हलचल सी मची रहती थी। कोई कुछ कहता, तो कोई कुछ बतलाता परन्तु लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न उनके बड़े सच्चे अनुयायी थे जब उन्होंने देख लिया कि भाई राम किसी प्रकार भी अपना मन्तव्य नहीं प्रकट करते और न तो अपने इस नियम से हटना ही चाहते हैं तो उन्होंने भी वही मार्ग स्थिर किया और जाकर रामजी के अनुरूप ही निश्चेष्ट भाव से उनके पास बैठे रहे।

अभी तो यह वार्ता अन्तःपुर तक थी, किन्तु भरत आदि के ऐसा करते ही कोई अपने को सँभाल न सका और टहलुओं ने जाकर रामजी की वह सारी व्यवस्था राजा दशरथ से कह सुनायी। वह सुन कर राजा दशरथ हाय-हाय करने लगे और दौड़े हुये रामजी को देखने आये। देखा तो बात सत्य थी। इससे दुखी होकर उन्होंने झट रामजी को गोद में बिठा लिया और मुख-कमल पर हाथ फेरते हुये पूछने लगे—हे पुत्र! यह तुमको क्या होगया है। भला कहो तो सही कि किस दुःख के कारण तुम्हारे शरीर की दुर्व्यवस्था हो रही है? रामजी ने कहा—हे पिता जी! हमको कोई दुःख नहीं हुआ है। दुःख किसका नाम है—इसको तो मैं जानता भी नहीं। आप इसकी कोई चिन्ता न करें। राजा दशरथ ने बहुत पूछा। परन्तु, सिवा इसके रामजी ने और कुछ भी न कहा। तब राजा दशरथ निराश होकर अपनी राज-सभा में चले आये और मंत्रियों सहित रामजी की अवस्था पर विचार करने लगे। परन्तु कोई कारण हो तब तो? भला मन्त्रियों को उसका पता ही क्या था? तब क्या किया जाये और किस प्रकार राम जी में इस बात का सुधार होवे—ऐसी चिन्ता से उनका सारा राजसदन शोक-मग्न हो गया। किसी को कुछ सूझ न पड़ता था। कोई कहता, राजकुमार का विवाह कर देना चाहिये। कोई कहता नहीं, और ही कोई बात है। किन्तु वशिष्ठजी त्रिकालदर्शी थे। उन्होंने

कहा–नहीं, यह सब बातें व्यर्थ हैं। महापुरुषों के क्रोध और शोक का कोई न कोई महान कारण होताहै और वे किसी अल्प कारण से ऐसा शोक और मोह नहीं करते। जैसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश जो पंच-भूत हैं, वे अल्प-कार्य में विकारवान नहीं होते–वैसे ही महान पुरुष भी अल्प-कार्य में विकारवान नहीं होते। इस कारण हे राजन्! आप चिन्ता न कीजिये, राम जी का इस प्रकार शोकान्वित होना किसी महान कारण से युक्त है और समय आते ही वह आपही आप प्रकट हो जायगा और इसके पश्चात् तुम्हें महान आनन्द प्राप्त होगा। अतःतुम शोक मत करो।

वाल्मीकि जी कहते हैं–हे भारद्वाज! वशिष्ठ जी राजा दशरथ से ऐसा कहही रहे थे कि उसी समय गाधि-पुत्र तपस्वी विश्वामित्र अपने यज्ञ की अर्थ सिद्धि के हेतु राजा दशरथके गृह पर आ पहुचे। तब राजाओं के वहां जैसी प्रथा होती है–उस नियम से विश्वामित्र जी ने द्वारपाल से अपने आगमन की सूचना दी। द्वारपाल ने जाकर राजा से विनय की कि हे महाराज! गाधि-पुत्र विश्वामित्र द्वार पर आकर खड़े हैं और आप से मिलना चाहते हैं।

उस समय विश्वामित्र की तपस्या बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। उनका आगमन सुनते ही राजा दशरथ सिंहासन पर स्थिर न रह सके और झट अपने मन्त्रियों, ब्राह्मणों और समस्त मण्डलेश्वरों सहित परम तपस्वी विश्वामित्र मुनि का स्वागत करने चल पड़े। देखो तो जटाजूट धारी अग्नि के समान तेजस्वी शरीर वाले मुनि ज्यों के त्यों खड़े हैं। तब इस प्रकार उन्हें दूर से देखते ही राजा दशरथ बारम्बार शिर झुकाते और हे मुने, आइये, पधारिये. आपका स्वागत है–ऐसा कहते हुये उनके चरणों पर जाकर गिर पड़े। मुनिने अनेक आशीर्वाद दिया। अन्य लोगों ने भी मुनि जी को दण्डवत किया विश्वामित्र वशिष्ठजी को और वशिष्ठजी विश्वामित्रजी से बारम्बार मिलने लगे। तदनन्दर राज दशरथ ने विश्वामित्र की सविधि पूजा कर उन्हें अपने

सिंहासन पर लाकर बिठा दिया और हाथ जोड़ कर बोले—हे भगवन्! आज आपके इस अमूल्य दर्शन से मेरा गृह पवित्र हुआ। हे मुनीश्वर! इस समय मेरे आनन्द का कोई अन्त नहीं है। आज मुझसे बढ़कर इस संसार में दूसरा कोई भाग्यशाली नहीं। अविनाशी और अकृत्रिम पद भी क्या है, यह मैं आज केवल आपके दर्शनों में ही पा रहा हूँ। हे महामुने! आजही यह मेरा गृह पवित्र हुआ है और आज ही मैं अपने को धर्मात्मा गिना जाऊँगा। यह आपकी बड़ी कृपा है कि जो भाग्यवश मेरी कुशल के लिये आप यहां तक कष्ट करके आये हैं। मुझे तो इसकी स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि आप जैसे श्रेष्ठ मुनिका दर्शन घर बैठे ही प्राप्त होगा। हे मुनिदेव! आप तो मुझे सब प्रकार से उत्कृष्ट ही जान पड़ते हैं। क्योंकि आप में दो गुण हैं। एक तो क्षत्रिय का दूसरे ब्राह्मण का। इसके अतिरिक्त भी आप अन्य समस्त गुणों में सबसे श्रेष्ठ हैं। हे मुनीश्वर! यह गुण तो आप ही में है कि आप क्षत्रिय से ब्राह्मण हुये। अन्यथा आज तक किसी में भी ऐसी सामर्थ्य न हो सकी। आपका शरीर प्रकाशमय है। इससे निश्चय है कि आप जिस मार्ग से आये होंगे वह मार्ग भी प्रकाशमान हो गया होगा। और आप जिस मार्ग से आये हैं निस्सन्देह अमृतकी वर्षा करते आये होंगे। हे मुनीश्वर! आप के आगमन से मेरा बड़ा लाभ हुआ है।

ऐसा कह कर राजा दशरथ ज्यों ही चुप हुये कि राजसदन के निवासियों सहित अन्तःपुर से लेकर बाहर के उपस्थित लोगों ने विश्वामित्र जी की पूजा और उनके स्वागत सत्कार की झड़ी लगा दी। तब उस प्रकार सबको आशीर्वाद दे विश्वामित्रजी ज्योंही कुछ निवृत्त हुए थे कि महाराज दशरथ फिर हाथ जोड़ कर बोले—हे भगवन्! हमारे बड़े भाग्य हैं कि जो आपका दर्शन हुआ। सो हे प्रभो! कृपा कर कहिये कि आपका आगमन किस अर्थ के लिये हुआ है। आप के उस पूर्ण विचार को सुनने की मुझे प्रबल उत्कंठा हो रही है। हे

भगवन्! मेरे पास ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है कि जिसे आपको देने में मुझे रंचमात्र भी कठिनता होवे। मेरे पास समस्त सम्पदायें भरी हुई हैं, आप जो चाहे ले सकते हैं। उसे देने में मुझे तनिक भी संकोच न होगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, वैराग्य–प्रकरण का तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥

:-❀-:

चौथा सर्ग

:-❀-:

विश्वामित्रेच्छा वर्णन

वाल्मीकि जी बोले–हे भारद्वाज! राजा दशरथ के ऐसा कहने पर मुनिशार्दूल विश्वामित्र परम प्रसन्न होकर बोले–धन्य हो। राजन्! तुम धन्य हो। भला ऐसा क्यों न कहो? तुम में भी तो दो श्रेष्ठ गुण हैं। एक तो तुम रघुवंशी हो और दूसरे वशिष्ठजी तुम्हारे गुरु हैं। हे राजन्! सुनो, मेरे आगमन का कारण यह है कि मैंने दशरात्र यज्ञ का एक अनुष्ठान किया है। सो जब वह यज्ञ करने लगता हूँ तब खर और दूषण नाम के राक्षस आकर उसे विध्वंस कर देते हैं। तब यज्ञ के नष्ट हो जाने से मैं उसे कहीं अन्यत्र करने जाता हूँ तो वहां भी वही आपत्ति आ जाती है और वे दुष्ट, हाड़, मांस, और रुधिर बरसाकर यज्ञ शालाको अपवित्र कर देते हैं। अतः उनको नाश करने के लिये ही मैं तुम्हारे पास आया हूँ। यद्यपि तुम ऐसा कह सकते हो कि इसे तो आपभी कर सकते थे, सो इस सम्बन्ध में मेरा यह कथन है कि जिस यज्ञ का मैंने अनुष्ठान किया है, उसका क्षमा ही अंग है और क्रोध के बिना शाप हो नहीं सकता और यदि क्रोध करता हूँ तो यज्ञ निष्फल हो जाता है और चुप रहता हूँ तो वे राक्षस यज्ञ में अपवित्र वस्तु डाल जाते हैं, इससे मैं तुम्हारी शरण आया हूँ, तुम मेरा कार्य कर दो।

देखो, जो काकपक्षधारी तुम्हारे पुत्र रामचन्द्र हैं उनको और दूसरी शिखावाले लक्ष्मण को तुम मुझे दो। मैं उन्हें लेजाकर अस्त्र-शस्त्रकीसब विद्यायें सिखलाकर राक्षसों का वध करा दूंगा। राम बड़े वीर हैं। इस लोक में तो क्या, आज तीनों लोक में राम के समान कोई वीर नहीं है। राम लक्ष्मण के सामने वे राक्षस कदापि न ठहर सकेंगे। हे राजन्! तुम भले ही न जानते हो किन्तु राम-लक्ष्मण के प्रभाव को तुम्हारे ये कुल-गुरु-वशिष्ठजी भली भाँति जानते हैं। इससे तुम राम को मेरे साथ कर दो। मेरे साथ रहने से तुम्हारे पुत्रों का किसी प्रकार भी अनिष्ट नहीं हो सकता। अस्तु, किसी प्रकार की शङ्का न करते हुये तुम मेरे इस मनोरथ को पूर्ण करो। हे राजन्! इसमें तुम्हें बड़ा धर्म होगा। क्योंकि जो कार्य समय से होता है चाहे वह थोड़ा भी क्यों न होवे, बड़ा फलदायक होता है। परन्तु असमय का किया हुआ महान कार्य भी फलदायक नहीं होता है। हे राजन्! तुम यह न जानो कि राम-लक्ष्मण की अवस्था बहुत थोड़ी है और ये राक्षसों का वध कैसे करेंगे। अवस्था से क्या होता है? मुझे पूर्ण निश्चय है कि रामजी के आगे वे दुष्ट राक्षस कदापि न ठहरेंगे। जैसे सूर्य के तेज के आगे तारागणों का तेज लुप्त हो जाता है, वैसे ही रामजी का सामना होते ही राक्षसों का तेज हत हो जायगा और इस प्रकार वे भाग जायेंगे। इससे तुम राम-लक्ष्मण को मेरे साथ कर दो। मेरा कार्य भी होगा और तुम्हारा धर्म भी रह जायेगा। मैं सब प्रकार से रामजी की रक्षा करता रहूँगा।

श्री योगवाशिष्ठ—वैराग्य-प्रकरण का चौथा सर्ग समाप्त ॥ ४ ॥

—❀—

पाँचवां सर्ग

:-❀-:

दशरथोक्ति वर्णन

वाल्मीकीजी बोले–हे भारद्वाज ! मुनि शार्दूल विश्वामित्र के ऐसा कहते ही मानो राजा दशरथ पर वज्रपात हो गया । वे मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े । एक मुहूर्त पश्चात् जब उनकी मूर्छा भङ्ग हुई तब वे महान अधीर होकर विश्वामित्र से बोले–हे मुनीश्वर ! आपने यह क्या कहा है ? रामजी तो अभी क्वारे हैं । फूलों की शय्या पर सोते हैं भला वे अस्त्र–शस्त्र को क्या जानें । अभी तो वे इस विद्या को सीखे भी नहीं हैं । तब भला वे किसी युद्ध में कैसे जा सकते हैं ? हा, मेरा वह राजकुमार जो अभी अन्तःपुर में स्त्रियों के ही पास बैठने योग्य है और जिसने अभी तक संग्राम भूमि को अपनी आँखों से देखा भी नहीं है और न कभी भृकुटी चढ़ाकर युद्ध ही किया है और जिसके कमल जैसे हाथ हैं और जो शरीर से अत्यन्त ही कोमल है, वह राक्षसों के साथ युद्ध कैसे करेगा ? भला कहीं पत्थर और कमल से भी युद्ध हुआ है ? हे मुनीश्वर ! आपकी यह याचना उत्तम नहीं है । क्योंकि रामचन्द्रकी अवस्था अभी केवल १६ वर्ष की हुई है । तब वे संग्राम भूमि को कैसे जावेंगे । एक तो दश हजार वर्ष की आयु के पश्चात् मुझे ये चार पुत्र प्राप्त हुये हैं, उनमें रामजी मुझे प्राण से भी अधिक प्रिय हैं । सो मैं उसे कैसे दूं ? हे मुनिश्वर ! रामजी को तो मैं अपने नेत्रों से एक पल भी पृथक नहीं करता । क्योंकि मेरा जीवन उसी के आधीन है । उसके बिना तो मैं क्षण भरभी जीवित नहीं रह सकता । यदि तुम राम को ले जाओगे तो निश्चय ही मेरी मृत्यु हो जावेगी ।

हे मुने ! रामजी के प्रति केवल मेरा ही ऐसा स्नेह नहीं है किन्तु उसके भाई लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और उसकी माता का भी ऐसा ही स्नेह है और इस प्रकार सभी को रामजी प्राणप्रिय हैं । यदि आप रामजी को ले जावेंगे तो निश्चय ही सबके सब अपना प्राण त्याग देवेंगे और यदि आप निश्चय ही हमको मारनेहीं को आये हो तो लेजाइये । किन्तु मेरे चित्त में तो रामही बस रहे हैं । तब मैं उसको तुम्हारे साथ कैसे दूं ? क्योंकि वही तो मेरी प्रसन्नता है । तब उसका वियोग होने से मैं कैसे जीवित रहूँगा । मुझे तो रामजी के समान अपनी स्त्री भी प्रिय नहीं है, धन भी प्रिय नहीं है । और राज्यभी वैसा प्रिय नहीं है । कहां तक कहूँ रामजी के समान तो संसार का कोई भी पदार्थ मेरे लिये प्रिय नहीं है । पर क्या कहूँ, आपका वचन सुनकर मुझे बड़ा शोक उत्पन्न हो गया है । मेरे बड़े अभाग्य हैं कि आप इसलिये आये हैं । आपके वचनों से तो मैं ऐसा ही नष्ट होगया हूँ कि जैसे बरफ की वर्षा से कमल नष्ट होजाते हैं । अन्यथा आपके आगमन से मैं बड़ा प्रसन्न हुआ था । परन्तु जैसे विशाल मेघ प्रचण्ड वायु को नष्ट कर देता है, वैसे ही आपके वचनों ने मेरी प्रसन्नता को नष्ट कर दिया है । जैसे वसन्तुऋतु की मंजरी श्रेष्ठ आषाढ़ में सूख जाती है, वैसे ही आपके इन वचनों को सुनकर मेरे हृदयकी प्रसन्नता नष्ट होगई है । अतएव मैं रामजी को नहीं दे सकता । हां, यदि आप कहें तो मेरे पास महान शक्तिशाली जो एक अक्षौहिणी सेना पृथक रहा करती है कि जिसको शस्त्र विद्या, मंत्र विद्या आदि का पूर्णज्ञान है और जो सर्व प्रकार से युद्ध-कुशल है, उसको लेकर मैं स्वयं आपके साथ चलूं और राक्षसों को मारूँ ? अथवा आप स्वयं मेरी चतुरंगिणी सेना को ले जाकर राक्षसों को बंध करायें—यह भी मुझे स्वीकार है, परन्तु रामको देने में मैं कदापि भी साहस नहीं करता हूँ । फिर यह तो बतलाइये कि उस युद्ध में राक्षसों की ओर से विश्रवा का पुत्र रावण तो नहीं आवेगा ? यदि

वह आवेगा तो मैं उसके साथ युद्ध न कर सकूंगा। क्योंकि अब मुझमें वह पहले का सा बल नहीं रहा। पहिले तो मुझमें बड़ा पराक्रम था। तब यदि कोई मुझे मारने को आता था तो मैं ही उसे मार देता था। परन्तु अब मेरी अवस्था वृद्ध हो चली और शरीर जर्जरीभाव को प्राप्त हुआ है, इस कारण अब मैं रावण के साथ युद्ध करने को समर्थ नहीं हूँ। अब तो मैं रावण से कांपता रहता हूँ और केवल मैं ही नहीं इन्द्रादिक देवता भी रावण से काँपते रहते हैं! क्योंकि राक्षसों का समस्त समुदाय उसका वशवर्ती है। इस कारण भला किसकी शक्ति है जो रावण से युद्ध करे।

हे मुने! जब मुझमें ही यह सामर्थ नहीं है तो भला राजकुमार रामजी में उससे युद्ध करने की सामर्थ कैसे होवेगी? फिर जिस रामजी को साथ ले जाने के लिये आप आये हैं, वह तो इस समय एक महान रोग के ग्रसित है। उसको तो न जाने किस चिन्ता ने आकर उसे घेर लिया है कि जिस कारण शरीर से महान दुर्बल हो गया है और अन्तःपुर में एकान्त में बैठा रहता है। न कुछ खाता है, न कोई चेष्टा करता है। फिर मैं यह भी नहीं जानता कि उसे क्या दुःख हुआ है। परन्तु देखता हूँ तो शरीर से बड़ा दुर्बल हो गया। इससे क्या आशा करूँ कि वह किसी प्रकार भी युद्ध में जाने योग्य है। हाँ, यदि उस युद्ध में रावण न आवे तो आपके कहने से मैं स्वयं युद्ध में चलने को तयार हूँ किन्तु रामजी युद्ध करने के तो योग्य कदापि नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ वैराग्य–प्रकरण का पाँचवाँ सर्ग समाप्तः ॥५॥

छठवां सर्ग

-::-❀-::-

राम की विरागावस्था वर्णन

बाल्मीकिजी बोले-हे भारद्वाज ! राजा दशरथ के ऐसा कहने पर महातेजस्वी विश्वामित्र के क्रोध का अन्त न रहा । वे तड़प कर राजा दशरथ से बोले-अच्छा तो मै जाता हूँ परन्तु स्मरण रखना कि रघुवंशियों में आज तक ऐसा कोई नहीं हुआ है कि जो वचन देकर भी अपने धर्म से पलट जाये । शोक, जो तू ऐसा कर रहा है। हैं, क्या तुझे अपनी बात का तनिक भी ख्याल नहीं आया कि अभी २ मैंने क्या कहा ? परन्तु वह तेरा नहीं, मेरा दोष है जो मैं तेरे पास आया । ठीक ही है, सूने घर से मनुष्य सूना ही लोट जाता है । किन्तु मुझे यह आशा नहीं थी कि तू सिंह होकर स्यार हो जावेगा । मैं तो यह जानता था कि तू रघुकुल का दीपक है । मुझे क्या पता था कि तू इतना अविचारी है कि अभी २ का कहा वचन पलट जायेगा । अच्छा तो मैं जहां से आया हूँ चला जाता हूँ और तू भी अपना राज्य कर । परन्तु समझ रखना कि जो कुछ होगा, फिर समझ लूंगा । क्योंकि तू धर्म का त्याग कर रहा है, अच्छा तो त्याग दे । देखा जायगा ।

बाल्मीकिजी बोले-हे भारद्वाज ! विश्वामित्र के इस प्रकार क्रोधित होने पर पृथ्वी काँप उठा, इन्द्रादिक देवता भयभीत होगये । उपस्थित लोग सोचने लगे कि यह क्या होगया । परन्तु महर्षि वशिष्ठ के रहते वह अवस्था विलम्ब तक कैसे रहती ? उन्होंने झट राजा दशरथ को अपनी ओर आकृष्ट कर कहा-राजन् ! आप यह क्या कर रहे हैं, इक्ष्वाकु-कुल में तो सभी परमार्थी हुए हैं । फिर आप दशरथ होते हुए भी अपने धर्म को क्यों त्यागते हैं अभी

तो मेरे ही समक्ष आपने इन विश्वामित्र से यह कहा है कि आपको जो इच्छा होगी, पूर्ण की जावेगी। फिर अब उससे क्यों विचलित होते हैं? हे राजन्! आप सहर्ष रामजी को इनके साथकर देवें। यह सब प्रकार से आपके पुत्र की रक्षा करने में समर्थ हैं। आप नहीं जानते, इनके समान बल किसी दूसरे में नहीं है। इनसे बढ़कर न तो कोई तपस्वी है और न इनके समान दूसरा कोई धर्मात्मा है। यह तो साक्षात् धर्म की मूर्ति हैं। फिर इनके समान न तो कोई शूर है और न कोई बुद्धिमान है। अस्त्र-शस्त्र विद्यामें भी आज इनकी समता करने वाला कोई नहीं। इनकी अद्वितीय वीरता और श्रेष्ठता तो इसी से प्रकट होती है कि दक्ष-प्रजापति ने अपनी 'जया और सुभगा' नामक दोनों कन्याओं को इन्हें सौंप दी हैं और उन्होंने दैत्यों के वधार्थ पाँच-पाँच सौ पुत्र उत्पन्न किये थे सो आज वे दोनों स्त्रियां इनके विद्यमान मूर्ति धारण करके प्रतिक्षण उपस्थित रहती हैं। इस कारण आज इन्हें जीतने की शक्ति किसी में भी नहीं है। भला, जिसके साथी विश्वामित्र होवें—उसे तीनों लोक में किसका भय हो सकता है? इससे मैं आपको यह आदेश देता हूँ कि बिना किसी संशय के आप अपने पुत्र को इनके साथ कर देवें। भला, जिस विश्वामित्रकी भृकुटि संकेत से समस्त दुःखों का नाश हो जाता है—उसके साथ रहते हुये भी आप के पुत्रको कोई कुछ कह सके—ऐसी सामर्थ किसकी है?

हे राजन्! विश्वामित्र के साथ रहते हुये, आपके पुत्र को किसी प्रकार का भी खेद नहीं हो सकता इससे आप निश्चय ही रामजी को इनके साथ कर देवें। फिर इक्ष्वाकु जैसे श्रेष्ठ कुल के पुरुष आप दशरथ नाम रखते भी यदि अपने धर्म में स्थित न रह सके तो अन्य जीवों से धर्म की पालना कैसे होगी? क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जैसे आचरण करते हैं, उनके अनुसार ही तो अन्य जीव करते हैं। यदि आप जैसे लोग अपने वचन का पालन न करेंगे तो और कैसे करेंगे?

फिर आपके कुल में ऐसा कभी हुआ भी नहीं है कि कोई याचना करता आवे और निराश होकर लौटे। नहीं, इस घरसे सबकी याचना पूरी हुई है। इससे आपके लिये अपने धर्मका त्यागना योग्य नहीं। बेचारे राक्षस तो क्या, यदि साक्षात् मूर्तिधारी कालही आकर विद्यमान क्यों न हो जावें तो भी विश्वामित्र के रहते आपके पुत्र का एक बाल भी बांका नहीं होसकता। इससे आप निःशंक होकर अपने पुत्र को इनके साथ कर देवें। यदि न करेंगे तो मनुष्य मात्र का जो दो प्रकार का-कूप, बावली और ताल बनवाये हुए और उनसे जो पुण्य है-वह तथा व्रत, यज्ञ, दान और स्नान आदिक जो पुण्य और क्रिया है, उन सबका फल नष्ट होजावेगा। फिर आप अपने इस निरर्थक भवन को लेकर क्या करोगे। क्योंकि जब पुण्य ही नहीं, तब यह राज्य आदिक किस काम का? अतः मैं जो कहता हूँ शोक को त्याग कर अपने धर्म को स्मरण कर रामजी को इनके साथ कर देवें। इसीमें आपकी समस्त कामनायें पूर्ण होंगी।

बाल्मीकि जी बोले-हे भारद्वाज! वशिष्ठ जी के ऐसा कहने पर राजा दशरथ ने बहुत कुछ संतुष्ट होकर अपने एक भृत्य को बुलाया और कहा-जाओ अन्तःपुर से जितनी शीघ्र होसके, रामजी को यहां बुला लाओ। भृत्य रामजी के पास गया। राम जी अपनी घोर चिन्ता में निमग्न थे। भृत्य से कुछ कहते न बना। वह लौट कर राजा दशरथ के पास चला आया और जैसा कुछ समाचार था-रामजी की चिन्तावस्था और कृशताका कह सुनाया। उसे सुन राजा दशरथ अवाक् हो गये। परन्तु कार्य तो आवश्यक ही था और उधर रामजी की अवस्था भी कुछ कम शोचनीय न थी-तब इस मध्य में क्या किया जाये-दशरथ जी ने रामजी के समस्त भृत्यों को अपने पास बुलाकर पूछा-हे राम जी के प्यारे! रामजी की क्या दशा है और ऐसी दशा क्यों हुई-इस सम्बन्ध में तुम कुछ बतला सकते हो?

राजा दशरथ के ऐसा पूछने पर रामजी के मन्त्रियों ने कहा-

हे महाराज ! क्या कहें,कुछ कहते नहीं बनता है। रामजी की अवस्था को देखते हुये तो हम सभी मृतक के समान हो रहे हैं। क्योंकि जिस दिनसे रामजी तीर्थयात्रा करके आये हैं, उसी दिन से ऐसी घोर चिन्ता को प्राप्त हुये हैं कि खाने–पीने और पहनने के किसी भी सुखदायी पदार्थ से प्रसन्न नहीं होते और ऐसी चिन्तामें निमग्न रहते हैं कि किसी की ओर नेत्र उठाकर देखते भी नहीं और यदि किसी के बुलाने पर देखते भी हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानों उस पर महान् क्रोधित हो रहे हैं। और तो क्या, अंतःपुर में जो इनकी माता नाना प्रकार के हीरे और मणियोंके भूषण देती हैं तो उन्हें मानों फेंक देते हैं या किसीको दे डालते हैं। इस प्रकार वे किसी भी पदार्थ से प्रसन्न नहीं होते। यदि सुन्दर स्त्रियां अपनी सज-धज से नाना प्रकार की चेष्टाओं युक्त उन्हें प्रसन्न करना चाहती हैं और अपने हावभावों तथा अनेक लीलाओं से उनके मनको दूसरी ओर आकृष्ट करना चाहती हैं तो भी उन्हें विषवत् जानकर वे उनकी ओर उलट कर भी नहीं देखते और क्रोधित होते हैं। हे राजन् ! इस प्रकार देखता हूँ तो न तो उन्हें क्षुधा प्रतीत होती है और न वे राज्य की ही इच्छा रखते हैं। उनका मन सर्वदा ही महा उन्मत्त की नाईं बना रहता है। जब देखो, तब मानों किसी घोर चिन्ता में डूबे ही रहते हैं। परन्तु हमें यह कुछ पता नहीं लगता कि वास्तव में उनका क्या विचार है। हाँ, इतना अवश्य सुना है कि जब हमसे कोई बड़ा मंत्री उनसे कुछ पूछता है, तब वे कहते हैं कि–तुम जिसको सम्पदा मानते हो, वही आपदा है और जिसको आपदा अथवा रमणीय जानते हो–वह सब मिथ्या है। सब इसीमें डूबते हैं और यह सब कुछ मृग तृष्णाके जलवत हैं। इसको सत्य जान कर मूर्ख मृगके समान दौड़ते और दुःख पाते हैं।

इस प्रकार यदि वे कभी बोलते हैं तो ऐसे बोलते हैं कि मानों उन्हें कोई भी वस्तु सुखदायी नहीं भासती है। हँसते हैं तो हँसते

नहीं। जिस वस्तु को हाथ में लेते हैं, फिर उसे पृथ्वी पर फेंक देते हैं और दिन-दिन शरीर से दुर्बल होते जाते हैं। कभी बोलते हैं तो कहते हैं न राज्य सत्य है, न भोग सत्य है, न यह जगत सत्य है और न मित्र सत्य हैं अपितु मिथ्या पदार्थ के लिये मूर्ख यत्न करते रहते हैं। परन्तु वे जिनको सत्य और सुखदायक जानकर यत्न करते हैं, वह सब बंधन का कारण है। हे महाराज ! अधिक तो क्या कहें ? जब उनके पास कोई राज-पण्डित जाता है तो उसे देख कर कहते हैं— यह पशु है,आशारूपी फाँसीमें बँधा हुआ है इत्यादि। इसी प्रकार भोगों को देख कर वे नितान्त ही क्रोधित होते हैं। इससे हम लोगों को ज्ञात होता है कि रामजी का परमपद पाने की इच्छा है। क्योंकि कभी तो वे मस्त होकर गाने लगते हैं और कभी बोलते हैं तो ऐसा कहते हैं कि—हाय-हाय, मैं अनाथ के समान मारा गया हूँ। रे मूर्ख ! तू संसार समुद्र में क्यों डूबता है ? यह संसार तो परम अनर्थ का कारण है। इसमें तो कदापि सुख नहीं है। अतः इससे छूटने का यत्न करो। यह सब वे स्वयं ही कहते और स्वयं ही सुनते और समझते हैं और किसी के साथ कभी बोलते हँसते नहीं। यहाँ तक कि अपनी माता से भी कभी कुछ नहीं बोलते और तब अन्तःपुर की स्त्रियों की तो बातही कौन पूछता है फिर किसी पदार्थ से वे आश्चर्यवान भी नहीं होते। यदि कोई कहे कि आकाश में बाग लगा है और उसमें जो फूल खिले हैं, उनको मैं ले आया हूँ तो उसे भी सुनकर वे आश्चर्य नहीं करते। और समस्त पदार्थों को केवल भ्रम मात्र देखते हैं। न उनको किसी पदार्थ से हर्ष होता है और न किसी से शोक। पता नहीं कि उन्हें किस प्रकार की चिन्ता घेरे है। इसमें तो ऐसा कोई नहीं है कि जो उनकी चिन्ता का निवारण कर सके। इससे हम लोगों को बड़ा शोक है कि हमारे रामजी किस प्रकार से प्रसन्न होवेंगे। यदि उनसे कोई कहता। कि आप चक्रवर्ती राजा हैं, आप दीर्घ-जीवी हों और बड़े सुख को पावें तो उसके वचन सुनकर महान क्रोधित हो कठोर वचन बोलते हैं।

हे महाराज ! यह अवस्था केवल रामजी की ही हो-सो नहीं, उनके साथ ही लक्ष्मण और शत्रुघ्न को भी ऐसी ही चिन्ता लग रही है। सो हे राजन् ! यदि कोई ऐसा होवे तो उसे बुलाकर रामजी की चिन्ता दूर कराइये, नहीं तो परिणाम भयङ्कर होगा और हम सभी लोग उस बड़ी चिन्ता में डूब जावेंगे। क्या कहें, रामजी तो शरीर पर एक उपरना ओढ़े अतीथ के समान दिन रात पद्मासन लगाये बैठेही रहते हैं। इससे उनकी चिन्ता-निवृत्ति का कोई उपाय शीघ्र कीजिये।

मन्त्रियों की ऐसी वार्ता सुनकर विश्वामित्र ने राजा दशरथ से कहा—हे राजन् ! जब ऐसी बात है, तब आप रामजी को मेरे निकट शीघ्र बुलाइये। मैं निश्चय ही उसका दुःख निवृत्त करूँगा। हे दशरथ तुम धन्य हो कि तुम्हारा पुत्र वैराग्य को प्राप्त हुआ है। हे राजन् ! हम वशिष्ठादि सहित जो यहाँ बैठे हैं—सो एक युक्ति द्वारा तुम्हारे पुत्र को उपदेश देकर उसके दुःख को ऐसे मिटायेंगे कि वह अपने आत्मपद को प्राप्तकर तुम्हारे क्षत्रियकी प्रकृति का जो आचरण है, करने लगेगा अतः तुम रामजी को यहाँ शीघ्र बुलाओ।

वाल्मीकि जी कहते हैं—हे भारद्वाज ! मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र के ऐसा कहते ही राजा दशरथ ने एक भृत्य को आज्ञा दिया कि अन्तःपुरमें जाकर राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नको यहाँ शीघ्र बुलालाओ। भृत्य बुला लाया। रामजी सभा में पहुंचते ही पिता दशरथ के चरणों पर गिर पड़े। पिता ने आशीर्वाद देकर उठा लिया। फिर गुरुवर वशिष्ठ और मुनिवर विश्वामित्र-जी से भी श्रीरामजी ने क्रम पूर्वक दण्डवत् किया और इसी प्रकार समस्त मण्डलेश्वरों को और मण्डलेश्वरों ने रामजी को, तथा लक्ष्मण, भरत, और शत्रुघ्न ने भी पित- और मुनियों एवं समस्त मण्डलेश्वरों को क्रम पूर्वक दण्ड-प्रणाम किया। तब राजा दशरथ प्रेम पूर्वक रामजी को अपनी गोद में बिठाकर उनके माथे पर हाथ फेरते हुये बोले—हे पुत्र ! केवल विरक्तता से ही परमपद की प्राप्ति नहीं होती। इसके लिये गुरुकी आव-

श्यकता है। सो यहां वशिष्ठजी जैसे तुम्हारे कुल-गुरु बैठे हैं, इनके उपदेशों की युक्ति से तुम्हें मोक्ष की प्राप्ति होवेगी।

महाराजा दशरथ ऐसा कहही रहे थे कि वशिष्ठजी बोले-हे राम जी ! तुम धन्य हो। क्योंकि तुमने सर्वथा ही विषयों को त्याग दिया है। अच्छा है, ये दुष्ट-विषय ही तो हमारे शत्रु हैं। सो, तुमने उन पर विजय लाभ किया है। इससे तुम सर्वथा ही धन्यवाद के पात्रहो।

वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर विश्वामित्र जी ने रामजी से कहा-हे कमल नेत्र रामजी ! यह तुमको मोह कहाँ से और कैसे प्राप्त हो गया अपने हृदय की चपलता को त्याग कर, उसे प्रकट करो। हे राघव ! बतलाओ, तुम्हारी क्या इच्छा है और तुममें जो यह चिन्ता उत्पन्न होगई है, वह कितनी बड़ी है? बोलो, तुम्हारी जो इच्छा होगी हम तुम्हें उसी पद में स्थित करेंगे, जिससे तुम्हें फिर कभी कोई दुःख न होवे। हे रामजी ! हम तुम्हें ऐसी युक्ति बतलावेंगे कि उससे तुम्हारा दुःख सर्वथा ही नष्ट हो जावेगा। इससे तुम अपने वृतान्त को हमसे अवश्य और शीघ्र प्रकट करो।

विश्वामित्र के इस कथन से रामजी परम प्रसन्न होगये। उनका सारा शोक नष्ट हो गया। और उन्होंने अपने हृदय में यह निश्चय किया कि अब मुझको अवश्य ही उस पदकी प्राप्ति होवेगी।

श्री योगवाशिष्ठ-वैराग्य-प्रकरण का छटवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥



सातवाँ सर्ग

-:-❀-:-

राम-वैराग्य-वर्णन

वाल्मीकिजी बोले–हे भारद्वाज ! महामुनि विश्वामित्र के ऐसा कहने पर रामजी बहुत प्रसन्न होकर उनसे बोले हे भगवान ! सुनिए, एक दिन जब मैं विद्यालय से विद्याध्ययन कर घर आया तो मेरे हृदय में यह बात आई कि मैं देश–देशान्तरों की तीर्थ यात्रा करने चला जाऊँ। सो पिताजी की आज्ञा लेकर बद्रिकाश्रम और केदार आदिक समस्त तीर्थों को करने चला गया। जब लौट कर घर आया तब एक दिन मेरे हृदय में ऐसी उथल-पुथल मची कि उसके घोर प्रवाह में मेरा चित्त कहां का कहां चला गया और उसी दिन से मुझे इस जगत के समस्त पदार्थों एवं राज्य-विलास आदिक भोगों से सर्वथा ही घृणा हो गई। और तब से आज तक यह स्थावर जंगम रूपी जगत्त मिथ्या ही प्रतीत होता है। ऐसा क्यों हुआ यह मैं कुछ नहीं जानता। परन्तु अब तो यह निश्चय हो गया है कि इस जगत के जितने भी पदार्थ हैं, सब मिथ्या और मन के कारण ही सिद्ध हो रहे हैं। सो:मन भी भ्रम मात्र है। क्योंकि इसकी भी कोई वास्तविक उत्पत्ति नहीं है और यह अनहोता ही अनयास दुःख देने के लिये उत्पन्न हो गया है। यदि यह ऐसा न होता तो जगत के असत्य पदार्थों को सत्य जानकर उसकी ओर नहीं दौड़ता। परन्तु मूर्खों को क्या कहा जाय, वे तो जगत के पदार्थों को ही सुखदाई जानकर दिन रात उसकी ओर दौड़ते रहते हैं और नाम मात्र को भी शान्ति नहीं पाते। शान्ति पावें भी तो कैसे ? इन्द्रियों के भोग एक ऐसे विषैले सर्प के समान हैं कि जिनका काटा हुआ बारम्बार आवागमन के चक्कर में पड़ा रहता है। इससे

जहाँ तक मैंने विचार किया मुझे यही ज्ञात हुआ है कि यह जितना कुछ जगत दिखलाई पड़ता है –सब भ्रममात्र है और इसकी आस्था करनी मूर्खता है क्योंकि इस जगत की जितनी भी वस्तुयें हैं, सब आगामापायी हैं और कोई भी स्थायी नहीं रहतीं। तब जो पदार्थ स्थायी नहीं है उसको क्या ग्रहण करें। बस, इसी कारण से मैंने भोगों को त्याग दिया है।

हे मुने! मेरे विचार में तो यही आता है कि ये जितने कुछ सम्पदा रूप पदार्थ भासते हैं, सब आपदा हैं। इनमें रंच मात्रसी सुख नहीं है। क्योंकि जब इनका वियोग होता है तब ये कंटक की नाईं मनमें चुभते हैं और जब प्राप्त होता है तब रागद्वेष में पड़कर जलना पड़ता है और जब नहीं प्राप्त होता तब तृष्णा जलाती है। इससे ये भोग दुःखरूप हैं। जैसे पत्थर की शिला में छिद्र नहीं होता, वैसे ही इस भोगरूपी शिला में रंचमात्र भी सुखरूपी छिद्र नहीं होता। तब इनकी आस्था करनी मूर्खता नहीं तो क्या है? हाँ, मैं भी तो बहुत काल से इस तृष्णा में जलता रहा हूँ। परन्तु सुख कभी नहीं मिला। जिधरही दृष्टि डालो दुःख ही दुःख दिखलाई पड़ता है। सो क्यों न हो, जब आत्मरूपी धनपास में नहीं रहता, तब भोगरूपी चोर अज्ञान रूपी रात्रि में प्राणी को लूट ले जाते हैं। फिर तो उसके वियोग में वह महादीन होजाता है और इस प्रकार बारम्बार यत्न करता हुआ कभी शान्ति को प्राप्त नहीं होता। यद्यपि यह शरीर क्षणभंगुर और असार है तथापि इसे सर्वदा ही भोगों की इच्छा बनी रहती है। विचार कर देखा जाय तो इसका बोलना–चालना भी ऐसा ही है कि जैसे सूखे बाँस में वायु जाता है तो उसके वेग से शब्द उत्पन्न होता है ऐसे ही मनुष्यकी वासना है। परन्तु जैसे थका हुआ मनुष्य मेरु भूमि के मार्ग की इच्छा नहीं करता ऐसेही विषयों को दुःखरूपी जान कर मैं उनके भोग की इच्छा नहीं करता।

फिर यह जो भोग रूपी लक्ष्मी है सो भी परम अनर्थ उत्पन्न

करने वाली है। क्योंकि जब तक यह प्राप्त नहीं होता, तब तक तो इसको पाने का यत्न होता है और बहुत अनर्थ करके जब यह प्राप्त होती है तब सब गुणों को नाश कर देती है। इसके आते ही मनुष्य के शीलता, संतोष, धर्म, उदारता, कोमलता, वैराग्य विचार और दया आदिक समस्त गुणों का नाश हो जाता है और जब गुणों का ही नाश होगया तब सुख कहाँ से होगा? तब तो परम आपदा ही प्राप्त होती है। अतः परम दुःख का कारण जान कर ही मैंने इसका त्याग किया है। हे मुने! इसमें गुण तभी तक है, जब तक लक्ष्मी प्राप्त नहीं हुई। जब लक्ष्मी की प्राप्ति हुई तब सब गुण नाश होजाते हैं। जैसे वसंत ऋतुकी मंजरी तभी तक हरी रहती है, जब तक ज्येष्ठ, आषाढ़ नहीं आता। ज्येष्ठ, आषाढ़ के आते ही भस्म होजाती है। मनुष्य मीठे वचन तो तभी तक बोलता है, जब तक लक्ष्मीकी प्राप्ति नहीं होती। जब लक्ष्मी की प्राप्ति होजाती है तब कोमलता का अभाव होकर वह मनुष्य कठोर होजाता है। जैसे जल पतला तभी तक रहता है, जब तक उसमें शीतलता का संयोग नहीं होता। शीतलता का संयोग होते ही वह बरफ होकर कठोर दुःख देने वाला होजाता है। बस, लक्ष्मी के प्राप्त होने से यह जीव जड़हो जाता है। क्योंकि सम्पदा ही तो समस्त आपदाओं का मूल मंत्र है। जब लक्ष्मी की प्राप्ति होती है तब बड़े सुख को भोगता है और जब उसका अभाव होता है, तब तृष्णा करके जलता हुआ जन्म जन्मान्तर को प्राप्त होता है। इससे लक्ष्मी की इच्छा करनी ही मूर्खता है। क्योंकि यह सर्वथा ही क्षणभंगुर है। जहां इससे भोगों की उत्पत्ति होती है वहाँ इसीसे मनुष्य का नाश भी होजाता है। जैसे जल से ही तरंग उत्पन्न होते हैं तो जलसे ही नाश भी हो जाते हैं और बिजली भी स्थिर नहीं होती, वैसे ही भोग भी स्थिर नहीं रहता। अतः मनुष्यमें शुभ गुण तभी तक है, जब तक उसे तृष्णाने स्पर्श नहीं किया। तृष्णा हुई नहीं कि शुद्ध गुणों का अभाव होजाता है। जैसे दूध में मधुरता

तभी तक रहती है, जब तक सर्प उसे स्पर्श नहीं करता। सर्पने स्पर्श किया नहीं कि दूध विषरूप हो जाता है।

इस प्रकार हे मुने! यह लक्ष्मी देखने ही मात्र सुन्दर है। प्राप्त हुई नहीं कि सद्गुणों का नाश कर देती है। प्राणी आत्मपद से मृतक हो जाता है। उसे आत्मानन्द का सुख कभी नहीं मिलता। वह अज्ञानवश महादीन और अन्धा हो जाता है। क्या कहें—जब लक्ष्मी की प्राप्ति होती है तब वह जलरूप अनेक वासनाओं को उत्पन्न कर मनुष्य से बड़े-बड़े भोग भोगवाती है। फिर तो बासनाओं के फेर में पड़ा हुआ यह जीव जन्म-मरण को पाता हुआ कभी स्वप्न में भी शान्ति नहीं पाता। शान्ति पावे भी तो कैसे? क्योंकि लक्ष्मी तो स्वतः ही अशान्तरूप है। उसके आते ही गुणों का अभाव हो जाता है और मनुष्य को प्रबल अहङ्कार उत्पन्न हो जाता है। तब वह अपने आपही बड़ाई करने लग जाता है। लक्ष्मी को पाकर भला ऐसा कौन शूरमा होगा जो अपने से अपनी बड़ाई न करे। ऐसा प्राणी तो दुर्लभ है, भला जो समर्थवान होकर अवज्ञा न करे, सबमें समबुद्धि राखै, ऐसा दुर्लभ कौन है? इसी प्रकार लक्ष्मीवान होकर जो अपने शुभगुणों को रख सके—वह दुर्लभ है। क्योंकि जब इस लक्ष्मीरूपी दूध को तृष्णारूपी सर्पिणी पान करती है तब वह बड़े जोर से फुसकार मारती है। फिर तो प्राणी रचंमात्र भी स्थिर नहीं रहता और अनेक आपदाओं में पड़कर अपना पतन कर देता है। इससे यह केवल देखने में सुन्दर है अन्यथा समस्त दुःखों का कारण है। जैसे तलवार की धार देखने में तो सुन्दर होती है किन्तु स्पर्श करते ही नाश कर देती है—इसी प्रकार यह लक्ष्मी भी विचार रूपी मेघों को वायु के समान नाश कर देती है। हे मुनीश्वर! मैंने खूब विचार कर देखा है कि इसमें सुख कुछ भी नहीं हैं। यह संतोषरूपी मेघ का नाश करने के लिये शरत्काल है। फिर जैसे बिजली चमक कर छिपजाती है, वैसेही यह लक्ष्मी भी प्रकट होकर छिप जाती है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, वैराग्य-प्रकरण का सातवां सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥

आठवाँ सर्ग

::-०-❀-०-::

संसार-सुख-निषेध वर्णन

हे मुनीश्वर! जो इस लक्ष्मी को देखकर प्रसन्न होते हैं, वे महान् मूर्ख हैं। क्योंकि जैसे कमल-पत्र के ऊपर जल की बूंदें नहीं ठहरतीं, वैसे ही लक्ष्मी भी क्षणभंगुर है और जैसे जल में लहरें उठकर फिर जल में लीन हो जाती हैं, वैसे ही लक्ष्मी भी उत्पन्न होकर नष्ट होजाती है। हे मुने! वायु को रोकना कठिन है, और वह भी कोई रोक लेवे, आकाश का चूर्ण करना भी कठिन है सो चाहे इसे भी कोई कर डाले और जो बिजली को ठहरा लेना असम्भव है, उसे भी कोई ठहरा लेवे, परन्तु लक्ष्मी को पाकर कोई स्थिर नहीं रह सकता। जैसे खरगोश की सींग को कोई मार नहीं सकता और जैसे दर्पण पर मोती नहीं ठहर सकता, और जैसे तरङ्ग की गांठ नहीं पड़ती, वैसे ही लक्ष्मी भी स्थिर नहीं रहती। इस प्रकार लक्ष्मीकी चमक बिजली के समान है जो होती भी है और मिट भी जाती है। इससे लक्ष्मी को पाकर जो अमर होना चाहे बड़ा मूर्ख है। उसके जीने से तो मरना ही अच्छा है। मूर्ख अपने नाशके लिये ही इस रूप में जीना चाहते हैं। परन्तु जो ज्ञानी पुरुष हैं, जिनकी परमपदमें स्थिति है, उनका जीना तो सुखके निमित्त ही होता है। क्योंकि उनके जीने से औरों का भी कार्य सिद्ध होता है। इस कारण उनका जीना तो चिन्तामणि के ही समान है, परन्तु जिनके सर्वदा भोग की ही इच्छा बनी रहती है और जो आत्मपद-विमुख रहते हैं-उनका जीना तो सुखके हेतु नहीं है। वह तो मनुष्य नहीं, गर्दभ हैं। भला जो पुरुष शास्त्र पढ़कर भी प्राप्त करने योग्य पदको न पावे तो वह शास्त्र भार-स्वरूप नहीं तो क्या है? उसके लिये तो जैसे किसीको कोई वस्तु भार होती है-तो किसीको कोई, वैसे ही उस

शास्त्री के लिये वह शास्त्र भी भारस्वरूप है कि जिसके सम्बन्ध की चर्चा करता हुआ भी वह उसके अर्थों से शून्य है। क्योंकि वह उसके सार को नहीं पा रहा है।

हे मुनीश्वर! यह मन आकाशरूप है यदि इसपर भी इसे शांति न आई तो मानों यह मनभी इसके लिये भारस्वरूप है क्योंकि मानवशरीर पाकर भी जिसने अभिमान का त्याग न-किया तो शरीर भी उसके लिये भारस्वरूप है। इसका जीना तो तभी श्रेष्ठ है कि जब इसे आत्मपद की प्राप्ति होवे, अन्यथा इसका जीना व्यर्थ है। सो आत्मपद की प्राप्ति अभ्यास से होती है। जैसे पृथ्वी खोदने से ही जल निकलता है, वैसेही अभ्यास करने से ही आत्मपद प्राप्त होता है। परन्तु जो आत्मपद से विमुख होकर आशा की फांसी में फँसे हैं, वे संसार में भटकते ही रहते हैं। इस प्रकार लक्ष्मी सर्वथा ही क्षणभंगुर है इसको पाकर जो अभिमान करता है, वह मूर्ख है। जैसे बिल्ली चूहे को पकड़ने के लिये घात लगाये रहती है, वैसे ही लक्ष्मी भी धनवानों को नरक में डालने के लिये उनके घर में पड़ी रहती है। जैसे अंजुलि में जल नहीं रहता, वैसे ही लक्ष्मी भी चली जाती है। तब भला ऐसी क्षणभङ्ग लक्ष्मी और शरीर को पाकर जो भोगों की तृष्णा करते हैं, वे मूर्ख निश्चय ही मृत्यु के मुख में पड़े रह कर भी जीने की आशा करते हैं।

हे मुनीश्वर! यह अवस्था भी क्या है? जैसे नदी का प्रवाह एक के पश्चात् दूसरा झट आ जाता है, वैसे ही इस शरीर की अवस्था है। बुढ़ापा आते देर नहीं लगती। देखते २ शरीर जर्जरीभूत होजाता है। मृत्यु भक्षणकर लेती है। तब इस प्रकार मूर्खता पूर्ण जीने से तो मर जाना ही अच्छा है। वृद्ध मनुष्य का जीना केवल दुःख का ही कारण होता है। अस्तु, मनुष्यको चाहिये कि चाहे जिस प्रकार और जितनी शीघ्र हो सके अपने आत्मपद को पाने का यत्न करे। मनुष्य शरीरपाकर जिसने आत्मपद पानेका यत्न न किया, वह हत्यारा है।

क्योंकि यह माया देखने में तो बड़ी सुन्दर जान पड़ती है परन्तु इसका परिणाम बहुत ही भयङ्कर और नाशवान है। जैसे वृक्ष को भीतर–ही–भीतर घुन खा जाता है और बाहर से वह बहुत सुन्दर दीखता है, वैसेही यह पुरुष बाहरसे तो बहुत सुन्दर और श्रेष्ठ दृष्टिआता है किन्तु भीतर–ही–भीतर इसको तृष्णाचर्वण कर जाती है। अस्तु, जो पदार्थों को सत्य और सुख रूप जानकर उनसे सुख लाभ करने की इच्छा करते हैं, वे सुखी नहीं होते, वरन् जैसे कोई सर्प को पकड़कर नदी पार होना चाहे, सो नहीं हो पाता और अपनी मूर्खता वश डूब ही जाता है, वैसे ही जो सांसारिक पदार्थों को सुखरूप जानकर उनका आश्रय करता है, वह सुख नहीं पाता और निश्चय ही संसार सागर में डूब जाता है। क्योंकि यह संसार तो इन्द्र–धनुष के ही समान है। जैसे इन्द्र धनुष देखने में तो बहुत रंगका दिखलाई पड़ता है और उससे कुछ भी अर्थ लाभ नहीं होता, वैसे ही यह संसार भी भ्रममात्र है पर इसमें सुख की इच्छा करनी व्यर्थ है। बस, इसी प्रकार जगत को असद्रूप जानकर मैं इससे निर्वासनिक होने की इच्छा करता हूँ।

श्री योगवाशिष्ठ वैराग्य–प्रकरण का आठवाँ सर्ग समाप्तः ॥८॥

नवा सर्ग

:-❀-:

अहङ्कार–दुराशा वर्णन

हे मुनीश्वर! मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु अहङ्कार है। संसार में जितने भी दुःख प्राप्त होते हैं, सब अहङ्कार से ही उत्पन्न होते हैं। जब तक यह रहता है, तब तक दुःखों की उत्पत्ति का अभाव कदापि नहीं होता है। दान, मान, सन्मान और पुण्य आदिक ऐसे जितने भी शुभ कर्म होते हैं, तब तक

सभी व्यर्थ हैं, जब तक कि मनुष्य में अहङ्कार विद्यमान है। ऐसी अवस्था में चाहें कोई लाख चेष्टा क्यों न करे स्वप्न में भी परमार्थ की सिद्धि नहीं होती। हाँ, इसका नाश होने पर तो निश्चय ही कल्याण हो जाता है। इस कारण आप मुझे यह अवश्य बतलाइये कि किस प्रकार से इसकी निवृत्ति होवेगी? क्योंकि इस अहङ्कार रूपी शत्रु ने मेरे शान्तिरूप चन्द्रमा को आच्छादित कर लिया है, इससे मेरी शीतलता और मुझमें जो कुछ प्रकाश है, सब ढँक गया है। हा, जब यह अहङ्काररूपी मेघ गर्जन कर वर्षा करने लगता है, तब तृष्णारूपी मञ्जरी को बढ़ते देर नहीं लगती और वह पलमात्र में ही अपना भयङ्कर प्रभाव डाल देती है। फिर चाहे लाख चेष्टा करो—अहङ्कार रूपी बादलों के रहते, वह कदापि नाश नहीं होती। वह नाश तो तब होवे, जब अहङ्कार का पहले ही नाशहो जाये सो बिना विवेक रूपी पवन के चले वह कैसे नाश हो? क्योंकि जब तक दीपक में तेल और बत्ती विद्यमान है, तब तक वह अवश्य ही प्रकाश करेगा। हाँ, तेल-बाती का अभाव हो जावे तो प्रकाश आपही आप नष्ट हो जायगा। इसी प्रकार जब तक यह महाशत्रु अहङ्कार विद्यमान है, तब तक तृष्णा का नाश नहीं हो सकता।

इस प्रकार चाहे जिस रूपमें देखा जाये, समस्त दुःखों का कारण अहङ्कार ही है। जब अहङ्कार नष्ट होवे, तब दुःखों का भी नाश हो। अहङ्कार यही कि मैं राम हूँ। जब तक मुझमें यह भाव विद्यमान है, तब तक कुछ नहीं हो सकता। इसलिये अहङ्कार को ही समस्त आपदाओं का मूल मंत्र समझकर मैंने उसका त्याग किया है क्योंकि मनुष्य मात्र के लिये परमपद लाभ करना नितान्त आवश्यक है। हे मुनीश्वर! यह अहङ्कार तो ज्ञान को वैसे ही नष्ट कर देता है कि जैसे कमल को बरफ नाश कर देता है। भला देखिये तो सही, इस अहङ्कार रूपी शिकारीने जीवरूपी पक्षी को कैसे बंधन में कर लिया है जिससे यह विचारा महादीन होगया है। हा,विषय भोगोंकी तृष्णारूपी

पिशाचनी ने इसे कैसा मोहित कर पिंजड़े में लिया है। तब भला सुख कैसे मिल सकता है ? अब तो यह उसके बन्धन में पड़ा हुआ नाना प्रकार के सङ्कल्प विकल्पों से आच्छादित हो अनेक प्रकार का शब्द करता है। उससे हे मुनीश्वर ! आप मुझे वही युक्ति बतलाइये कि जिससे इस अहङ्काररूपी दुष्ट से मुक्ति मिले।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, वैराग्य-प्रकरण का नवां सर्ग समाप्त ॥ ९ ॥

-:-❀-:-

दसवाँ सर्ग

चित्त-दौरात्म्य-वर्णन

हे महामुने—जिस प्रकार अहङ्कार से मनुष्यका पतन हो जाता है, उसी प्रकार यह चित्त भी महान दुःखका कारण है। क्योंकि वह सर्वदा ही विषयों की ओर दौड़ लगाता रहता है, जब देखो विषयोंकी ही चिन्ता किया करता है और जो वैराग्य, विचार, धैर्य और सन्तोष आदिक महापुरुषों के गुण हैं उनकी ओर कदापि नहीं जाता। यद्यपि विषयों से इसे रंचमात्रभी लाभ नहीं पहुंचता, तथापि जैसे श्वान द्वार पै भटकता फिरता है, वैसे ही यह चित्त पदार्थों की प्राप्ति में भटकता रहता है। पर वास्तव में उसे कुछ भी नहीं प्राप्त होता और जो कुछ नाममात्र को प्राप्त भी हो जाता है तो उससे यह तृप्त नहीं होता और तृष्णा बनी रहती है। जैसे पिटारे में चाहे जितना भी जल क्यों न भरिये परन्तु वह बाहर ही निकल जाता है और कभी पूर्ण नहीं होता, वैसे ही इस चित्त को चाहे जितने भी भोग पदार्थ क्यों न मिलते जायें, पर यह उससे संतुष्ट नहीं होता और सर्वदा ही तृष्णावान बना रहता है। इससे यह चित्त एक महान मोह का सागर है कि जिसमें प्रतिक्षण तृष्णारूपी अनेक तरंगें उठा करती हैं और नाम मात्र को भी स्थिर नहीं होतीं। जैसे नदी का प्रचण्ड

वेग अथवा समुद्र की प्रचण्ड लहरें अपने तटवर्ती वृक्षोंको उखाड़कर फेंक देती है, वैसेही इस चित्तरूपी समुद्र में वासनारूपी प्रचंड लहरों ने उठाकर मेरे अचल स्वभाव को विचलित कर न जाने कहां का कहां उखाड़ कर प्रवाहित कर दिया है। हा, इस चित्तरूपी धीवरने अपने वासना रूपी जाल को बिछाकर मेरे आत्मा नन्द को कैसा नष्ट कर दिया है कि आज मैं तनिक भी प्रसन्न नहीं हो पाता हूँ और जब देखो तब चित्त में खेदवान ही बना रहता हूँ। हा, इस चित्त के कारण तो तनिक भी शान्ति नहीं प्राप्त होती है। इस दुष्ट के कारण तो मैं वैसा ही क्षोभवान हो रहा हूँ कि जैसे क्षीर समुद्र के कारण ही मन्दराचल क्षोभवान हुआ था।

हे मुने! इस चित्त ने मुझे ऐसी सुदूर खाई में गिरा दिया है कि जिसका कुछ अनुसन्धान ही नहीं हो पाता है। जैसे प्रचंड वायु से सूखे तृण दूर-से-दूर जा पड़ते हैं, वैसे ही इस चित्तरूपी वायु ने मुझको आत्मानन्द से दूर डाल दिया है। जैसे सूखे तृण को अग्नि भस्म कर देती है, वैसे ही इस चित्त ने मुझे भस्म कर दिया है। हे मुनीश्वर! कहाँ तक कहें, यह चित्त तो कभी २ बड़ा गम्भीर और उदार हो जाता है, पर इसकी उदारता भी विचित्र है। जब भोगों को नहीं पाता है तब तो उदार होजाता है और जहाँ भोग मिले नहीं कि उसमें आसक्त होकर परम विषयी-बन जाता है। फिर तो वासना ही इसकी सुख शैया हो जाती है और यह आत्मपद की ओर कदापि नहीं जाता। हा, इसका जाल बड़ा ही विचित्र है। वासनारूपी सूत में संसार की सत्यतारूपी गांठ पड़ी हुई है। इससे हे मुनीश्वर! आप मुझे वही उपाय बतलाइये कि जिससे मैं इस चित्त रूपी शत्रु को विजय कर पाऊँ। मुझे किसी प्रकार के भोगको इच्छा नहीं है। मैं इस जगत की लक्ष्मी को व्यर्थ जानता हूँ। इससे आप मुझे वही युक्ति बतलाइये कि जिससे इस चित्त को जीत सकूं

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, वैराग्य-प्रकरण का दसवाँ सर्ग समाप्त ॥ १० ॥

ग्यारहवां सर्ग

-::-❀-::-

तृष्णा-विवेचन

इतना कह कर रामजी फिर कहने लगे-हे मुनीश्वर ! यह चित्त बड़ा ही दुष्ट है। जगत के जितने भी दुःख हैं, सब इसी के आश्रय से फुरते हैं। क्योंकि इस चेतनरूपी आकाश में तृष्णारूपी एक ऐसी रात्रि आगई है कि जिसमें काम, क्रोध, लोभ और मोहादिक उल्लू आकर निर्भय विचर रहे हैं। जब तक इसका अभाव न होवेगा तब तक प्रसन्नता नहीं प्राप्त हो सकती। क्योंकि इस चित्तरूपी पर्वत के आश्रयसे तृष्णारूपी नदी का यह प्रवाह चलता है कि जिसके संकल्प रूपी तरंगों में पड़ा हुआ यह जीव कहां का कहां चला जाता है। हे मुनीश्वर! यह तृष्णारूपी एकमोर है जो भोगरूपी मेघों को देखकर परम प्रसन्न होता है। इससे समस्त दुःखों की मूल यह तृष्णा है। हा, जब मैं सन्तोष आदिक गुणों का आश्रय करने लगता हूँ, तब यह तृष्णारूपी पिशाचनी आकर उसे नष्ट कर देती है। जैसे किसी सुन्दर सारंगी को चूहा काट डालता है, वैसेही सन्तोषादिक को तृष्णा नाश करदेती है। कहाँ तो मैं यह चाहता हूँ, कि परम पद को लाभ करूँ और कहाँ यह तृष्णा उसमें बाधक होती है। जैसे जाल में फँसा हुआ पक्षी आकाश में उड़ने का यत्न तो करता है किन्तु उड़ नहीं पाता-वैसे ही उसके कारण अनात्मपद में पड़ा हुआ यह जीव आत्मपद में नहीं जा पाता। उसमें जानेकी चेष्टा की नहीं कि यह दुष्टा, स्त्री-पुरुष, पुत्र और कुटुम्ब आदि का ऐसा कठिन जाल सामने लाकर बिछा देती है कि उसमें फँसकर यह जीव कदापि आगे नहीं बढ़ सकता। बढ़ा नहीं कि झट यह उसे नीचे गिरा देती है। हे मुनीश्वर ! यह देखने में तो बड़ी सुन्दर जान पड़ती है परन्तु इसका सौन्दर्य वैसाही निःस्सार और व्यर्थ है-

जैसे इन्द्र धनुष का रंग व्यर्थ और निःसार होता है। हे मुनीश्वर ! इससे कोई भी कार्य नहीं होता। यह तृष्णारूपी वह मेघ है कि जिससे दुःखरूपी बूंद नित्यशः निकलती रहती हैं। फिर यह तृष्णारूपी वह भुवङ्गिनी है कि जिसका स्पर्श तो अत्यन्त ही कोमल है किन्तु विष से ऐसी पूर्ण है कि जिसका डँसा हुआ प्राणी कभी बच नहीं सकता। हे मुनीश्वर ! तृष्णारूपी वह बादल है जो आत्म रूपी सूर्य के आगे आवरण किये है। जब ज्ञानरूपी वायु चले, तब कहीं इसका नाश होकर आत्मपद का साक्षात्कार होवे। फिर तृष्णारूपी वह रात्रि है कि जिसने ज्ञानरूपी कमल को संकुचित कर दिया है। यह वह काली रात्रि है कि जिसमें बड़े-बड़े धैर्यवान भी भयभीत हो जाते हैं। इसमें पड़कर बड़े-बड़े नेत्र वाले भी अन्धे हो जाते हैं। इसके आते ही वैराग्य और अभ्यास रूपी नेत्र भंग हो जाते हैं। वह सत्य का विचार नहीं करने देती। यह ऐसी डाकिनी है कि आते ही सन्तोष आदिक पुत्रों को मार डालती है। इसकी कन्दरा में बड़े २ उन्मत्त हस्ती घोर गर्जन किया करते हैं।

हे मुनीश्वर ! यह तृष्णारूपी एक ऐसा समुद्र है कि जिसमें आपदारूपी अनेक नदियां आकर मिली हुई हैं। इससे आप मुझे वही युक्ति बतलाइये कि जिससे मुझे इस तृष्णारूपी दुःखसे छुटकारा मिल जाये। अन्यथा उसका प्रहार बड़ाही कठिन होता है। खड्ग और इन्द्र के वज्र से भी वैसा दुःख नहीं प्राप्त होता जैसा कि इस तृष्णा से प्राप्त होता है। हाय, मुझे उसी तृष्णा ने घायल कर रखा है और दुःख से मुझे तनिक भी शान्ति नहीं प्राप्त होरही है। फिर यह तृष्णारूपी वह दीपक है कि जिसमें सन्तोष आदिक पतंग आ-आकर जल रहे हैं। परन्तु जैसे, मछली जल में कङ्कड़ और रेत आदि को भी मांस जानकर मुख में रख लेती है और उससे उसका कोई लाभ नहीं होता। वैसे ही यह तृष्णा भी जो कुछ पदार्थ देखकर उसके पास उड़ जाती है—कभी किसी से तृप्त नहीं होती। यह ऐसी

यक्षिणी है कि कभी तृप्त होना जानती ही नहीं। यह उस बन्दर के समान है कि जो कभी इस डाल पर तो कभी उस डाल पर कूदकर जाता है और स्थिर नहीं होता। दिन रात अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति में ही यत्न करता रहता है तथापि भोगों से तृप्त नहीं होता। जैसे घृताहुति से अग्नि तृप्त नहीं होती, वैसे ही जिन पदार्थों का मिलना असम्भव होता है, उसकी ओर भी यह दौड़ती ही रहती है और नाम मात्रको भी शान्ति नहीं पाती। इसलिये यह तृष्णा उस उन्मत्त नदी के समान है कि जो अपने में आये हुये पुरुष को कहां का कहां ले जाकर फेंक देती है। कभी पर्वत के तट में ले जाती है और कभी दिशा विदिशाओं में ले जाकर अपने वासना रूपी तरंगों में ऐसी रडुबकियां और थपेड़े लगाती है कि जिसके चपेट को खाकर वह कभी अपने स्वभावमें स्थिर नहीं होता। फिर यह तृष्णारूपी एक नटिन है जो अपना जगतरूपी अखाड़ा लगाकर उसमें बड़ेबड़ों का शिर नीचा कर लटका देती है और स्वयं दूरसे खड़ी होकर हँसती है। पर खेद है कि अपने को इस अवस्था में देखकर भी मूर्ख प्रसन्न होते हैं। इसकी एक प्रशंसा यह भी है कि जो इसका त्याग करता है, उसके पीछे यह लगी फिरती है और उसके द्वारा बारम्बार त्याग करने पर भी यह उसे नहीं त्यागती। इससे प्रतीत होता है कि यह तृष्णारूपी एक ऐसी डोरी है कि जिसके साथ बँधा हुआ यह जीव भ्रमता फिरता है। इससे यह तृष्णा वह दुष्टनी है कि जो शुभ गुणों को देखते ही मार डालती है। हे मुनीश्वर ! उसके संयोग से ही मैं इतना दीन और आत्मपद से विलग होगया हूँ। अस्तु मुझे तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि इस तृष्णारूपी बांस से ही जगत रूपी ऐसे ऐसे मोती उत्पन्न हुये हैं कि जिसे देखते हुते लोभी का मन पूर्ण नहीं हो पाता। तृष्णा रूपी वह पिटारी है कि जिसमें दुःखरूपी रत्नभरे पड़े हैं। इससे आप मुझे वही युक्ति बतलाइये कि जिस प्रकार यह तृष्णा निवृत होवे। अन्यथा मेरे विचार से तो यह किसी प्रकार

भी निवृत्त नहीं होती है परन्तु मैं इतना कह सकता हूँ कि जैसे प्रकाश से ही अन्धकार निवृत होजाता है, वैसेही कोई युक्ति मिलने पर सम्भव है कि यह भी निवृत्त होजावे। अन्यथा यह तृष्णारूपी हल तो मेरे गुणरूपी पृथ्वी को खोदे डालता है। फिर यह तृष्णा रूपी वह धूलि है कि जो अन्तःकरण रूपी जलमें उछल कर उसे मलिन किये दे रही है। हे मुनीश्वर! अधिक क्या कहें—इस तृष्णाने तो मुझे अत्यन्त ही दीन कर दिया है। इससे आप वही युक्त बतलायें कि जिससे इस तृष्णा का नाश होकर आत्मपद की प्राप्ति होवे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, वैराग्य-प्रकरण का ग्यारहवां सर्ग समाप्त ॥ ११ ॥

:-❀-:

बारहवाँ सर्ग

शरीर-नैराश्यता

हे मुनीश्वर! यह शरीर भी महान अमंगल और अभाग्य रूप है। इसकी विकारता और अपवित्रता तो वर्णन ही नहीं की जाती। क्योंकि इसमें माँस मज्जा के अतिरिक्त और रखा ही क्या है? इससे रंच मात्र भी किसी अर्थ की सिद्धि नहीं होती। अतः मैं ऐसे विकार रूप शरीर के रखने की इच्छा नहीं करता। क्योंकि न तो यह अज्ञ है और न तज्ञ। जड़ है, न चैतन्य। इस कारण इसको मध्यभाव में कहना चाहिए क्योंकि इसमें चैतन्य आत्मा ही विराज रहा है और उसी के संयोग से यह सारे व्यापार फैला रहा है परन्तु यह स्वयम् तो बड़ा ही अपवित्ररूप अस्थि-माँस, रुधिर मूत्र और विष्टा से पूर्ण एवं विकार है। इससे यह समस्त दुःख का स्थान है। इच्छित वस्तु को पाता है तो प्रसन्न होता है और अनिष्ट के प्राप्त होने से शोकान्वित होता है। इस कारण मैं ऐसे शरीर की इच्छा नहीं करता। क्योंकि अज्ञान से ही इसकी उत्पत्ति हुई है और इसमें जो अहंभाव आगया है वही दुःख

का कारण है। जैसे कोठरी में बैठा हुआ बिलाव नाना प्रकारके शब्द करता है, वैसेही इस शरीररूपी कोठरीमें अहङ्काररूपी बिलाव बैठा हुआ अहं-अहं शब्द करता रहताहै परन्तु इसका इस प्रकार शब्द करना निष्प्रयोजन और व्यर्थ है, उससे किसी प्रकारके अर्थ की सिद्धि नहीं होती। यदि उसका शब्द किसी अर्थ के हेतु होता तो ठीक भी था। परन्तु उसमें तो कोई सौन्दर्य है नहीं,सब व्यर्थ है। हा! अब यह शरीर रूपी नौका ऐसे भोगरूपी रेत में पड़ी हुई है कि इसका पार होना कठिन है। पार तो तब होवे, जब वैराग्य रूपी जल बढ़ कर अभ्यासरूपी पतवार की बल्ली लगे। क्योंकि यह शरीररूपी एक ऐसा जहाज है जो संसाररूपी समुद्र और तृष्णारूपी जलमें पड़ा हुआ है और भोग रूपी घड़ियालइस शरीर रूपी जहाजको किनारे नहीं लगने देते। यह किनारे तो तब लगे, जब वैराग्यरूपी वायु और अभ्यास रूपी पतवार का बल लगे। और जिस महापुरुष ने ऐसा किया है, निश्चय ही वह सुखी है। परन्तु जिसने ऐसा अभ्यास नहीं किया है वह आपदा को ही प्राप्त है। इससे निश्चय है कि वह अपने जहाज सहित इस संसार सागर में डूब जावेगा। क्योंकि उसके शरीर रूपी बेड़े में तृष्णा रूपी ऐसा छिद्र होगया है कि जिसको भोगरूपीघड़ियाल भक्षण किये विना कदापि नहीं रह सकते। मूर्खों को इसका तनिक भी ज्ञान नहीं है। क्योंकि वे तो अपने आपको जहाज माने हुये हैं, पर यह नहीं जानते कि इसमें तृष्णारूपी ऐसा छिद्र भी लगा हुआ है कि निश्चय ही दुःख दे रहा है।

हे मुनीश्वर! यह देहरूपी एक ऐसा वृक्ष है कि जिसमें भुजा रूपी शाखा, उँगली रूपी पत्र, जंघा रूपी स्तम्भ, भोगवासना रूपी जड़ और सुख-दुःखरूपी फूललगे हुए हैं। परन्तु जहाँ ये सभी वस्तुयें इसकी सहायता में विद्यमान हैं वहाँ इसमें तृष्णारूपी ऐसा घुन भी लगा हुआ है कि वह इसे नाश करके ही छोड़ेगा। तब भला मैं ऐसे मङ्गलरूपी शरीर-वृक्ष को लेकर क्या करूँगा। यह तो महान् दुःख

का ही कारण है। इससे मुक्त होना बड़ा कठिन है। मुक्त तो जब होवे, जब प्राण, मन बुद्धि और इन्द्रियों सहित इस देह के समस्त अहंभावों का त्याग करे। पर यह साधारण नहीं है। जब त्याग साधारण नहीं है, तब मुक्ति भी वैसा ही कठिन है।

हे मुने! पवित्र तो वह है जो पवित्र स्थान में रहे। जो अपवित्रमें रहता है, वह पवित्र कैसे कहा जायगा? शरीर तो सर्वथा ही अपवित्र है, तब इसमें बास करने वाले आत्मा को पवित्र कैसे कहें? भला जिस शरीररूपी गृह में अस्थिरूपी ईंटें और रक्त, तथा मल-मूत्ररूपी गारा लगा हुआ है और जिसमें अहङ्काररूपी श्वपच और तृष्णा रूपी श्वपचिनी जो उसकी स्त्री है, वास करती है और जिसने काम, क्रोध, लोभ और मोहरूपी पुत्रों को जन्म दिया है-ऐसे अपवित्र और अमंगलरूपी शरीर को लेकर मैं क्या करूँगा। यह मुझे नहीं चाहिए। यह चाहे रहे या न रहे, इसकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं है। हे मुनीश्वर! वह शरीर रूपी एक गृह है, जिसमें इन्द्रियरूप पशु बँधे हुये हैं। यदि कोई उस गृह में जाता है तो ये पशु उसको अपने विषय रूपी सींगों से मारते हैं। तब भला ऐसे शरीरको लेकर मैं क्या करूँगा। इसमें सर्वदा ही कलह पड़ी रहती है और ज्ञान रूपी सम्पदा का कभी प्रवेश नहीं हो पाता। जब देखो, तृष्णा रूपी चण्डी इन्द्रियरूपी द्वारपर खड़ी रहती है और यह कल्पनाकरती रहती है कि शमदमादिक सम्पदारूपी किसीका प्रवेश न होने पावे। हे मुनीश्वर! उस गृहमें सुषुप्तिरूपी एक ऐसी शय्या भी बिछीहुई है कि जिसपर जाकर प्राणी सुखको पा सकता है। परन्तु कामक्रोधादिक तृष्णा के परिवार वहां तक पहुँचने ही नहीं देते। इस कारण यह शरीर परम दुःखों का मूल है। अतः मैं ऐसे शरीर की वाञ्छा नहीं करता। फिर इसकी क्षणभंगुरता भी क्या ही खेल है कि जैसे हस्ती के कान सर्वदा हिलते ही हैं, वैसे ही मृत्यु इसको सर्वदा ही हिलाया करती है और कुछही कालका विलम्ब होता है कि मृत्यु इसे

झट ग्रस लेती है। अतः मैं ऐसे शरीर को स्वीकार नहीं करता। क्योंकि यह महा कृतघ्न है चाहे यह कितने ही भोगों को क्यों न भोग लेवे और कितना भी ऐश्वर्य क्यों न प्राप्त कर लेवे किन्तु मृत्यु के आगे इसका कोई भी साथ नहीं देता और यह जीव इसको अकेलाही छोड़कर परलोक को गमन कर लेता है। कहाँ तो इसको सुख देने के लिये वह अनेक यत्न करता है और कहाँ वे सभी इसका साथ त्याग देते हैं। तब भला मैं ऐसे कृतघ्न शरीरको क्यों न त्याग दूं। कितना आश्चर्य है कि यह तो उसी का साथ करता है कि जो इसके साथ नहीं चलता। तब उसी प्रकार के आचार से जब यह परलोक में जाता है, तब अनेक कष्ट पाता है पर इसे क्या, इस मूर्खको कभी इसका ध्यान होता है? नहीं, यह अपनी मूर्खता में सब कुछ करता ही रहता है। तब ऐसे शरीर के साथ क्या उपकार करें। इस पर उपकार करना तो दुःख को आवाहन करना है। धनी हो या दरिद्र, न्यूनाधिक्य भोग तो सभी भोगते हैं। इसलिए जरावस्था और मृत्यु दोनों को ही प्राप्त होती है। तब इस पर उपकार कैसा? इस पर उपकार करना तो मानो नागिनको दूध पिलाना है। तृष्णा नागिन है। शरीर को नाश कर देती है। अस्तु वह बड़ा मूर्ख है जो इसको भोगने के लिये भोगों के पीछे पड़ा रहता है। फिर इसका आना जाना तो वैसा ही है, जैसा वायु का वेग आते ही चला जाता है। अस्तु, ऐसे शरीर से प्रेम करना, दुःख का कारण है। परन्तु ऐसा कोई विरलाही पुरुष है जो इसकी आस्था में नहीं पड़ा। अधिक तो क्या कहें बिजली की चमक भी आते जाते दीख पड़ती है किन्तु इसको आते-जाते कोई देख नहीं पाता। अस्तु इसकी आस्था करने से कोई लाभ नहीं है। यह ऐसा नाशरूप है कि जैसे बिजली स्थिर नहीं रहती, वैसे ही यह कदापि स्थिर नहीं रहता। बस, इसी कारण मैंने इसकी ममता का त्याग कर दिया है। भला, इसको पुष्ट करके क्या होगा कि जबयह किसी भी कार्य में नहीं आता। तबतो यह भस्म कर देने ही योग्य है।

इसी कारण तो महान पुरुषों ने इसे ज्ञानाग्नि से जलाया है। हाँ, उस प्रकार जला देने पर ही इससे परम अर्थ की सिद्धि हुई है। परन्तु जिसने नहीं जलाया है, निश्चय ही उसे परम दुःख प्राप्त हुआ है। हे मुनीश्वर! जब मैंने इस पर विचार किया तो मुझे ऐसा ही बोध हुआ है कि न तो यह मेरा है और न मैं इसका। अस्तु मुझे इसकी कोई कामना नहीं है। मैं निराशी हूँ। इस शरीरसे मेरा कोई सम्बन्ध नहींहै। हे भगवन्! मुझे तो ऐसा ही ज्ञान होता है कि वे पुरुष धन्य हैं, जो इसका अभिमान त्याग कर परमपद आनन्द को लाभ कर रहे हैं। पर जिसको इसका अहङ्कार है, वह निश्चय ही महान दुखी है। क्योंकि जितने भी दुःख आते हैं, सब शरीर के ही संयोग से आते हैं। यह अपने मान अपमान और जरा, मृत्यु, शोक, मोह और अहङ्कार आदिक विकारों के वशीभूत हो सर्वदा ही एक-न एक आपदा को प्राप्त रहता है। अस्तु, उन्हें धिक्कार है कि जो ऐसे विकारी शरीर की आस्था करते हैं और इसी कारण उनको समस्त आपदायें घेरे भी रहती हैं। परन्तु उन महात्मा पुरुषों को नमस्कार है जो इस शरीर का अभिमान नहीं करते और इसी कारण उनके आगे विश्व की सारी सम्पदायें हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। हे मुनीश्वर! अब यह भी एक विचारने की बात है कि इस शरीर में अहङ्कार की आस्था आई तो कैसे? मेरे विचार से तो जैसे पहले अंकुर आया, फिर वृक्ष हुआ—ऐसेही पहले अहङ्कार की आस्था हुई, फिर शरीर हुआ। सो, आज यही मुझे वैसाही दीन बनाये दे रहा है कि जैसे बैताल के भयसे बालक भयभीत होकर दीन होजाता है। पर यह क्या है, बालक का अविचार है। यदि उसको विचार होतातो दीन क्यों होता? इसी प्रकार अहङ्कार के सम्बन्ध में भी मेरी अवस्था है। अन्यथा जो शरीर जलके प्रवाह के समानही अस्थिर है, उसकी व्यर्थ आस्था क्यों करता? इसकी आस्था करने वाले तो महान मूर्ख हैं। शरीर का आस्था करना ही तो अहङ्कार है अहङ्कार हुआ नहीं कि यह शरीर जगत के हदार्थों

के हेतु यत्न करने लगा। बस, वह यत्न करना ही मूर्खता है। क्योंकि यह शरीर तो वैसे ही मिथ्या है जैसे कि संसार असार और मिथ्या है। बस, इन्हीं सब कारणों से मैं इस शरीर को अंगीकर नहीं करता अस्तु, हे मुनीश्वर! आप वही उपाय बतलाइये कि जिसके द्वारा मुझे परमपद की प्राप्ति होवे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, वैराग्य–प्रकरण का बारहवां सर्ग समाप्त ॥१२॥

तेरहवां सर्ग

:-❀-:

बाल्यावस्था वर्णन

इतना कह कर रामजी फिर बोले–हे मुनीश्वर! इस शरीर की जो बाल्य, युवा और वृद्ध ये तीनों अवस्थायें हैं वे महान दुःखदायक हैं। पहले बाल्यावस्था को लीजिए। बाल्यावस्था समस्त दुःखों का मूल है। देखिए, इसके आते ही जीव में अशक्तता, मूर्खता, इच्छा, चपलता और दीनता आदिक विकारों का साम्राज्य हो जाता है। इस कारण यह बाल्यावस्था महान विकारी है। जिधर ही देखिए, उधर ही चंचलता और अपूर्णता विद्यमान है। यह जब कोई वस्तु ग्रहण करना चाहता है और नहीं पाता तो दूसरी ओर दौड़ लगा देता है। क्रोध करता है तो मूक होने से बोल तो पाता नहीं, भीतर ही भीतर जलता है। इच्छायें बड़ी बड़ी करता है, पाता एक भी नहीं। इस कारण यह प्रतिक्षण तृष्णा के ही फेर में पड़ा रहता है। तनिक से प्रसंग में भयभीत हो जाता है और शान्ति तो जानो कभी प्राप्त ही नहीं होती। इस प्रकार यह बाल्यावस्था महादीन और मूढ़ तथा मूक अवस्था है। भला जिस अवस्था के विचारमें कोई शक्ति नहीं होती और क्षणक्षणमें प्रसन्नता और अप्रसन्नता ही आती रहती है, उसको क्या कहा जाये? उसकोतो अपने स्वरूप का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। देखिए न, जो बाल्या-

वस्था का साथ करता है, वह कितना मूर्ख है। भला जो अवस्था ज्ञान रहित और सर्वदा ही अपवित्र है और सर्वदा पदार्थोंकी ही ओर दौड़ती रहती है, उसे भी कोई अच्छा कहेगा? बस, इसी कारण इस अवस्था को मैं नमस्कार करता हूँ। यह मुझे नहीं चाहिए। इसकीतो मुझे इच्छा भी नहीं है। क्योंकि यह तो उस श्वान के समान है कि जो क्षण२ में द्वारकी ओर जाता और अपमानित होकर फिर वहीं लौट पड़ता है। ऐसेही इसबालक अथवा बाल्यावस्थाको जानना चाहिए। भला वह भी कोई अवस्था है कि जिसमें अपने माता-पिता और भाई तक का भय रहता है। यह नहीं, पशु पक्षी तक से बालक को भय लगा रहता है। तब भला ऐसे दुःखरूपी बाल्यावस्था को लेकर क्या होगा? हा, यह अवस्था तो बड़ी ही चंचल है। इसकी चंचलता क्या कहें-यह तो वैसी ही चञ्चल है, जैसे स्त्रीके नेत्र और नदी प्रवाह चंचल होता है। नहीं नहीं, बालक तो मन के समान चंचल होते हैं। पर यह भी नहीं, बालक की चंचलता के आगे सारी चंचलतायें कनिष्ठ हैं। फिर उपमा तो देनी ही होगी। इस कारण मेरे विचार से बालक की चंचलता तो उस वेश्याके समान है कि जिस का मन एक पुरुष में कभी नहीं ठहरता। ठीक उसी प्रकार बालक का चित्त किसी एक पदार्थ में नहीं ठहरता। वह न तो अपनाकल्याण जानता और न अकल्याण। उसकी सारी चेष्टायें व्यर्थ और अकारण हैं। वह सर्वदाही दीन बना रहता है। कभी सुख कीतो कभी दुखकी ऐसी चिन्तायें उसे प्रतिक्षण कष्ट देती रहती हैं और नाम मात्रके लिये भी कभी शान्ति नहीं पाता। वह शरीर के कष्ट से दुःखी रह करभी अपना दुःख निवारण करनेकी सामर्थ नहीं रखता। सहनभी नहीं कर सकता और भीतरही भीतर जलता हुआ एक शब्दभी बोलनहींसकता। तब भला ऐसी मूक और मूढ़ अवस्था की स्तुति करना मूर्खता नहीं तो क्या है? हे मुनीश्वर! इसमें ज्ञान और विचार का तो लेश भी नहीं रहता। यह भोजन भी करता जाता है और चिल्ला-चिल्लाकर

रोता भी रहता है। जैसे जल के बुलबुले स्थिर नहीं रहते, वैसे ही बालक भी कभी स्थिर नहीं रहता। इससे वह महान मूर्ख अवस्था है। यह (बालक) कभी कहता है हे पिता! मुझे बरफ का टुकड़ा भून दो और कभी कहता है कि मुझको चन्द्रमा लादो। भला उसके ये वचन कितने मूर्खता पूर्ण हैं? अस्तु, मैं ऐसी मूर्खावस्था को कदापि स्वीकार नहीं करता। इसमें तो एक भी गुण नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, वैराग्य-प्रकरण का तेरहवां सर्ग समाप्त ॥ १३ ॥

-:-❀-:-

चौदहवाँ सर्ग

युवावस्था-वर्णन

हे मुनीश्वर! अब युवावस्था को देखिए। यह भी उत्तम नहीं है। क्योंकि यह नीचे से ऊपर को जाती है। इससे यह भी महान दुःख दायक है। इसके आतेही मनुष्यपर कामरूपी वह पिशाच आ लगता है कि जिसके धक्केसे गिरा हुआ प्राणी ऐसी दुर्गम खाईमें जा पड़ता है कि जहांसे निकलना कठिन हो जाता है। चित्तभ्रमहो जाता है, इच्छायें फैल जाती हैं और मनुष्य कामके वशीभूत होकर अनेक दुःख पाने लगता है। क्या कहें—जैसे किसी धनी पुरुष को देखकर निर्धनी धन की आशा करते हैं, वैसे ही युवावस्था को देखकर सभी दोष एकत्र हो जाते हैं। इसी कारण मैं कहता हूँ कि जो भोगोंको उत्तम और सुख रूप जानकर उसकी इच्छा करते हैं वे भोगतो परम दुःख के कारण हैं। इनको भोगा नहीं कि मनुष्य तृष्णा से उन्मत्त और पराधीनहो गया। फिर युवावस्था में काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार आदिक चोर तो प्राणी को अपने मनमाना ऐसे लूटते हैं कि वह कहीं का नहीं रहता। उसका आत्मज्ञान लुप्त हो जाता है। और वह महादीनहो इधर-उधर भटकता रहता है। इस कारण हे मुनीश्वर! ऐसी नाश रूप युवावस्था की मुझे तनिक भी इच्छा नहीं है।

मुझे तो शान्ति चाहिये। पर युवावस्था में चित्त विषयों की ओर दौड़ता रहता है। जब देखो,तब तृष्णा घेरे रहती है। फिरतो उसको हाथ लगा हुआ जीव जन्म जन्मान्तरके फेरमें पड़ा हुआ कभी शान्ति नहीं पाता। जैसे प्रलयकाल में सर्व दुख आ उपस्थित होते हैं, वैसे ही युवावस्था के आते ही जीव में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार और चपलता आदिक समस्त दुःख आपही आप स्थित होते हैं। फिर यह क्षणभंग तो इतनी है कि जिसकी कुछ उपमा ही नहीं दी जा सकती। विजली की चमक और समुद्र की लहरें भी उतनी क्षण भंग नहीं है कि जितनी यह युवावस्था क्षणभंगुर है। हा, यह मनुष्य को ऐसे छल लेती है, जैसे स्वप्न में कोई स्त्री विकार से छल जाये। अतः यह जीवकी परम शत्रु है। जो पुरुष इस शत्रु के हाथ न पड़े,वह धन्य है। क्योंकि इसके काम और क्रोधरूपी शस्त्र ऐसे भयङ्कर और कठोर हैं कि जिसका आघात पाकर प्राणी कदापि नहीं बचता। देखने में तो यह बड़ी सुन्दर है, पर भीतर से तृष्णा ने इसको भस्म कररखा है जैसे कोई वृक्ष देखने में तो बड़ा सुन्दर हो और भीतर ही भीतर उसे घुन ने चाटकर जर्जर कर दिया हो, वैसे ही यह युवावस्था भोगों के लिये यत्न करती हुई भीतर से जर्जर भूत हुई रहती है।

हे मुनीश्वर ! यह युवावस्था रूपी एक ऐसी नदी है कि जिसमें प्रतिक्षण इच्छारूपी लहरें उठती ही रहती हैं और कदापि स्थिर नहीं होती। इस कारण यह बड़ी दुष्ट है। देखिए, न इसके फेर में पड़कर बड़ेर बुद्धिमान, निर्मल और प्रसन्न पुरुष भी अपनी बुद्धि को मलिन कर चुके हैं। इसके आते ही वैराग्य और सन्तोष आदिक गुणों का सर्वथा ही नाशहो जाता है। युवारूपी सूर्य का आगमन हुआ नहींकि दुःखरूपी कमलोंको प्रफुल्लित होते देर नहीं लगती। जैसेसूर्यके उदय होते ही सूर्य मुखी कमल खिल जाते हैं, वैसे ही युवाके आते ही समस्त दुःख प्रसन्न हो जाते हैं। फिरतो इस चित्त रूपी कमल और संसार रूपी पंखड़ीसे जो सत्यता रूपी सुगन्ध निकलती है उसपर तृष्णा रूपी

भौंरा आकर बैठ जाता है और विषयरूपी सुगन्ध को लेने लगता है। देखिये, धानके छोटे२ वृक्ष तभी तक हरे रहते हैं, जब तक कि उनमें फल नहीं आते। फल आया नहीं कि वृक्ष सूखने लग जाते हैं और जहाँ वे पके नहीं कि सब प्रकारसे उन वृक्षोंकी हरियाली नष्ट हो जाती है,वैसेही जब तक युवावस्था नहीं आती तब तकतो यहशरीर सुन्दर और कोमल रहता है,और युवावस्था आई नहीं कि शरीरकड़ाहो जाता है और फिर ऐसा परिपक्व हो जाता है कि देखते२ वृद्ध होकर क्षीणहो जाता है। इस कारण हे मुनिवर! मुझे ऐसी दुःखकी मूलरूप युवावस्था की तनिक भी इच्छा नहीं है। क्योंकि यह सर्वथा ही अमर्यादिक रहती है। जहाँ ही देखो, उछलती रहती है जैसे अन्धकार में पदार्थों का ज्ञान नहीं रहता, वैसे ही इस युवावस्था में शुभाशुभका विचार और त्याग नहीं होता तब भला जिसको विचार नहीं उसको शान्ति कहाँ? वह सर्वदा व्याधि और ताप में जलाकरता है। जैसे जलसे पृथक मत्स्यको शांति नहीं मिलती वैसेही अविचारी पुरुष को शान्ति नहीं मिलती। हे मुनीश्वर! यह युवारूपी एक ऐसी रात्रि है कि जिसमें कामरूपी पिशाच आकर गर्जन करता है और तब यही सङ्कल्प उठते रहते हैं कि कोई कामी पुरुष आवे तो उसके साथ में यही चर्चा करूँ कि हे मित्र! वह स्त्री बड़ी सुन्दर है, उसके नेत्र कैसे चंचल हैं और वह मुझे कैसे प्राप्त होगी। बस, युवा पुरुष इसी प्रकार की इच्छा में सर्वदा ही जलते रहते हैं और जैसे मरुस्थल में भी जल का आभास देखकर मूर्ख मृग उधर ही दौड़ता है, किन्तु वहाँ जल न पाकर हृदय में जलता है, वैसे ही कामी पुरुष अपनी विषय वासनाओं से हृदय में जलता हुआ नहीं शान्ति पाता। अन्यथा मनुष्य योनिमें जन्म लेनातो उत्तम ही है। परन्तु जिनके मस्तक पर अभाग्य नाचता रहता है वे विषयों के वशीभूत हो आत्म पदको नहीं प्राप्त करते। हे मुनीश्वर! कहाँ तक कहें, यह युवावस्था चित्त में बड़े२ विकारों को उत्पन्न कर देती है। इस अवस्था में जब देखिये

चित्त विक्षेप की ही ओर दौड़ता रहता है। अस्तु मेरे विचार से तो समुद्र का लाँघना भी सरल है पर युवावस्था से पार पाना अत्यन्त कठिन है। ऐसा कोई नहीं है जो इस अवस्था में निर्दोष रहे। परन्तु ऐसी संकटापन्न युवावस्था में जो चलायमान नहीं होते वे पुरुष धन्य और वन्दनीय हैं। यह चित्त को सर्वथाही मलिन कर देती है। इस कारण हे मुनीश्वर ! मैं प्रतिक्षण यही प्रार्थना करता रहता हूँ कि "हे युवावस्थे ! मुझ पर कृपाकर, मैं तेरा दर्शन नहीं चाहता। क्योंकि तेरा आगमन दुःखका कारण है। जैसे पुत्र शोकको पिता सहन नहीं कर पाता और उससे उसे कोई सुख कारण नहीं दिखलाई पड़ता वैसे ही तेरे आगवन में मुझे सुख का हेतु नहीं दिखलाई पड़ता। इस कारण तू मुझ पर यही दया कर कि, अपना दर्शन न दे।" क्योंकि हे मुनीश्वर ! युवावस्था में नम्रता नहीं रहती। विचार, वैराग्य सन्तोष और शान्ति भी नहीं आती। जैसे आकाश में वन का होना आश्चर्य है, वैसे ही युवावस्था में इन गुणों का रहना महान आश्चर्य है। अतः आप मुझे वही उपदेश कीजिये कि जिससे इस युवावस्था से मुक्त होकर आत्मपद की प्राप्ति होवे।

श्री योगवाशिष्ठ वैराग्य-प्रकरण का चौदहवां सर्ग समाप्त ॥ १४ ॥

: -०-❀-०-::

पन्द्रहवां सर्ग

स्त्री-दुराशा वर्णन

हे मुनीश्वर ! युवावस्था में मनुष्य बड़ा कामी हो जाता है। जब देखो उसे स्त्रीकी चाट लगी रहती है। उसीकी चर्चा करता है और उसीकी प्राप्ति में मग्न रहता है। स्त्रीके आगे-उसे दूसरे उत्तम विचार आतेही नहीं। परन्तु जिस काम-विलासके लिये पुरुष स्त्रीकी इच्छाकरते हैं वह तो महा निकृष्ट मलमूत्र से भरी हुई अस्थि-मांसकी एक पुतली के सिवा और किसी अर्थ की वस्तु नहीं है। मूर्खों का विचार नहीं

होता। इसी कारण वह उसे इतनी रमणीय भासती है। विचार करके देखेंतो सिवा अस्थि मांस के उसमें और क्या है? जैसे, पर्वत के शिखर दूर से ही देखने में गंग–माला सहित बड़े सुन्दर दिखलाई पड़ते हैं और निकट से असार हैं, वैसे ही देखने में तो स्त्री वस्त्राभूषणों सहित बहुत सुन्दर जान पड़ती है किन्तु निकटसे यदि उसके अंगों को भिन्न–भिन्न करके देखा जाय तो उसमें सार कुछ नहीं है। जैसे नागिन के अंग बहुत कोमल होते हैं परन्तु उसका स्पर्शकरे तो काटकर मार डालती है, वैसे ही जो स्त्रीको स्पर्श करतेहैं वह उनको नाशकर डालती है। हां, उस पर भी कामी पुरुष नहीं चेतते और जैसे हाथी को जंजीर लगाकर जहाँ बाँध दिया जाता है, तो वह उसी द्वारपर पड़ा रहता है, वैसे ही अज्ञानी पुरुष का चित्तरूपी हस्ती कामरूपी जञ्जीर में बँधा हुआ स्त्री रूपी एक स्थान में स्थित रहता है और वहाँ से कहीं अन्यत्र को नहीं जाता। अस्तु, स्त्री की इच्छा करना मानो अपने को नाश कर देना है। स्त्रीका साथ किया नहीं कि मनुष्य नष्ट हो जाता है। जैसे वन की दावाग्नि वन को भस्म कर देती है वैसे ही स्त्री रूपी अग्नि पुरुष रूपी वन को भस्म कर देती है। स्त्री का मुख तो देखने में ही रमणीय भासता है, पर वास्तव में वह रमणीय नहीं है। स्त्री का वियोग पुरुष को सर्वथा ही मार डालता है। जैसे अग्निकी ज्वालाके ऊपर श्यामता होती है, वैसे ही स्त्री के शिर पर जो काले२ केश हैं और जैसे अग्निके स्पर्श करने से हाथ जलता है, वैसेही स्त्रीके स्पर्श करने से पुरुष जलता है। इससे जो पुरुष स्त्री की इच्छा करते हैं वे बड़े मूर्ख और अज्ञानी हैं। हे मुनीश्वर? यहस्त्री रूपी वह सर्पिणी है कि जिसके फूत्कार से वैराग्यरूपी कमल जल जाते हैं। इसका चिन्तन करते ही पुरुष भीतर ही भीतर भस्म हो जाता है। परन्तु यह एक ऐसी लिप्सा है कि जिसके लिए कामी पुरुष स्वयं चेष्टा करके उसके जालमें फँसकर अपना प्राण गवाँ देते हैं। और तृष्णारूपी छुरी उनका गला काट देती है। परन्तु इस पर

भी कामी पुरुषों को भोग ही प्रिय होता है। वे आत्मनन्द को कुछ जानते ही नहीं। जानें तो कैसे, कामरूपी पिशाच उन्हें क्षणमात्रभी प्रसन्न नहीं रहने देता। जब देखो, कामरूपी ब्याध रागरूपी इन्द्रियों का जाल बिछाये ही रहता है। घात लगा नहीं कि झट जाल को समेट कर पुरुषको मार डालती है। फिर जैसे सूखे तृण और घृत को अग्नि भस्म कर डालती है, वैसे ही कामी पुरुष को स्त्री रूपी नागिन भस्म कर डालती है। हे मुनीश्वर ! स्त्री रूपी एक ऐसी रात्रि है कि जिसके स्नेह रूपी अन्धकार में काम क्रोधादिक उलूक और पिशाच निर्द्वंद नृत्य करते हैं। उनके प्रहारों से बचना बड़ा कठिन है जो स्त्री रूपी खड्ग के प्रहार से युवारूपी संग्राम में बच जाये, वह पुरुष धन्य है और उसको मेरा बारम्बार नमस्कार है। क्योंकि स्त्री का संयोग परम दुःख का कारण है। इससे मैं इसकी इच्छा नहीं करता। हे मुनीश्वर ! पथ्य सहित रोग की औषधि की जाये तो अवश्य ही लाभ होता है, अपथ्य से मृत्युहो जाती है, अतः आप मेरे रोग के अनुसार पथ्य सहित मेरी औषधि करें। मुझको जरा और मृत्यु का बड़ा रोग है। सो कृपा कर आप मुझे उसके नाश की औषधि दीजिये! स्त्री आदिक भोगतो इस रोग को और भी बढ़ाने वाले हैं। अतः आप इसकी निवृत्तिकी औषधि शीघ्र करें। अन्यथा मैं सबका त्याग कर बन में चला जाऊँगा। क्योंकि जिसको स्त्री होती है उसी को भोग की इच्छा होती है। और जिसको स्त्री ही नहीं होगी, वह उसकी इच्छा कैसे करेगा। वही सुखी है जिसने स्त्री का त्याग किया है। अतः आप मुझको वही औषधि दीजिए जिससे मुझे मेरे यह जरा और मृत्यु आदिक रोग नष्ट हो जावें।

श्री योगवाशिष्ठ वैराग्य-प्रकरण का पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्तः ॥१५॥

सोलहवाँ सर्ग

:-❀-:

वृद्धावस्था–वर्णन

हे मुनीश्वर ! बाल्यावस्था तो उस प्रकार जड़ और महा मूर्ख हुई और युवावस्थाकी दशा भी आपसे वर्णन ही कर चुका हूँ। तब इसके पश्चात् वृद्धावस्था आती है। सो इस अवस्था में शरीर जर्जर हो जाता है और बुद्धि भी क्षण हो जाती है। पश्चात् वह प्राणी मृत्यु को प्राप्त होता है। इस प्रकार इस शरीर से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। उसमें वृद्धावस्था तो ऐसी दारुण अवस्था है कि जिसका वर्णन करते रोमांच होता है। क्योंकि इस शरीर के जितने भी रोग हैं, सब वृद्धावस्था में आकर प्राप्त होते हैं और शरीर कृषित हो जाता है। न पुत्र काम आते हैं, न स्त्री। सभी वृद्ध को त्याग देते हैं। जैसे पके हुये फल को वृक्ष त्याग देता है, वैसे ही पुरुष को उसके कुटुम्बी त्याग देते हैं। अधिक तो क्या, वृद्धको लोग बावला समझते हैं और कहते हैं कि इसकी बुद्धि मारी गई है। उसे देखकर बालक ताली पीटते और अन्य लोग भी उसकी हँसी उड़ाते हैं। शरीर कुबड़ा हो जाता है। केश श्वेत हो जाते हैं। शक्ति क्षीण हो जाती है। फिरतो उसका किया कुछ भी नहीं होता और केवल अशक्ति ही रह जाती है। क्रोध बढ़ जाता है और सारी शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं।

इस प्रकार हे मुनीश्वर ! चाहे जिस रूप में देखिये, वृद्धावस्था समस्त दुःखों का मूल है। इसके आते ही सारे दुःख एकत्र हो जाते हैं और पुरुष अत्यन्त दीन हो जाता है। यही नहीं जो इन्द्रियाँ उसे युवावस्था में उन्मत्त किये रहती थीं, वही अब जरावस्था में उसका रंचमात्र भी साथ नहीं देतीं। किन्तु तृष्णा तो महा उन्मत्त होकर बढ़ जाती है। फिर तो कफ और खाँसी रूपी स्यार आकर उसे ऐसा उद्विग्न कर देते हैं कि वह उसके आधि व्याधिरूपी उलूकों से व्याकुल

हो जाता है। इस कारण हे मुनीश्वर ! मुझे ऐसी नीच वृद्धावस्था की तनिक भी इच्छा नहीं है। क्योंकि इस अवस्था में शरीर झुककर कुबड़ा हो जाता है और जो स्त्री पुत्रादिक युवावस्था में उसकी सेवा टहल किया करते थे वही बुढ़ापे में उसका साथ वैसे ही त्याग देते हैं जैसे कोई किसान अपने वृद्ध बैल को त्याग देता है। जहाँ देखिए लोग पग२ पर उसका अपमान करते और हँसी उड़ाते हैं कोई कहता है-देखो, ऊँट जा रहा है। अस्तु मैं ऐसी नीच अवस्था को नहीं चाहता। तब बाल्यावस्था तो उस प्रकार मूढ़ हुई और युवावस्था भी महा विकारवान हुई तथा वृद्धावस्थाभी महान दुखदाई है। सो अब मेरा क्या कर्तव्य है- आप कोई ऐसी योग्य युक्ति बतलाइये कि मैं इस संसार सागर से पार हो जाऊँ। अन्यथा वह समय दूर नहीं है कि जब बाल्यावस्था के पश्चात् युवा और युवा के पश्चात् वृद्धा तथा वृद्धा के पश्चात् मृत्यु आही जायगा। क्योंकि मृत्यु तो बिल्ली के समान प्रतिक्षण अपनी घात में बैठी ही रहती है और देखती रहती है कि यह जीव रूपी चूहा कब घात में मिले, कब मैं चटकर जाऊँ। सो वृद्धावस्था उसकी मुख्य घात है। इस घात में प्राणी कभी भी उस मृत्यु रूपी बिलावसे नहीं बच पाता। जब यह जरावस्था आती है तब-इसको देखकर मृत्यु वैसे ही प्रसन्न होती है जैसे चन्द्रमा को देखकर चन्द्रविकासी कमल प्रसन्न हो जाते हैं। इससे यह जरा-वस्था बड़ी दुष्टा है। हा, इस दुष्टनी ने बड़े-बड़े योद्धाओं को भी दीन कर दिया है। मैंने यह देखा है कि जिन बड़े २ शूर वीरों ने संग्राम-स्थल में लाखों वीरों को यम के हवाले किया है, समय आया है कि मृत्यु ने उनका भी भक्षण कर लिया है। हां, इस राक्षसी ने तो सबको दीन कर दिया है, सबको विजयकर लिया है। जैसे-लोहे की जंजीर से बँधा हुआ हस्ती दीन हो जाता है, वैसे ही इस वृद्धा वस्थारूपी जञ्जीर से बँधा पुरुष दीन हो जाता है। उसके अङ्ग-प्रत्यंग ढीले हो जाते हैं, शक्ति जाती रहती है, इन्द्रियाँ निर्बल हो जाती हैं,

शरीर जर्जर हो जाता है और तृष्णा बढ़ जाती है। इस प्रकार जरावस्था में पुरुष के आगे सारी आपत्तियाँ आकर नृत्य करने लगती हैं और प्राणी कालके गाल में विलीन हो जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ वैराग्य-प्रकरण का सोलहवां सर्ग समाप्त ॥ १७ ॥

-:::-❀-:::-

सत्रहवाँ सर्ग

काल-महिमा वर्णन

हे मुनीश्वर! यह काल बड़ा बली है। इसके आगे किसीका वश नहीं चलता। यह ऐसा कठोर है कि किसीको स्थिर नहीं रहने देता। चाहे कोई कितना भी बड़ा बलवान क्यों न हो, पर काल उसे भी ग्रहण कर लेता है। जैसे समुद्र बहुत बड़ा है फिर भी बड़वानल की अग्नि उसे भस्म कर देती है और वायु पत्तों को उड़ा ले जाती है, वैसे ही काल भी इतना अधिक बलवान है कि उसके आगे कोई स्थिर नहीं रह सकता। यहां तक कि जो शान्ति गुण वाले देवता और रजोगुण वाले राजा तथा तमोगुण वाले-बड़े दैत्य हैं, वे भी उसके आगे स्थित नहीं रह सकते। जगत के जितने भी प्रपंच हैं, सब काल-ग्रसित हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश और कुबेर आदिको भी यह काल नहीं छोड़ता। घात लगा नहीं कि यह इन्हें भी अन्तर्द्धान कर देता है। इसको भक्षण से कभी तृप्ति नहीं होती। संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय जो कुछ होता है, सब काल के ही द्वारा होता है। यह क्या नहीं कर सकता? संसार में या परलोक में भी यह जो चाहता है, कर डालता है। यह चाहें तो इन्द्रको दरिद्री और दरिद्री को इन्द्र बना दे। पर्वत से राई और राई से पर्वत कर डालता है। नीच को ऊँच और ऊँच को नीच तथा बूँदको समुद्र और समुद्र को बूँदकर देना इसके लिये कोई परिश्रम का कार्य नहीं है। इसका यह प्रधान कार्य है कि जीवरूपी मच्छरों को शुभाशुभ कर्मरूपी छुरेसे

छेदता रहे। हे मुनीश्वर ! जगत के समस्त विलासों को काल भक्षण कर जाता है। इसी कारण जो ज्ञानी हैं वे जगत के किसी भी पदार्थ से प्रेम नहीं करते और उत्पत्ति प्रलयमें समभाव से रहते हैं। क्योंकि वे इसी प्रसङ्ग को भली भांति जानते हैं कि यह संसार रूपी वह खाई है कि जिसमें गिरा हुआ प्राणी पुनः जीवन नहीं धारण कर पाता परन्तु जो मूर्ख हैं, उन्हें इसका तनिक भी विचार नहीं है और वे संसार को सत्य जानकर उसके आस्था रूपी जालमें भोगों की वांछा करते हुए फँसे पड़े रहते हैं। फिर चाहे वे प्राप्त हों या न हों। उन्हें तो मिथ्या वस्तु ही सत्य सी प्रतीत होती है। किन्तु निश्चयही ये सभी सुख नाशात्मक और क्षणस्थायी हैं। समय आया नहीं कि काल ग्रस लेता है। उस पर भी प्रशंसा यह है कि कोई इसे देख नहीं पाता। क्योंकि इसका कोई स्थूल आकार नहीं है। क्षण, घड़ी, प्रहार, दिन मास, और जो, वर्षादिक हैं, वही काल है। सो यह इतना वली है कि किसी को स्थिर नहीं रहने देता। फिर यह इतना दुष्ट है कि दया करना तो जानता ही नहीं। अतः आप मुझे वही युक्ति बतलाइये कि जिससे मैं इस काल से निर्भय हो जाऊँ। क्योंकि इसकी महा-शक्ति देखकर मेरा चित्त व्याकुल हो उठता है। यह संसार रूपी वन का ऐसा निर्दयी शिकारी है कि जीव रूपी पक्षियों को गिन-गिन कर मार डालता है। महाप्रलयभी यही करता है और इसका बहुत बड़ा उदर है। जैसे बन के मृग को सिंह और सिंहनी भक्षण करके फिर आनन्द मनाते हैं वैसे ही यह काल रूपी कालिका संसार के जीवों का भक्षण कर आनन्द पूर्वक नृत्य करती है। यही नहीं, इसकी अपार शक्ति तो यह है कि यही जगत् का प्रादुर्भाव भी करता है। पृथ्वी, बाग और बावली जो कुछ कहिए, नाना प्रकार के पदार्थों सहित सबकी रचना करने वाला भी यही है। कितना आश्चर्य है कि यही तो नाश करता है और फिर यही रचना भी कर लेता है। अस्तु यह बड़ा भयङ्कर है। समुद्र की रचना कर फिर उसमें आग लगा

देना भी इसी का कार्य है। सरोवर में सुन्दर कमल उत्पन्न कर फिर उन पर तुषार की वर्षा कर उन्हें नष्ट कर देना भी इसी का सामर्थ है। वड़े से बड़ा नगर और बड़ी-से-बड़ी बस्ती को बनाकर फिर उसे स्मशान बना देना तो इसके हाथ की एक साधारण रचना है। यह ऐसा दुष्ट बन्दर है कि संसार के किसी भी पदार्थ को स्थिर नहीं रहने देता। तव, जव सभी पदार्थ कालसे जर्जरी भूत हैं, तब भला मैं किस नियमसे उनका आश्रयकरूँ। मुझे तो सभी नाशरूप भासितहोते हैं। अतःहे मुनीश्वर ! मुझे जगत के किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा,वैराग्य–प्रकरण का सत्रहवां सर्ग समाप्त ॥१७॥

::-❀-::

अठारहवां सर्ग

सर्व पदार्थभाव वर्णन

हे मुनिश्वर ! इस प्रकार चाहे जिस रूप में देखिये, संसार के जितने भी पदार्थ हैं, सब नाशवान और क्षण स्थायी हैं। न तो कोई अवस्था स्थित रहती है और न कोई मार्ग स्थाई दिखलाई पड़ता है। तब भला ऐसे नाशवान जगत की आस्था मेरे किस प्रयोजन की है ? तृष्णा रूपी समुद्र में चित्त रूपी ऐसा बेड़ा पड़ा हुआ है कि जो कभी ऊपर जाता है तो कभी नीचे और क्षण मात्र के लिये भी स्थायी नहीं होता। स्थायी रहे भी तो कैसे ? इस तृष्णा रूपी नदी में राग द्वेषादिक ऐसे बड़े-बड़े मच्छ पड़े हुए हैं कि जो स्थायी नहीं रहने देते। तब भला ऐसे नाशरूप को लेकर क्या होगा ? हे मुनीश्वर ! तरंगों के समूह और बड़े-से बड़े रण-समुद्र को पार कर लेने वाले को मैं वीर नहीं मानता, परन्तु जो इन्द्रिय रूपी समुद्र में मनोवृत्ति रूपी तरंगें उठती हैं, उनको पार करने वाले को मैं वीर जानता हूँ। क्योंकि जिसके परिणाम में सुख है उसका आरम्भ वे नहीं करते और काम के अर्थ की वे धारण करते हैं। तब इस प्रकार के आरम्भ से पश्चात् में भी सुखकी प्राप्ति नहीं होती

और वे कामना करके सर्वदा जलते ही रहते हैं। क्योंकि उनकी तृष्णा तो अनात्मपदके लिये होती है, फिर शान्ति कैसे प्राप्त हो ? शान्ति प्राप्त कराने वाले तो सन्तोष और वैराग्य हैं सो तृष्णा उनको नष्ट भ्रष्ट कर देती है। भला ऐसा कौन है जो इसके प्रचण्ड वेग के आगे स्थिर रह सके। मोह रूपी वृक्षके चारों ओर स्त्री रूपी बल्ली लगी हुई है, जो सर्वथाही विषय से पूर्ण है। जब चित्तरूपी भौंरा उड़कर उस पर बैठता है तब स्पर्श मात्र से नाश हो जाता है। जैसे कुत्ता व्यर्थके लिये पूँछ हिलाया करता है, वैसे ही मूर्ख व्यर्थके लिये विषयों के पीछे चंचल बना रहता है। अतः वह भी पशु के ही समान है। जैसे पशु दिन भर तो वनमे चरते फिरते हैं और संध्या समय घर पर आकर खूंटेमें बँध जाते हैं,वैसेही मूर्ख मनुष्य भी दिन भरतो घर छोड़ कर व्यवहार में फिरते हैं और रात्रि को घर में आ जाते हैं, परन्तु इससे परमार्थ की कोई सिद्धि नहीं होती और वे अपनाजी वन व्यर्थ ही में गवां देते हैं। बाल्यावस्था में तो शून्य ही रहते हैं और युवावस्थामें कामोन्मत्त हो जाते हैं और वृद्धावस्था में शरीर कृशितहो जाता है। तृष्णा बढ़ जाती है। तब यह नाना प्रकार से जगत् के पदार्थों की इच्छा करता हुआ राग द्वेषरूपी ऐसे कण्टक वृक्ष में जा गिरता है कि जहां उसका सर्वथाही नाश हो जाता है। अतःजगत् के जितने भी पदार्थ हैं, सब नाशरूप और शब्दमात्र हैं इस कारण इनमें आस्था करनी मूर्खता है। इससे कुछ भी अर्थ सिद्ध नहीं होता इसी कारण जो ज्ञानी पुरुष हैं, वे विषय भोगों की इच्छा नहीं करते और आत्मा के प्रकाश से सबको मिथ्या ही जानते हैं। परन्तु ऐसे दूर दर्शी पुरुष स्वप्न में भी नहीं दिखलाई पड़ते। ऐसे पुरुषों को संसार की कुछ भी इच्छा नहीं रहती। क्योंकि वे भली भांति जानते हैं कि यह सभी पदार्थ नाश रूप हैं। इनकी भी सत्ता नहीं है। देखते-देखते नाश हो जाते हैं। तब भला मैं किसका आश्रय करूँ जो सुखी होऊँ। जब युगों की सहस्र चौकड़ी व्यतीत होती हैं तब कहीं

नाना प्रकार के रूप धारण करते हैं। कभी एक रस और स्थिर नहीं रहते। कभी स्त्री पुरुष और कभी पुरुष स्त्री हो जाता है। कभी मनुष्य पशु और कभी पशु मनुष्य हो जाता है। उसी प्रकार स्थावर जङ्गम और जंगम स्थावर तथा मनुष्य को देवता और देवता से मनुष्य हो जाता है। हे मुनीश्वर! यह जितने भी पदार्थ दृष्टि आते हैं, सब नष्ट हो जावेंगे और किसी प्रकार भी स्थिर न रह सकेंगे। ये जो बड़ी २ नदियाँ दिखलाई पड़ती हैं, बड़वाग्नि में लय हो जावेंगी और इस प्रकार ये सभी पदार्थ अभावता को प्राप्त होवेंगे। मैंने स्वयं देखा है कि जो बड़े २ सुन्दर स्थान थे, वे शून्य हो गये हैं। मरुस्थलकी भूमि सुन्दर होगई और घटके पटतथा पटकेघट हो गये हैं। कहीं वर के शाप और शाप के वर होगये हैं। बड़े-बड़े सम्पत्तिशाली आपत्तिमान हो गये हैं और परम से परम दरिद्री भी महा धनवान हो गये हैं। इस प्रकार यह जगत् महा चचंल और क्षणस्थायी है। तब भला मैं इसके किस पदार्थ का आश्रय करूँ। सब कुछ तो नाशवान है? एक वह भी समय आवेगा जब ये महा प्रकाशवान सूर्य और चन्द्रमाभी अन्धकार को प्राप्त होंगे और बड़े से बड़े पर्वत, समस्त लोक, देवता, मनुष्य और पक्षी, राक्षस सबके सब नाश को प्राप्त होवेंगे। यही क्या, ब्रह्मा, विष्णु, महेश और इस जगत के ईश्वर भी शून्य हो जावेंगे। तब ऐसी अवस्था में जब कि स्त्री पुत्र, बन्धु, बान्धव, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज से युक्त जो नाना प्रकार के जीव भासते हैं सभी नाशवान हैं—मैं किस पदार्थ का आश्रय करूँ, किसकी इच्छा करूँ, सभी तो नाशरूप हैं। इसी कारण जो ज्ञानी पुरुष हैं, किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करते। उनके लिये संसार नीरस सा प्रतीत होता है। यहाँ तक कि वे अपनी आयु को भी बिजली के समान क्षणस्थायी जानते हैं। तब भला मैं किसका आश्रय करूँ? ये सब पदार्थ तो स्वयं ही नाशवान हैं। इनका आश्रय करना तो ऐसे ही है, जैसे कोई पुरुष मच्छका आश्रय लेकर समुद्रको

उन्नासवां सर्ग

:-❀-:

जगद्विपर्यय-भाव-वर्णन

हे मुनीश्वर ! जगत की नश्वरता को क्या कहें ! यह जितनाभी स्थावर-जंगम जगत दिखलाई पड़ता है, सभी नाशरूप है, कुछ भी स्थिर नहीं रहता। जिधर ही देखिये, और का और होगया है। जहां बड़ी से बड़ी सुन्दर बस्ती थी,उजाड़ होगई है। सुन्दर बगीचे नष्ट भ्रष्ट हो गये हैं। वह समुद्र जो कभी सर्वदा ही जलसे भरा रहता था आज सूखी खाई हो रहा है। शून्य और निर्जन स्थानों में भयानक वन उत्पन्न हो गया है। गढ़े, पर्वत हो गये हैं और ऊँचे से ऊँचे पर्वत समान पृथ्वी हो गई है। इस प्रकार सर्वत्र ही विपर्यय भाव दिखलाई पड़ता है। कभी कुछ स्थिर नहीं रहता। तब भला इन परिवर्तनों के देखते हुए भी मैं किसका आश्रय करूँ किसको पाने का यत्न करूँ। सब कुछ तो नाशवान है। बड़े से बड़े वीर्यवान और कर्तव्य परायण पुरुष मरणासन्न हैं, तब भला हमारे जैसों की तो बात ही क्या है? घड़ी-पलका विलम्ब है कि सभी को चले जाना है। इस प्रकार हे मुनीश्वर ! ये सभी पदार्थ बड़े ही चंचल और नाशरूप हैं। एक रस कभी नहीं रहते। क्षण में कुछ और क्षण में कुछ हो जाते हैं। क्षण में ही दरिद्र और क्षण में ही सम्पत्तिशाली हो जाते हैं एक क्षण में जीवित दृष्टि आते तो दूसरे ही क्षण में मर जाते हैं और वे ही फिर जी उठते हैं। तब भला इस संसारकी स्थिरता कहां हुई। इसका आभास तो कभी स्थिर नहीं रहता। जैसे बालक का चित्त सर्वदा ही चंचल रहता है, वैसे ही जगत के पदार्थ सर्वदा ही चचंल रहते हैं। क्षणभर में समुद्र का प्रवाह लुप्त होकर मरुस्थल के समान हो जाता है और क्षण में ही मरुस्थल में जल की हिलोरें चलने लगती हैं। नटके समान ही जगत के पदार्थ और लक्ष्मी

बनी है, तभी तक बन्धन है। और जब तक बन्धन है, तब तक शान्ति दुर्लभ है। इस कारण हे मुनीश्वर! मुझे भोगों की इच्छा नहीं है। न मैं राज्य चाहता हूँ, न वर! मुझे बन जाने की इच्छा नहीं है। साथही, मैं प्राण देना भी उत्तम नहीं समझता और जीनाभी सुखकरनहीं है। सुखतो आत्मज्ञानसे होता है और आत्मज्ञान के उदय होने पर दुःख को लेश भी नहीं रहता। तब वास्तविक सुख क्या है, मोह का नाश कैसे होगा और मैं कैसे सुखी रहूँगा—इत्यादि विषयों को ही मुझे भली-भाँति समझाइये। मेरे पास भोगों को भोगने वाला अहंभाव नहीं है। उसको मैंने पहले ही से त्याग दिया है। क्योंकि इस विषयरूपी सूर्य ने जिसको स्पर्श किया है, मानों वह सर्वदा के लिये मर गया। सर्प का काटना तो एक ही बार के लिये है, परन्तु इस विषयरूपी सर्प के स्पर्श से तो प्राणी बारम्बार मरकर कष्ट पाता रहता है। एक ही जन्म में नहीं, अनेक जन्मों तक उसे बराबर कष्ट मिलता रहता है। हे मुनीश्वर! चाहे इस शरीर को कोई आरे से भी काट डाले, वज्र से भी चूर्ण कर देवे—मैं उसे भी सहन कर लूंगा, पर विषयरूपी प्रहार मुझसे नहीं सहे जाते। क्योंकि मेरे देखने में ये बड़े ही दुःखदायक हैं। अतः मुझे वही उपाय बतलाइयेगा, जिससे मेरे हृदय का अन्धकार दूर हो जावे। यदि न बतलाइयेगा, तो मेरा कोई वश भी नहीं है, मैं विवश होकर अपने हृदय पर पाषाण शिला रखकर बैठा रहूँगा, किन्तु भोगों की इच्छा कदापि न करूंगा क्योंकि यह जितने पदार्थ दृष्टि आते हैं, सब नाशवान् हैं। जैसे बिजली की चमक लुप्त हो जाती है, वैसे ही विषय भोग और आयु नष्ट हो जाती है। बस, इसी कारण मैं किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं करता।



श्री योगवाशिष्ठ भाषा, वैराग्य-प्रकरण का बीसवां सर्ग समाप्त ॥ २० ॥

पार करना चाहे। फिर यह जगततो उसको रमणीय भासता है कि जो इसको रमणीय जानकर इसका चिन्तवन करता हुआ नाना प्रकार के कर्मों को करता रहता है। पर जो इसका चिन्तन ही नहीं करता, उसको यह क्या रमणीय भासेगा और क्या भटकावेगा। इसमें तो वही भटकता है जो इसके संकल्प-विकल्पों में पड़ा रहता है। परन्तु जिनको तनिक भी आत्म विचार की प्राप्ति है, उनको यह जगत् केवल भ्रमरूप भासता है। किन्तु अज्ञानी के लिये वह अवश्य ही रमणीय है। पर वास्तविकता तो यह है कि देखत देखते नाश हो जाता है। तब भला इस दुःख के मूल कारण जगत की मैं क्या इच्छा करूँ। यह तो सर्वथा ही मुझे मार डालेगा। जैसे विष मिश्रित मिठाई के ग्रास करने वाले निश्चय ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं, वैसे ही इस जगत के विषय को भोगने वाले भी नाश हो जाते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ–वैराग्य–प्रकरण का उन्नीसवां सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

—❀—

बीसवाँ सर्ग

समग्र–विवेचन

इतना कह कर रामजी फिर बोले—हे भगवन्! संसार की भोग रूपी अग्नि ने समस्त जीवों को जला दिया है। इसमें कोई भी प्राणी सुखी नहीं है। जैसे किसी सरोवर के कमल–वनको हस्ती विध्वंस कर देवे, वैसे ही भोगरूपी हस्ती ने संसाररूपी सरोवर के जीव रूपी कमलों का विध्वंस कर दिया है। जैसे प्रबल वायु मेघों को नष्ट कर देता है, वैसे ही काम, क्रोध के प्रबल प्रहारों द्वारा समस्त शुभ गुण नष्ट होजाते हैं। हे मुनीश्वर! वासनारूपी जल और इन्द्रियरूपी गाँठ में फँस कर पुरुष काल के गाल में विलीन हो जाता है। क्या कहें इस मनने वासना रूपी सूत में जीव रूपी मोती को पिरोकर, चैतन्यरूपी आत्मा को पहना दिया है तब भला निवृत्ति कैसे मिल सकती है? जब तक भोगों की इच्छा

जैसे सन्त पुरुष जो देखने में तो विषयों को भी भोग रहे हैं और जगत् की समस्त चेष्टायें भी कर रहे हैं,वे निर्लेप कैसे रहते हैं ? हे मुनीश्वर ! जिस प्रकार कमल के समान आप निर्लिप्त हैं, उसी प्रकार होने के लिये आप मुझे बतलाइये कि यह कौनसी युक्ति है ? क्योंकि मेरी बुद्धि मोह से सर्वथा ही मलिन हो गई है? इससे आप मुझे वही युक्ति बतलाइये, जिससे मेरी बुद्धि निर्मल हो जावे। क्योंकि अब तक मुझमें जितना भी सन्तोष विद्यमान है, उससे किसी स्थिर लाभ की आशा नहीं है। हा, मैं इस संसार रूपी विषूचिका के हाथ पड़ गया हूँ। इसने मुझको बहुत २ कष्ट दिया है। अतः आप वही युक्ति बतलाइये, जिससे इन दृश्यों का नाश होकर आत्मज्ञान का सुन्दर प्रकाश हो जावे। फिर तो यह निश्चय है कि मेरा मोहरूपी अंधकार नष्ट हो जावेगा। परन्तु अभी तो मेरी बुद्धि सर्वथा ही मलिन है, अस्तु, आप वही युक्ति बतलाइये जिससे मेरी बुद्धि का आवरण दूर होवे। क्योंकि आत्मानन्द नित्य है। उसके पाने पर फिर कुछ पाना नहीं रहता। फिर तो समस्त दुःखों का नाश हो जाता है और हृदय सर्वदा के लिये शीतल हो जाता है। इस कारण मुझे उसी आत्मज्ञान रूपी चन्द्रमा की आवश्यकता है कि जिसके प्रकाश से मेरी बुद्धि रूपी कमलिनी खिल जायेगी और जिसके अमृतरूपी किरणों के पड़ने से मुझे शान्ति प्राप्त होवेगी। हे मुनीश्वर ! मुझे न तो घर अच्छा लगता है, न वन इससे अब मुझे केवल वही शान्ति पद चाहिये कि जिसको पाकर मैं सर्वदा के लिये आनन्दित हो जाऊँ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा,वैराग्य-प्रकरण का इक्कीसवां सर्ग समाप्त ॥२१॥

::-❀-::

इक्कीसवाँ सर्ग

वैराग्य-प्रयोजन

हे मुनीश्वर ! यह संसार एक ऐसा विशाल गड्ढा है कि जिसमें मोहरूपी अ-प्रणाम कीचड़ भरा हुआ है । मूर्ख प्राणियों का मन उसमें बारम्बार आकर गिरता और अनेक प्रकार का कष्ट प्राप्त करता है और कभी नाम मात्र को भी शान्ति नहीं पाता । वृद्धावस्था में शरीर जर्जरीभूत हो काँपने लगता है तृष्णा बढ़ जाती है और इस प्रकार सुख के निमित्त इन्द्रियों का आश्रय लेकर मूर्ख प्राणी उस अन्धकूप में जा गिरता है कि जिससे बाहर निकलना कठिन हो जाता है । बस, इसी प्रकार जगत् के पदार्थों ने मेरी बुद्धि पर ऐसा आवरण छा लिया है कि वह किसी प्रकार भी नहीं हटता है सो आप ज्ञानी हैं, इसे हटाइये । क्योंकि जगत के भोग पदार्थों ने मेरी बुद्धि को महान् चंचल कर दिया है । अतः आप मुझे उस परमानन्द की प्राप्ति कराइये, जो निर्भय और निराकार है और जिसके पा जाने से फिर संसार में किसी पदार्थ के पाने की इच्छा नहीं रहती । हे मुनीश्वर ! मैं उस पद को ग्रहण करना चाहता हूँ कि जिसके पा जाने से फिर कुछ प्राप्त करना नहीं रहता और उसके आगे संसार की समस्त रचना व्यर्थ और नीरस जान पड़ती है अतः आप मुझे उसी पद के प्राप्त करने का उपाय बतलाइये, क्योंकि उस पद से मेरी बुद्धि सर्वदा ही दरिद्र हो गई है और नाम मात्र को भी शान्ति नहीं प्राप्त होती है । संसारिक कर्म मोह के रूप हैं । तब भला इस मोहरूप जाल में पड़ने से शान्ति कैसे प्राप्त होगी ? महाराजा जनक आदि तो संसार में रहते हुए भी निर्लेप हैं । सो कैसे ? उन्हें तो संसार का कीचड़ नहीं लगा । क्या कारण है कि वे शान्त और निर्लेप हैं । भला उनकी बुद्धि कैसी है ? फिर कृपाकर यह तो बतलाइये कि आप

इसको शान्ति प्राप्त होवे। अन्यथा इस संसाररूपी बन में भोग रूपी ऐसे भयानक सर्पों का वास है कि जिनके काटने से जीव नहीं बचते। संसार की सारी क्रियायें राग-द्वेष से मिलती हुई हैं। अतः आप वही उपाय बतलाइये जिससे मुझमें राग-द्वेष का प्रवेश न होवे अन्यथा इस मन की मनन शक्ति तो ऐसी प्रबल है कि वह किसी प्रकार भी दूर नहीं होती। जब देखो, वृत्तियाँ दौड़ती रहती हैं। सो, इसकी निवृत्ति कैसे होगी- आप मुझे वही उपाय बतलाइये। यदि आप नहीं बतला सकेंगे तो मैं तो कुछ नहीं जानता। मैं तो यही जानता हूँ कि सब कुछ त्यागकर अहङ्कार रहित होना ही श्रेष्ठ है। परन्तु जब आप भी इसे स्वीकार करें तब कहीं मेरा यह विचार दृढ़ होवे। अन्यथा अपनी ही कोई युक्ति बतलाइये कि जिससे मैं उस कल्याणपद को पाऊँ। जब तक आप न बतायेंगे, तब तक निश्चय ही मैं भोजन, जलपान और स्नानादिक क्रियाओं सहित इस प्रकार की किसी भी सम्पदा और आपदा का कार्य न करूँगा और केवल निरहङ्कारता को ही प्रधान मान बैठूँगा। फिर तो यह श्वास आते-जाते ही आप ही आप क्षीण हो जावेगा और मैं सर्वदा के लिये शान्ति को प्राप्त हो जाऊँगा।

श्री योगवाशिष्ठ–वैराग्य–प्रकरण का बाईसवां सर्ग समाप्त ॥ २२ ॥

—❀—

तेईसवाँ सर्ग

आकाशवाणी

वाल्मीकिजी कहते हैं कि हे भारद्वाज! रघुकुल शिरोमणि रामचन्द्र के ऐसा कहते ही सभा में सन्नाटा छा गया। लोग एक दूसरे का मुँह देखने लगे। किसी से कुछ कहते न बना। केवल नेत्रों से ही नेत्र मिलाकर रह गये। ऐसा प्रतीत हुआ, मानों सभी निर्वासनिक हो गये हैं। तब महर्षि वशिष्ठ, वामदेव, विश्वामित्र आदिक मुनीश्वर और अपने मन्त्रियों सहित

बाईसवाँ सर्ग

सर्व-त्याग-दिग्दर्शन

रामजी बोले-हे मुनीश्वर ! यह आयुष्य महा क्षणभंगुर है। जैसे कमलपत्र पर जल की बूंदें नहीं ठहरतीं, वैसे ही आयु स्थिर नहीं रहती। जैसे दादुर की बोली अत्यन्त कटु और महान चंचल है, जब देखो बोलता ही रहता है और नाममात्र को भी विश्राम नहीं लेता, वैसे ही यह आयुर्बल भी महा क्षणभंग और चंचल है। अतः इसके जीने की आस्था करना बड़ी मूर्खता है। क्योंकि यह तो सर्वथा काल का ही ग्रास है। जैसे बिल्ली चूहे को झट पकड़ लेती है, वैसे ही काल सबको पकड़ लेता है और कोई कितना भी संभलना चाहे, नहीं संभल सकता। जब अज्ञानरूपी बादलों की घोर गर्जन में लोभरूपी मोर प्रसन्न होकर नृत्य करता है। तब उससे जो ज्ञानरूपी जल की धारा पड़ती है-वह दुःख रूपी मञ्जरी को झट बढ़ा देती है। इसी प्रकार लोभरूपी बिजली क्षणमें प्रकट होती और क्षण में ही नष्ट हो जाती है फिर तो तृष्णा रूपी जाल में फंसे हुये इस जीवरूपी पक्षी को ऐसा घोर कष्ट मिलता है कि वह तनिक भी शान्ति नहीं पाता। इस पर भी जगत मूर्खों को रमणीय भासता है। परन्तु ज्ञानी जनतो ऐसे हैं कि इस पृथ्वीको कौन कहे, उन्हें आकाश, पाताल और देवलोक भी रमणीय नहीं दीखते और सबको भ्रममात्र ही जानते हैं। हे मुनीश्वर ! जैसे चन्द्रमा की कलङ्क कालिमा ने उसकी शोभा को नष्ट कर दिया है, उसी प्रकार मेरे चित्त रूपी चन्द्रमा में कामरूपी ऐसी कालिमा लगी हुई है कि उसकी प्रभुता और सुन्दरता नष्टहो गई है। सो,आप ऐसा उपाय बतलाइये कि जिससे यह कलङ्क दूर होवे। हे मुने ! यह मेरा चित्त बड़ा चंचल हो गया है, क्षणमात्र को भी स्थिर नहीं रहता। जब देखो, विषयों की ओर दौड़ता रहता है अतः आप वही उपाय कहिए, जिससे

चौबीसवां सर्ग

मुनि-समाज-वर्णन

वाल्मीकजी बोले—हे भारद्वाज! देवताओं की इस वाणी ने राजा दशरथ सहित उस समस्त मुनि मण्डली को चकित कर दिया। राम के प्रभुत्व और उनकी जिज्ञासा ने मानो सबके अन्तस्तल में अपना स्थान कर लिया। लोग सावधान होकर मुनीश्वर विश्वामित्र और वशिष्ठादि के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। देखते २ ऋषि मुनि और तपस्वियों का एक बहुत बड़ा समूह उपस्थित हो गया समय और योग की महिमा। समय आते क्या नहीं हो जाता? एक घड़ी में ही वहां व्यास, नारद, वामदेव, दुर्वासा, पुलह, पुलस्त्य, बृहस्पति के पिता अङ्गिरा और भृगु आदिक समस्त ऋषिजन आ पहुँचे। अद्भुत समारोह हो गया। पारस्परिक दण्ड-प्रणाम और पग-प्रक्षालन की धूम मच गयी। राजा दशरथ आनन्दित हो गये। सबको यथा योग्य आसन दिया गया! ऋषियों के बड़े ही विचित्र वेश थे। किसी की लम्बी जटा थी तो कोई मुकुट पहने था। किसी के गले में रुद्राक्ष की माला थी—तो कोई मोतियों की माला पहने था। किसी के हाथ में कमण्डल था तो किसी के हाथ में केवल मृगछाला ही शोभायमान थी। कोई सुन्दर वस्त्र पहने था तो कोई कटि कोपीन ही धारण किये था। उनमें कोई ऐसे भी थे जो कटि में सुवर्ण की जञ्जीर पहने थे। कोई राजर्षि था तो कोई सात्वकी। परन्तु सब के सब विद्वान और महान वेदपाठी थे। वेदव्यासजी के वेश का तो कहना ही क्या है। उस श्याम मूर्ति पर तो नाना रंग से रञ्जित वस्त्र ऐसा शोभायमान लग रहा था, मानो तारागणों में महा श्यामघटा आगई है। इस प्रकार सभी मुनीश्वर एक से एक बड़े पुरुषार्थी और तेजस्वी थे। जब इस प्रकार सब लोग यथा योग्य आसनों पर विराजमान

राजा दशरथ तथा जितने भी मण्डलेश्वर और टहलुओं सहित माता कौशल्यादिक जितनी स्त्रियां और इस प्रकार वहां जितने भी स्त्री पुरुष दर्शक के रूप में विद्यमान थे-सबके सब मौन होगये । यहाँ तक कि पिंजड़े के पालतू पक्षी भी जो क्षणमात्र के लिये भी अपना बोलना बन्द न करते थे, वे भी मौन होगये । वाटिका से पशु भी मौन हो गये । निकटवर्ती और आकाशचारी पक्षियों ने भी मौन धारण कर लिया । आकाशवासी देवता, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर और किन्नर धन्य-धन्य-की जै-जैकार का शब्द कहते हुए ऐसे रङ्ग-विरंगे फूलों की वर्षा करने लगे कि मानों मोती की मालायें और मक्खनकी गोलियां ही बरस रही थीं। कहां तक कहें-पुष्पों की वह सुन्दर वर्षा कही नहीं जाती । फूलों पर भौंरे मँडराने लगे । चारों ओर अद्भुत सुगंधि फैल गई । सब नमोनमः शब्द करने लगे । उसी समय देवताओं ने यह आकाशवाणी की कि, हे कमलनेत्र राम ! हे रघुकुल शिरोमणि राम ! आप धन्य हैं । आपने अपना यह बड़ा श्रेष्ठ स्थान नियत किया है । हे कमलनयन रघुवंशी ! आपने यह जैसा श्रेष्ठ वचन कहा है वैसा अब तक हमने कभी नहीं सुना है । आपके इन अमृतमय वचनों ने हमारे देवतापन का अभिमान नष्ट कर दिया है और अब हमारी बुद्धि पूर्ण हो गई है । हे रघुकुल के सूर्य । आपने जैसे वचन कहे हैं, वैसे वचन तो हमारे गुरू बृहस्पति महाराज ने भी अब तक नहीं कहे थे । आप के वचन परमानन्ददायक हैं अस्तु, आपको कोटिशः धन्यवाद है ।

श्री योगवाशिष्ठ वैराग्य-प्रकरण का सोलहवां सर्ग समाप्त ॥ १७ ॥

-⁘-❀-⁘-

श्रीगणेशायनमः

योगवाशिष्ठ-भाषा

-::-❀-::-

मुमुक्षु-प्रकरण

पहला सर्ग

-::-❀-::-

शुक निर्वाण वर्णन

वाल्मीकि जी वोले-हे भारद्वाज ! जब इस प्रकार कहकर नारद जी चुप हो गये, तब महामुनि विश्वामित्र जी वोले-हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ रामजी ! जो कुछ भी जानने के योग्य था, सो तुम में विद्यमान है, इससे अब तुम्हें और कुछ जानना नहीं है । हां ! उसमें विश्राम पाने के लिये थोड़े मार्जन की आवश्यकता अवश्य है । फिर तो जैसे मार्जन किया हुआ पात्र चमक उठता है, वैसे ही तुम्हारा ज्ञान स्पष्ट हो जायेगा । इससे कुछ ही उपदेश की आवश्यकता है । सो इसके लिये तुम चिन्ता न करो, हम सभी ऋषि तुम्हारी हितकामना के लिये यहाँ विद्यमान हैं । हे रामजी ! तुम्हारे ही समान इन भगवान वेदव्यास जी के पुत्र शुकदेवजी भी हो चुके हैं । वे भी वड़ी कुशाग्र बुद्धि के थे । और उन्होंने भी जानने योग्य सभी बातों को जान लिया था । पर विश्राम के निमित्त उन्हें भी थोड़े उपदेश की आवश्यकता थी । सो ज्योंही समय आया कि वे विश्राम को प्राप्त कर शान्तिमान् हो गये ।

विश्वामित्र जी के ऐसा कहने पर रामजी ने पूछा-हे मुनीश्वर ! शुकदेवजी कौन थे और उनकी बुद्धि कैसी थी और उन्हें कैसे शान्ति प्राप्त हुई ?

हो गये तब विश्वमोहन राम अत्यन्त दीन भाव से हाथ जोड़े हुये सबकी पूजा करने लगे। तब सबसे पहले नारद जी बोले-"हे रामजी ! धन्य है तुम्हारा ज्ञान असीम है। तुमने जो ये वैराग्य के वचन कहे हैं-उससे सभी लोग प्रसन्न हैं। क्योंकि तुम्हारे ये वचन सर्वथा ही कल्याणकारक और परम ज्ञानके कारण हैं। सो हे रामजी ! तुम हमको बड़े उदारात्मा और बुद्धिमान दृष्टि आते हो। तुम्हारे जैसा उज्वल पात्र तो हमारे जैसे साधु और तपस्वियों में भी कोई विरला ही होता है। ठीक है, जितने मनुष्य हैं, सब पशु हैं। क्योंकि किसी को संसार से पार होने की इच्छा नहीं है ! पर वास्तव में वही मनुष्य है जो पुरुषार्थ पर यत्न करता हुआ, इससे मुक्त होने की चेष्टा करता है। जैसे वृक्ष तो अनेक हैं, पर चन्दन का वृक्ष कोई विरला ही होता है। इसी प्रकार शरीरधारी तो बहुत हैं पर ऐसे कोई विरले ही निकलते हैं कि जो पुरुषार्थी और यत्नवान होते हैं। ऐसे अज्ञानियों को क्या कहा जाय। वे तो व्यर्थ ही अस्थि, मांस और रुधिरके पुतले बने हुये इधर उधर भटकते फिरते हैं। जैसे वृक्ष तो अनेक हैं परन्तु लवंग का वृक्ष कोई विरला ही होता है। इसी प्रकार मनुष्य तो अनेक हैं पर ऐसा कोई ही होता है कि जो थोड़े कहे को बहुत समझ जाये। सो निश्चय ही तुम्हारी ऐसी तैल-बुद्धि है कि तुम्हें थोड़ा उपदेश भी यथेष्ट होगया। यदि हमारे सामने कथन मात्र से ही तुम्हें ज्ञान न होगया तो जानो हम सब मूर्ख ही बैठे हैं।" यह कह कर नारद जी चुप हो गये।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा. वैराग्य-प्रकरण का चौबीसवां सर्ग समाप्त ॥ २४ ॥

॥ वैराग्य-प्रकरण समाप्त ॥

-:-❀-:-

राजा जनकको ज्ञात हो गया कि व्यास पुत्र शुकदेव किस लिए आये हैं। उन्होंने द्वारपाल से कहला दिया कि वहीं खड़े रहें। शुकदेव सात दिन तक राजा जनक के द्वार पर जहाँ के तहाँ खड़े रह गये। आठवें दिन राजा जनक ने द्वारपाल को आज्ञा दी कि अब शुकदेव को कुछ और आगे लाओ। द्वारपाल ने वैसा किया। तब शुकदेव द्वार से कुछ आगे आकर एक दूसरे फाटक पर खड़े हुये। राजाने कहला दिया कि वहीं सात दिन तक खड़े रहो। शुकदेव फिर ज्यों त्यों वहाँ सात दिन तक खड़े रहे। आठवें दिन जनक ने पूछा तो द्वारपालोंने कहा-हां, खड़े हैं। तव राजाने कहा अच्छा,अब उनको अन्तःपुर में लाकर नाना प्रकार के भोग पदार्थों का ग्रहण कराओ। द्वारपालों ने उन्हें अन्तःपुर में पहुँचाया। अन्तःपुर का तो कहना ही क्या है, नाना प्रकार के दिव्य भोगों का ढेर लग रहा था। मनको आकृष्ट करने वाली कांचन और कामिनियों की उपमा तो देना ही व्यर्थ है। किन्तु शुकदेव वहां भी एक भाव से चित्त को शान्त किये हुये सात दिन तक ज्यों के-त्यों खड़े ही रह गये। आठवें दिन राजा जनक ने पूछा तो द्वारपालों ने कहा हां महाराज! निश्चय ही शुकदेव ज्यों के त्यों अविचल भाव से आज तक खड़े हैं। उनको न किसी भोग पदार्थ की इच्छा है और न वे तनिक भी चलायमान होते हैं। राजा ने कहा—अच्छा,तो अब उन्हें मेरे पास लाओ। द्वारपाल उन्हें राजा जनक के पास ले गये। शुकदेव को देख जनक ने प्रणाम किया। उत्तर में शुकदेव ने भी उनको दण्डवत की। जब दोनों महानुभाव बैठ गये, तब जनक ने पूछा-कहो, मुनीश्वर कैसे आये? क्या इच्छा है, जो आज्ञा हो प्रकट कीजिये। शुकदेव ने कहा-गुरुदेव! और तो कुछ नहीं चाहिये, केवल अपनी असीम कृपा से यह बतलाने का कष्ट कीजिये कि यह संसार का आडम्बर जो उत्पन्न हुआ है, वह कैसे उत्पन्न हुआ और कैसे शान्त होगा? हे रामजी! शुकदेव के इस प्रश्न को सुनकर राजा जनक ने उन्हें वही उपदेश सुनाया कि जो इन वेदव्यास जी ने पहले सुनाया था। तब उसे सुनकर शुकदेव ने राजा से कहा, महाराज!

विश्वामित्रजी ने कहा–हे रामजी ! सुनो, यही भगवान् वेदव्यास जो आपके पिता राजा दशरथ के बगल में स्वर्ण सिंहासन पर विरामान हैं और जिनका सूर्य के समान प्रकाश है, इन्हीं के पुत्र का नाम शुकदेव था । शुकदेव सर्व-शास्त्र-वेत्ता और सत्यासत्य को जानने वाला था। किन्तु उसमें यह एक बहुत बड़ा दोष आगया था कि वह प्रतिक्षण संकल्प-विकल्पों को उठाता हुआ इतना व्यग्र होगया था कि इस परमानन्द रूप आत्मा में उसे नाम मात्र को भी शान्ति प्राप्त न होती थी और सर्वज्ञानी होते हुये भी उसे संकल्प-विकल्प आनन्द से वञ्चित कर देते थे । जहाँ जाता, शान्ति न मिलती। तब एक दिन वह अत्यन्त व्याकुल होकर सुमेरु पर्वत की कन्दरा में इन व्यासजी के पास पहुँचा । व्यासजी ने पूछा कहो, क्या अवस्था है। तब शुकदेव इन महात्मा के चरणों पर गिर कर बोला-हे पिता जी ! अवस्था को न पूछिये, हृदय महान चञ्चल हो रहा है और नाम मात्र को भी शान्ति प्राप्त नहीं होती है । जब देखो, यह भ्रमात्मक संसार कष्ट दिया ही करता है। सो, हे भगवान् ! इससे किस प्रकार निवृत्ति होवेगी ? हे रामजी ! शुकदेव के ऐसा कहने पर व्यासजी ने उसी क्षण उसे उपदेश दिया। परन्तु उस पर भी शुकदेव की शङ्का नष्ट न हुई और बोला-महाराज ! आप यह क्या कह रहे हैं, यह तो मैं पहले ही से जानता था। अस्तु इससे मुझे शान्ति नहीं मिल सकती। शुकदेवके इस कथन से व्यासजी चिन्तित होगये। किन्तु इन त्रिकालदर्शी से कुछ छिपा न था। इन्होंने ध्यान पूर्वक देखा तो ज्ञात हुआ कि, "यहाँ पिता-पुत्र का सम्बन्ध बाधक है। सो यह मेरे उपदेश से न मानेगा। अस्तु, इसे महाराज जनक के पास भेजना चाहिए।" ऐसा सोचकर इन्होंने शुकदेवजी को राजा-जनक के पास भेज दिया। शुकदेव मिथला नगर को प्रस्थानित हो राजा जनक के घर पहुँचे। द्वारपाल ने परिचय पूछा तो उन्होंने अपना नाम बतलाकर राजा जनक को सूचना दी । विदेह-

दूसरा सर्ग

::-०-❀-०-::

जिज्ञासु की पात्रता

श्री रामचन्द्रजी से ऐसा कह कर विश्वामित्रजी राजा दशरथ से बोले–हे राजन् ! जैसे शुकदेव जी की बुद्धि शुद्ध थी, वैसे ही रामजी भी हैं। जैसे शान्ति के हेतु उन्हें कुछ मार्जन की आवश्यकता थी, वैसे ही राम जी को भी कुछ मार्जन की आवश्यकता है। फिर तो जैसे शुकदेव जी को अल्प मार्जन से शान्ति प्राप्त होगई थी, वैसे ही इन्हें भी विश्राम प्राप्त होगा। क्योंकि अब इनकी सारी इच्छायें निवृत्त हो चुकी हैं और जो जानना चाहिये था, वह सब कुछ ये पहले ही से जान चुके हैं। इससे हम इनके लिये ऐसी युक्ति बतलावेंगे कि जिससे इनको अल्प विचार में ही शान्ति का परम लाभ प्राप्त हो जावेगा। ये बड़े ज्ञानी हैं। इनको विषय वासनाओं की तनिक भी इच्छा नहीं है। ये सर्वथा ही विदित वेद्य हैं। फिर आप तो चाहते ही हैं कि इन्हें शीघ्र से शीघ्र लाभ होवे। तब भला अब उसमें कुछ और विलम्ब कैसे हो सकता है। परन्तु हम यह चाहते हैं कि तुम्हारे कुल के गुरु जो ये वशिष्ठ हैं यही रामजी के प्रति उपदेश करें तो श्रेष्ठ है। क्योंकि ये सर्वथा ही सर्वज्ञ और साक्षीरूप तथा ज्ञान के सूर्य हैं। इससे हमें विश्वास है कि इनके उपदेश से रामजी को अवश्य ही आत्मपद की प्राप्ति हो जावेगी। हे वशिष्ठजी ! तुम्हें स्मरण होगा कि:–

हमारे और तुम्हारे विरोध में ब्रह्माजी ने आकर बतलाया था कि कल्याण की प्राप्ति कैसे होती है, तब उसमें उन्होंने संसार वासना के नाश हेतु जो उपदेश दिया था कितना सुन्दर और लाभप्रद था। उसी उपदेश ने तो हमारे और तुम्हारे विरोध का अन्त कर दिया था? तब भला रामजी जैसा सत्पात्र पाकर भी आप इन्हें उस उपदेश को क्यों नहीं सुनाते? हे मुनिवर ! बिना उपदेश के शुद्ध

यही तो मेरे पिताजी ने कहा था। परन्तु मैंने इस पर ध्यान न दिया। किन्तु अब ज्ञात हुआ कि पिताजी का और आपका जो कथन है, वही शास्त्र सम्मत और निश्चित सिद्धान्त है, अब आज से मैं इसी पर अटल रहूँगा और निश्चय ही यह जानूंगा कि यह संसार अपने चित्त में ही उत्पन्न होता और चित्त से ही नाश होता है। राजा जनक ने कहा—हां, तो जगत के सम्बन्ध में यही निश्चित मत है। देखो, अब आज से इससे विचलित न होना। इससे पृथक न तो कोई दूसरा यत्न है और न कोई कुछ अधिक कह सकता है। क्योंकि यह संसार तो केवल चित्त के फुरने से उत्पन्न हुआ है। जब इस भ्रम से निवृत्ति मिले तो यह भी निवृत्त हो जावे। विना इससे निवृत्त हुये आनन्द नहीं प्राप्त होता। क्योंकि वह आत्मतत्व सर्वथा ही नित्य शुद्ध केवल तथा चैतन्य स्वरूप है बिना उसके अभ्यास के शान्ति कहाँ? अभ्यास करोगे तो निश्चय ही विश्राम प्राप्त होगा। हे शुकदेव! तुम्हें कुछ अधिक करना नहीं है। तुम तो स्वयं ही मुक्ति स्वरूप हो निश्चय ही तुम्हारा अभ्यास आत्माकी ओर है। तुम सर्वथा ही दृश्योंसे रहित और उदारात्मा हो अधिक तो क्या, आज तुम मुझे अपने पिता वेदव्यास से भी श्रेष्ठ प्रतीत होते हो। यही नहीं, यद्यपि मुझे श्रेष्ठ समझ कर ही तुम मेरे पास आये, तथापि मैं तुमको अपने से भी श्रेष्ठ समझता हूँ। क्योंकि हमारी तो वाहर और भीतर की सभी चेष्टायें हो रही हैं किन्तु तुम्हारी तो समस्त चेष्टायें भीतर एवं आत्मा की ओर हैं। दृश्य में तुम्हारा तनिक भी राग नहीं है। हे रामजी! जब राजा जनक ने ऐसा कहा तब शुकदेव प्रसन्न और निर्भय होकर हिमालय की कन्दरा में जाकर सबसे निःसङ्ग और निष्प्रयत्न होकर तप करने लगे। उन्होंने दश हजार वर्ष तक घोर तप किया। निर्विकल्प समाधि लग गई। फिर तो जैसे सूर्य का प्रकाश होते ही सारा अन्धकार नष्ट होजाता है, वैसे हो वे कल्पना रूपी समस्त कलङ्कको त्याग कर ब्रह्मपद में जा स्थित हुये।

श्री योगवाशिष्ठ मुमुक्ष-प्रकरण का पहला सर्ग समाप्त ॥ १ ॥

हैं-ये क्यों नहीं विदेह मुक्त हुये, इसका क्या कारण है ? भगवन् ! पहले यह बतलाकर तब आगे बढ़िये। वशिष्ठ जी ने कहा--हे रामजी ! अब यहां सृष्टि का प्रश्न आगया। देखो प्रत्येक प्राणियों की अपनी अलग-अलग एक और ही सृष्टि होती है कि जिसे पाकर वह अन्तवाहकता आदि से अमित लाभ उठाता है परन्तु यह जान कर तुम क्या करोगे। व्यासजी की बात न्यारी है। इनका तपोबल और ज्ञान सर्व श्रेष्ठ है। यह शरीर तो क्या, इन्हें मैं बत्तीस प्रकार से देख चुका हूँ। आगे चलकर यही व्यासजी महाभारत कहेंगे। इनकी बात न्यारी है। यह तो पहले ही से जीवन्मुक्त हो चुके हैं। परन्तु जीवन्मुक्ति की अवस्था बड़ी विचित्र है। कोई कोई इस अवस्था में आकर भी समस्त क्रियाओं को करते रहते हैं और कोई कोई संकल्प शक्ति से उड़ते फिरते हैं। उनके लिये आना, जाना, जीना, मरना सब एक समान हैं। क्योंकि न कोई मरता है न कोई जन्मता है। जीवन मरण तो भ्रमवश अज्ञान से भासित होता है। विचार पूर्वक देखा जाय तो कहीं कुछ नहीं। केवल एक शुद्ध सत्ताही सर्वदा विराजमान है। आत्मदर्शी पुरुष ऐसा ही जानते हैं। व्यासजी आत्मदर्शी और जीवन्मुक्त हैं। इन्हें कोई चलायमान नहीं कर सकता। यह तो यहां तक निस्पन्द स्वरूप हैं कि इन्हें संदेह मुक्ति और विदेह मुक्ति की कुछ भी इच्छा नहीं है और यह सर्वदा ही अद्वैतरूप हैं।

श्री योगवाशिष्ठ मुमुक्षु-प्रकरण का तीसरा सर्ग समाप्तः ॥ ३ ॥

चौथा सर्ग

—:-:-❀-:-:—

पुरुषार्थ-वर्णन

हे रामजी ! समस्त कर्तव्य कर्मों में अपना पुरुषार्थ ही श्रेष्ठ है पुरुषार्थ हो तो कुछ भी दुर्लभ नहीं है। बिना पुरुषार्थ के कुछ सिद्ध नहीं होता। किसी कार्य में-यह कहना कि जो दैव करेगा वह होगा-बड़ी मूर्खता है। जब एक जीव अपने पुरुषार्थ और प्रयत्न से इन्द्रकी पदवी पा

पात्र की शोभा नहीं होती। और जैसे विना उपदेश के पात्र शोभायमान नहीं होता, वैसे ही ज्ञान भी सत्पात्र को अर्पण किये विना नहीं शोभता। मूर्ख शिष्य अथवा अपात्र को उपदेश नहीं किया जाता। यदि जिज्ञासु में शिष्य भाव और विरक्तता न होवे तो उपदेश नहीं करना चाहिये। क्योंकि अपात्र को उपदेश करना सर्वथा ही व्यर्थ है। परन्तु जो विरक्तता और शिष्य भाव में पूर्ण होवे-ऐसे को निश्चय ही उपदेश करना चाहिये। ये तुम्हारे रामजी सब प्रकार से वैराग्य सम्पन्न और उदारात्मा हैं। साथ ही, आप भी वीतराग, भय, क्रोध से रहित और परमशान्तस्वरूप हैं, अस्तु इन्हें उपदेश देना तुम्हारा ही कर्तव्य है।

विश्वामित्र के इस कथन से राजसभा की समस्त मुनि-मण्डली हर्षित हो गई। लोग विश्वामित्र जी को धन्य-धन्य कहने लगे। विश्वामित्र जी चुप हो गये। तब वशिष्ठ जी ने उनको सम्बोधित कर कहा-हे साधो! निश्चय ही तुम्हारा कथन सत्य है और मुझे वह समस्त उपदेश जो कि ब्रह्मा जी ने कहा था-बिल्कुल ठीक-ठीक स्मरण हैं अच्छा तो अब मैं उसे रामजी के कल्याणार्थ कहता हूँ लोग ध्यान देकर सुनें।

श्री योगवाशिष्ठ-मुमुक्षु प्रकरण का दूसरा सर्ग समाप्त ॥ २ ॥

:-❀-:

तीसरा सर्ग

:-❀-:

व्यासपरिचय

ऐसा कह कर वशिष्ठजी ज्योंही श्री रामचन्द्र को अपना वह उपदेश (जो ब्रह्मा जी ने उन्हें सुनाया था) सुनाने को सन्नद्ध हुये कि उसी समय रामजी बोल उठे कि, हे मुनीश्वर! यह तो आप सुनायेंगे, किन्तु अभी जो आपने कहा है कि शुकदेवजी विदेह मुक्त होगये सो कैसे? और ये विशालकायवाले उनके पिता जो वेदव्यासजी बैठे

पाँचवाँ सर्ग

—:❀:—

पुरुषार्थ वर्णन

हे रामजी! मनुष्य जीवन पाकर जिसने पुरुषार्थ नहीं किया उसका जीना व्यर्थ है। उसने व्यर्थ ही मनुष्य का चोला धारण किया। उसे कभी सुख न मिलेगा। परन्तु वह पुरुषार्थ भी दो प्रकार का होता है। एक शास्त्र सम्मत और दूसरा शास्त्र विरुद्ध। शास्त्र विरुद्ध पुरुषार्थ से सर्वथा दुःख ही दुःख प्राप्त होता है। किन्तु जो बुद्धिमान शास्त्रानुकूल पुरुषार्थ करते हैं वे सुख के भागी होते हैं। उनके आगे सारी सिद्धियाँ हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। फिर दैव कैसा? दैव तो कुछ हुआ ही नहीं। जीव का कर्म ही उसे वैसी सिद्धता प्राप्त कराता है। बलवान से बली और निर्बल से निर्बल सिद्धियां प्राप्त होती हैं जिसके पूर्व संस्कार बली होते हैं, विजय भी उसी के हाथ लगती है। जैसे एक पिता के दो पुत्र हों और पिता दोनों को लड़ा दे तो जो बली होगा, विजय उसकी होगी। परन्तु दोनों उसी के हैं—इसी प्रकार दोनों कर्म इसी जीव के हैं। जिसका पूर्व संस्कार बली होवे और इस जन्म में भी वह श्रेष्ठ आचरण करे तो वह महान सिद्धियों को प्राप्त करेगा। किन्तु पूर्व संस्कार मलिन होवे और इस योनि में शुभाचरण करे तो पूर्व के दुष्कर्म का अभाव होकर वह सुकृत सिद्धियों का भागी बन जावेगा। अस्तु दोनों प्रकार से पुरुष को अपने प्रयत्न एवं पुरुषार्थ से कदापि विचलित न होना चाहिए। इसी सिद्धान्त को विचार कर संतजन नित्य ही प्रयत्न और पुरुषार्थ करके संसार-सागर से पार होते हैं। हे रामजी! जितनी कुछ सिद्धियां हैं, सब अपने पुरुषार्थ से ही प्राप्त होती हैं। कोई दैव नहीं करता। जो शास्त्रानुकूल आचरण एवं पुरुषार्थ को त्यागकर यह कहता है कि जो करता है, दैव करता है—

गया और चन्द्रमा में उल्लास करने तथा हृदय को शीतलता पहुँचाने के गुण विद्यमान हैं तो अन्य कार्योंकी तो बात ही क्या है। जीव को इन्द्र की पदवी और चन्द्रमा में शीतलता के गुण पुरुषार्थ से ही प्राप्त हुये हैं। परन्तु पुरुषार्थ किसे कहते हैं—यह साधारण कार्य—शक्ति की वार्ता नहीं है। हे रामजी ! पुरुषार्थ का मुख्य नाम पुरुष–प्रयत्न है। और पुरुष प्रयत्न वह है, जो सत्संग और सत्शास्त्रों के उपदेशानुसार उस पर स्थिर चित्त से विचार किया जाये। परन्तु जो इसके प्रतिकूल है, वह उत्तम चेष्टा है। यद्यपि जो किया जाता है, उसका फल अवश्य मिलता है। किन्तु एक उत्तम, एक निकृष्ट जीव की जो इच्छा हो, प्राप्त कर लेवे। चाहे तो इन्द्र बन जाय और चाहे दरिद्रता प्राप्त कर लेवे। आत्मतत्व ही सब कुछ है। वही स्पन्दरूप होकर फुरती है और वही अपने पुरुषार्थ से ब्रह्मपद को प्राप्त हुई है। बड़े से बड़े ऋषि मुनि और जितने भी सिद्ध हो गये हैं, सब अपने पुरुषार्थ से ही सफलता को प्राप्त हुये हैं। चैतन्य-संवेदन क्या नहीं करता, अथवा पुरुषार्थ से क्या नहीं प्राप्त होता। पुरुषार्थ से ही चैतन्य संवेदन (जीव) गरुड़ासीन हो विष्णु बनकर पुरुषोत्तम कहलाता है और यही पुरुषार्थ जीव को रुद्र की पदवी दिलाकर अर्द्धाङ्ग में पार्वती, ललाट में चन्द्रमा तथा कण्ठ में नीलता देकर परम शान्तिरूप को प्राप्त करा देता है। हे रामजी ! यद्यपि सुमेरु पर्वत का चूर्ण करना कठिन अवश्य है, किन्तु पुरुषार्थ से वह भी चूर्ण किया जा सकता है। यही तो क्या, पुरुषार्थ के द्वारा चाहे तो पृथ्वी को भी खण्डन कर डाले। ऐसा कोई भी कार्य नहीं, पुरुषार्थ से न होवे। अस्तु, चारों ओर से चित्त को एकाग्र करके पुरुषार्थ करना ही जीवन का ध्येय है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, मुमुक्षु–प्रकरण का चौथा सर्ग समाप्त ॥ ४ ॥

होती। हे रामजी! एक सिद्धान्त और जानलो, देखो, सत्सङ्ग और सत्शास्त्र विचारता हुआ भी उसके अनुसार आचरण नहीं करता और कहता है कि मुझे सभी सिद्धान्त ज्ञात हैं, वह भी सुखको नहीं प्राप्त होता। जैसे कोई अमृत के निकट तो बैठा होवे और उसका पान न करे तो वह अमर नहीं होता, वैसेही बिना अभ्यास के अमरता और सिद्धता नहीं प्राप्त होती। व्यवहार और परमार्थ में आलसी होना बड़ी मूर्खता है। परमार्थ को त्यागकर कोई सुखी नहीं रह सकता, उसे सर्वथा ही पशुओं के समान दीनता और दुःख, प्राप्त होते ही रहते हैं। अस्तु तुम पुरुषार्थ का आश्रय करो। जब सत्सङ्ग और सत्शास्त्रों के उच्च आदर्श को देखते हुये अपने दोषों का परित्याग कर दृढ़ अभ्यास द्वारा आगे बढ़ोगे तब शीघ्र ही आनन्दित हो जावोगे।

श्री योगवाशिष्ठ मुमुक्षु-प्रकरण का पाँचवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५ ॥

—:-:-❀-:-:—

छठवाँ सर्ग

पुरुषार्थ महिमा वर्णन

बाल्मीकि जी कहते हैं कि जब इस प्रकार वशिष्ठजी ने कहा तब सायंकाल का समय होगया और सभाके समस्त लोग स्नान ध्यान के लिये उठ खड़े हुये। पश्चात् रात्रि व्यतीत कर सूर्यके उदय होतेही फिर आगये। तब वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! पूर्वके किये हुये कर्म का ही नाम दैव है। अन्य कोई दैव नहीं होता जो शास्त्र द्वारा प्रयत्न कियाजाता है और उसका जो फल मिलता है वही दैव है। तब यदि शुभकर्म होता है तो उसका फल सुख, आनन्द और दैव चाहे जो कुछ भी कहलो वह ठीक है। परन्तु यदि पाप कर्म होता है तो निश्चय ही उसका फल दुःख होता है और तब मूर्ख कहते हैं—हा दैव, यह तूने क्या किया? किन्तु उन मूर्खोंको ज्ञान नहीं और नहीं जानते कि इसमें दैव कौनसा है, यह तो अपना ही कर्म है। इस प्रकार दैव की कल्पना सर्वथा ही मूर्खता मात्र है, दैव कोई नहीं होता। पूर्व कर्म का ही नाम दैव है।

वह मनुष्य नहीं गर्दभ है,उसका साथ करना दुःखका कारण है। सबके पहले तो मनुष्य को चाहिये कि वह अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुसार शुभाचरण को करता हुआ अशुभ का सर्वथा ही परित्याग करे फिर सन्तों का साथ करके सत् शास्त्र को विचारते हुए अपने गुण दोषों पर विचार करे और आज क्या शुभ किया है और क्या अशुभ किया है, इस पर प्रतिदिन रात्रिके समय एक बार नित्यही विचारलिया करे। फिर जैसा हो इसके अनुसार अगले दिनसे अशुभ त्याग शुभाचरण में लग जावे।इस प्रकार गुण दोषों का साक्षी भूत होकर अभ्यास, वैराग्य और सन्तोष आदिक गुणों को बढ़ाता हुआ विपरीत ज्ञान वाले दोषों को सर्वथा ही नष्ट कर देवे। ऐसे पुरुषार्थ को अङ्गीकार करना ही परमानन्दरूप आत्मा का पाना है। हे रामजी! जिसको जो कुछ सिद्धियां प्राप्त हुई हैं, सब पुरुषार्थ से ही प्राप्त हुई हैं। बिना पुरुषार्थ के रञ्चमात्र भी सुख नहीं प्राप्त होता। जो पुरुषार्थ को त्यागकर दैवाश्रित हो यह कहता है कि जो कुछ होगा, दैव करेगा अथवा दैव हमारा कल्याण करेगा, वह अपने जीवन में कभी सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। जैसे पत्थर से तेल नहीं निकलता,वैसे ही उसका कल्याण दैव नहीं कर सकता। अस्तु हे राघव! तुम दैव का भरोसा त्याग कर अपने पुरुषार्थ का भरोसा करो। जो ऐसा नहीं करता उसे सुन्दर कान्ति और लक्ष्मी त्याग देती है। फिर तो वह प्राणी वैसा ही कान्ति हीन और जर्जर हो जाता है जैसे वसन्त ऋतु के जाने से मञ्जरी विरस हो जाती है। परन्तु जो शास्त्रानुसार विधि निषेध का विचार करके विधिको ग्रहण करते और निषेध को त्यागते हुये तदनुसार पुरुष प्रयत्न करते हैं वे निश्चय ही इस लोक और परलोक में भी सुख और सिद्धता को प्राप्त होते हैं। हे रामजी! इस सिद्धान्त को जानकर तुम कदापि इस संसार सागर में न डूबो। सत्सङ्ग और सत्शास्त्र निरूपण ही तुम्हें परमानन्द आत्मा का सुख अनुभव करावेगा। बिना पुरुषार्थ के परमानन्द की प्राप्ति नहीं

सातवां सर्ग

-::-❀-::-

पुरुषार्थ उपमा वर्णन

हे रामजी ! बिना पुरुषार्थ किये आत्मानन्द की प्राप्ति नहीं होती। यदि कोई कहे कि दैव प्राप्त करा देगा तो यह मिथ्या है। संसार बन्धन से मुक्त होना दैव के हाथ नहीं। क्योंकि दैव तो वही हुआ कि जो तुम्हारा पूर्व कर्म है। यदि पूर्व कर्म ही सर्वशक्तिमान होता और उनमें रञ्च मात्र भी कृपा होती तो वह फिर संसार में भेजता ही क्यों। और जब संसार में आना ही पड़ा, तब फिर उस दैवसे क्या आशा है। वह तो सर्वथा ही जन्म मरणके चक्कर में डालता रहेगा। बंधनों में युक्त करना उसके हाथ की बात नहीं है। जो ऐसे दैव को मानकर उसकी परायणता करता है निश्चय ही वह अपने हाथ के आये हुये अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों पदार्थों को जान बूझ कर नष्ट कर देता है। फिर तो उसे स्वप्न में भी शान्ति नहीं प्राप्त होती और वह सर्वथा ही नीच से नीच गति को प्राप्त होता रहता है। इस कारण हे रामजी ! तुम भूल कर भी उस दैव का विचार न करना। दैव के आश्रित होना मानों अपना पतन कर देना है। आदि से लेकर आज तक जितने भी सिद्ध-महात्मा हो चुके हैं, सबने पुरुषार्थ द्वारा ही वैसी सफलता प्राप्त की है। बिना पुरुषार्थ के कोई भी सिद्ध न हुआ। जब महात्मा बृहस्पति ने पुरुषार्थ किया तभी देवताओं के गुरु हो सके। अन्यथा उन्हें कौन जानता था ? शुक्र जी भी क्या थे, पर नहीं-पुरुषार्थ ने उन्हें भी इतने विशाल दैत्यवंश का गुरु बना दिया। इस प्रकार जिसको भी देखो, पुरुषार्थ ने सफलता और सिद्धता प्रदान की है। पुरुषार्थ नहीं तो कुछ नहीं। यह तुम्हारा राज्य तो क्या है-कैसा भी विशाल राज्य, प्रजा, धन और विभूति क्यों न होवे पुरुषार्थ रहित होने से

यदि पूर्व जन्म में उत्तम कर्म किया है तो उसका फल सुख होता है और वही बली होता है तथा उसी की विजय होती है। किन्तु यदि पूर्व का दुष्कृत बली होता है इस जन्म में शुभ कर्म करे और सत्सङ्ग तो निश्चय ही वह पूर्व के संस्कारों को जीत लेवेगा। जैसे अगले दिन कोई पाप करे और उसके दूसरे दिन पुण्य करे तो अगले दिन का पाप नष्ट हो जाता है, वैसे ही जब इस जन्म में प्राणी शुभ कर्म करता जाये तो यदि उसका पूर्व दुष्कर्म है तो वह अवश्य ही उस पर विजय प्राप्त कर लेगा। अस्तु, पुरुषार्थ से ही सारी सिद्धियां प्राप्त होती हैं। हां, वह पुरुषार्थ एकाकी भाव से होना चाहिए। ऐक्यभाव होने से प्रयत्न अवश्य ही सफल होता है। किन्तु जो दैवको जानकर पुरुषार्थ करना त्याग बैठता है वह अवश्य ही दुखी होता है और उसे कभी शान्ति नहीं मिलती। इस कारण हे रामजी! तुम उस मिथ्या दैवका आश्रय भूलकर भी न करो और अपने पुरुषार्थ को ही प्रधान मान कर पूर्ण रूप से यत्न करो। यदि इस प्रकार सन्त-संगति और सच्छास्त्र विचार करोगे तो निश्चय ही उस परमानन्द सुख के अक्षय लाभ को प्राप्तकर लोगे। हे राघव! यह नियम है कि, चाहे पूर्व जन्म के कितने भी पाप क्यों न हों, यदि पुरुषार्थ किया जाता है तो निश्चय ही पाप नष्ट हो जाते हैं। जैसे घोर-घनघोर बादलों को भी वायु नष्ट करता है, वैसे ही पूर्व के संस्कार को पुरुषार्थ नष्ट कर देता है। हे रामजी वही पुरुष श्रेष्ठ और प्रशंसनीय है कि जिसने सत्सङ्ग और सच्छास्त्र द्वारा अपनी बुद्धिको तीक्ष्ण कर लिया है। किन्तु जिसने ऐसा नहीं किया और पुरुषार्थ को त्यागकर दैव के आश्रित होरहा, वह निश्चय ही परम नीच गति को प्राप्त होगा। हे रामजी! पुरुषार्थ वह वस्तु है कि, जिसके करने से दीन से भी दीन और अल्प से भी अल्प मूढ़ बुद्धि वाले भी उत्तम पदवी को प्राप्त हो जाते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा मुमुक्षु-प्रकरण का छठवां सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥

जिससे आवागमन का भय नष्ट हो जावे-वही सच्चा पुरुषार्थ है। हे रामजी! जहां कहीं भी तुम्हें ऊँची २ सम्पदायें दिखलाई पड़ती हैं, वह पुरुषार्थ से ही प्राप्त हुई हैं। अस्तु, तुम पुरुषार्थ का ही आश्रय करो। नहीं तो यह निश्चय है कि सर्प और कीट फतिङ्गादि योनियों में जाना पड़ेगा। हे रामजी! वह प्राणी बड़ा मूर्ख है, जो दैव का आश्रय करता है। जब साधारण व्यवहारों में भी देखा जाता है कि विना उद्योग किये कुछ भी सफलता नहीं मिलती भला विना पुरुषार्थ के परमपद की प्राप्ति कैसे हो सकती है। अस्तु, दैव को त्यागकर सन्तजनों और सत्शास्त्रों के अनुसार पूर्ण यत्न करो। विना इसके दुःखों से छुटकारा न होगा।

श्री योगवाशिष्ठ वैराग्य-प्रकरण का सातवां सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥

-:-❀-:-

आठवाँ सर्ग

पुरुषार्थ महिमा वर्णन

हे रामजी! यह जो विष्णु भगवान हो गये हैं, वह भी अपने पुरुषार्थ से ही ऐसे उत्तम पद को प्राप्त हुये हैं। देखो, आज वे कैसे शक्तिशाली और निर्लेप हो गये हैं कि दैत्यों को मारते हैं और सारी चेष्टायें भी करते हैं, किन्तु उन्हें कुछ भी पाप स्पर्श नहीं करता। क्योंकि पहले उन्होंने ऐसा पुरुषार्थ कर लिया है। अतःतुम भी उसी पुरुषार्थका आश्रय करो कि जिसके करने से बिना प्रयास ही संसार-सागर से पार हो जाओगे। अन्यथा, 'दैव हमारी रक्षा करेगा' यह बड़ी मूर्ख कल्पनाहै। हमारी दृष्टि में तो कोई दैव नहीं दिखलाई पड़ता। पूर्व कर्मही दैव है। इसके विपरीत यदि कोई कहता है कि हम कर्म न करें और दैव हमारी रक्षा करेगा तो वह बड़ा मूर्ख है। यह वार्ता तो तब सत्य जानें जब हम जान बूझकर अग्नि में कूद पड़ें और कोई दैव आकर निकाले। पर यह तो होता ही नहीं कि हम चुपचाप हाथ पर हाथ रखे बैठे रहें

उसे नष्ट होते देर नहीं लगती। परन्तु यह फिर कहे देता हूँ कि जिससे किसी अर्थ की सिद्धि हो, वही पुरुषार्थ है और जिससे अनर्थ उत्पन्न होवे वह पुरुषार्थ नहीं—अपुरुषार्थ है। हे रामजी ! मनुष्य को चाहिए कि वह दया, धैर्य, सन्तोष और वैराग्य आदिक गुणोंका अभ्यास करता हुआ सर्वदा ही सत्सङ्ग और—सत्शास्त्र चिन्तन में लगा रहे। ऐसा करने से निश्चय ही बुद्धि शुभ गुणों से पुष्ट हो जाती है। इस अभ्यास में आलस्य नहीं करना चाहिए। यदि बालक विद्यार्थी अपना पाठ स्मरण करने में आलस्य करेगा तो उसका पाठ स्पष्ट कैसे होगा। बिना जिह्वा शुद्ध हुये पाठ स्पष्ट नहीं होता। भला कहीं गूंगे से भी पाठ होता है? जैसे बिना भोजन किये क्षुधा की निवृत्ति नहींहोती, वैसे ही बिना पुरुषार्थ किये आनन्द नहीं प्राप्त होता? भला कहीं चुप रहने से भी कोई कार्य होता है ? नहीं, बिना पुरुषार्थ के, बिना उद्योग के कोई भी सफलता हाथ नहीं लगती न विश्वास हो तो यहां इतने गुरु बैठे हैं, इनसे पूछलो। फिर तुम्हारी जो इच्छा हो, वह करना। किन्तु यदि मुझसे पूछते हो तो मैं सर्व शास्त्रों का यही सिद्धान्त बतलाऊँगा कि जो कुछ होता है, सब में पुरुषार्थ ही प्रधान है। सत्सङ्गति और ज्ञानी जनों के उपदेश और सत्शास्त्र चिन्तन से जब मन और इन्द्रियों के संवेदन पर बारम्बार विचार करोगे और साथ ही जब विरुद्ध आचरणों को त्यागते जाओगे तभी सफलता और सिद्धता मिलेगी। ऐसा करने से तुम्हें रागद्वेष स्पर्श न कर सकेंगे और तुम वैसे ही निर्लेप बन जाओगे कि जैसे कमलपत्र निर्लेप होता है। देखो, तुम्हें जो कोई ऐसा निर्लेप पुरुष मिल जाये उसकी सर्वदा सेवा करना। यदि तुम भली प्रकार उसकी सेवा कर सकोगे तो निश्चय ही तुम्हारा बड़ा उपकार होगा और तुम सर्वदा के लिये संसार सागर से पार हो जाओगे। हे रामजी ! सत्संगति और सत्शास्त्र वही है कि जिनके विचार और संगति से चित्त उपराम हो जावे। फिर जो सारी कल्पनाओं को नष्ट कर सके और

सत्शास्त्रों के अनुसार संसार से मुक्त होने का यत्न करो। पुरुषार्थ के बिना दैव कोई नहीं है। दैव होता तो कोई कुछ भी न करता और सब कुछ वह दैव ही आकर कर जाता। अस्तु, बिना पुरुषार्थ किये कुछ सिद्ध नहीं होता। यदि पुरुषार्थ का मूल्य कुछ न होता अथवा कर्म कोई वस्तु न होता तो न तो पाप करने वाले नरक जाते और न पुण्य करने वाले स्वर्ग को प्राप्त होते। किन्तु निश्चय ही पापियों को नरक और पुण्यात्माओं को स्वर्ग जाना पड़ता है। अतः जो कुछ प्राप्त होता है, सबमें अपना पुरुषार्थ ही प्रधान है।

श्री योगवाशिष्ठ मुमुक्ष-प्रकरण का आठवां सर्ग समाप्त ॥ ८ ॥

—❀—

नवाँ सर्ग

वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजी बोले—हे भगवन्! निश्चय ही आप सर्व धर्मों के पथ-प्रदर्शक हैं। किन्तु आप यह कैसे कहते हैं कि अन्य कोई दैव नहीं है। लोक में तो ब्राह्मण को दैव कहते हैं और यह भी कहते हैं कि वह जो कुछ चाहें कर सकते हैं। तब भला मैं क्या समझूं। जो यथार्थ हो-उस एक सिद्धान्त पर मुझे स्थिर कीजिए। वशिष्ठजी बोले हे रामजी! देखो, तुम्हारे भ्रम नष्ट करने के लिए मैं फिर कहता हूँ कि अपना पुरुषार्थ ही दैव है, अन्य कोई दैव नहीं होता। शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। कर्ता, कर्म और क्रिया में कोई दैव नहीं होता। इसमें दैव का कोई स्थान नहीं है। न कोई उसका रूप है और न कोई स्थान है। केवल मूर्खों को परचाने के लिये ही ऐसा कहा गया है, पर वास्तव में उसकी कोई यथार्थता नहीं है—और यह दैव निश्चय ही शून्य रूप है। रामजी ने कहा-हे भगवन्! इससे तो यह प्रकट हुआ कि दैव का रूप शून्य है। तब शून्य होने पर भी तो उसका कुछ न कुछ अस्तित्व मानना ही पड़ेगा और दैव शब्द की प्रसिद्धता व्यर्थ नहीं हुई। फिर मैं दैव शब्दको

और दैव आप ही आप आकर हमारे मुख में ग्रास रख जावे। अतः कोई दैव नहीं है, अपना पुरुषार्थ ही दैव है और वही सब कुछ करता है। यदि जीवको कुछ करने का अधिकार न होता अथवा जीव कुछ न करता और दैव ही सब कुछ करने वाला होता तो गुरु और शास्त्रों के उपदेश भी न होते। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि दैव शब्द व्यर्थ है और इसको कहने वाला मूर्ख है। इसलिये तुम इस भ्रमको त्याग कर सन्तों और शास्त्रों के अनुसार अपने इच्छित फलको प्राप्त करो। क्योंकि दैव कोई नहीं है। अपना पुरुषार्थ ही दैव है। यदि कोई दैव हमारा कुछ करने वाला होता तो जब जीव शरीर को त्याग देता है तब शरीर नष्ट हो जाता है और इसका किया कुछ नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि दैव शब्द व्यर्थ है। परन्तु पुरुषार्थ की महिमा तो अज्ञानी भी जानते हैं कि बिना अपने किये, कुछ नहीं होता। ग्वाला भी जानता है कि यदि मैं गौवों को न चराऊँगा तो ये भूखी रह जायेंगी। फिर दैव की कल्पना व्यर्थ नहीं तो क्या है? हमको तो कोई भी दैव कहीं दिखलाई नहीं पड़ता। उस दैव का कहीं भी कोई हाथ, पांव और शरीर दृष्टिगोचर नहीं होता है। हम तो यही जानते हैं कि यह कुछ भी आकार दिखलाई पड़ता है, सबमें पुरुषार्थ की ही प्रधानता है। यदि यह कहो कि वह दैव निराकार है तो यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। भला कहीं निराकार और साकार का भी संयोग होता है, कभी नहीं। दैव कोई नहीं है, केवल अपना पुरुषार्थ ही दैव है। ये जितने भी राजा और सिद्ध महात्मा हुये हैं, सब अपने पुरुषार्थ से ही ऐसे सुशोभित हो रहे हैं। इन्होंने स्वप्न में भी दैव का आश्रय न लिया है। ये जो विश्वामित्र हैं इन्होंने तो कभी दैव को नहीं जाना। यदि विना पढ़े ही दैव परिडत कर दे, तो जानिये कि दैव ने किया। पर क्या विना पढ़े कोई परिडत होता है? नहीं, ऐसा कभी नहीं होता। अज्ञानी से ज्ञानवान होना अपने पुरुषार्थ पर ही निर्भर है। इससे तुम भी दैव के मिथ्या भ्रम को त्यागकर सन्तजनों और

बहुत शीघ्र ही तुम आत्मपद को प्राप्त कर शान्तिमान हो जावोगे। हे रामजी! तुम चैतन्य हो, जड़ नहीं। अपने पुरुषार्थ का आश्रय करो। फिर मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारा चित्त शीघ्र ही शुभाचरण को ग्रहण कर आत्मपद में स्थित हो जावेगा। फिर श्रेष्ठता तो उसी की है कि जो कुवासनाओं में पड़कर भी सत्शास्त्र और ज्ञानोपदेश से सुधर जाये। किन्तु वह प्राणी बड़ा मूर्ख है कि जो अपना पुरुषार्थ त्याग कर मुक्त नहीं होना चाहता। हे रामजी! जिसको श्रेष्ठ बनना हो वह पहले अपनी पांचों इन्द्रियों को वश करे। फिर शास्त्रानुसार उनका सञ्चालन करते हुये शुभाचार को ग्रहण कर अशुभ का परित्याग करता जावे। यद्यपि शुभ और अशुभ दोनों ही वासना हैं और वासना होने के कारण दोनों ही त्यागनीय हैं—तथापि प्रथमावस्था में अशुभ का त्याग और शुभ का संग्रह आवश्यक है। क्योंकि शुद्धाचार कटु आचरण का शमन करने वाला है और इस प्रकार जब वह अशुद्ध आचरण को शान्त कर अन्तःकरण में शुद्धता की दृढ़ता कर देता है, तब शत्शास्त्रों और ज्ञानियों के उपदेशानुसार अभ्यास करते हुये प्राणी आत्म–ज्ञान को प्राप्त हो जाता है। और जहाँ इतना हुआ नहीं कि आत्मसाक्षात्कार होते देर नहीं लगती। फिर तो अल्प समय में ही क्रिया और ज्ञान का भी लय हो जाता है और केवल शुद्ध, अद्वैतरूप, अपने आप का भान होने लगता है। अस्तु, हे रामजी! तुम सारी कल्पनाओं को त्यागकर आत्म–कल्याण में लग जाओ।

श्री योगवाशिष्ठ-मुमुक्षु प्रकरण का नवां सर्ग समाप्त ॥ ९ ॥

::-❀-::

अपने हृदय से कैसे हटाऊँ ? वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! दैव को शून्य तो मैंने इसलिये कहा है कि इसका अस्तित्व तुम्हारे हृदय से उठ जावे ! परन्तु उसे तुम बारम्बार ग्रहण करते ही जाते हो। किन्तु यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। अपने पुरुषार्थ का ही नाम दैव है। और पुरुषार्थ कर्म को कहते हैं। कर्म वासना का नाम है। वासना मनसे होती है और मन रूपी जो इच्छा (वासना) करता है, वही उसको प्राप्त होती है। जैसे ग्रामों में बसने की इच्छा करने वालों को ग्रामों का वास मिलता है और विशाल नगर में वास करने की इच्छा वालों को नगर-वास की प्राप्ति होती है। अतः कोई दैव नहीं है। जिसने जैसा शुभ अशुभ कर्म किया है और तदनुकूल जो परिणाम प्राप्त हुआ है, उसी का नाम दैव है। आज दिन जो पुरुष पाप कर्म में प्रवृत्त हैं, वह क्यों ? वास्तविकता यह है कि उन्होंने पूर्व काल में वैसा ही दृढ़ पुरुषार्थ किया है। यदि उस जन्म में शुभ की दृढ़ता होती तो जीवन शुभ कर्म की ओर लगता। पर नहीं, पाप की दृढ़ता के कारण ही आज उन्हें वैसा करना पड़ रहा है। इसी प्रकार जो पुण्यात्मा हैं, उन्होंने पूर्व में वैसा ही दृढ़ पुरुषार्थ किया है। वशिष्ठ जी के ऐसा कहते ही रामजी बोल उठे—हे भगवन् ! तब तो यह निश्चय हो गया कि मैं अपनी पूर्व दृढ़ता के कारण ही आज ऐसा दीन हो रहा हूँ। सो हे महाज्ञानिन ! बतलाइये, मैं क्या करूँ ? पूर्व की वासना ने तो मुझे महा मलिन बना दिया है। वशिष्ठजी ने कहा—ठीक है। पूर्व वासना का प्रभाव ही ऐसा होता है। पर इससे क्या, तुम इतने दीन नहीं हो गये हो कि जैसा समझते हो। हे रामजी ! तुम्हारा मार्ग स्पष्ट और और निर्विघ्न है। बस, थोड़े ही अभ्यास की आवश्यकता है। जहाँ कुछ भी समय के लिये तुम शास्त्र चिन्तन और ज्ञानियों के उपदेशानुसार चले नहीं कि, बस तुम्हारी समस्त वासनाओं का अन्त हो जायगा और इस प्रकार जो कुछ भी पूर्व का दुष्ट संस्कार होगा, वह नष्ट हो जावेगा। फिर तो

था। वशिष्ठजी के ऐसा कहते ही रामजी बोले उठे–हे भगवन्! ब्रह्माजी ने किस कारण आपको ऐसा कहा था और उसे आपने किस प्रकार से धारण किया, सो सभी प्रकट कीजिए। वशिष्ठजी बोले–हे रामजी! तुम्हारा यह प्रश्न बड़ा सुन्दर है। देखो, यह जो क्षीर-शायी विष्णु भगवान हैं, पहले पहल इनकी नाभि कमल से ब्रह्मा जी उत्पन्न हुये। फिर उन्होंने ही अपने योगबल द्वारा ऋषि, मुनियों सहित इस समस्त सृष्टि की रचना की। तब जम्बू द्वीप-भरतखण्ड में उन्होंने एक प्राणी को बहुत दुखी देखा। इससे उनके हृदय में ऐसी करुणा उत्पन्न होगई कि जैसे अपने पुत्र के लिये पिता को करुणा उत्पन्न होती है। तब उन्होंने सृष्टि के प्राणियों का दुःख दूर करने के लिये तप को उत्पन्न कर यह आज्ञा दी कि, तप करो। लोग तप करने लगे। फिर तो तप के प्रभाव से स्वर्ग प्राप्त होने लगा और लोग स्वर्ग के सुखों को भोग कर फिर गिरने और दुःखी होने लगे। तब उस त्रुटि को देखकर ब्रह्माजी ने फिर विचार किया और सत्य-वाक् धर्म का प्रतिपादन कर लोगों को सुख के लिये आज्ञा प्रदान की परन्तु उससे भी वह त्रुटि दूर न हुई और सुख भोग-भोग कर लोग फिर गिरने लगे। इस प्रकार वह अभाव जैसा ही का तैसा ही बना रह गया और लोग दुखी के दुखी ही रह गये। तब ब्रह्माजीने आज्ञा दी कि लोग दान पुण्य और तीर्थादि करके सुखी रहें। परन्तु इस प्रकार भी मन की सेवा करने से, वह त्रुटि दूर न हुई और लोग स्वर्ग के विशाल सुखों का प्राप्त होकर भी पुनः गिरने लगे। तब ब्रह्माजी ने देखा कि ये किसी प्रकार भी सुखी नहीं होते हैं और बारम्बार आवागमन में पड़े रहते हैं–तब किस प्रकार इनका दुःख निवृत्त होवेगा–वे एक गूढ़ विचार में पड़ गये। तब उनके विचार करते-करते ही मैं उत्पन्न हो गया। मुझे देखकर ब्रह्मा जी बहुत प्रसन्न हुये। क्योंकि मैं उनके ही अनुरूप था और जैसे उनके हाथ में कमण्डल है, वैसा ही मेरे हाथ में भी कमण्डल था और जैसे उनके

दसवां सर्ग

-⁘-❀-⁘-

ब्रह्मा-वशिष्ठ-उत्पत्ति

हे रामजी ! तुम मेरी आज्ञा मानो। तुम्हारे हितके लियेही मैंने यह परम मोक्षोपायक ज्ञान को प्रकट किया है। इससे मेरे ये वचन तुम्हारे परम मित्र और बान्धव के समान हित करने वाले हैं। यदि तुम इसके अनुसार पुरुषार्थ कर सके तो इसमें सन्देह नहीं कि बहुत अल्प समय में ही तुम्हारा परम अर्थ सिद्ध हो जायेगा। देखो, यह चित्त बड़ा चंचल है। प्रति क्षण भोगों की ही ओर दौड़ना चाहता है। सो तुम कभी भूल कर भी इसे खाँड़ रूपी खाई में न गिरने देना। परन्तु यह बड़ा उत्पाती है। इसको सँभालना महान कठिन है। इस कारण मैं तुम्हें एक और युक्ति बतलाता हूँ। मोक्षोपायक संहिता से यह दोषों की ओर नहीं जा सकता। सो वह संहिता क्या है, सुनो। पहले शम और दम को धारण करो। शम का अर्थ है, संसार की समस्त वासनाओं को त्याग कर उदारात्मा बन जाना और दम उसे कहते हैं कि जो वाह्य इन्द्रियों को अपने वश में कर लेवे। हे रामजी ! यदि ऐसा विचार पहले ही से बना रहता है सो उस परम तत्वरूपी विचार के आगे इसकी चंचलता नहीं लगती और यह शान्त रहता है। साथ ही एक विचार यह भी है कि जब किसी प्रकार एक बार उदारता एवं इन्द्रिय दमनता का भाव ग्रहण कर लेवे, तब उसे किसी प्रकार भी न छोड़े। ऐसा करने पर सर्वदा ही शुभाचरण की ओर प्रवृत्त रहेगा और तब ऐसी भावनाओं एवं विवेक द्वारा परमपद की प्राप्ति होते देर न लगेगी। और जहाँ उस पद का दर्शन हुआ नहीं कि यह चित्त सर्वदा ही निदु:ख होकर अविनाशी सुख को प्राप्त हो जावेगा। इस कारण हे रामजी ! तुम इस संहिता के अनुसार पुरुषार्थ करके आत्मपद को प्राप्त होवो। ब्रह्माजी ने मुझे यही बतलाया

किया उसके प्रभाव से मेरा अज्ञान नष्ट हो गया और मैं सर्वदा के लिये शुद्ध बन गया। फिर तो इस ज्ञानोपदेश ने मेरा यथेष्ट कल्याण किया और ब्रह्माजी ने मुझे यह आज्ञा दी कि मैं संसार में आकर उपदेश करूँ। तब इस प्रकार जम्बूदीप-भरतखण्ड के लिये अष्ट-प्रजापति का अधिकार लेकर मैं यहां आया और जिसको उत्तम देखा उसे आत्मपद का उपदेश करने लगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, मुमुक्षु-प्रकरण का दसवां सर्ग समाप्त ॥ १० ॥

ग्यारहवाँ सर्ग

हे रामजी! मुझे आये बहुत दिन हुऐ। तब से लेकर आज तक मैंने कितनों को उपदेश किया है और निश्चय ही वे मेरे उपदेश से मुक्त हो गये हैं। परन्तु जब कुछ काल पश्चात कलियुग आया तो उसने समस्त जीवों की बुद्धि महामलिन कर दी। प्राणी पाप-ताप से जलने लगे। वेद-शास्त्र की मर्यादा नष्ट हो गई और जीव दिन रात पाप कर्मों में लगे रह कर नाना प्रकार का कष्ट पाने लगे। तब उनको इस प्रकार दुखी देखकर ब्रह्मा जी को फिर करुणा उत्पन्न हुई और उन्होंने मुझे तथा सनत्कुमार और नारद को बुलाकर कहा कि हे पुत्रो! इस समय भू लोक के प्राणी बहुत दुःखी हैं, अतः उन्हें जिस प्रकार भी सुख प्राप्त होवे तुम लोग जाकर वैसा उपदेश करके धर्म की स्थापना करो। जिन जीवों की भोग की इच्छा हो उन्हें कर्म काण्ड एवं जप, तप और सन्ध्यादिक का उपदेश करो और जो संसार से विरक्त हों और परम पद पाने की इच्छा रखते हों, उनको ब्रह्म विद्या का उपदेश करना। हे रामजी! तब पितामह ब्रह्मा की आज्ञा से हम तीनों व्यक्ति यहाँ आये और आपस में विचार करने लगे कि अब जगत की मर्यादा किस प्रकार स्थापित की जाये। तब निश्चय हुआ कि पहले राज-धर्म की स्थापना होवे। क्योंकि राज-धर्म के स्थिर रहने से लोग उसके अनुसार चलेंगे। यह विधान

कण्ठ में रुद्राक्ष की माला पड़ी हुई है, वैसे ही मेरे कण्ठ में भी रुद्राक्ष की माला पड़ी हुई थी। जैसे उनके पास मृगछाला थी, वैसे ही मैंने भी मृगछाला धारण की थी। अतः हे रामजी ! मेरा ज्ञान उन्हीं ब्रह्माजी के समान ही शुद्ध है। मुझको यह जगत कुछ नहीं भासता। जब इस प्रकार में उत्पन्न हुआ तब ब्रह्माजी ने विचार किया कि इसको तो मैंने संसार के मनुष्यों का कल्याण करने के लिये उत्पन्न किया, परन्तु वह तो साक्षात् शुद्ध-ज्ञान-स्वरूप है। फिर सांसारिक जीवों तक यह क्यों जायगा ? क्योंकि शुद्धसत्ता की गति बड़ी उर्द्ध्व होती है। तब मुझे ऐसा देखकर ब्रह्माजी फिर चिन्तित होगये और एक क्षण में ही उन्होंने मुझमें परिवर्तन कर दिया। मैं उस शुद्ध स्वरूप से कुछ नीचे आया। ब्रह्माजी ने मुझ से कुछ अज्ञान की वार्ता की। तब सांसारिक जीवों के कल्याणार्थ ब्रह्माजी ने मुझे अपनी गोद में बिठाकर मेरे शिर पर हाथ फेरते हुये कहा—हे पुत्र ! मैंने तुमको इस लिये उत्पन्न किया है कि तुम्हारे द्वारा सांसारिक जीवों का कल्याण होवे। सो तुम इतने शुद्ध हो कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं है। सो कैसे बनेगा ? इस कारण तुम मेरी बात मानो और एक क्षण के लिये अज्ञान को धारण कर लो। लोकोपकार की दृष्टि से यह अनुचित नहीं है। देखो, चन्द्रमा, बहुत निर्मल है, परन्तु संसार को सुखी करने के लिये स्वयम् कालिमा धारण करली है। सो, मैं तुम्हें कुछ नीचे उतरने का शाप देता हूँ। तुम कुछ अज्ञानी होकर संसार के निकट जाओ और लोगों को ज्ञानोपदेश करो। हे रामजी ! मैंने पितामह ब्रह्माजी की आज्ञा शिरोधार्य की और वैसा बन गया। तब से मैं वशिष्ठ अपने को ब्रह्माजी का पुत्र समझने लगा और जगत को नाना प्रकार के पदार्थों से भरा हुआ देखकर मेरा मन चञ्चलता को प्राप्त हो गया। तब संसार को दुःखमय जानकर मैंने ब्रह्मा जी से पूछा—हे भगवन् ! यह संसार कैसे उत्पन्न हुआ और कैसे लीन होता है, कृपा कर मुझे बतलाइये तब ब्रह्माजी ने मुझे जैसा कुछ उपदेश

करके इसको नहीं तोड़ता, वह सर्वदा ही दुखी रहता है। परन्तु जो पुरुष सत्शास्त्र और अपने गुरु के उपदेशानुसार आचरण करके अभ्यास एवम् पुरुषार्थ करता है, वह निश्चय ही इससे पार पा जाता है। हे रामजी ! वही पुरुष श्रेष्ठ है कि जिसने संसार को विरस जानकर त्याग दिया है। वही इस ब्रह्मविद्या का अधिकारी है और उसी को उत्तम पुरुष कहना चाहिये। हे रामजी ! तुम वैसे ही उज्जवल पात्र हो इसी कारण मैं तुम्हें उपदेश करता हूँ। अन्यथा जो मूर्ख हैं, सदैव भोगों की ओर दौड़ते रहते हैं और जो दिन रात संसार की ही ओर यत्नवान रहते हैं, वे निश्चय ही पशुवत हैं और वे मेरे उपदेश के अधिकारी नहीं हैं। हे रामजी ! प्रश्न उसी से किया जाता है जो उसका उत्तर दे सके। और जो उत्तर न दे सके उससे प्रश्न क्या करना ? इसी प्रकार हे रामजी ! जब गुरु और शिष्य दोनों ही सत्यपात्र वाले होते हैं तभी यथार्थ लाभ का प्राप्ति होती है अन्यथा नहीं। सो हे रामजी ! शिष्य में जैसा भाव होना चाहिए वह पूर्णरूप से तुममें विद्यमान है। और मैं भी तुम्हें पूर्णरूप से उपदेश करने को समर्थ हूँ—इससे निश्चय है कि कार्य की सिद्धि शीघ्र होगी। इस कारण हे रामजी ! मैं तुम्हारे आगे हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता हूँ कि जो कुछ मैं तुम्हें उपदेश करताहूँ, उसमें आस्तिक भावना कीजिये कि इन वचनों से मेरा कल्याण होगा। यदि तुमको ऐसी धारणा न होवे तो प्रश्न मत करना क्योंकि जब शिष्य को गुरु के वचनों में आस्तिकभाव होता है, तभी उसका कल्याण होता है अन्यथा नहीं सो इसका विचार पहले ही से हो जाना चाहिये। परन्तु—हे रामजी ! मैं जानता हूँ कि तुममें वह सभी भाव पूर्णरूप से विद्यमान हैं कि जो एक शिष्य में होना चाहिये। अच्छा, तो अब जिस प्रकार तुम्हें आतमपद की प्राप्ति होवेगी, वह मैं कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो। पहले तो इस अज्ञानी जीव में जो असत्य बुद्धि हो, उसका साथ छोड़ दो फिर मोक्ष—द्वार के जो चारों द्वारपाल

निश्चित कर हम लोगों ने दण्ड-विधान की रचना की। बस, इसके स्थापित होते ही सृष्टि का कार्य-क्रम ठीक रूपसे चलने लगा और कितने ही प्राणी हम लोगों के उपदेश से मुक्त हो गये। इस प्रकार ब्रह्म विद्या और राजविद्या में कोई अन्तर नहीं है। जो ब्रह्मविद्या है वही राजविद्या हुई है। तब इतना हो चुकने पर हमने वेद, शास्त्र,श्रुति और पुराणों से धर्म की मर्यादा स्थापित कर जप, तप, यज्ञ, दान और स्नान आदिक क्रियाओं को प्रकट कर आज्ञा दी कि लोग इसे करके सुखी होवें। लोग इस पर आचरण करने लगे ! इससे उनका हृदय शुद्ध हुआ और वे मोक्ष के भागी हुये। परन्तु जो मूर्ख कामना करके अहङ्कार पूर्वक कर्म करते थे वे घटी यन्त्र की नाईं कभी नीचे और कभी ऊपर आते जाते दुःखी होने लगे। किन्तु जो निष्काम भाव से कर्म करते रहे, उनका हृदय शुद्ध हुआ और वे ब्रह्म विद्या के अधिकारी हो गये। इस प्रकार हमारे उपदेश द्वारा कितने ही बड़े-बड़े राजा और कितने ही अभ्यासी जीवन्मुक्त हुये और कितने ही वेद विदित सिद्ध हो गये। अस्तु, यह समस्त राज्य-परम्परा हमारी ही चलाई हुई है और उस उपदेश के द्वारा ही कितने अज्ञानी ज्ञानवान हो गये हैं। इसी प्रकार के उपदेश के राजा दशरथ भी ज्ञानी हुये और तुम भी इसी दशा को प्राप्त हुये हो। सो जैसे तुम विरक्त हुये हो वैसे ही तुम से पूर्व में कई लोग स्वाभाविक विरक्त हो चुके हैं। अस्तु स्वाभाविक विरक्त होने के नाते तुम्हारा शरीर परम शुद्ध हो गया है और इस प्रकार तुम सर्व श्रेष्ठ हो। क्योंकि वैराग्य कई प्रकार का होता है। किसी को अनिष्ट दुःख प्राप्त होने से वैराग्य उत्पन्न होता है। और किसी का मसान आदि के कष्ट को देख कर वैराग्य होता है। इस प्रकार किसी को कारण और किसी को अकारण वैराग्य उत्पन्न होता है सो अकारण वैराग्य वाला ही श्रेष्ठ है। ऐसा पुरुष थोड़े ही अभ्यास से संसार सागर को पार कर जाता है। हे रामजी ! यह संसार बड़े अनर्थ का घर है। जो पुरुषार्थ

बारहवाँ सर्ग

तत्व-महिमा-वर्णन

हे रामजी ! तुम्हारे जैसे श्रेष्ठ जिज्ञासु के लिये यह कुछ भी कठिन नहीं है। तुम में क्या नहीं है। जप, तप वैराग्य और सन्तोष आदिक सभी गुण तो विद्यमान हैं। जैसे तुम सब प्रकार से श्रेष्ठ शिष्य हो, उसी प्रकार गुरु के सब लक्षण मुझ में विद्यमान हैं। अतः तुम मेरे उपदेश को अपने शुद्ध भाव से सुनो। हे रामजी ! मेरे ये परमार्थ रूपी वचन अज्ञानी को हृदयङ्गम नहीं हो सकते, किन्तु शुद्ध पात्र के लिये ये नितांत प्रयोजनीय हैं। यदि तुम इन पर दृढ़ता से विचार करोगे तो निश्चय ही तुम में रही सही अज्ञान वृत्तियाँ वैसे ही जल कर भस्म हो जावेंगी कि जैसे महा प्रलय के सूर्य से मन्दराचल पर्वत जल जाता है। अतः हे रामजी ! वैराग्य और अभ्यास के द्वारा तुम इन्हें प्राप्त करो। हे रामजी ! जिन्होंने ऐसा करके सत्सङ्ग और सत्शास्त्र चिन्तन किया है, निश्चय ही वे सुखी हैं। स्वप्न में भी उनको दुःख नहीं होता। क्योंकि दुःख तो देहाभिमान से होता है। सो तुमने बाल्यावस्था से ही अभ्यास द्वारा मन को ऐसा उपशम कर रखा है कि देहाभिमान नष्ट होकर तुम सर्वदा ही सुख के भागी हो गये हो। अब केवल सत्सङ्ग और सच्छास्त्रों द्वारा तुम्हें आत्मपद को ही पाना शेष है। हे रामजी ! दुःख तो अज्ञानियों को होताहै। क्योंकि वे सत्सङ्ग नहीं करते और शास्त्र-चिन्तन से सर्वदा ही बिलग रहते हैं। उनको संसार के सिवा और कुछ नहीं दिखलाई पड़ता फिर तो वे इस संसार जगत के भोग-विलासों में नाना प्रकार का कष्ट भोगते हैं। नरक रूपी अग्नि उन्हें भस्म कर देती है। आत्म प्रमाद मार डालता है। उनका दुःख कभी नष्ट नहीं होता। क्योंकि वे ज्ञान के लिये यत्न नहीं करते। किन्तु जो संसार को

हैं उनसे मित्रता करो। जब उनसे मित्रता कर लोगे तब निश्चय ही वे तुम्हें मोक्षद्वार में पहुँचा देवेंगे और वहां तुम्हें आत्मा का दर्शन हो जावेगा। उनके नाम ये हैं। शम, सन्तोष, विचार और सत्सङ्ग जो इनका साथ कर लेता है, उसको ये शीघ्र ही मोक्षद्वार में पहुंचा देते हैं। परन्तु यह चारों ही एक साथ न वशीभूत होवें तो दो अथवा एक की मित्रता से भी काम बन जाता है। क्योंकि वे चारों ही आपस में मित्र हैं। जब उसमें से किसी एक से भी मित्रता हो गई, तब वह दूसरे, तीसरे और चौथे को भी मिला लेगा और इस प्रकार क्रमशः चारों ही मिल जायेंगे। फिर तो निश्चय ही वे तुम्हें मोक्षद्वार के उस स्थान में पहुँचा देंगे कि जहां आत्मा का दर्शन हो जावेगा। जिन पुरुषों ने इनसे स्नेह किया है, वे निश्चय सुखी हैं। परन्तु जिन्होंने इनका त्याग किया है, वे दुखी हैं। इनमें किसी एक को वश करने में यदि प्राण का भी भय उपस्थित हो जावे तब भी उसकी चिन्ता न करते हुए कठिन साधनों द्वारा उन्हें वसमें कर लेवे। एक के वस कर लेने से चारों ही वशमें हो जावेंगे। फिर तो तुम्हारा कहना ही क्या है ? तुम्हारे जैसे सत्पात्र के लिये यह कुछ भी कठिन नहीं है। सन्तों के साथ और शास्त्र के चिन्तन द्वारा तुम उसे प्राप्त करो।

हे रामजी ! मैं तुम से हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि जो कुछ भी मैं तुमको उपदेश कर रहा हूँ इसमें ऐसा आस्तिक भाव रक्खो कि इन वचनों से मेरा कल्याण होवेगा। सो, अब जिस प्रकार आत्मपद की प्राप्ति होवेगी मैं तुम्हें वह युक्ति बतलाता हूँ, जिज्ञासुको सबसे पहले असत् बुद्धि का त्याग करना चाहिये। जब यह भली भांति त्याग हो जाय तब मोक्ष द्वारके चारों द्वारपालों से मित्रता करे। शम, सन्तोष, विचार और सत्सङ्ग यही चारों द्वारपाल हैं यदि इनसे मित्रता हो जावे तो समझो कि निश्चय ही आत्म-दर्शन हो गया।

श्री योगवाशिष्ठ मुमुक्षु-प्रकरण का ग्यारहवां सर्ग समाप्त ॥ ११॥

-::-꙰-::-

सके ज्ञान के लिये ही यत्न करना चाहिये। सो कैसे? सुनो, पहले बुद्धि को ठीक करे। फिर सत्सङ्ग करके सत्यशास्त्रों का भी भली भांति चिन्तन करे। इससे मूर्खता नष्ट हो जायगी और निश्चय ही आत्मपद की प्राप्ति होगी। सो, इसके लिये समस्त शास्त्रों में यह योगवाशिष्ठ शास्त्र सबसे श्रेष्ठ है। इसके समान त्रिलोकी में कोई भी शास्त्र नहीं है। इसमें नाना प्रकार के दृष्टान्तों का ऐसा समावेश है कि उन्हें पढ़ते और विचारते ही अज्ञानान्धकार ऐसे ही नष्ट होजाता है कि जैसे सूर्यदेव के उदय होते ही कुहिरे का नाश हो जाता है। परन्तु इसके साथ ही जिज्ञासुओं को ऐसे ज्ञानी गुरु की भी आवश्यकता है कि जो उसे अपने अनुभवों द्वारा बराबर उपदेश करता रहे। यदि उस प्रकार के गुरु और शास्त्र दोनों ही मिल जांय तो फिर कहना ही क्या है? फिर तो जीव का कल्याण होते देर नहीं लगती और अकृत्रिम आनन्द प्राप्त हो जाता है। परन्तु जब तक वैसा आनन्द नहीं प्राप्त होता तब तक अपने दृढ़ अभ्यास में ही लगे रहना चाहिये। हे रामजी! मैं तुमको वैसा ही गुरु मिल गया हूँ। हमारी संगति से कितने ही जीवों का कल्याण हो गया है। अतः तुम से जो कहता हूँ ध्यान देकर सुनो। हे रामजी! यह जो संसार के भोग हैं, सो क्षण स्थायी हैं। इनको तुम सर्वथा ही त्याग दो। क्योंकि इनका परिणाम महान दुःखदायक है! हे रामजी! हमने कितने ही जीवों को आनन्दित कर दिया है। और तो क्या, ब्रह्माजी भी हमारे को पाकर ही आनन्दवान हुये हैं। हे रामजी! वही पुरुष श्रेष्ठ है कि जिसने हमारा साथ किया है। परन्तु जो सत्सङ्ग न करके खान पानादिक भोगों में मग्न है, वह मेंढक है। वह सर्वदा ही संसार के कीचड़ में फंसा रहता है। इस कारण जो श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे सत्सङ्ग और सत्शास्त्र के विचार से संसार सागर को लांघ कर परमानन्द को प्राप्त करते हैं। परन्तु जो संसार के सन्मुख हुआ है, वह दुःख से दुःखरूप पद को प्राप्त करता है। जैसे विषको विष जान कर जो उसका पान करता है तो

निरस जानकर पुरुषार्थ की ओर दृढ़ हुये हैं, उनको आत्मपद की प्राप्ति होती है और वे सर्वदा ही सुखी रहते हैं। हे रामजी! जिस पुरुष को आत्मानन्द प्राप्त हो गया है, उसको फिर दुःख नहीं होता पर अज्ञानी के लिए सर्वत्र दुःख ही रहता है। हे रामजी! देखने में तो ज्ञानीजन समस्त चेष्टायें करते रहते हैं, फिर भी उनको संसार का दुःख स्पर्श नहीं करता। क्योंकि उन्होंने ज्ञानरूपी कवच पहना है। हे रामजी! दुःख तो ज्ञानियों को भी मिलता है अर्थात् उन्हें भी कर्म भोग भोगना पड़ता है परन्तु वे उस दुःख से आतुर नहीं होते और सर्वदा आनन्दरूप बने रहते हैं। देखो न ब्रह्मा, विष्णु महेश नाना प्रकार की चेष्टा करते हुये जीव को दृष्टि आते हैं परन्तु भीतर से वे सर्वदा ही आनन्दरूप हैं और उनको कर्तापन का कोई भी अभिमान नहीं है। हे रामजी! ज्ञान ऐसी वस्तु है कि अन्धकार को सर्वदा ही नाश कर देता है। पर हां, स्व-सत्ता को प्राप्त होना चाहिए फिर तो आनन्द ही आनन्द है।

श्री योगवाशिष्ठ मुमुक्षु-प्रकरण का बारहवां सर्ग समाप्त ॥ १२ ॥

तेरहवां सर्ग

-:❀:-

ज्ञानोपदेश वर्णन

हे रामजी! तुम इसी दृष्टि का आश्रय करो। इसको अवलम्ब से तुम्हारा इष्टानिष्ट कुछ नहीं कर सकेंगे। जिसको इस पद की प्राप्ति होगई है जानो वह बड़ा आनन्दित होगया है। परन्तु जिसने अपनी मूर्खता वश ज्ञान का आश्रय नहीं लिया है, वह घोर दुःखों को प्राप्त होता है ऐसा कोई भी दुःख नहीं है जो उसे मूर्खता वश न मिले। इस कारण हे रामजी! यदि ज्ञान के लिये हाथ में टोकना लेकर घर घर भीख मांगना पड़े तो वह भी उत्तम है किन्तु मूर्खतावश यदि कोई ऐश्वर्य ही क्यों न प्राप्त होवे, पर वह उत्तम नहीं है। मूर्खता पूर्ण जीवन से तो मर जाना श्रेष्ठ है। अस्तु, चाहे जिस प्रकार से हो

चौदहवां सर्ग

शम-निरूपण

हे रामजी ! उस मोक्ष-द्वार के चार द्वारपाल हैं। यदि इनमें से एक भी अपने वश में हो जावे तो जानों पल मात्र में ही जीव का कल्याण हो जावेगा। उन चारों में पहले 'शम' नामक द्वारपाल का गुण सुनो। यह जीव के परम विश्राम का कारण है। यही परम आनन्द है और यही शिवपद है। जिस पुरुष ने इस 'शम' को प्राप्त किया है, जानो वह संसार समुद्र से पार हो चुका है। उसके शत्रु भी मित्र हो जाते हैं। हे रामजी ! जैसे चन्द्रमा के उदय से संसार शीतल हो जाता है, वैसे ही इस 'शम' रूप चन्द्रमा के उदय होने से मनुष्य के सब ताप मिट जाते हैं और यह परम शान्ति को प्राप्त होता है। हे रामजी ! शम देवता अमृत के समान है। इसको प्राप्त कर प्राणी उज्वल हो जाता है उसकी दरिद्रता नष्ट होजाती है और वह सब प्रकार से सुखी होजाता है। अधिक क्या कहें, शम के प्राप्त करने से जो आनन्द मिलता है, वह अमृत के पान करने से भी नहीं मिलता और लक्ष्मी की प्राप्ति में भी वह आनन्द नहीं है, जो शम के प्राप्त होने में मिलता है। हे रामजी ! राजा को भी वैसा सुख नहीं मिलता, जैसा कि शमवान को प्राप्त होता है जिस पुरुष को शमकी प्राप्ति हुई है, निश्चय ही वह वन्दना करने के योग्य है। ऐसा पुरुष कभी उद्वेलित नहीं होता। उसकी सारी क्रियायें अमृत के समान होती हैं और उसका वचन की अमृत के ही समान मीठा होता है। वह सच्चा साधु है। उसके सत्सङ्ग से परम आनन्द मिलता है। हे रामजी ! जैसे बालक माताको पाकर सुखी होता है, वैसे ही शम को पाकर जीव सुखी होजाता है। जो सुख चक्रवर्ती राज्य के पाने से नहीं होता, वह सुख 'शम' के पाने से होता है। शमवान को किसी का भय नहीं रहता। वह सर्वदा

वह विष ही उसको मार डालता है, वैसे ही जो पुरुष इस संसार को असत्य जानते हुये भी इसकी ओर भागते हैं, वे मृत्यु को प्राप्त होते हैं। हे रामजी ! जो पुरुष आत्म-पद से विमुख हैं और आत्मपद को अकल्याण रूप जानते हैं और आत्मपद के अभ्यास का त्याग कर संसार की ओर धावते हैं सो वैसे ही हैं जैसे किसी के घरमें अग्नि लगी हो यह तृण की शय्या पर सोया हो तब जैसे वह नाश को प्राप्त होगा, वैसे ही विषयी भी जन्म मरण को प्राप्त होवेंगे। हे रामजी ! यह संसार अविचार से ही असता है। विचार करने पर तो निश्चय ही लीन हो जाता है। यदि लीन न होता तो तुमको उपदेश करने की हमें आवश्यकता ही क्या थी। सो निश्चय ही यह विचार करने से लीन हो जाता है। इस कारण पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए। क्योंकि हाथ में दीपक लेकर भी कुऐ में गिरना मूर्खता है ! जब गुरु और शास्त्र दोनों ही विद्यमान हों तब उनकी शरण न जाकर इधर उधर भटकना क्या है ? किन्तु किस पुरुष ने सत्शास्त्र और विचार द्वारा आत्मपद को प्राप्त कर लिया है, वह अवश्य ही चैतन्यता को प्राप्त हुआ है और निश्चय ही उसका संसार-भ्रष्ट नष्ट हो गया है। हे रामजी ! यह संसार मनके संस्मरण से उत्पन्न हुआ है। इसका कल्याण बान्धवों से नहीं होता और प्रजा भी नहीं कर सकती तथा इस प्रकार के जितने भी ऐश्वर्य और देवद्वारादिक हैं, एक भी मन को वश करने एवं जीत का कल्याण करने में सहायक नहीं हो सकते। जब होगा, तब ज्ञान ही जीवको परमपद का भागी बनायेगा। परन्तु वह बिना समता और सन्तोष के नहीं मिलता। शान्तिमान पुरुष सर्वथाही निर्लिप्त रहता है उसको संसार का भावाभाव स्पर्श नहीं करते। उसके ज्ञान की प्राप्ति का यह मेरा श्रेष्ठ शास्त्र है। हे रामजी ! जो पुरुष इस मोक्षोपायक शास्त्र को श्रद्धा सहित पढ़ते और सुनते हैं वे निश्चय ही मोक्ष-द्वार के भागी हो जाते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ-मुमुक्ष प्रकरण का तेरहवां सर्ग समाप्त ॥ १३ ॥

हे रामजी ! अज्ञानरूपी जीवन में आकाशरूपी बेलि उत्पन्न होती है, जब उसको विचार रूपी खड्ग से काटोगे तब शान्ति प्राप्ति होगी। हे रामजी ! मोहरूपी हस्ती जीवरूपी कमलको खराड खराड कर देता है। जव विचार रूपी सिंह प्रकट होता है, तब मोह रूपी हस्ती का नाश हो जाता है। इस प्रकार जिसको जो कुछ सिद्धता प्राप्त हुई है, वह विचार और पुरुषार्थ से ही प्राप्त हुई जैसे राज्य उसी का प्राप्त होता है कि जो बल, बुद्धि और तेज से युक्त होकर विचार सकता है। वैसे ही आत्मानन्द उसी को प्राप्त होता है कि जो विचार से युक्त होता है। इन्द्रियों का दमन करना साधारण कार्य नहीं है। आत्मव्यापिनी बुद्धिको ही इस कार्य में सफलता मिलती है। इस प्रकार विचार ही मनुष्य का मित्र है और उसी से पुरुष सुखी होता है। जो पुरुष विचारवान होता है, उसके निकट आपदा का कोई भी लेश नहीं होता। जैसे जल में तुम्बी नहीं डूबती, वैसे ही विचारवान पुरुष आपदा में नहीं डूबते। क्योंकि उनका देना, लेना आदिक जितनी भी क्रियायें होती हैं, सब विचार युक्त होती हैं, इससे वे सिद्धता का कारण रूप होती हैं और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये विचार की दृढ़ता से सिद्ध होते हैं। हे रामजी ! विचार रूपी कल्पवृक्ष है। उससे जो मांगे आप मिलता है। संसार में जितनी भी सिद्धियां कही गई हैं, सब विचार से ही प्राप्त होती हैं। जो विचार किया जायगा, वह प्राप्त होगा। सत्य विचार से सत्य और असत्य से असत् वस्तुकी प्राप्ति होती हैं। जो इच्छा हो विचार से मांग लेवे। परन्तु जैसे सत और असत् होता है, वैसेही विचार और अविचार भी होता है। विचार युक्त वस्तु सत् कहलाती है और अविचार का ही दूसरा नाम असत्य कहा जाता है। इस प्रकार विचार का परिणाम सुख, और अविचार का परि-णाम दुःख होता है। हे रामजी ! अविचार रूपी कंटक वृक्ष है। उसमें दुःख रूपी कंटक बड़े उत्पन्न होते हैं। फिर अविचार रूपी रात्रि है कि जिसमें तृष्णारूपी पिशाचनी आकर विचरती है। जब विचार रूपी

निर्भय और शान्तरूप रहता है। संसार में जितने भी शुभ गुण कहे गये हैं, वह सब शमवान के हृदय में भरा रहता है। शम के प्राप्त होने से हृदय के समस्त ताप मिट जाते हैं। उसको कोई दुःख नहीं स्पर्श करता। उसका हृदय शीतल हो जाता है। वह समस्त क्रियाओं में आनन्द रूप बना रहता है। हे रामजी ! यों तो तपस्वी, पण्डित मालिक और धनाढ्य सभी पूजा करने के योग्य हैं, परन्तु जिसको शम की प्राप्ति हो गई है वह सबसे उत्तम और सभी के लिये पूजनीय है। क्योंकि उसके मनकी वृत्ति सर्वदा ही आत्मतत्व को ग्रहण किये रहती है। हे रामजी ! जिसको शम भाव प्राप्त है, उसको शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध जो इन्द्रिय के इष्टानिष्ट विकार हैं, रंचमात्र भी स्पर्श नहीं करते। उसको संसार की रमणीयता नहीं भासती और वह किसी पदार्थ में बन्ध्यायमान नहीं होता। जैसे आकाश सर्वदा निर्मल है, वैसे ही शमवान सदा निर्मल और निर्लेप है। हे रामजी ! शमवान पुरुष न तो इष्ट की प्राप्ति में हर्ष करता है और न अनिष्ट से दुखी होता, वरन्च भीतर बाहर सर्वदा ही शान्तरूप बना रहता है। जैसे सूर्य के उदय होने से अन्धकार नष्ट हो जाता है वैसे ही शान्ति के पाने से सब दुःख नष्ट होजाते हैं। इसके विपरीत जिसको शान्ति नहीं प्राप्त है, उसका चित्त क्षण-क्षण में रागद्वेष से जला करता है। परन्तु जिसको शान्ति की प्राप्ति हुई है वह भीतर बाहर सर्वदा ही शान्त और शीतल है। उसके मुखकी कान्ति बहुत सुन्दर हो जाती है। हे रामजी ! यही परमपद है और इसी को प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए।

श्री योगवाशिष्ठ—मुमुक्षु-प्रकरण का चौदहवां सर्ग समाप्त ॥ १४ ॥

पन्द्रहवां सर्ग

विचार—निरूपण

हे रामजी ! अब विचार की महिमा सुनो। जब हृदय शुद्ध होता है, तब विचार होता है और शास्त्र-विचार द्वारा बुद्धि तीक्ष्ण होती है।

रहते हैं। देखो, विचार करके ऐसे पद की प्राप्ति होती है कि जो पद नित्य, स्वच्छ, अनन्त और परमानन्द रूप है। उसको पाकर फिर उसके त्यागकी इच्छा नहीं होती और ग्रहण की इच्छा भी नहीं होती। उनको इष्ट अनिष्ट विषय सब समान हैं। जैसे तरङ्ग के होने में और लीन होने में समुद्र समान रहता है, वैसे ही विवेकी पुरुष को इष्ट अनिष्टविषे समता रहती है, और उसका संसार भ्रम मिट जाता है। तब उसको आधाराधेय से रहित केवल अद्वैत तत्व प्राप्त होता है। हे रामजी ! यह जगत अपने मन के मोह से उत्पन्न हुआ है। और अपने विचार से ही दुःखदायी दीखता है। जैसे अविचार करके बालक को बैताल भासता है वैसे ही इसको जगत भासता है। जब ब्रह्मविचार की प्राप्ति होवै, तब जगत भ्रम नष्ट होजावै। हे रामजी ! जिसके हृदय में विचार होता है, वहां समता की उत्पत्ति होती है। जैसे बीज से अंकुर निकलता आता है वैसेही विचार से समता हो आती है। विचारवान पुरुष जिसकी ओर देखता है, उस ओर आनन्द ही आनन्द दृष्टि आता है और दुःख कोई नहीं भासता। जैसे सूर्यको अन्धकार दृश्य नहीं आता, वैसेही विचारवान को दुःख दृश्य नहीं आता। जहां अविचार हैं, तहां दुःख है, जहां विचार है वहां सुख है जैसे अन्धकार के अभाव हुये बैताल के भय का अभाव हो जाता है, वैसेही विचार किये से दुःख का अभाव हो जाता है। हे रामजी ! यह संसाररूपी दीर्घ रोग है, उसका नाश करने को विचार बड़ी औषध है। जिसको विचार की प्राप्ति हुई है, उसके मुख की कान्ति उज्ज्वल हो जाती है जैसे पूर्णमासी के चन्द्रमा की कान्ति उज्ज्वल होती है, वैसेही विचारवान् के मुखकी उज्ज्वल कान्ति होती है। हे रामजी ! विचार करके इसको परमपद की प्राप्ति होती है और जिससे अर्थ सिद्ध होवे, उसका नाम अविचार है और जिससे अनर्थ सिद्ध होवै, उसका नाम विचार है। हे रामजी ! जो इस अविचाररूपी मदिरा का पान करता है, वह उन्मत्त हो जाता है।

सूर्य उदय होता है तब अविचार रूपी रात्रि और तृष्णारूपी पिशाचिनी नष्ट होजाती है। हे रामजी ! हम तुम्हें यह आशीर्वाद देते हैं कि तुम्हारे हृदय से अविचार रूपी रात्रि नष्ट हो जावे। हे रामजी ! जहां विचार है, वहां दुःख नहीं है। जैसे जहां प्रकाश है, वहाँ अन्धकार नहीं रहता और जहां प्रकाश नहीं होता वहां अन्धकार ही अन्धकार रहता है, वैसे ही जहां विचार है, वहां संसार का भय नहीं है और जहां विचार नहीं है, वहां संसार का भय लगा रहता है। किन्तु जहां आत्मविचार उत्पन्न होता है, वहां सुख को देने वाले सभी गुण आकर स्थित होजाते हैं। जैसे मानसरोवर में कमल की उत्पत्ति होती है, वैसे ही विचार में शुभगुण की उत्पत्ति होती है। पर जहां विचार नहीं होता, वहां दुःख का आगमन अवश्य होता है। हे रामजी ! जो कुछ अविचार कर किया करते हैं सो दुःख का कारण होती है। जैसे चूहा बिलको खोद कर मिट्टी निकालता है सो जहां इकट्ठी होती है, तहां वेलि की उत्पत्ति होती है, वैसे ही अविचार से यह पुरुष मृत्तिका रूपी पाप क्रिया को करता है, उससे आपदारूपी वेली उत्पन्न होती है और अविचार रूपी घुन का खाया सूखा वृक्ष है, उसको सुखरूपी फल चाहते हैं सो नहीं निकलते हैं। हे रामजी ! विचार किसका नाम है ? जिसके करने से शास्त्रानुसार क्रिया होवे, उसका नाम विचार है। हे रामजी ! विवेकरूपी राजा है और विचार ध्वजा है। जहां विवेकरूपी राजा आता है, तहां विचार रूपी ध्वजा उसके साथ फिरती है और जहां विचाररूपी ध्वजा आती है वहां विवेकरूपी राजा भी आता है। जो पुरुष विचार करके सम्पन्न है सो पूजने योग्य हैं। उसको सब कोई नमस्कार करते हैं। जैसे द्वितियाके चन्द्रमा को सब नमस्कार करते हैं, वैसे ही विचारवान को सब नमस्कार करते हैं।,हे रामजी ! हमारे देखते-देखते कितने ही अल्प बुद्धि वाले दृढ़ता में मोक्षपद को प्राप्त हुये हैं। इससे विचार सबका परम मित्र है। विचारवान पुरुष अंतर्बाहिर शीतल रहता है। वैसे ही वे भी शीतल

असत्य को सत्य जान, जिसको असत्य जाना है उसको त्याग कर, और सत्य में स्थित होय इसी का नाम विचार है। इस विचार कर आत्मपद की प्राप्ति होती है। हे रामजी ! यह विचार रूपी दिव्य-दृष्टि जिसको प्राप्त हुई है, उसको आत्मपद की प्राप्ति हो जाती है। उसको पानेसे वह परिपूर्ण हो जाता है और फिर शुभ अशुभ संसार में चलायमान नहीं होता, ज्यों का त्यों रहता है। जब तक प्रारब्धवेग होता है, तब तक शरीर की चेष्टा होती है, परन्तु शरीर को त्याग कर केवल शुद्धरूप हो जाता है। इससे हे रामजी ! ब्रह्मविचार का आश्रय कर संसार समुद्र से तर जाता है, जो रोगी होता है, इतना रुदन नहीं करता। विचार रहित पुरुष जितना कुछ रुदन करता है, उससे उसको कष्ट ही प्राप्त होता है। हे रामजी ! जो पुरुष विचार से शून्य है, उसे सब आपदायें आय प्राप्त होती हैं। जैसे सब नदी स्वभाव से ही समुद्र में आकर प्रवेश करती हैं, वैसे ही अविचार में सब आपदायें आय प्रवेश करती हैं। हे रामजी ! कीचक और कीट होना भला है और गर्त का कंटक भी होना भला है, और अंधेरे बिल में सर्प होना भी भला है, परन्तु विचार से रहित होना तुच्छ है। जो पुरुष विचार से रहित हो भोगों में दौड़ता है, वह श्वान है।

हे रामजी ! विचार से रहित पुरुष बड़े कष्ट को पाता है। इससे तुम विचार से रहित नहीं रहना और सर्वदा विचार से दृढ़ होकर निर्भय रहना कि मैं कौन हूँ और दृश्य क्या है। ऐसा विचार करके सत्यरूपी आत्मा को जानकर दृश्य का त्याग करना। हे रामजी ! जो पुरुष विचारवान है, वह संसार के भोगों में नहीं गिरता और सत्य में ही स्थित होता है ! जब विचार स्थित होता है, तब तत्वज्ञान होता है और तत्वज्ञान से विश्राम होता है। फिर तो विश्राम से चित्त का उपशम होता है और चित्त के उपशम से दुःखों को नाश हो जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ–भाषा मुमुक्ष–प्रकरण का छठवां सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥

उसमें शुभ विचार कोई नहीं आते। शास्त्र के अनुसार जो कुछ क्रिया है, वह उसमें नहीं होती। इससे अविचार करने से कुछ भी अर्थ सिद्धि नहीं होती। हे रामजी! इच्छा रूपी रोग है, सो विचाररूपी औषध से निवृत्त होता है। जिस पुरुष ने विचार द्वारा परमार्थसत्ता का आश्रय लिया है, वह परम शान्त हो जाता है। और उसकी बुद्धि हेयोपादेय नहीं रहती। वह सब दृश्य को साक्षीभूत होकर देखता है। संसार के भाव अभावविषे ज्यों का त्यों रहता है। वह उदय अस्त से रहित निःसङ्ग रूप है। जैसे समुद्र जलसे पूर्ण है, वैसेही विचारवान आत्मतत्व से पूर्ण है जैसे अन्धकूप में पड़ा हुआ हर तरह के बल से निकलता है, वैसेही संसाररूपी अन्धकूपमें गिरा हुआ विचारके आश्रय होकर विचारवान पुरुष निकलने को समर्थ होता है। हे रामजी! राजा को जो कोई कष्ट आय प्राप्त होता है तब वह विचार करके यत्न करता है, तब कष्ट निवृत्त हो जाता है, इससे तू विचार कर देख कि यदि किसी को कष्ट प्राप्त होता है तो विचार से ही निवृत्त होता है। तुम विचार का आश्रय करके सिद्धता को प्राप्त हो। सो विचार इस प्रकार प्राप्त होता है, वेद और वेदान्त के सिद्धान्त को श्रवण करे, पाठ करे, भले प्रकार विचारेगा तब विचार की दृढ़ता से आत्मतत्व को प्राप्त होवेगा। जैसे प्रकाश से पदार्थ का ज्ञान होता है, वैसे ही गुरु और शास्त्र के वचन से तत्व-ज्ञान होता है। जैसे प्रकाश में अन्धे को पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती है, वैसे ही जो गुरु और शास्त्र के विचार से शून्य है, उसको आत्मपद की प्राप्ति नहीं होती। हे रामजी! जो विचाररूपी नेत्र से सम्पन्न हैं, वही देखते हैं, और जो विचाररूप नेत्र से रहित हैं वे अन्धे हैं।

हे रामजी! ऐसा विचार करो कि मैं कौन हूँ और यह जगत क्या है, और इसकी उत्पत्ति कैसे हुई, अरु नील कैसे होता है। इस प्रकार संत और शास्त्र के अनुसार विचार कर सत्य को जान, और

रहता है। हे रामजी ! यदि असन्तोषी पुरुष को अमृत भी मिल जाये, तब भी वह सुखी और तृप्त नहीं होता। किन्तु जो सन्तोषवान है, वह सर्वदा ही शान्तिरूप और निर्मल रहता है। सन्तोषवान पुरुष सबको प्यारा लगता है और वही सबसे श्रेष्ठ है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा,मुमुक्षु-प्रकरण का सोलहवां सर्ग समाप्त ॥ १० ॥

सत्रहवाँ सर्ग

सत्सङ्ग-महिमा

हे रामजी ! सत्सङ्गति से बढ़कर संसार में और कोई भी वस्तु श्रेष्ठ नहीं है। फिर आत्मपद की प्राप्ति के लिये तो यह महान औषध है। आत्मपद प्राप्त करने के लिये जो लाभ साधु सङ्गति से होता है, वह दान और तीर्थादिक साधनों से नहीं होता। सत्सङ्गति से अज्ञानी ज्ञानवान हो जाता है और ज्ञान को पाकर उसे अमरत्व प्राप्त हो जाता है। किन्तु जो अज्ञानी है, वह तो सर्वथा ही कालके गालका चर्वण होता रहता है। हे रामजी ! सत्सङ्ग ऐसा साधन है कि वह मूर्ख से भी मूर्ख प्राणी के हृदय में ज्ञानरूपी दीपक को जगाकर अज्ञानान्धकार को नष्ट कर देता है। फिर तो उस पुरुष को सारी सम्पदायें प्राप्त हो जाती हैं और उसे किसी भी भोग पदार्थ के पाने की इच्छा नहीं रहती। क्योंकि सन्तजन स्वतः ही प्रकाशरूप हैं। उनकी संगति सर्व पदार्थों का प्रदान करने वाली और उस प्रकार के पुरुषार्थ के समस्त सुखों को एकत्र करने वाली है। किन्तु जो अपने पुरुषार्थ रूपी नेत्र से हीन है, उनको पदार्थों की प्राप्ति नहीं होती और वे सर्वदा ही नरकाग्नि में दग्ध होते रहते हैं। हे रामजी ! सत्संग रूपी गङ्गा में स्नान करने वाले को और किसी भी साधन की आवश्यकता नहीं है। मुमुक्षु के लिये तप और दानादिक साधन तो तभी तक आवश्यक हैं कि जब तक उसे सन्त-संगति की प्राप्ति नहीं हुई है। सत्सङ्गति प्राप्त होने पर तो निश्चय ही वह सब प्रकारसे शीतल होजाता है। इस

सोलहवाँ सर्ग

सन्तोष-वर्णन

हे रामजी ! जिस पुरुष को सन्तोष प्राप्त है, वह परम आनन्दित हुआ है, और उसको त्रिलोकी का ऐश्वर्य तृण की नाईं तुच्छ भासता है । हे रामजी ! जो आनन्द अमृतपान करने से नहीं होता है, और जो आनन्द त्रिलोकी के राज्य से भी नहीं होता, वैसा आनन्द सन्तोषवान को होता है । हे रामजी ! इच्छारूपी रात्रि हृदयरूपी कमलको संकुचित कर देती है । जब सन्तोषरूपी सूर्य उदय होता है, तब इच्छारूपी रात्रि का अभाव हो जाता है । जैसे क्षीर समुद्र अपनी उज्ज्वलता से ही शोभायमान होता है, वैसे ही सन्तोषवानकी कान्ति सुशोभित होती है । हे रामजी ! यदि त्रिलोकी के राजा की इच्छा निवृत्त न हुई तब वह दरिद्री और निर्धन है । और जो सन्तोषवान है वही सबका ईश्वर है, सन्तोष उसीका नाम है । श्रवण करके भी जो अप्राप्त वस्तु की इच्छा न करे, और इष्ट अनिष्ट में रागद्वेष न धरे इसीका नाम सन्तोषहै । सन्तोषही परमपद है और सन्तोषवान पुरुष ही सदा आनन्दरूप है, और वही आत्मस्थिति में तृप्त हुआ है । उसको और इच्छा कुछ नहीं फुरती, और सन्तुष्टता से उसका हृदय प्रफुल्लित हुआ है । जैसे सूर्य के उदय हुये सूर्य मुखी कमल प्रफुल्लित होता है, वैसे ही सन्तोषवान प्रफुल्लित हो जाता है और जो अप्राप्त वस्तु हैं, उनकी इच्छा नहीं करता और जो अनिच्छित प्राप्त भई है, उसको शास्त्र क्रम करके ग्रहण करता है । उसी का नाम सन्तोषवान है जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा पूर्ण होता है, वैसे ही सन्तोषवान का हृदय सन्तुष्टता से पूर्ण रहता है किन्तु जो सन्तोष से रहित है, उसके हृदयरूपी वन में सर्वदा ही दुःख और चिन्तारूपी फूल तथा फल उत्पन्न होते रहते हैं । असन्तोषी को कभी सुख का दर्शन नहीं होता । संसार भरकीसम्पदा और अष्टसिद्धियों की प्राप्ति भी उसके लिये सुखप्रद नहीं होती । जब देखो, वह रोताही

रामायण का श्रवण करते हैं और आदि से अन्त पर्यन्त एकत्र भाव से इसका विचार करते हैं, वे निश्चय ही परमपद के भागी होते हैं। हे रामजी ! इस मोक्षोपायक शास्त्र में कुल २३ हजार श्लोक हैं और यह छः प्रकरणों में समाप्त हुआ है। पहला वैराग्य प्रकरण है, जो वैराग्य का परम कारण है। हे रामजी ! अज्ञान का हृदय मरुस्थल के समान शून्य रहता है और उसमें स्वप्न में भी वैराग्य रूपी वृक्ष नहीं उत्पन्न होता, परन्तु इस शास्त्र रूपी वर्षा के प्रभाव से उसके हृदय में भी वैराग्य रूपी वृक्ष उत्पन्न हो जाता है। इसमें एक हजार पाँच सौ श्लोक हैं। दूसरा मुमुक्षु-प्रकरण है इसके वचन परम निर्मल हैं। इसमें भी एक हजार श्लोक हैं तीसरा उत्पत्ति प्रकरण है और इसमें पाँच हजार श्लोक हैं। इस प्रकरण में बहुत सुन्दर और ऐसी दृष्टान्त युक्त अनेक कथायें सन्निहित हैं कि जिनके श्रवण से जगत की सत्यता नष्ट होकर ज्ञानका उदय होता है। चौथा स्थिति प्रकरण है। इसमें तीन हजार श्लोक हैं। इसके विचार करने से जगत लय होजाता है और इस प्रकार प्राणी के समस्त संकल्प क्षय होजाते हैं। पांचवां उपशम-प्रकरण है इसमें पांच हजार श्लोक हैं। इसके विचार से अहंममतादिक वासनायें लीन हो जाती हैं और जैसे स्वप्न से जागृत होने पर उसकी वासनायें नहीं रहतीं, वैसे ही इसका विचार करने से अहं-त्वं आदिक बासनायें नहीं रहतीं। इसप्रकार जब वासना नष्ट होजाती है, तब मनका उपशम होजाता है और उसे किसी अर्थ की इच्छा नहीं रहती। ऊपर से देखने में तो वह सारी चेष्टायें किया करता है, पर भीतर से वह सर्वथा ही निर्लेप रहता है। हे रामजी ! छटा निर्वाण-प्रकरण है। इसमें परम निर्वाण वचन कहे गये हैं। इसके विचार करने से पुरुष के अहङ्कारादिक पिशाच एवं मोहादिक पदार्थों की समस्त वासनायें नष्ट होजाती हैं और फिर उसके लिये कुछ करना शेष नहीं रहता। शरीर रहते भी वह पुरुष शरीर रहित हो जाता है। जैसे सूर्य को अन्धकार नहीं

लिए त्रयतापसे नित्य ही दग्ध होने वाले जिज्ञासुओं को चाहिए कि वे स्नान दान तब तक करते ही रहें कि जब तक साधु संगति न प्राप्त होवे। किन्तु जहां कहीं भी कोई ऐसा योग हो जावे कि इन सारे बखेड़ों को त्याग कर साधु-संगति का लाभ उठावे। हे रामजी! सतसंगति से समस्त मोहान्धकार नाश हो जाता है और ऐसे पुरुष को निश्चय ही आत्मपद का दर्शन होता है। हे रामजी! जैसे अप्सराओं से लक्ष्मी उत्तम है, वैसे ही सत्संग कर्त्ता सबसे उत्तम है। इसलिये अपने कल्याण के हेतु तुम्हें सत्संग करना ही योग्य है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा,वैराग्य-प्रकरण का इक्कीसवां सर्ग समाप्त ॥२१॥

नवाँ सर्ग

—❀—

षट्-प्रकर्ण-वर्णन

हे रामजी! यह मेरे वचन तुम्हारे लिये परमपावन हैं। यदि तुम इनको ग्रहण कर लोगे तो निश्चय ही परम पवित्र हो जाओगे। तुमको शुद्ध पात्र समझ कर ही, मैंने इतना कहा है। अन्यथा अपात्र को कौन कहता है? हे रामजी! यह महारामायण शास्त्र आत्मबोध का परम कारण और मोक्षदाता है। इसमें परम पवित्र वाक्यों की सिद्धता के साथ- युक्ति युक्तार्थ उदाहरण सहित नाना प्रकार के ऐसे २ वाक्य कहे गये हैं कि जिन पर विचार करने से निश्चय ही प्राणी मुक्तात्मा हो जाता है। परन्तु यह कल्पवृक्ष रूपी शास्त्र उसी को प्राप्त होता है कि जिसके अनेक जन्मों के पुण्य उदय होते हैं अन्यथा नीच को इसका श्रवण नहीं प्राप्त होता और उसकी वृत्ति इसके श्रवण में नहीं होती। जैसे धर्मात्मा राजा ही न्याय शास्त्र को सुनता है, अधर्मी नहीं, वैसे ही पुण्यवान ही इस पवित्र-शास्त्र को सुनते हैं, पापी नहीं। क्योंकि यह पवित्र शास्त्र मोक्ष का देने वाला है। जो निष्काम भाव वाले सन्तों के मुख से इस महा

करो। किन्तु हे रामजी! तुम भी देखते जावो कि मैं कहाँ, क्या बोलता हूँ। जहां कोई शङ्का हो, झट पूछ बैठना। विना समझे किसी सिद्धान्त पर आचरण नहीं होता। यदि देखो कि मैं व्यर्थ बोल रहा हूँ तो निश्चय ही मेरी वार्ता न मानो। मैं ही क्या, यदि ब्रह्माभी उतर आवें और कहें कि यह मेरी अमुक अनुचित बात को मानो, तो न मानना और उसे वैसे ही त्याग देना, जैसे सूखे तृणको लोग त्याग देते हैं। किन्तु यदि बालक के वचन भी युक्ति पूर्ण होवें तो उन्हें स्वीकार करना चाहिए। श्रेष्ठता से क्या होता है, यदि उसमें वह गुण न हो। हे रामजी! अपने को जलसे प्रयोजन है न कि कुवेंसे। यदि कुवां अपने पिता का ही हो किन्तु इसमें खारी जल होवे तो उसे त्याग कर किसी निकटवर्ती ऐसे कुयें के जल को ग्रहण करना चाहिए कि जो मीठा हो। इस प्रकार ज्ञान प्रकरण में बड़े और छोटे का विचार नहीं है और युक्ति पूर्वक वचनों को ही देखना चाहिए। हे रामजी! मैं जो कुछ कह रहा हूँ, सब युक्ति पूर्वक है। अतः तुम एकाग्र भावसे इस पर ध्यान दो। पहले वैराग्य प्रकरण को विचारोगे तो वैराग्य उत्पन्न होगा और तब संसार के जितने भी भोग पदार्थ हैं, सबको बिरस जानने लगोगे। फिर तो तुम्हें किसी भी पदार्थकी इच्छा न होवेगी और तुम्हारी वृत्तियां बिल्कुल ही शान्त हो जावेंगी। हे रामजी! तब उस प्रकार से जैसे २ विचार दृढ़ होवेगा, वैसे ही वैसे तुम शान्त होते जाओगे। अतः जितने कुछ संसार के यत्न हैं, उन सबको त्याग कर तुम इस शास्त्रका बारम्बार विचार करो। इस प्रकार विचार करने से तुम में क्रम पूर्वक चैतन्य सत्ता उदय होवेगी और इस प्रकार से लोभ और मोहादिक विचारोंका सर्वथा ही अन्त हो जावेगा। जैसे ज्यों ज्यों सूर्य का उदय होता है, त्यों त्यों अन्धकार नष्ट होता है, वैसेही तुम्हारे समस्त विकार नष्ट होजावेंगे। फिरतो तुम्हेंउस पदकी प्राप्ति हो जावेगी कि जिसने पानेसे संसारके लोभ मिट जायेंगे। जैसे शरत्काल में मेघ नष्ट हो जाता है, वैसे ही संसार के लोभ नष्ट

लगता वैसे ही इसको जगत कुछ नहीं लगता और वह बहुत बड़े पद को प्राप्त होता है। अधिक क्या कहें, उस पद की महत्ता और श्रेष्ठता को ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी नहीं कह सकते।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा मुमुक्षु-प्रकरण का अठारहवां सर्ग समाप्त ॥ १८ ॥

उन्नीसवां सर्ग

परम दृष्टान्त-वर्णन

हे रामजी! इस प्रकार यह योगवाशिष्ठ महारामायण शास्त्र समस्त शास्त्रों का शिरमौर तथा आत्म-ज्ञान को देने वाला है। परन्तु वह आत्म-ज्ञान वर और शाप के समान नहीं होता। बिना विचार और बिना अभ्यास किए आत्मानन्द की प्राप्ति नहीं होती। जब विचार पूर्वक दृढ़ अभ्यास किया जाता है, तभी प्राप्ति होती है। किन्तु इसी शास्त्र का विचार और चिन्तन होना चाहिए। इसके अनुसार विचार करके जो साधन प्राप्त होवें, उन पर आचरण करे और जो उस प्रकार निषेध की गईं हो, उन समस्त वासनाओंका अन्त कर देवे, तभी आत्मानन्दका दर्शन होता है। अन्यथा जन्म-मरणका भय तो महान दुःखदायी है क्षण क्षण में इस मिथ्या जगत के साथ मिल कर कष्ट पाता रहता है। परन्तु जो इस शास्त्र का विचार करते रहते हैं, वे ज्ञानी हैं और उनको संसार के राग-द्वेष कुछ भी नहीं बेधते। क्यों कि यह शास्त्र सर्वथा ही प्रकाश रूप है। उसका समग्र विवेचन यह है कि इसके अनुसार आचरण करते हुए जगत् सहित उसके समस्त पदार्थों को एक-एक करके घटाता जावे अर्थात् समस्त पदार्थों को निःसार समझ कर उन्हें क्रम पूर्वक त्यागा जावे। परन्तु इसकी सारी क्रियायें अथवा इसके समस्त ज्ञान बिना अनुभवी गुरु के ज्ञात नहीं होते। सो, मैं उत्तम गुरु मिल गया हूँ। और जैसे मेरा ज्ञान पवित्र है, वैसे ही तुम भी इसके योग्य सत्पात्र हो। अस्तु मैं जो कुछ भी बतला चुका हूँ अथवा आगे बतलाऊँगा—तुम उन्हें खूब ध्यान पूर्वक सुनो और फिर मनन करके वैसाही ठीक २ आचरण

हे रामजी ! तब उससे जो वाक्अर्थ सिद्धि होवे सो वचन लेना और जिससे वाक्यार्थ सिद्ध न होवे, उसका त्याग करना । जो वचन अनुभव को प्रकट करै, उसको अङ्गीकार करता । जो पुरुष अपने बोध के निमित्त वचन को ग्रहण करना है, वही श्रेष्ठ है और जो बाद के निमित्त ग्रहण करता है, सो चोगचंचु है । वह अर्थ को सिद्ध नहीं करता । जो अभिमान को लेकर करता है, सो हस्ती की नांईं शिरपर माटी डारता है । उसका अर्थ सिद्ध नहीं होता और जो अपनी बोधके निमित्त वचन को ग्रहण करता है, और विचार के लिये उसका अभ्यास करता है, वह आत्मानन्द को पाता है । हे रामजी ! आत्मपद पाने के निमित्त अवश्यमेव अभ्यास होना चाहिये । जब शम, विचार, सन्तोष और सन्त समागम से बोध की प्राप्ति होवै, तब प्राणी परमपद को प्राप्त होता है । हे रामजी ! परमपद की प्राप्ति के लिये एक दृष्टान्त लेकर कहता हूँ । सर्वमुख कहने से अखण्डता का अभाव होजाता है, और जो सर्वमुख दृष्टान्त है उसको मुख्य जानिये । आत्मा सत्यरूप और कार्य कारण ते रहित, शुद्ध और चैतन्य है, उसके जनावने निमित्त कार्य कारण जगतका दृष्टान्त कहता हूँ, सो एक अंश लेके कहता हूँ, और बुद्धिमान भी दृष्टान्त के अंश को ग्रहण करते हैं । जो श्रेष्ठ हैं सो अपने बोधके निमित्त सारको ग्रहण करते हैं, और जिज्ञासु को भी यही चाहिये है जो अपने बोध के निमित्त सारको ग्रहण करे, और बाद न करै । जैसे क्षुधार्थी को चावल पका आय प्राप्त होवे, तब भोजन करने का प्रयोजन है, और उसकी उत्पत्ति और स्थितिका बाद करना व्यर्थ है । हे रामजी ! वही वाक्य है, जो अनुभवको प्रकट करे, और जो अनुभव को प्रकट न करे उसका त्याग करना । जो स्त्रीका वाक्य होवै और आत्म अनुभव को प्रत्यक्ष करे, उसका ग्रहण करना, और परम गुरुका वेदवाक्य होवे और अनुभव को प्रकट न करे, उसका त्याग करना । जब तक विश्राम को पावे तब तक विचार कर्तव्य है । विश्राम का नाम तुर्यपद है । जब विश्राम की प्राप्ति भई तब अक्षय

होजाते हैं। हे रामजी! यह संसार-भ्रम तो आत्मा के ही प्रमाद से उत्पन्न हुआ है। यदि प्रमाद न होवे तो विना किसी यत्न के ही यह शान्त होजाता है। हे रामजी! आत्मा को प्राप्त करने में कुछ यत्न नहीं है। ज्ञान होतेही वह प्राप्त होजाता है। क्योंकि यह नियम है कि बोधरूप बोध को प्राप्त करता है। ज्ञान का स्वरूप है किसी वस्तु को जान लेना और उसमें स्थिति होनेका नामहै यत्न। आत्मा शुद्ध तथा अद्वैत रूप है और जगत भ्रम मात्र है, इससे यह स्वप्नवत है जैसे स्वप्न आदि और अन्त में कुछ नहीं है, वैसे ही जाग्रत भी आदि और अन्त में कुछ नहीं है। इससे जाग्रत और स्वप्न दोनों ही समान हैं। हे रामजी! यह वार्ता तो बालक भी जानते हैं कि जिसकी आदि और अन्त में कोई सत्ता नहीं होती वह स्नप्नवत है, तब इस प्रकार जिसका कोई आदि और अन्त न हो, उसको मध्यम भी कैसे जाना जाय। अस्तु यह जो आदि, अन्त और मध्यम भी स्थित हुआ जगत जान है पड़ता इसकी कोई सत्ता नहीं है और यह सर्वथा ही भ्रम-मात्र एवं अकारण है। और कार्य कारण सम्बन्ध में भासता है। इस प्रकार आत्म-सत्ता अकारण है। जगत साकार है और आत्मा निराकार है। हे रामजी! इस जगत का दृष्टान्त जो आत्मा सम्बन्धमें देता हूँ उसका तुम एक अंश ग्रहण करना। जैसे स्वप्न की सृष्टि होती है, उसका पूर्व अपर भाव आत्मतत्वमें मिलता है, क्योंकि वह अकारण है और उसमें कोई मध्यभाव का दृष्टान्त नहीं मिलता। क्योंकि वह अप्रमेय अकारण है, तब उसमें दृष्टान्त कैसे होवे। इससे अपने बीच के अर्थ दृष्टान्त का एक अंश ग्रहण करना। हे रामजी! जो विचारवान् पुरुष हैं, जब वे गुरु और शास्त्र का उपदेश श्रवण करके सुख बोधके अर्थ दृष्टान्त का अंश ग्रहण करते हैं तब उनको आत्मतत्व की प्राप्ति होती है। परन्तु जो अपने बोध के अर्थ दृष्टान्त का कोई अंश ग्रहण नहीं करते, और वाद करते हैं उनको आत्मतत्व की प्राप्ति नहीं होती। इससे तुम दृष्टान्त का अंश अवश्य ग्रहण करना।

रूप है। जैसे पवन में स्पंदशक्ति रहती है, तैसे आत्मा में संवेदन रहती है। जब संवेदन स्पंदरूप होती है, तब दृश्यरूप होयके स्थित होती है। स्वप्न में अनुभव सत्ता दृश्यरूप होयके स्थित होती है। तैसे यह दृश्य है। तातें सब आत्मसत्ता है। ऐसे विचार से आत्मपदको प्राप्त होओ, और जो ऐसे विचार करके आत्मपदको प्राप्त न हो सके तब अहङ्कार जो उल्लेख फुरता है, उसका अभाव करो, पीछे जो शेष रहेगा सो शुद्ध बोध आत्मसत्ता है। जब शुद्ध बोधक तुम प्राप्त होवोगे तब ऐसे चेष्टा पड़ी होवैगी, जैसे यंत्रकी पुतली संवेदन बिना चेष्टा करती है, वैसे ही देह रूप पुतली का चालनहारा मनरूपी संवेदन है। उसके बिना वह पड़ी रहैगी, परन्तु अहंकृति का अभाव हो जावैगा और इससे चल करके उस पदके पावने का अभ्यास करो कि जो नित्य शुद्ध और शान्त रूप है। और हे रामजी ! दैव शब्दको त्याग करि अपना पुरुपार्थ करो। और आत्मपद को प्राप्त होवो। कोई पुरुषार्थमें सूरमाई सों आत्मपद को प्राप्त होता है। परन्तु जो नीच पुरुषार्थ का आश्रय करता है, वह संसार समुद्र में डूब जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ मुमुक्ष-प्रकरण का उनीसवां सर्ग समाप्त ॥ १९॥

-:::-❀-:::-

बीसवाँ सर्ग

आत्मप्राप्ति-वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! जब सत्सङ्ग करके यह पुरुष शुद्ध बुद्धि करै, तब आत्मपद पाने को समर्थ होवै। पहले सत्सङ्ग यह है कि जिसकी चेष्टा शास्त्र के अनुसार होवे, उसका सङ्ग करे, उसके गुणों को हृदय में धरै। बहुरि महापुरुषों के शम, संतोप आदिक गुणोंको आश्रय करै। शम संतोषादि से ज्ञान उपजता है। जैसे मेघसे अन्न उपजता है और अन्नसे जगत होता है, और जगत से मेघ होता है, वैसे ही शम सन्तोष भी है, शमादिक गुण और आत्मज्ञान परस्पर होता है।

शांति होती है। जैसे मंदराचल पर्वत के क्षोभ तें क्षीर समुद्र शांत रहा है, वैसे ही शांति होती है। हे रामजी! तुर्यपद संयुक्त पुरुष है, उसका श्रुति स्मृति उक्त कर्मों के रहने से प्रयोजन सिद्ध कुछ नहीं होता, और न करने से कुछ प्रत्यवाय नहीं होता। चाहे संदेह होवे, चाहे विदेह होवे, गृहस्थ होवे अथवा विरक्त होवे, उसको कर्तव्य कुछ नहीं, वह पुरुष संसार समुद्र से पार हुआ है। हे रामजी! उपमेय को उपमाकार जानता है सो एक अंश को ग्रहण करने से जानता है। तव बोधकी प्राप्ति नहीं होती, वह व्यर्थ वाद करता है। हे रामजी! शुद्ध स्वरूप आत्मसत्ता जिसके घटविषे विराजमान है, उसको त्यागकर यदि कोई विकल्प उठाता है, तो वह चोगचंचु है और मूर्ख है। हे रामजी! जो अर्थ प्रत्यक्ष है सो प्रमाण मानने योग्य है। अधर जो अनुमान अर्थापत्ति, आदि प्रमाण सो तिसकी सत्ता प्रत्यक्ष करि होती है। जैसे सब नदी का अधिष्ठान समुद्र है, वैसे सब प्रमाणों का अधिष्ठान प्रत्यक्ष प्रमाण है सो प्रत्यक्ष क्या है, श्रवण करो। हे रामजी! चक्षुरूपी ज्ञान सम्मत संवेदन है, उस चक्षु से जो विद्यमान होता है, उसका नाम प्रत्यक्ष प्रमाण है। उन प्रमाण को विषय करने द्वारा जीव है, अपने वास्तव स्वरूप के अज्ञानकरि अनात्मा रूपी दृश्य बना रहता है, उस विषे अहंकृति करके अभिमान हुआ है। अभिमान सब दृश्य है। इससे हेयोपादेय बुद्धि हुई है और राग दोष करके बढ़ा है और आपको कर्त्ता मानकर वही मूर्ख हुआ भटकता है।

हे रामजी! जब विचार करके संवेदन अंतर्मुखी होवे तब आत्मपद प्रत्यक्ष होता है, और निज भावको प्राप्त होता है, परिच्छिन्न भाव नहीं रहता, शुद्ध शांतिको प्राप्त नहीं होता, जैसे स्वप्नतें जागते स्वप्नका शरीर और दृश्य-भ्रम-नष्ट होजाता है, वैसे आत्मा प्रत्यक्ष होनेसे सब भ्रम मिट जाता है, और शुद्ध आत्मसत्ता भासती है। हे रामजी! यह जो दृश्य अरु द्रष्टा है, सो मिथ्या है। जो द्रष्टा है सो दृश्य होता है, और जो दृश्य है, सो द्रष्टा होता है। सो यह भ्रम मिथ्या आकाश

श्रीगणेशायनमः

योगवाशिष्ठ-भाषा

उत्पत्ति-प्रकरण

-::-❀-::-

पहला सर्ग

बोध-हेतु-वर्णन

समस्त विद्याओं के आचार्य परम पूज्य गुरु वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! ब्रह्म कहिए परमेश्वर, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी परमात्मा व आदि पुरुष को और ब्रह्मवेत्ता अर्थात् ब्रह्म को जानने वाले-ये दोनों शब्द केवल ब्रह्मज्ञान के सहारे ही जाने जा सकते हैं। इसमें अहं, त्वं, इदं, सह इत्यादिक जो शब्द कहे जाते हैं, वे सब आत्मा के सहारे ही प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार स्वप्न में अनुभवतिक शब्द दृष्टिगोचर होते हैं, उसी प्रकार इस जगत को भी जानना चाहिये। मनुष्य के हृदय में जो यह शङ्का उत्पन्न होती है कि संसार क्या वस्तु है और यह कैसे उत्पन्न हुआ है और यह किसका है-आदि आदि समस्त भावनायें चोग-चंचु अर्थात् पत्ती के ठौर की नाईं पोली हैं। इस कारण हे राघव ! यह समस्त संसार केवल उस ब्रह्म की आकृति मात्र है।

हे रामजी ! इसके प्रथम मैंने तुमको मुमुक्षु-प्रकरण सुनाया है, किन्तु अब उत्पत्ति प्रकरण सुना रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो। हे रामजी! संसार की प्रत्येक वस्तुयें परिवर्तनशील हैं। जिसकी उन्नति है, उसका पतन है और जिसकी उन्नति नहीं उसका पतन कैसा ? तात्पर्य यह कि उसी का पतन होता है जिसकी उत्पत्ति होती है और वही बन्धनका रूप भी है। उसीको मोक्ष रूप भी कहना चाहिये और वही उत्तम तथा वही निकृष्ट भी है। जो वस्तु उत्पन्न हुई है वह अवश्य नष्ट होवेगी।

शमादिक गुण से ज्ञान उपजता है, और आत्मज्ञान करिशमादिक गुण आय स्थित होते हैं। जैसे बड़े तालसे मेघ पुष्ट होता है वैसेही शमादिक गुण से आत्मज्ञान होता है। आत्मज्ञान से शमादि गुण पुष्ट होते हैं! ऐसे विचार करके शम संतोषादिक गुणों का अभ्यासकर तब शीघ्रही आत्मतत्व को प्राप्त होवोगे। हे रामजी! ज्ञानवान पुरुष को शमादिक गुण स्वाभाविक आय प्राप्त होते हैं, और जिज्ञासु को अभ्यास करके प्राप्त होते हैं, और जैसे धान्य की पालना स्त्री करती है, और वैसाही शब्द करती हुई जैसे पक्षीको उड़ावती है, जब इस प्रकार पालना करती है, तब फलको पाती है, उससे पुष्ट होती है वैसे ही शम सन्तोषादिक के पालन करि आत्मतत्व की प्राप्ति होती है।

हे रामजी! इस मोक्षोपायक शास्त्रको आदि से लेकर अन्त पर्यन्त विचारैं तब भ्रान्ति निवृत होवे। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, सर्व पुरुषार्थ कर सिद्ध करते हैं। परन्तु यह मोक्ष उपायक शास्त्र आत्म प्राप्ति का परम कारण है। इससे तुम इस मोक्ष उपायक शास्त्र का भली प्रकार अभ्यास करो।

श्री योगवाशिष्ठ मुमुक्ष-प्रकरण का बीसवां सर्ग समाप्त ॥ २० ॥

—:❋:—

॥ योगवाशिष्ठ भाषा मुमुक्ष-प्रकरण समाप्त ॥

प्रकार कञ्चन (सोना) से आभूषणों की रचना होती है, पर कञ्चन कोई अन्य वस्तु नहीं किन्तु वह उसी का ही वास्तविक रूप है, इसी भाँति जगत् और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर तो तब होवे, जब संसार कोई अन्य वस्तु होकर उत्पन्न हुआ हो। जब संसार उत्पन्न ही नहीं हुआ, तब उसमें अन्तर कैसे प्रतीत होगा? पर जो अन्तर प्रतीत होता है, वह केवल मृगतृष्णा के जलवत है। जिस भांति तृषित मृगको बालुका की चट्टानें जलकी तरङ्ग मालूम पड़ती हैं और सूर्य की किरणें भी जल के सदृश ज्ञात होती हैं और वहाँ नाम मात्र को भी जल नहीं रहता, उसी प्रकार प्राणी को भी आत्मा विषयक यह संसार प्रतीत होता है, क्योंकि आत्मा के प्रत्येक अणु में सृष्टि उत्पन्न करने की अमोघ शक्ति वर्तमान है। वह शक्ति भी किस प्रकार की है कि, केवल प्रतिविम्बस्वरूप है। वास्तव में वह उत्पन्न हुई वस्तु नहीं है। वह सर्वदा अपने अद्वैत (निराकार) शक्ति से स्वतः स्थित है। फिर उनका जन्म, मरण, बन्ध और मोक्ष कैसे हो सकता है? अस्तु, जितनी कुछ कल्पनायें बन्ध और मोक्ष इत्यादिक रूप में ज्ञात होती हैं, वे निश्चय ही कुछ नहीं हैं। वह तो आत्माके प्रति केवल अज्ञान मात्र है। हे राघव! संसारमें कोई वस्तु यथार्थ होकर नहीं उत्पन्न हुई। प्राणी की निज कल्पना ही जगत् रूप होकर प्रगट होती है। और उसको प्राणी आलस्यवश सत्यमानता है। हाय! उससे छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन है। हे रामजी! अनियत और नियत शब्द भी जो कहा जाता है, वह बहुत ही भावपूर्ण है। ऐसेही शब्दों से तो संसार पृथक नहीं होता है। हे रामजी! अर्थ सहित वचनों के बिना दृश्य भ्रम से छुटकारा नहीं मिलता अर्थात् निवृत्ति नहीं होती। किन्तु उस पर भी जो प्राणी तर्क करते हैं और उसके द्वारा तपश्चर्या, तीर्थाटन, दानादि, स्नान और ध्यानादि करके जगत के भ्रम को दूर करना चाहते हैं वे बड़े ही मूर्ख हैं। ऐसा करने से तो भ्रम और भी दृढ़ होगा। क्योंकि वह जहाँ कहीं जावेगा, आखिर वहाँ

क्योंकि उत्पन्न होना ही नाश का कारण है। जब वस्तु उत्पन्न ही न होगी तब वह नाश कैसे होगी। अतएव यह स्पष्ट जानो कि, उत्पन्न हुई प्रत्येक वस्तुयें क्रम-पूर्वक अवश्य नष्टता को प्राप्त होंगी। हे रामजी! संसार में चराचर जितनी कुछ वस्तुयें दृष्टिगोचर होती हैं सब आकाशवत् हैं। देखी जाने वाली वस्तुओं से देखने वाले का जो कुछ सम्बन्ध है, वही बन्धन-स्वरूप है और जो इससे मुक्त हो वही मोक्षरूप है। पर वह बिना यत्न किये, मुक्त नहीं हो सकता। हे रामजी! इससे छुटकारा पाने की मैं एक सुन्दर युक्ति तुम्हें बतला रहा हूँ। यह शरीर रूपी संसार चिन्मात्र रूप है। इसमें कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है परन्तु जो उत्पन्न हुआ है, वह निद्रावस्था में स्वप्न के समान है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था के समय निद्रित रहना आवश्यक है उसी प्रकार संसार का प्रलय होना भी आवश्यक है। किन्तु प्रलय के पश्चात् जो वस्तु शेष रह जाती है, वही वस्तु व्यवहार में लायी जाती है। जैसे—नित्य, सत्य, ब्रह्म और सच्चिदानन्द इत्यादिक यह जितने नाम हैं, सब अपने अपने स्वरूप सहित हैं। इन सबों में अपना २ रूप धारण करने की शक्ति है। इसी से अर्थात् चेतनाशक्ति रहने से ही वे शब्द सजीव माने जाते हैं। सजीव के नाते ही उन शब्दों का पृथक २ अर्थ भी होता है। हे रामजी! यह शब्द जो पृथक-पृथक अर्थों को ग्रहण करने वाले हैं, वही जीव हैं। और चैतन्यता विषयक जो स्पन्दता (सङ्कल्प-विकल्प) है, उसी के नाते वह मन होकर स्थित हुआ है। संसरण अर्थात् सम्बन्ध से ही देश, काल, नदियां, पर्वत, स्थावर व जङ्गम रूपी संसार उत्पन्न हुआ है। जिस प्रकार निद्रावस्था रहने पर ही स्वप्न दिखलाई पड़ते हैं, उसी प्रकार संकल्प—विकल्प के होने से ही जगत प्रतीत होता है। उसी को कुछ लोग अविद्या, कुछ लोग जगत और कुछ लोग माया करके सम्बोधन करते हैं और उसी को कोई २ दृश्य भी कहते हैं। परन्तु वह अन्य कोई वस्तु नहीं है, बल्कि वही सत्य—ब्रह्म है। जिस

अज्ञान रूपी वासना सहित रहने पर प्राणी समाधि लेने पर भी उससे उतर पड़ता है अथवा जाग जाता है और तब वासना उसको समाधि से खींच लेती है। इस कारण हे रामजी! तपश्चर्या और समाधि द्वारा जगत-भ्रम से निवृत्ति नहीं होती, जिस प्रकार केवल काँजी के पान करने से क्षुधा की तृप्ति नहीं होती, उसी प्रकार तपश्चर्या और समाधि द्वारा चित्त एकाग्र तो अवश्य होता है किन्तु संसार से निवृत्ति नहीं होती। हाँ,यह अवश्य होता है कि,जब तक चित्त समाधि संयुक्त रहता है तब तक सुख होता है, पर ज्यों ही समाधिसे उठाकि फिर नाना प्रकार के शब्द और अर्थ सहित संसार प्रकट होने लगता है। हे रामचन्द्र! अज्ञानता के ही वश रहने से संसार की यथार्थता प्रकट होती है विचार करने से निवृत्ति हो जाती है। जिस प्रकार बालकको अपनी परछाईं में बैताल का संदेह रहता है, उसी प्रकार अविचारियों के लिये यह जगत प्रतीत होता है। अतः विचारने से ही निवृत्ति हो सकती है अन्यथा नहीं। हे रामजी! विचार पूर्वक देखा जाय तो संसार कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। यह बिना रूप का है यदि इसमें रूप सहित कुछ उत्पन्न हुआ होता तो इससे निवृत्ति भी हो जाती। अतःयह विचार द्वारा ही निवृत्त होता है। इससे यह प्रकट हुआ कि,यह रचना पूर्ण जगत् कुछ बनावटी नहीं उत्पन्न हुआ। तब जो वस्तु सत्य है,उसकी निवृत्ति नहीं होती। पर जो असत्यहैवह स्थिर नहीं रहता इस कारण हे रामजी! आत्मा सत्यरूप है। इसका कभी अभाव नहीं होता। पर असत्यरूप जो जगत है, वह स्थिर भी नहीं होता। यह जगत आत्मा विषयक केवल प्रतिबिम्ब-स्वरूप है और यह आरम्भतः और परिणामतः उत्पन्न नहीं हुआ है। जहां चैतन्यता का अणु वर्तमान है वहाँ सृष्टि का होना भी आवश्यक है। क्योंकि वह तो स्वतः अभ्यासरूप और सत्य आत्मस्वरूप है। उसी के विषय में यह अनन्त सृष्टि प्रतिबिम्बित होती रहती है। और यह प्रतिबिम्बित भी तभी होती है जब कि इसके निकट दूसरा कोई जाता है,

भी तो उसे देश, काल क्रिया और भौतिक सृष्टि ही दृष्टिगोचर होगी। फिर वह संसार से निवृत्त कैसे होगा? यदि मान लिया जाय कि प्राणी अपने तर्क द्वारा संसार से उपराम होकर समाधि द्वारा निवृत्ति चाहे तो भी वह कैसे होगी? क्योंकि समाधि लगाने पर भी उसे बहुत काल पर्यन्त एक न एक वार समाधि से उतरना होगा, उस समय संसार के शब्द और अर्थ फिर उसको दीखने लगेंगे। और जब यह सब वस्तुयें दीखने ही लगीं, तब विचार करने की बात है कि उसे समाधि का अक्षय सुख कहां प्राप्त हुआ? सुख तो तभी तक रहा जब तक वह समाधिस्थ होकर बैठा रहा। इसी से हम कहते हैं कि उपायों द्वारा संसार से निवृत्ति नहीं हो सकती। जिस प्रकार कमल-दण्ड में बीज की शक्ति वर्तमान रहती है जब तक उस दण्ड को तोड़ कर पृथक्-पृथक् न कर दिया जाय, तब तक वह फिर २ उत्पन्न होता ही रहता है और जो उसके पत्तों को तोड़ दिया जाय तो भी उसके बीज की शक्ति नष्ट नहीं होती, उसी प्रकार तपश्चर्या और दानादिक द्वारा संसार से निवृत्ति तब तक नहीं होती जब तक कि अज्ञानरूपी बीज का नाश नहीं हो जाता। हाँ, अज्ञानता नष्ट हो जाती है तो निश्चय ही संसाररूपी वृक्ष का अभाव हो जाता है। इस कारण जगत् की निवृत्ति के लिए उपाय करना कैसा है, मानो वृक्ष के नाश के लिए पत्तों को तोड़ना? अस्तु, यह निश्चय हो चुका कि उपायों द्वारा अक्षयपद की प्राप्ति नहीं होती और अक्षय समाधि भी नहीं प्राप्त होती। हे राघव! मैं सर्वत्र देखता हूँ तो मुझे पाषाणवत शिला की नाईं कोई भी समाधिस्थ हुआ दिखलाई नहीं देता। यदि कोई ऐसा हो भी तो उसकी संसार—सत्ता से निवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि वास्तव में उसके अज्ञान का नाश तो हुआ नहीं। फिर उसकी निवृत्ति कैसे? समाधि तो एक ऐसी वस्तु है कि जैसे जाग्रत अवस्था पर स्वप्न का होना प्रतीत होता है। क्योंकि ज्ञान शून्य वाले विचारों को निद्रावस्था के पश्चात् जाग्रत अवस्था अवश्य आती है। उसी भाँति

के लिए उठा। तब जिस प्रकार उत्तम जन अपने नित्य कर्मों का परित्याग नहीं करते, उसी प्रकार मृत्युदेव ने भी ब्राह्मण को मारने में आलस्य न किया और अपना दृढ़ कर्म विचार कर चला। फिर तो जिस प्रकार प्रलयकाल की अग्नि संसार को भस्म करने के लिए अपनी ज्वाजल्य लपटों द्वारा अट्टहास करके उड़ती है, उसी प्रकार मृत्युदेव ने भी ब्राह्मण को पकड़ने के लिये दूसरे गृहमें प्रवेश किया। परन्तु गृह में पहुँचने पर वह ब्राह्मण के तेज के कारण उसे पकड़ न सका। फिर तो वह अत्यन्त लज्जित होकर दौड़ता हुआ धर्मराजके पास गया और बोला,'हे भगवन्! संसार में जितने जीव उत्पन्न होते हैं, मैं सबको भक्षण करता हूँ पर क्या कारण है कि इस ब्राह्मणको नहीं मार सकता?' यम ने उत्तर दिया–हे मृत्यु! तू किसी को नहीं मारता, बल्कि प्राणी अपने २ कर्मानुसार ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह कि मरते तो वे हैं कि जो कर्म करते हैं। परन्तु जो कर्म नहीं करते उनका मरना कैसा? तब तुम उनको मारने में किस प्रकार समर्थ हो सकोगे? यदि तुम उस ब्राह्मणको मारनाही चाहते हो तो जावो,पहले उसके कर्म की खोज करो। जब कर्म मिलेगा,तब तुम उनको मारने में समर्थवान होवोगे, अन्यथा नहीं। इस प्रकार यम की गूढ़ वाणी सुनकर मृत्यु लज्जित होकर वहाँ से चला और ब्राह्मण के शुभाशुभ कर्मों की खोज करने लगा। हे रामजी! कर्म का नाम है वासना। अतः मृत्युदेव वासना के निकट जाकर ब्राह्मण का कर्म खोजने लगा। उसने ताल, समुद्र, वाटिका, द्वीप, द्वीपान्तर इत्यादिक दशों दिशाओं में खोज डाला। परन्तु ब्राह्मणके कर्मों की मूर्ति उसे कहीं न मिली। हे रामजी! मृत्यु बड़ा बलवान होने पर भी ब्राह्मण के कर्मों को न पा सका। जब खोजते-खोजते वह विवश हो गया, तब पुनः लज्जित होकर धर्मराज के पास गया। धर्मराज कैसे हैं कि, सम्पूर्ण संशयों का नाश करने वाले हैं और सर्वदा ज्ञान–स्वरूप हैं। उनसे मृत्यु ने कहा, हे संशय निवारण! मैंने उस ब्राह्मण के कर्मोंको बहुत खोजा पर कहीं न मिला।

नहीं तो जहाँ आत्मा है वहाँ दूसरा प्रतिविम्ब नहीं होता। क्योंकि वह तो स्वतः भासता है। आत्म–सत्ता का इतना अतुल प्रभाव है कि वह एक होने पर भी चैतन्यता धारण करके द्वैत होकर प्रकट होता है। पर यह कुछ बनावटी नहीं उत्पन्न होता है। जिस प्रकार पुष्प में सुगन्धि वर्तमान है और तिलों में तेल विद्यमान है और अग्नि में उष्णता विद्यमान है और जिस प्रकार मनोराज्य की सृष्टि है, उसी प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में जगत् प्रतीत होता है। अस्तु, जगत का सम्बन्ध आत्मा के पृथक नहीं है.।

श्री योगवाशिष्ठ-उत्पत्ति प्रकरण का तेरहवां सर्ग समाप्त ॥ १ ॥

::-❀-::

दूसरा सर्ग

बोधहेतु–वर्णन

वशिष्ठ जी बोले–हे रामजी! अब मैं तुम्हें एक अत्यन्त सुन्दर आकाशज आख्यान सुना रहा हूँ, इसे श्रवण का भूषण और ज्ञान का कारण समझ कर ध्यान पूर्वक सुनो। यह मृत्युदेव और ब्रह्माजी का सम्वाद है। एक आकाशज नाम के ब्राह्मण बड़े ही सत्यनिष्ठ और धर्माचरण से उत्पन्न होकर अपने ब्राह्मणोचित कर्मों को करते हुये सदैव निज आत्मामेंसन्तुष्ट (स्थिर) रहा करते थे। उनमें प्रजापालन आदिक गुण विशेष रूपसे विद्यमान थे इससे वे परम चिरायु होकर रहते थे। परन्तु उसके इस दृढ़ आयुर्वल को जानकर एक समय मृत्युदेवके मनमें बड़ी ईर्ष्या उत्पन्न हुई। उन्होंने सोचा कि, मैं समस्त संसार के प्राणियों का भक्षण करता हूँ, पर यह जो ब्राह्मण उत्पन्न हुआ है उसको मारने के लिए मैं सफल नहीं होता, इसका कारण क्या है क्योंकि जब मैं इसको मारने के लिए उठता हूँ तब मेरी शक्ति का ह्रास ऐसे ही हो जाता है कि जैसे कठोर पाषाण पर लगने से खड्ग की धार कुण्ठित हो जाती है। हे राघव! इसां भति सोच विचार कर एक दिन मृत्युदेव ब्राह्मण को भक्ष करने

यह मृत्यु और यमदेव का सम्वाद है। इस भांति जब बहुत काल व्यतीत हो गया और प्रलय का समय आया तब मृत्यु ब्रह्माजी को भक्षण करने गया। हे रामजी! जिस प्रकार एक बार किसी का किया हुआ कर्म सफल न हुआ हो तो वह दूसरी बार उसे पूर्ण करने का उद्योग करे, उसी प्रकार मृत्यु भी अपना मनोरथ सफल करने को ब्रह्माजी के पास गया। तब उसे वहां पहुँचा देखकर धर्मराज ने कहा हे मृत्यु! तू ब्रह्माजी को अपने आधीन करने में सफल न होगा। इसलिये व्यर्थ का यत्न न कर। क्योंकि ब्रह्माजी का शरीर आकाशरूप और पञ्च भूतादिक गुणों से परे है। इनके शरीर का आदि अन्त कुछ नहीं है। यह—अहं, त्वं आदिक भावनाओं से पृथक और चिन्मात्र स्वरूप हैं। इनको मारने में तू सफल मनोरथ नहीं हो सकता। जिस प्रकार शिल्पियों के हृदय में चित्र की मूर्ति तो विद्यमान रहती है, पर वास्तवमें कोई मूर्ति बैठी नहीं रहती,उसी प्रकार यह भी हैं। यह साक्षात् स्वरूप हैं। इन्हीं की प्रतिमा हमारे और तुम्हारे मनमें विद्यमान है, फिर तुम इनको मारने में कैसे समर्थ हो सकते हो? मृत्यु! ब्रह्माजी आकाशरूप हैं और द्वैत कल्पनाओंसे सर्वथा रहित हैं। अस्तु,तुम उनको मारने की कल्पना को त्यागकर अन्य देह धारियों को जाकर मारो।

श्री योगवाशिष्ठ उत्पत्ति—प्रकरण का दूसरा सर्ग समाप्त ॥ २ ॥

तीसरा सर्ग

बोधक हेतु, वर्णन

वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजी बोले—हे भगवन्! जब ब्रह्माजी का शरीर पृथ्वी आदि तत्त्वों से रहित और सङ्कल्पमात्र है, तब क्या इसका कारण स्मृति-संस्कार नहीं हो सकता? हमको भी स्मृति है और अन्य जीवों को भी स्मृति है, तब वैसे ही स्मृति ब्रह्माजी को भी होगी।

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! जिसका शरीर पहले से हो तो संस्कार-स्मृति भी उसी का कारण होती है, अन्यथा नहीं। जो दिख-

जितने भी देह धारण करने वाले हैं सभी कर्म सहित हैं। पर इस ब्राह्मणका तो कोई कर्मही नहीं मिलता। हे भगवन्! इसका क्या कारण है? यम ने कहा, हे मृत्यु! यह ब्राह्मण शुद्ध चिदाकाश से उत्पन्न हुआ है। वहां कोई कारण नहीं रहता। वहां शुद्ध चिदानन्द परमात्मा अपने आप वर्तमान रहता है। इसीलिये हे मृत्यु! चिदाकाश से भिन्न होने के कारण यह वही है। इसका कुछ कर्म नहीं है। इसने कोई कर्म नहीं किया है। इसका स्वरूप शुद्ध चिदाकाश है। यह अपने आप निज स्वरूप से उत्पन्न हुआ। इसीसे इसका नाम स्वयंभू है। और यह सदा अद्वैत (निराकार) स्वरूप है।

मृत्यु ने पूछा–हे भगवन्! यदि यह निराकार है तो साकार-स्वरूप में क्यों दृष्टिगोचर होता है? यम ने उत्तर दिया, यह सर्वदा ही निराकार तो है पर चैतन्य-स्वरूप है और इसका कोई आकार नहीं है। इसमें अहंभाव कुछ नहीं है। इसका नाश नहीं हो सकता। यह 'मैं-तुम' इत्यादिक वस्तु कुछ नहीं जानता। इसके निकट जगत् का निश्चय कुछ नहीं है। यह चेतना रहित और चिन्मात्र स्वरूप है। हे मृत्यु! नाश तो उसका होता है कि जिसके मन में पदार्थों की सद्भावना विद्यमान रहती है। पर इसके हृदय में संसार की यथार्थता ही नहीं। फिर इसका नाश कैसे होगा? हे मृत्यु! जञ्जीरके सदृश प्राणी कैसा भी बलशाली क्यों न हो, पर कोई आकाश को नहीं बाँध सकता। इसी भाँति यह ब्राह्मण आकाश स्वरूप है। इसका नाश न होगा। तुम इसके नाश का विचार परित्याग करदो। और जाकर दूसरे प्राणियों का नाश करो, पर इसको मारने का विचार भी न करो। क्योंकि यह तुम से न मरेगा। वशिष्ठ जी ने कहा हे रामजी! ऐसा सुनकर मृत्यु आश्चर्यित होकर अपने गृह को चला आया। रामचन्द्रजी ने कहा–हे गुरुदेव! यह आख्यान तो आपने हमारे प्रपितामह का कहा है। वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया, हे रामजी! यह तुम्हारे प्रपितामह की वार्ता तो अवश्य है, परन्तु

नहीं है। हे रामजी ! जब तक मन का सद्भाव है, तब तक समस्त दृश्यों का बीज केवल मन ही कहा जायगा। अतः जगत का बीज मन है और मन ने ही समस्त जगत की उत्पत्ति की है। जब मन उपराम होता है, तब दृश्यों का अभाव हो जाता है। और जब तक मन उपराम नहीं होगा, तव तक दृश्य-भ्रम कदापि निवृत्त नहीं होगा और जब तक दृश्य-निवृत्ति नहीं होती, तब तक शुद्ध ज्ञान नहीं होता। शुद्ध ज्ञान के बिना आत्मानन्द की प्राप्ति नहीं होती।

श्री योगवाशिष्ठ-उत्पत्ति प्रकरण का तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥

::-❀-::

चौथा सर्ग

वाल्मीकजी बोले कि–इस भाँति कहकर मुनिशार्दूल वशिष्ठजी चुप हो गये और उनकी अमृतमय वाणी सुनकर श्रोता–मण्डली भी गद्‌गद हो गई। फिर जितने सन्त महात्मा एवं निकट में निवास करने वाले श्रोता तथा पक्षी आदि थे, सब अपने अपने स्थान को प्रस्थानित हुए और यथास्थान पहुँचकर सब लोग वशिष्ठजी की वाणी पर स्थित चित्त हो विचार करने लगे। इतने में मध्याह्न काल का समय होने पर टहलुओं ने आकर रामजी से कहा–हे राजन् ! अब आपके स्नान–ध्यान का समय हो गया, उठिये, और नित्य नैमित्तिक कर्मों को कीजिये। तब वशिष्ठजी ने कहा, हे रामजी ! अब जो कुछ कहना था, कह चुके। शेष फिर कहेंगे। रामजी ने कहा, बहुत अच्छा। तदन्तर वहां से उठकर रामजी ने स्नान किया और अर्घपाद्य नैवेद्य लेकर वशिष्ठजी का पूजन किया। फिर वहां जितने महर्षि आदि उपस्थित थे उनकी भी यथायोग्य पूजा की। जब सबका पूजन होगया तब वशिष्ठजी अपने स्थान को जाने के लिये कथा–आसन से उठे और परस्पर प्रणाम आशीर्वाद के पश्चात चल दिये। उनके चलते ही वहाँ जो शेष मुनि व ब्रह्मर्षि,नक्षत्रादि तथा भूतल एवम् आकाश व पाताल के निवासी थे, वे भी अपने २

लाई नहीं पड़ती, उसकी स्मृति, संस्कार से भी नहीं होती। ब्रह्माजी आदि अन्त से रहित हैं, इसलिये उनको स्मृति कारण सहित नहीं हो सकती। क्योंकि यह अपने आप से उत्पन्न हुए हैं, और इसीसे इनका नाम स्वयंभू पड़ा है। अतः इनका कारण कोई नहीं है और इसी कारण इनका शरीर सङ्कल्प रूप और निराकार है।

रामजी ने कहा-हे मुनीश्वर! संसार में जितने जीवधारी हैं, सब दो शरीर रखते हैं। एक अन्तवाहक और दूसरा आधिभौतिक। परन्तु ब्रह्माजी का एक ही अन्तवाहक शरीर है इसका क्या कारण है? कृपाकर यह मुझे यथार्थ रूप से समझाइये।

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! अन्य सभी प्रकार के जीव कारण रूप हैं, इस कारण उसके दो शरीर हैं, परन्तु ब्रह्माजी अकारण हैं, इसलिये उनके एक ही शरीर है। हे रामजी! ब्रह्माजी अपने आप उत्पन्न हुए हैं और आदिम काल में इनका प्रादुर्भाव हुआ है, जिससे इनका शरीर अन्तवाहक है। यह सर्वदा अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हैं। इससे इनका शरीर अन्तवाहक है और यह दृश्यों को अपना ही सङ्कल्प जानते हैं। यह तो हुई ब्रह्माजी के सम्बन्ध की व्याख्या। अब आदिक भौतिक शरीरकी व्याख्या सुनो। जिनको दृश्यों में दृढ़ विश्वास है, उनको वशीभूत कहते हैं। जिस प्रकार जलकी जड़ता वश जल की बरफ होती है, उसी प्रकार दृश्य की दृढ़ता से आधिभौतिक हैं। हे रामजी! यह आधिभौतिकता कुछ है नहीं, इसका आत्मसत्ता में भाषित होना केवल एक भ्रम है। वास्तव में समस्त जीवों का शरीर अन्तवाहक है किन्तु अज्ञानी को आधिभौतिक के दृढ़ होने से अन्तवाहकता का लोप होगया है, जिस कारण उसे ऐसा ही प्रतीत होता है। किन्तु ज्ञानी पुरुष अन्तवाहकरूप हैं, इससे उनके लिये यह सारा जगत आकाशरूप रहता है। जैसे गन्धर्व नगर और स्वप्न की रचना होती है, वैसे ही इस सारे विश्व को मन ने रचा है और इसका कोई वास्तविक रूप

हे रामजी ! आत्मा विषयक मन नहीं उत्पन्न हुआ। मन का सम्बन्ध आत्मा से उसी प्रकार का है कि जिस प्रकार सूर्यसे प्रभा का और जल से तरङ्ग का तथा सुवर्ण से भूषण का सम्बन्ध रहता है। जिस प्रकार मृगतृष्णा का जल है, जिस प्रकार आकाश के लिए दूसरा चन्द्रमा हो, पर वास्तव में वह कुछ है नहीं, इसी प्रकार आत्मा के विपय में मन की कोई वास्तविकता नहीं प्रकट होती। हे राघव ! वास्तवमें यह बड़ा आश्चर्य है कि कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हुई और आकाशवत् घट-घट में वर्तमान भी है एवम् यही समस्त जगत मन होकर भी प्रकट है। हे रामजी ! आत्मा शुद्ध और निराकार है। उसी के सम्बन्ध में दूसरे रूप से जो जगत् की यथार्थता प्रकट होरही है, वही मन है। इसमें जो सङ्कल्प विकल्प होता है, उसी को मनका रूप जानो। जिस २ स्थान में सङ्कल्प विकल्प हुआ, वही २ मन है। जिस प्रकार जहां-जहां तरङ्ग प्रकट होते हैं, वहां-वहां ही जल होता है, उसी प्रकार जहां-जहां सङ्कल्प-विकल्प होता है, वहाँ वहाँ मन होता है। इसके अतिरिक्त मन के और भी कई नाम हैं। पर उन नामों को ज्ञानी गुरु ही जानते हैं। श्रुति, अविद्या, मलिनता, और तम आदि भी मनके ही नाम हैं। हे रघुकुल शिरोमणि रामजी ! यह जितना कुछ जगज्जाल ज्ञात होता है, सबकी मनसे ही उत्पत्ति हुई है और यह सभी दृश्य मनकाही रूप है। क्योंकि मन द्वाराही इनकी रचना हुई है। पर यह परमार्थ में कुछ नहीं है। हे रामजी ! यह मन रूप जो शरीर है, उसका नाम अन्तवाहन शरीर है। वह सङ्कल्प रूप है और समस्त जीवों का आदि वपु है। उसमें सङ्कल्प विषयक जो प्रमाद है उसके द्वारा ही आधिभौतिक प्रकट होता है। इसीसे उन्मत्त हुआ है। हे रामजी ! यह समस्त संसार सङ्कल्पस्वरूप है। और स्वरूप की उन्मत्तता से ही पिण्डाकार भासता है। जिस प्रकार स्वप्न शरीर का आकार आकाशवत है और उसमें पृथ्वी आदि का भाव नहीं है किन्तु अज्ञानवश उसमें आधिभौतिकता ज्ञात होती है, वह मन

स्थान को चले गये। सूर्य भगवान भी दिन रात की कल्पना का परित्याग करके अपने स्थान में स्थिर हुए। उस समय त्रयताप को हरने वाली सुन्दर मन्द, सुगन्ध वायु चलने लगी। उस वायु का चलना देखकर ऐसा प्रतीत हुआ कि मानों वायुदेव भी कृतार्थ होना चाहते हैं। पश्चात सन्ध्याकाल निकट होते ही सूर्य भगवान अस्ताचल को गए और श्याम रात्रि का आगमन जानकर प्रकाश-मण्डल में तारागण प्रकट हुए। पुनः रजनी की श्यामता को हरण करने वाला अमृत रूपी चन्द्रमा अपनी सुन्दर किरणों द्वारा पृथ्वीको सुशोभित करता हुआ प्रकट हुआ। फिर तो अंधकार का नाश होगया और राजा (रामचन्द्र) का द्वार भी चन्द्रमा की किरणों से शीतल हो गया। उस समय ऐसा ज्ञात हुआ कि उसकी तप्तता मिट गई। पश्चात रात्रिका समय निवृत हुआ और सूर्यदेव अपनी अरुण लालिमा सहित किरणों से नभ मंडलमें उदय हुए। फिर तो सूर्य भगवानके उदय होते ही रात्रि का अन्धकार ऐसे ही नष्ट हो गया, जैसे सन्तजनों की वाणी द्वारा अज्ञानियों का अज्ञान नष्ट हो जाता है। फिर तो जगज्जाल की क्रियायें उत्पन्न हुईं और पुनः निज नैमित्तिक कर्मोंसे निवट कर श्रोता मण्डली कथा-स्थल पर क्रमशः एकत्रित होने लगी। आकाश, पाताल और मृत्युलोक के निवासी परस्पर प्रणाम आशीर्वाद करते हुए जहाँ तहाँ आ बैठे। जब समस्त श्रोतामंडली यथा स्थान बैठ गई, तब वशिष्ठजी के उपस्थित होने पर राजा रामचन्द्र बोले-हे भगवन् ! अब आप कृपा पूर्वक मुझे यह बतलाइये कि संसार रूपी दुःखों की मञ्जरी को उत्पन्न करने वाला यह मन क्या वस्तु है ? हे मुने ! उस मन का रूप क्या है ? रामजी का ऐसा गूढ़ प्रश्न सुनकर वशिष्ठ जी बोले-हे रामजी ! मनका रूप कुछ दृष्टिगत नहीं होता। मन का केवल नाम ही नाम है। परन्तु वास्तव में यह कुछ है नहीं। यह आकाश की नाईं शून्य है। जिस प्रकार आकाश शून्य रूप है, उसी प्रकार मन भी शून्य रूप है।

उसको मैं ग्रन्थों से प्रमाण देकर निवृत्त करूँगा, इसमें किसी प्रकारका सन्देह न करना, ध्यान देकर सुनो। यह दृश्य-भ्रम जो होता है, मन से होता है क्योंकि मन में ही इसका सद्भाव हुआ है। जिस प्रकार कमलदण्ड में बीच का अस्तित्व विद्यमान है, उसी प्रकार संसार की उत्पत्ति स्मृति से होती है। वह स्मृति अनुभव से है और आकाशवत् है। हे रामजी! स्मृति वह वस्तु है, जिसका अनुभव सद्भावरूप में ग्रहण होता है। इसमें जो कुछ संसार तुम्हें दृष्टिगत हो रहा है वह केवल सङ्कल्प का रूप है। पर कोई वस्तु रूप सहित नहीं है। जिस वस्तु का कोई रूप नहीं होता, उसको स्थिरता भी नहीं होती और इसके परे जो सच्ची वस्तु आत्मा है उसका लोप कभी नहीं होता और जो कुछ प्रथम भाषता है, वह सत्य स्वरूप नहीं है। वह तो केवल मन की चिन्ता से उत्पन्न हुआ है। जब मन की चिन्ता (सङ्कल्प-विकल्प) नष्ट हो जावेगी, तब जगत-भ्रम से निवृत्ति भी हो जावेगी। हे रामजी! यदि पृथ्वी, पर्वत आदि जगत असतरूप न होते तो कोई भी मुक्त न होता। मुक्ति तो दृश्यभ्रम से होती है। आदि दृश्य भ्रम की नष्टता न होती तो किसी को मुक्ति न होती। किन्तु अनेक ब्रह्मर्षि राजर्षि और देवता मुक्त हुये हैं, इसका कारण कहता हूँ। दृश्य असतरूप मनके सङ्कल्प विकल्प में स्थित है। हे रामजी! केवल एक मनको स्थिर करके देखो तो मालूम हो जायगा कि अहं,त्वं सहित जगत कुछ नहीं है। चित्तरूपी आदर्श में सङ्कल्परूपी दृश्य मलिनता है। मलिनता नष्ट हो जावेगी, तो आत्मा का साक्षात्कार हो जावेगा। हे रामजी! यह दृश्य-भ्रम मिथ्या ही उदय हुआ जिस प्रकार गन्धर्व नगर होता है, वैसे ही चित्तरूपी आदर्श विषे मनका दृश्य प्रतिविम्बस्वरूप होता है। जैसे दर्पण में पर्वतका जो प्रतिविम्ब होता है, वह केवल आकाशवत् है, उसमें पर्वत की सच्ची भावना नहीं है, उसी भाँति आत्मा के सम्बन्ध में जगत की सम्भावना नहीं रहती। जिस प्रकार बालक को अपनी परछांई में बैताल मालूम होता है, उसी प्रकार

का ही सङ्कल्प है, उसी प्रकार यह संसार (जगत) भी है, जो मन के आधार पर अवलम्बित है। हे राघव ! मन वहीं है, जहां दृश्य है। जब मन की नष्टता हो जाती है, तब दृश्य भी नाश हो जाता है। क्योंकि बोधमात्र शुद्ध जो दृश्य मालूम होता है, वही तन है। प्राणी तब तक मुक्त न होगा जब तक उसके दृश्य-भ्रम का नाश न होगा। पर ज्यों ही दृश्य का भ्रम नाश हो जायगा त्यों ही वह शुद्धबोध को अवश्य प्राप्त हो जायगा। हे राघव ! द्रष्टा, दर्शन, दृश्य यह जो तीन वासनायें प्रकट होती हैं,वह मन द्वारा ही प्रकट होती हैं जैसे स्वप्न में इन तीनों का उदय होता है और जब जाग जाये तब नाश होजाता है और अपनी यथार्थवस्तु प्रतीत होने लगतीहै,उसीप्रकार आत्मा की यथार्थता ज्ञात होने पर अपने आपकी निराकारता ज्ञात हो जाती है। पर जब तक शुद्ध ज्ञान नहीं होता,तब तक दृश्यका भ्रम नष्ट नहीं हो सकता। ऐसे प्राणी जब बाह्य विषयों की ओर देखते हैं तब उन्हें सर्वत्र सृष्टिकी रचना दीखती है और जब वह निज अभ्यान्तर भी देखते हैं तब भी उन्हें सृष्टि ही दिखलाई पड़ती है। यद्यपि उस सृष्टि के जानने से राग-द्वेष वाली कल्पनायें भी उठा करती हैं परन्तु ज्यों ही मन आत्मपद को प्राप्त हो जाता है कि त्यों ही दृश्य-भ्रम नष्ट हो जाते हैं। इससे दृश्य ही मन का कारण है।

रामजी बोले, हे भगवन् ! अब मुझे आपके कथन से ऐसा प्रतीत हो रहा है, कि सङ्कल्प-विकल्प आदिक जो दृश्य कहे जाते हैं, वह मन के लिये महा कठिन रोग हैं, अतः हे भगवन् ! कृपा पूर्वक यह बतलाइये कि इस रोग से कैसे निवृत्ति होवेगी ? वशिष्ठ जी ने कहा-हे रामजी ! जिस प्राणी को यह संसार मायारूप में वैताल के सदृश्य पकड़े हैं,उसकी निवृत्ति तो अकस्मातही होजायगी। उसको सर्व प्रथम जगत का रूप जानना चाहिये। स्वरूप का ज्ञान होने पर उसके अनन्तर जब तुम आत्मपद विषे स्थित हो जाओगे, तब तुम्हें सब कुछ आत्मवत ही प्रतीत होगा। हे रामजी ! तुम्हें यह जो दृश्य-भ्रमहोरहा है

कारण (अंश-कारण) न होवे और यह प्रत्यक्ष दृष्टिगत हो तब जानना चाहिये कि यह भ्रम-स्वरूप है। जिस प्रकार स्वप्नका अनुभव होता है और वह नाना प्रकार के कार्यों सहित तुम्हें ज्ञात है पर वास्तव में वह बिना कारण है, उसी प्रकार यह जगत भी बिना कारण है। इससे सिद्ध है कि यह संसार विना कारण ही उत्पन्न हुआ है। जिस भांति गन्धर्वनगर, सङ्कल्पपुर और आकाश में विद्युत दूसरा चन्द्रमा प्रतीत होता है उसी प्रकार यह जगत् भी प्रतीत होता है और इसमें कोई भी पदार्थ सत्य नहीं है। जिस भांति प्राणी स्वप्नमें समस्त राज्य और अनेक वस्तुओं का भोक्ता होजाता है और उसका कोई कारण नहीं रहता, सब आकाशरूप है, केवल मनके संसरण मात्र से प्रतीत होता है, उसी भांति यह संसार चित्तके सङ्कल्प-विकल्प से प्रतीत होता है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में स्वप्न होता ही रहता है, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में मन की कल्पनाओं से जगज्जाल प्रतीत होता रहता है। हे रामजी ! चलना, दौड़ना, देना, लेना, बोलना, सुनना और सूंघना इत्यादि विषय जो रागद्वेषादिक विकार रूप हैं वे सभी मनकी कल्पना से उदय होते हैं। किन्तु आत्मा के सम्बन्ध में कोई भी विकार नहीं है। जब मनमें ज्ञानका प्रकाश होता है तब सभी कल्पनाओं का अन्त हो जाता है। इससे जगत् का प्रधान कारण मन है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का चौथा सर्ग समाप्त ॥ ४ ॥

पांचवां सर्ग

देव स्वरूप वर्णन

रामजी बोले हे भगवन् ! अब कृपा पूर्वक यह बतलाइये कि मनका क्या रूप है और वह किस पद को प्राप्त करने से मायामय होता है? वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! जब महा प्रलय के समय जगत् का अभाव हो जाता है, तब जो शेष रहता है, वही सत्य स्वरूप है। उसका नाश नहीं होता। वह सर्वदा प्रकाश स्वरूप परम

निर्बुद्धि प्राणियों को जगत् मालूम होता है। पर जगत् की कोई वास्तविकता नहीं है। हे रामजी! न तो जगत् ही कोई वस्तु होकर उत्पन्न हुआ और न मन ही वैसा उत्पन्न हुआ, वल्कि दोनों ही स्वरूप रहित हैं, जिस प्रकार आकाश में चन्द्रमा कोई दूसरी वस्तु प्रतीत होता है उसी प्रकार आत्मा के विषय में जगत् प्रतीत होता है। जिस भांति आकाश निज शून्यता से पूर्ण है और जिस भाँति समुद्र जल से है, वैसे ही ब्रह्म सत्ता स्वतः स्थित और पूर्ण है उसके निकट जगत की पहुँच नहीं है।

इतना सुनकर रामजी ने कहा—हे भगवन्! आपका यह वचन तो ऐसा ही है, जैसे कहा जाय कि, वन्ध्याके पुत्रने पर्वत को चूर्णकर दिया अथवा स्यार के सींग अति सुन्दर हैं, वालुका से तेल निकलता है, पत्थर की शिला नाचती है, मूर्ति का वादल गर्जता है और पत्थरकी पुतलियां गाती हैं आदि। इस भांति आपका शब्द मुझे ज्ञात होता है। आप कहते हैं कि, दृश्य कुछ उत्पन्न नहीं हुआ और यह है ही नहीं परन्तु यह तो मेरे नेत्रों के समक्ष जरा-मरण आदिक विकारों युक्त प्रत्यक्ष नाचता है। इसी से आप के वचनों की सच्ची भावना, मेरे निकट नहीं प्रतीत होती। परन्तु आपके मन में इस विषय में जो निश्चित वात है, कि वह मुझे वतलाइए।

वशिष्ठजी वोले—हे रामजी! इसमें कोई वात असत्य नहीं है। हृदय में भली भाँति विचार पूर्वक देखो तो तुम्हें ज्ञात हो जायगा कि वास्तव में जगत् आडम्वर मात्र है और प्रलय काल के पश्चात् केवल शुद्ध—चैतन्य—स्वरूप वस्तु शेष रह जाती है। उसमें कार्य, कारण और कल्पना आदि कुछ नहीं रहता। उस समय का जो जगत प्रतीत होता है, विना कारण ही प्रतीत होता है। जिस भाँति निद्रावस्था में स्वप्न दिखाई पड़ता है, जिस भांति स्वप्न की सृष्टि विना कारण है, वैसे ही यह सृष्टि भी विना कारण है। हे रामजी! समवायि-कारण (मिश्रित-कारण) और निमित्त

पर इसमें सर्वोच्च अथवा अधिष्ठान जो वस्तु है, वह नित्य शुद्ध बुद्ध और परमानन्द रूप है। जितने भी सत्-असत् पदार्थ हैं, सब केवल आत्मसत्ता से उत्पन्न होते हैं। हे रामजी! वह आत्मसत्ता इतनी बलिष्ठ और शक्तिशाली है कि उसकी शक्ति से जड़ पदार्थों में भी चैतन्यता प्रकट होजाती है। जिस प्रकार लोहे में चुम्बक पत्थर लगने से लोहा अपनी चेष्टा करता है, उसी प्रकार शरीर में चैतन्यता रूपी चुम्बक लगी रह कर चेष्टा किया करती है। क्योंकि आत्मा चैतन्य स्वरूप और उसका कर्त्ता है। वह स्वतः है और उसका कर्त्ता कोई नहीं है। वह सबसे अभेद रूप, समान और उदय, अस्त से परे है। हे रामजी! जो व्यक्ति उस पुरुषका साक्षात् करने में सफल होजाता है, उसके लिये संसारकी समस्त क्रियायें नष्ट होजाती हैं और उनकी जड़ बुद्धि वाली गाँठ भी छिद्रित हो जाती है और उसे ज्ञानगार की समस्त कुञ्जियां प्राप्त हो जाती हैं। इस भांति जब प्रकृति-सत्ता में मन स्थित होजाता है, तब वह मृत्यु को भी सम्मुख देखकर व्यग्र नहीं होता। इतनी कथा कहकर मुनिशार्दूल वशिष्ठ जी बोले, हे रामजी! जिस देव को तुम पूछते हो, वह कहीं दूर नहीं है। उसके रहने का कोई एक स्थान नहीं है। वह स्वतः और वह घट-घट में व्याप्त है, पर अज्ञानियों को नहीं दिखाई पड़ता और उसके लिए वह बहुत दूर है। यदि यह कहा जाय कि, स्नान, दान तप आदि से वह प्राप्त होजाय तो नहीं हो सकता। कर्तव्य द्वारा भी उसकी प्राप्ति नहीं होती। वह केवल ज्ञान द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। जिस भांति मृग-तृष्णा का जल अज्ञानता वश प्रतीत होता है और ज्ञानका नाश होजाता है, उसी भांति संसार से छुटकारा पाना आत्मज्ञान से हो सकता है, अन्यथा नहीं। हे रामजी! समस्त कर्तव्य, कर्तव्य नहीं हैं, केवल ज्ञान प्राप्त होने का ही नाम कर्तव्य है। जिस ज्ञान से ज्ञातव्य स्वरूप की प्राप्ति हो, वही सच्चा कर्तव्य है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा—उत्पत्ति—प्रकरण का पांचवां सर्ग समाप्त ॥ ५ ॥

देव, शुद्ध, परात्मतत्व, अज अविनाशी और अद्वैत है। उसका वर्णन करने के लिए जिह्वा में सामर्थ्य नहीं है। वह जीवन-मुक्त है। हे रामजी! आत्मा आदिक जो शब्द हैं वे कल्पित हैं। उनका कोई स्वाभाविक शब्द नहीं है। हां, सेवक को ज्ञात रखने के लिए शास्त्राचार्यों ने उस देव के बहुत से नाम कल्पित किये हैं। उनमें मुख्य देव को ही पुरुष कहते हैं। किन्तु वेदान्ती उसे ब्रह्म और विज्ञानवादी उसी को बोध कहते हैं। उसी को कोई शून्यस्वरूप और कोई प्रकाशरूप (सूर्यादिक) और कोई-कोई वक्ता तथा स्मृति के नाम से सम्बोधित करते हैं। हे रामजी! इस भांति उस देव के अनेक नाम शास्त्राचार्यों ने कहे हैं। उनका यही मत है कि, वह परमदेव अपने अस्ति आदि षट-विकारों से परे, शुद्ध, चैतन्य होकर सूर्य की नाईं जगत् में सर्वत्र प्रकाशमान है। अतएव वह आत्मारूप है और ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र आदि उसकी किरणें हैं। उस ब्रह्मरूपी समुद्रमें जगतरूपी तरंगें बुदबुदेकी नाईं उत्पन्न होकर लीन होती रहती हैं और समस्त पदार्थ उस आत्माके प्रकाशसे ऐसेही प्रकाशमान रहते हैं जैसेकि दीपक स्वतःप्रकाशमान रहता है। जिस भांति दीपक स्वतः प्रकाशमान रहकर दूसरों को प्रकाश देता हैं, उसी भाँति आत्मा स्वतः प्रकाशित रह कर दूसरों को प्रकाश देता है। हे रामजी! वृक्ष भी आत्म-सत्ता से ही उत्पन्न होते हैं और आकाश में भी उसी की शून्यता विद्यमान है। अग्नि में उष्णता, जल में तरङ्गता और वायु में स्पर्श की शक्ति भी उसी आत्मसत्ता के सहारे विद्यमान है। मोर के पंखों में रङ्ग की विभिन्नता, पत्थर में मूंगा और पत्थर में जड़ता आदिक जितने गुण हैं सब में आत्मसत्ता का ही चमत्कार है। अस्तु, इस स्थावर जङ्गम रूपी जगत का अधिष्ठानरूप केवल वही ब्रह्म है। हे रामजी! ऐसा होने पर भी इस जगत का अस्तित्व कुछ नहीं है। यह ऐसा ही क्षण भंगुर है, जैसे कि बिजली की चमक क्षणभंगुर होती है। क्षण में प्रकट होना और क्षणमात्र में लुप्त होना ही इसका प्राधान्य है,

सातवाँ सर्ग

दृश्य-सत्ता-प्रतिपादन

इस प्रकार देव स्वरूप और प्रयत्नोपदेश सुन लेने पर राम जी ने वशिष्ठ जी प्रश्न किया कि, हे मुनीश्वर ! आप ने जिस देव स्वरूप का वर्णन किया है और जिसको जान लेने पर संसार बन्धन से प्राणी मुक्त हो जाता है, वह देव कहाँ स्थित है और किस प्रकार उसकी प्राप्ति होती है ? वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया कि, हे रामजी ! जिस देव का मैंने वर्णन किया है, वह कहीं दूर नहीं है। यह हमारे तुम्हारे शरीर में ही स्थित है। वह नित्य, चिन्मात्र, सर्वतः पूर्ण और समस्त संसार से परे है। भगवान् शिवजी, ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्रादिक जितने भी देवता हैं और जो कुछ भी यह जगत है, सब चिन्मात्ररूप है। राम जी ने कहा—हे भगवन् ! इतना तो अबोध बालक भी कहते हैं कि, आत्मा चिन्मात्र है, फिर आप के उपदेश से मुझे क्या लाभ हुआ ? वशिष्ठ जी बोले—हे राम जी ! यह तो ठीक है कि बालक कहते हैं कि संसार चिन्मात्ररूप है और तुम भी वैसा ही जानते हो, पर केवल इस जान लेने मात्र से ही संसार—सागर को न पार कर सकोगे। क्यों कि यह संसार सजीव पशु के समान है और नाममात्र के लिए संसार कहा जाता है। हे राम जी ! इसमें जो चेतनाशक्ति है, वह महान् अनर्थ का कारण है। परन्तु जो इस चेत्य से रहित है, वही चैतन्य वस्तु परमात्मा है। उस परमात्मा को जान लेने से मुक्ति हो जाती है। हे रामजी ! परमात्मा के जान लेने पर जड़—ग्रन्थि छूट जाती है और जो अहं मम इत्यादिक भावनायें हैं, वह भी नष्ट होकर समस्त संशयों का नाश होजाता है और इस प्रकार समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं। राम जी ने कहा—हे भगवान् ! जब चित्त ऐसी चैतन्य शक्ति ग्रहण

छठवाँ सर्ग

प्रयत्नोपदेश वर्णन

यह सुनकर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा कि हे भगवन्! जिस आदि पुरुष को जानकर जीव पुनः जन्म मरण आदि दुःखों को नहीं प्राप्त होता, वह कहाँ रहता है और किस प्रकार के तप अथवा क्लेश से उसकी प्राप्ति होती है? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया हे रामजी! उस आदि पुरुष की प्राप्ति किसी प्रकार के तप द्वारा नहीं होती। उसकी प्राप्ति केवल प्रयत्न करने से प्राप्त होती है। मनुष्य के शरीर आदि, काम, क्रोध और मद सहित जितनी भी तपश्चर्यायें हैं सब केवल दाम्भिक और निष्फल हैं। इन क्रियाओं द्वारा सच्चे आत्म-पद की प्राप्ति नहीं होती। हे रामजी! उसके प्राप्ति की एक मात्र औषध सत्सङ्ग और सत्शास्त्रों का विचार है कि जिसको जा लेने से दुःखदायी चित्तवृत्तिका अर्थात मन के सङ्कल्प-विकल्प आदि नष्ट हो जाते हैं। इसके लिए प्रथम आचरण यह है कि शास्त्र और लोक-मर्यादा के विरुद्ध न होवे और भोग-विलासरूपी कीचड़ में न फंसे। द्वितीय यह कि, सन्तोष सहित, इच्छा रहित भोगों को प्राप्त करे और जो शास्त्र अनुकूल हो, उसका ग्रहण करे तथा जो विपरीत हो उसको त्यागदे और उसके लिए दीन होकर न रहे। जो ऐसी उदार आत्मायें हैं उनको शीघ्र ही सच्चे आत्म-पद की प्राप्ति होजाती है। हे रामजी! आत्म-पद प्राप्ति करने लिये सत्सङ्ग और सत्शास्त्र का विचार ही मुख्य है। जिसको सम्पूर्ण लोक भला और साधु कहते हैं, वही सतसङ्गति है और जिन शास्त्रों में आत्मनिरूपण होवे, वही सत् शास्त्र है। इस भाँति जब सत्सङ्गति और सत्शास्त्रों का विचार होवे, तब आत्म-पद की प्राप्ति शीघ्र होजाती है और जब यह पुरुष श्रुति विचार द्वारा निर्मल स्वच्छ अन्तःकरण हृदय से स्थित होजाता है, तब उसकी दयादृष्टि से विष्णु ब्रह्मा, शिव और रुद्र भी आज्ञाकारी रहते हैं।

इति श्री योगवाशिष्ठे उत्पत्ति-प्रकरण का छठाँ सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥

किये रहता है कि जिससे दृश्य प्रतीत होते हैं, तब भला उस शक्ति के रहते हुए चित्त को रोकने में किस प्रकार सफलता मिल सकती है? मेरे विचार में तो इससे निवृत्ति पाना अत्यन्त कठिन है। वशिष्ठ जी ने कहा—हे राम जी! जो दृश्य संयोग धारण करने वाला जो चैतन्य है, वही जीव है। और वह जन्मरूपी वन में भटकते भटकते थक जाता है। जो इसको चेतना कहते हैं, वे पण्डित बड़े मूर्ख हैं। क्योंकि यह तो संसार जीव है। इसके जानने से मुक्ति कैसे हो सकती है। मुक्ति तो परमात्मा को जानने से होती है, और तभी सब दुःखों का नाश होता है। जिस प्रकार कठिन रोग के लिए उत्तम औषधि की आवश्यकता है, उसी प्रकार मुक्त होने के लिये परमात्मा की जानकारी होना आवश्यक है। रामजी ने पूछा—हे भगवन्! उस परमात्मा का क्या रूप है कि, जिसको जानकर मोहरूपी समुद्र पार किया जाय? वशिष्ठजी बोले—हे राम जी! जहां संसार का अत्यन्त अभाव होता है, और केवल ज्ञानवस्तु शेष रहती है, वही परमात्मा का रूप है। हे रामजी! जहाँ दृश्य, द्रष्टा और दर्शन का अभाव होता है,ऐसा जो आकाश है,वही परमात्मा का रूप है। जो बिना किसी वस्तुके शून्य है,जो शून्यको नाईं स्थित है, जहाँ सृष्टिका समूहभी शून्य है और जो ऐसी अद्वैत सत्ता है, वही परमात्मा का रूप है। हे राम जी! जो महा चैन्तय रूप विशाल पर्वत की नाईं अचल है और जड़ की नाईं स्थित है, वही परमात्मा का रूप है। वह सबके अन्तर और बाहर भी स्थित है और जो सबको प्रकाशता है वही रूप परमात्माका है। हे रामजी! जिस भांति सूर्य का प्रकाश ही उसका रूप है और आकाश भी शून्यरूप है, उसी भांति यह जगत् आत्मा का रूप है। रामजी ने कहा हे भगवन्! जब इस प्रकार सर्वत्र परमात्मा ही विद्यमान हैं, तब वह स्वयम् क्यों नहीं प्रकट होते और जब यह जगत् प्रकट है, तब इसका निर्वाण (मोक्ष) भी कैसे होगा?

वशिष्ठ जी ने कहा—हे रामजी! यह जगत् भ्रमरूप होकर

उत्पन्न हुआ है। इसमें वास्तविकता कुछ नहीं है। जब आत्मा के विषय में जगत का अभाव होजाता है, तब परमात्मा का साक्षात्कार होता है। इसके अतिरिक्त उसे प्राप्त करने का और कोई उपाय नहीं है। दृश्याभाव होने पर परमार्थ-सत्ताका ज्ञान होता है। हे रामजी! यह चित्त रूपी आदर्श दृश्य के प्रतिबिम्ब बिना नहीं रहता अतएव जब तक दृश्यों का अभाव नहीं होता, तब तक परमात्मा का साक्षात्कार होना कठिन है। यह सुनकर रामजी ने पूछा कि, हे महामुने! प्राणी के मन में दृश्य जाल का आडम्बर कैसे स्थित हुआ? जिस प्रकार राई में मन्दराचल पर्वत का प्रवेश करना असम्भव है, उसी प्रकार मनमें इस विशाल जगत का प्रविष्ट करना महान् आश्चर्य है? वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी! तुम्हारे में यही दृष्टि—दोष है। इसके निवारण के लिए जब तुम जिस दिन त्रिगुणात्मिका माया से रहित हो वेद धर्म में प्रवृत्त होकर, सत्सङ्ग और सच्छास्त्र परायण होकर स्थित हो जावोगे, उसी दिन तुम्हारा यह दृश्यरूपी मैल दूर हो जायेगा। फिर तो उसी समय तुम्हारे निकट द्रष्टा भी शान्त हो जायगा और तब इन दोनों का अभाव होने पर तुम्हें शुद्ध आत्म—सत्ता भासमान होगी। हे राम जी! जब तक द्रष्टा है, तब तक दृश्य है और जब तक दृश्य है, तब तक द्रष्टा है। जिस प्रकार एक के बाद दो होता है और जब दो है तब एक अवश्य है। फिर जब एक है, तब दो भी अवश्य है। जब एक न होवे, तब दो कहाँ से होगा? द्रष्टा के पश्चात् दृश्य और दृश्य के पश्चात् द्रष्टा होता है। एक का अभाव होने से दोनों का अभाव हो जाता है। हे रामजी! अहंता आदिलौं जो दृश्य हैं, सो मैं तुम्हारे लाभ के लिये सबका मार्जन कर दूंगा? हे रामजी। अनात्मा में आदि काल से दृश्य लगा हुआ है और वही मैल है। उससे रहित हो जावे तो चित्तरूपी दर्पण निर्मल होजाता है। जो वस्तु असत्य है, वह सत्य नहीं होता और जो वस्तु सत्य है वह कदापि असत्य नहीं

हो सकती। तब जो वस्तु सत्य नहीं है उसका मार्जन भी कैसे होगा? हे राम जी! जगत उत्पन्न नहीं हुआ है, जो उत्पन्न हुआ ज्ञात होता है, सो केवल भ्रांतिमात्र है। जिस प्रकार सुवर्ण से भूषण होता है और वह सुवर्ण से भिन्न नहीं है, इसी प्रकार जगत् और ब्रह्म में कुछ भेद नहीं है। हे राम जी! इस दृश्यरूपी विपूचिका से निवृत्ति पानेके लिये मैं तुमको बहुत प्रकार से युक्तिपूर्ण उपदेश सुनाऊँगा। आशा है कि उसको जान लेने से तुम्हें अद्वैत सत्ता की महत्ता ज्ञात होजावेगी। देखो, इस जगत की कोई भी वास्तविकता नहीं है और न इसकी उत्पत्ति का कोई कारण है। जैसे मरुभूमि में नदी हो, आकाश में दूसरा चन्द्रमा हो, वैसे ही जगत् विना कारण ही भासता है। जिस प्रकार मरुभूमि में जल नहीं होता, जैसे वन्ध्या को पुत्र नहीं होता और जैसे आकाश में वृक्ष का होना सम्भव नहीं है, वैसे ही इस जगत् का होना सम्भव नहीं है। किन्तु जो कुछ भी दृष्टिगत हो रहा है, वह सब कुछ ब्रह्म मय है। हे रामजी! यह जो कुछ मैंने कहा है, केवल वाणी का श्रम नहीं है वरन् सब युक्ति पूर्वक कह रहा हूँ। हे रामजी! जो अपने गुरु की युक्ति पूर्ण वाणी पर विश्वास नहीं करता उसको सिद्धान्तों की प्राप्ति नहीं होती।

श्री योगवाशिष्ठ उत्पत्ति-प्रकरण का सातवां सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥

आठवाँ सर्ग

सच्छास्त्र—निरूपण

रामजी बोले—हे मुनीश्वर! अपने अभी जो युक्ति कही है, वह क्या है, कैसे प्राप्त होती है और उसको धारण करने से प्राणी आत्मपद को कैसे प्राप्त होता है? कृपा कर वह सम्पूर्ण युक्ति मुझे बतलाइये। वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! जगत् नामकी विपूचिका जो मिथ्या ज्ञान के कारण ही चिरकाल से दृढ़ हुई है, वह विचार रूपी मन्त्रों द्वारा ही शान्त होती है। देखो तुम्हारे हित के

लिए मैं इस पर एक आख्यान कहता हूँ। यदि तुम इसका ध्यान पूर्वक श्रवण करोगे तो निश्चय ही मुक्तात्मा हो जाओगे। किन्तु यदि तुमने न सुना और अर्धप्रबुद्ध होकर उठ गये तो तिर्यगादिक धर्म को प्राप्त होवोगे और बहुत कष्ट होगा। अतः जिस धर्म को प्राप्त करने की इच्छा रखते हो, उसको प्राप्त करने के लिये पूर्ण यत्न करो। यदि यत्न करोगे तो अवश्य पावोगे। सिद्धान्त की प्राप्ति के लिये सतसङ्ग और सच्छास्त्र परायण होना परम आवश्यक है। किन्तु वह भी अल्प नहीं, दृढ़ और दीर्घ होना चाहिये। रामजी बोले-हे भगवन्! यह तो ठीक है किन्तु आत्मबोध का कारण कौन शास्त्र है और उन शास्त्रों में भी श्रेष्ठ शास्त्र कौन है कि, जिसको जानने से शोक का नाश हो जाता है? वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! शास्त्रों में महारामायण शास्त्र सबसे श्रेष्ठ है और यही आत्मबोध का भी कारण है, क्योंकि इसमें बहुत बड़े २ आख्यान हैं और उसके द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। परन्तु हे रामजी! अब मैं सब शास्त्रों का निचोड़ तुमसे कहता हूँ कि, जिसको समझकर तुम जीवन्मुक्त हो जाओगे और जगत् की वास्तविकता नाश होगी। जिस प्रकार स्वप्न से जागने पर स्वप्न की वस्तु ज्ञात होती है, उसी प्रकार जो कुछ सिद्धान्त है सब तुमको इसमें मिलेगा। पर जो इसमें न होगा वह और कहीं न मिलेगा। इसका समस्त शास्त्रों के विज्ञान भंडारवाले बुद्धिमानजन ही जानते हैं। हे रामजी! इस शास्त्र को जो पुरुष श्रद्धा सहित सुनते और सुनकर उस पर नित्यशः विचारते हैं, उनकी बुद्धि उदार होती है और वही परमबोध को प्राप्त होते हैं किन्तु जो इस शास्त्र के सम्बन्ध में प्रेम नहीं करते वे निश्चय ही बड़े पापी हैं। उनको चाहिये कि वे पहले और शास्त्रों को विचारें तब इसको विचार कर जीवन्मुक्त होवें। जिस प्रकार उत्तम औषधि से रोग शीघ्र ही निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार इस शास्त्र का श्रवण करने से अज्ञान का नाश हो जाता है और शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति होती है। हे रामजी! आत्म-

करता। पुनः वह पुरुष भी जीवन्मुक्त है कि जो प्रत्येक सांसारिक व्यवहारों को करते हुए भी उसमें लिप्त नहीं होता और रागद्वेष से पृथक रहकर शीतल रहता है। हे रामजी! जिस प्राणीको अहं, मम आदि का भाव नहीं होता और जिसकी बुद्धि किसी में लिप्त नहीं रहती, वह कर्म करे या न करे परन्तु वह अवश्य ही जीवन्मुक्त है। हे रामजी! ऐसे प्राणीको मान, अपमान, भय और क्रोध सम्बन्धी विकार कुछ नहीं जान पड़ते। और जो आकाश से सदृश शून्य रहते हैं, वह भी जीवन्मुक्त हैं। ऐसे पुरुष प्रत्येक पदार्थों का भोक्ता होते हुए भी अन्तर से अभोक्ता हैं। जिस प्राणी से संसार व्यग्र नहीं होता और जो स्वयंभी संसारसे व्यग्र नहीं होते और जो सर्वथाही रागद्वेषादिसे परे रहते हैं वे भी जीवन्मुक्त हैं। हे रामजी! वह पुरुषभी जीवन्मुक्त है कि जो चित्त के सङ्कल्प-विकल्प को जानता है और उसी से जगत की उत्पत्ति जानता है और चित्तके अस्फुरण को ही प्रलय जानता है और सर्वतः समबुद्धि रखता है। हे रामजी! ऐसा पुरुष सर्वदा ही आत्मा में स्थित रहता हुआ जगत् को ब्रह्मस्वरूप जानता है। यह सुनकर रामजी बोले--हे भगवन्! यह तो आपने जीवन्मुक्त की बड़ी कठिन व्याख्या की, पर यह तो कहिए कि, इष्ट की प्राप्ति में और अनिष्ट की प्राप्ति में समता और शीतल बुद्धि कैसे होती है? वशिष्ठजी बोले हे रामजी! इष्टता अनिष्टता रूपी जगत तो अज्ञानी को मालूम होता है जो ज्ञानी है उसको सब आकाश रूप है। उसको किसी सम्बन्ध में रागद्वेष नहीं होता अन्य लोगों के देखने में तो वह चेष्टित रहता है पर वास्तव में वह जगत के वातावरण से सर्वदा ही निद्रित रहता है। हे रामजी! जो प्राणी जीवन्मुक्त हैं वे जब कभी शरीर का परित्याग करते हैं तब ब्रह्म पदको ही प्राप्त होते हैं। जैसे वायु अपनी गमनता को त्याग देने से लुप्त हो जाती है, वैसे ही प्राणी जीवन्मुक्त पद का परित्याग कर विदेहमुक्त हो जाता है। फिर तो वह ऐसा दृढ़ स्थित हो जाता है, जैसे सूर्य होकर वही तपता है और वही

पद की प्राप्ति वर-शाप की भांति नहीं होती केवल वर देने मात्र से आत्मा का ज्ञान नहीं होता है। जब विकारों का अभ्यास किया जाता है, तब आत्मज्ञान प्राप्त होता है, हे रामजी! दान देने, तपस्या करने और वेदों का पाठ करने से आत्मपद की प्राप्ति नहीं होती वरन् आत्मविचार करने से ही आत्मपद की प्राप्ति होती है।

श्री योगवाशिष्ठ उत्पत्ति–प्रकरण का आठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८ ॥

–❀–

नवाँ सर्ग

परम–प्रकरण वर्णन

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जो पुरुष अपने चित्त को आत्म-विषयक चिन्तवन में लगाये रहता है और जो अपने प्राणों की चेष्टा भी आत्मा की ओर ही किये रहता है और जो आत्मा ही का वर्णन करता, उसी में संतुष्ट रहता है तथा जो सर्वकाल आत्मा ही में रमण किया करता है, ऐसा जो ज्ञानी पुरुष है, वह निस्सन्देह जीवन्मुक्त और विदेह मुक्त हो जाता है। रामजी बोले–हे महामुने! जीनवन्मुक्त और विदेह मुक्तसे आपका क्या तात्पर्य है? ऐसे पुरुषके क्या लक्षण हैं? यदि आप बतला सकें तो मैं भी वैसा ही करूँगा। वशिष्ठजी ने कहा–हे रामजी! जीवन्मुक्त वह प्राणी है जो समस्त संसार का व्यवहार किया करता है, किन्तु उसके हृदय में द्वैत भ्रम नहीं रहता और वह सर्वदाही शांत रहता है। जो प्राणी समस्त क्रियाओं को करते हुए भी किसी में लिप्त नहीं रहता और अभ्यान्तर में आकाश के सदृश ही निर्मल रहता है, वह प्राणी जीवन्मुक्त है। फिर वह प्राणी भी जीवन्मुक्त है, कि जो संसार की स्थितिसे सर्वथा ही निद्रित रहता है और जिसके जगत-भ्रम आदिक नाश हो गये हैं। हे रामजी! वह प्राणी भी जीवन्मुक्त है कि जो किसी मनोरथ की प्राप्ति के लिये प्रसन्न नहीं होता और असफलता के लिए भी खेद नहीं प्रकट

जगत का अत्यन्त अभाव हुए बिना आत्मा का बोध नहीं होता ? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया–हे रामजी ! दृश्य और द्रष्टा का तो मिथ्या ही भ्रम उत्पन्न हुआ है, फिर बोध कैसे होगा ? बोध तो तब होता है, जब इन दो में से एक का अभाव हो जाये । जब एक का अभाव हो जायगा तब निस्सन्देह दोनों का ही अभाव हो जावेगा । इस प्रकार जब दोनों का अभाव हो जाता है, तब केवल शुद्ध ज्ञान शेष रहता है । अतएव जगत के अभाव हेतु अब मैं एक दूसरी युक्ति तुम्हें बतला रहा हूँ । हे रामजी ! बहुत समय से जो यह जगत् दृढ़ हो रहा है वह केवल मिथ्या ज्ञान और कठिन रोग है । इसकी निवृत्ति विचार रूपी मन्त्र से ही होती है । जगत् के अत्यन्त अभाव हुए बिना आत्मा का बोध नहीं होता । अतः आत्म प्राप्ति के लिये मैं तुम्हें एक युक्ति बतलाता हूँ । इसको जान लेने से जगत् के भ्रम का नाश हो जावेगा और तुम जीवनमुक्त होकर विचरोगे । हे रामजी ! बन्धन रूप वही है, जो उत्पन्न होता है । और मुक्त भी वही है जो उत्पन्न हुआ रहता है । परन्तु जो यह जगत् तुमको भासता है, वह कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है । जैसे मरुस्थल में नदी प्रकट रहती है और जो वास्तव में उत्पन्न नहीं हुई है केवल अज्ञान भ्रम से भासती है, वैसे ही आत्मा में जगत प्रतीत होता है । अस्तु, यह जगत कहीं उत्पन्न नहीं हुआ, केवल भ्रम से भासता है । हे रामजी ! जब महा प्रलय होता है, तब स्थावर, जङ्गम, देवता, किन्नर, दैत्य, मनुष्य, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रादिक सहित इस जगत् का सर्वथा ही अभाव हो जाता है । इसके पश्चात् जो शेष रहता है, वह एक ऐसी सत्ता है कि जो इन्द्रिय ग्राहक नहीं है और न असत्य है, न शून्य है, न प्रकाश है, न अंधकार है, न द्रष्टा है, न दृश्य है, न केवल है, न अकेवल है, न जड़ है, न ज्ञान है, न अज्ञान है, न साकार है, न निराकार है, न किंचन है, न अकिंचन है । तात्पर्य यह कि वह समस्त शब्दों से परे है और वहां वाणी का भी संसर्ग नहीं है । वहां जो है वह चेत्य से रहित चेतन और आत्मतत्व

ब्रह्मा होकर उत्पन्न होता है। वही विष्णु होकर चराचर का पालन पोषण करता है और वही रुद्र होकर संहार करता है वही पृथ्वी होकर समस्त प्राणियों के भारको सहन करता है और वही औपधि आदि अन्न को उत्पन्न करता है तथा वही पर्वत होकर पृथ्वी को स्थिर रखता, वही जल होकर द्रवता और वही अग्नि होकर उष्णता को धारण करता है, वही पवन होकर समस्त पदार्थों को सुखाता है। और वही चन्द्रमा होकर औषधियोंको भी पुष्ट बनाता है। फिर वही आकाश होकर समस्त पदार्थों को स्थान देता है बादल बन कर बरसता है और इस प्रकार वही जङ्गम सहित समस्त संसार में आत्मारूप होकर सर्वदा स्थिर रहताहै। रामजी ने पूछा—हे भगवन्! जब इस प्रकार प्राणी विदेह मुक्त शरीरको धारण करके जगत में आता है, तब उसको त्रैलोक्य का भ्रम क्यों नहीं मिटता? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया—हे राम जी! संसार का आडम्बर तो अज्ञानी के हृदय में सर्वदा ही स्थित रहता है किन्तु ज्ञानी के लिए तो सब निर्मल और आकाश रूप है। हे रामजी! वास्तव में जगत कुछ उत्पन्न नहीं हुआ जो उत्पन्न हुआ ज्ञात होता है, वह केवल अज्ञान है। हम तुम और जगत सब आकाश रूप हैं। जिस प्रकार आकाश में नीलता और दूसरा चन्द्रमा प्रकट होता है, जैसे मरुस्थल में जल दृष्टिगत होता है वैसे आत्मा में जगत् प्रकट एवम् प्रतीत होता है। हे रामजी! जिस प्रकार सुवर्ण में भूषण कोई अन्य वस्तु नहीं उत्पन्न हुआ और जिस प्रकार जल में तरङ्ग अन्य कोई वस्तु नहीं है और वह भी शुद्ध जल है, उसी प्रकार आत्मा में जगत उत्पन्न नहीं हुआ। किन्तु जो कुछ भी जगत् जाल है, वह मन की भावना से ही भाषित होता है। उसका कोई स्वरूप नहीं बना है। जब ज्ञानी को इसका निश्चय सदैव रहता है तब फिर उसको जगत का क्षोभ कैसे होगा? हे रामजी! तुम्हें समझाने और ज्ञान कराने के लिए ही मैंने इतनी सरल युक्ति कही है, नहीं तो जगत कहाँ है? जगत का अत्यन्त अभाव है। रामजी ने पूछा कि, हे मुनीश्वर? क्या

नहीं है तो भी बोलता है। अभोक्ता होकर भी भोक्ता है। फिर अद्वैत नहीं है पर वही द्वैत रूप होकर भासता है। हे रामजी! आत्म-सत्ता सर्व शब्दों से अतीत है। पर वही सब शब्दों को धारती है और अन द्रष्टा होकर भासती है। इतर कुछ नहीं है। कई सृष्टि समान होती हैं और कई विलक्षण होती हैं परन्तु स्वरूप से दूसरी कुछ नहीं है। सर्वदा आत्मस्वरूप स्थित है जिस प्रकार सुवर्ण में भूषण के समान अन्य विलक्षण आकार भी होते हैं, परन्तु कङ्कण से आदि पर्यन्त जितने प्रकार के भूषण हैं सब सुवर्ण रूप ही हैं दूसरा कुछ नहीं, इसी प्रकार जगत आत्मस्वरूप है और आकाश से भी निर्मल और बोध मात्र है। हेरामजी ! जब तुम उसमें स्थित हो जाओगे तब जगत् का भ्रम नष्ट होजावेगा। क्योंकि वास्तव में जगत कुछ है नहीं, ज्यों का त्यों स्वतः स्थित है मन के सङ्कल्प विकल्प से ही इसकी सत्ता है। सङ्कल्प का नाश हो जावे तो जगत का भी नाश हो जायेगा। परन्तु आत्मा की सत्ता ज्यों की त्यों बनी रहेगी। क्योंकि यह सबका अधिष्ठानरूप है। जगत् की उत्पत्ति इसी से हुई है और यही उसका रूप एवं सबका अधिष्ठान रूप है। उस आत्मसत्ता का कोई कारण नहीं होता। वह अकारण है। क्योंकि वह बिना कारण अद्वैत अजर, अमर समस्त कल्पनाओं से रहित और शुद्ध रूप है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा—उत्पत्ति—प्रकरण का नवां सर्ग समाप्त॥ ९ ॥

:-❀-:

दसवाँ सर्ग

परमात्म—स्वरूप—वर्णन

इस प्रकार परमाकाश की सुन्दर कथा सुन चुकने पर रामजी ने वशिष्ठजी से प्रश्न किया कि हे मुनीश्वर ! आप कहते हैं कि महा प्रलय के पश्चात समस्त पदार्थों का अभाव हो जाता है। और केवल ऐसा पदार्थ ही शेष

मात्र ही शेष है, उसमें अहं, त्वं आदि कल्पनायें नहीं रहतीं। वह इस भांति शेष रहता है कि, उसका पूर्ण, अपूर्ण, आदि, मध्य, और अन्त कुछ नहीं है। वह सबसे परे है और वही सत्ता जगत रूप होकर भासता है। इससे जगत की कोई रचना नहीं हुई है। जैसे मृगतृष्णा का जल भासता है, वैसे ही आत्मा में जगत भासता है। हे रामजी जब मनोवृत्तियाँ जगत की कल्पना करती हैं, तभी जगत जगदाकार भासता है और सब कल्पनाओं का नाश होता है, तब जगत का भी अभाव हो जाता है। इस प्रकार-आत्मसत्ता सर्वदा एक रस रहती है। जिस प्रकार वायु का गमन करना ही वायु का रूप है और गमन करने से भासता है नहीं तो बन्द हो जाने से नहीं भासता परन्तु वायु एक ही है, वैसे ही चित्त की संवेदना कल्पना रूप है। और तभी जगत रूप होकर भासता है। कल्पनाओं के नाश होने पर जगत का भी नाश हो जाता है। हे रामजी! चेतन तब जाना जाता है जब संवेदन स्पन्दरूप होता है। जैसे सुगन्ध का ग्रहण आधार-भूत होता है और भूत-द्रव्य बिना सुगन्ध का ग्रहण नहीं होता। जैसे श्वेत वस्त्र पर ही रङ्ग चढ़ता है अन्यथा नहीं, वैसे ही आत्मा का जानना स्पन्द से होता है। परन्तु स्पन्द के बिना जानने की कल्पना भी नहीं होती। जिस प्रकार आकाश में शून्यता और अग्नि में उष्णता प्रकट होती है, वैसे ही आत्मा में अनन्य रूप जगत प्रतीत होता है। जिस प्रकार जलकी द्रवता से तरङ्ग है, वैसे ही आत्मा की सत्ता से जगत का रूप है। वह आकाशवत् शुद्ध है और श्रवण चक्षु, नासिका, त्वचा, देह, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से रहित है। परन्तु सब ओर से वह आप ही आप श्रवण करता, बोलता, सूँघता स्पर्श करता और रस लेता है। अतः आत्मरूपी सूर्य की किरणों से जल रूपी त्रिलोकी फुरती भासती है जिस प्रकार जल का भँवर जल से भिन्न नहीं, वैसे ही जगत आत्मा से भिन्न नहीं है। सब आत्मस्वरूप हैं। आत्मा ही जगत रूप होकर भासता है। इसको जिह्वा

जलमें ही तरङ्ग उठती हैं। अतःसत्य में भी इसीलिए सद्भाव है कि जलमें तरङ्ग होती है, उसी प्रकार जगतका असद्भाव आत्मा से होता है। जिस भांति जल में तरङ्ग केवल नाम के लिए है, वह अन्य कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार केवल नाम के लिए जगत है. वास्तव में वह कोई अन्य वस्तु उत्पन्न नहीं हुई केवल एक सत्ता ही मुख्य है। शून्य अशून्य भी कुछ नहीं। क्योंकि शून्य अशून्य जो यह दो शब्द हैं वह उन विषे कल्पना मात्र है। क्योंकि शून्य तो वह है कि जिसका अभाव हो और अशून्य वह है जो विद्यमान हो। किन्तु वह सत्तातो इन दोनोंसे ही रहितहै। फिर शून्य अशून्य कहां? उसमेंतो इन दोनों का सर्वदा ही अभाव है। हे रामजी! यह जो सूर्य, तारे, दीपक आदि प्रकाशरूप हैं, इनको भी वहां गम नहीं है। क्योंकि प्रकाश तो अन्धकार का शत्रु है। यदि प्रकाश हो तो अन्धकार की सिद्धि नहीं। परन्तु वहां तो अन्धकार भी सिद्ध होता है। इसलिये कहा है कि वहां प्रकाश भी नहीं और अन्धकार भी नहीं। यदि अन्धकार हो तो जिसके द्वारा सूर्य उदय होकर प्रकाश पहुँचाता है वहां अंधेरा कैसे रहेगा? आत्मा के प्रकाश के बिना तो सूर्य आदि भी अन्धकार स्वरूप हैं। इसलिए वह शून्य अशून्य प्रकाश और अप्रकाश कुछ नहीं है, वह केवल आतमतत्व-मात्र है। जिस प्रकार स्तम्भ में पुतलियां कुछ नहीं हैं, उसी प्रकार आत्मा में जगत कोई अन्य वस्तु होकर नहीं उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार बिल्ली और उसके मांस में कोई अन्तर नहीं है, उसी प्रकार आत्मा और जगतमें कोई अन्तर नहीं है। इसी भांति जैसे जल और तरङ्ग में और जैसे मिट्टी व मिट्टी के घड़े में कोई अन्तर नहीं है, वैसे ही ब्रह्म और जगत में कोई भेद नहीं है। भेद तो केवल नाम मात्र का है। हे रामजी! जल और मिट्टी का जो उदाहरण मैंने दिया मैं वह भी आत्माके सम्बन्ध में पर्याप्त नहीं है। क्योंकि जल की तरंगें और मिट्टीके घड़े भी किसी परिणाम युक्त होते हैं। पर आत्मामें जगतका कोई परिणाम नहीं है।

रहता है, कि जहां वाणी का भी गम नहीं रहता, परन्तु बड़ा आश्चर्य है कि, प्रलय के पश्चात जो शेष रहता है वह शून्य है या प्रकाश है, क्योंकि उसमें तम का लेश नहीं है, चेतन है या जीव है या मन है या बुद्धि है अथवा सत, असत कुछ तो है? फिर यह कैसे मानलें कि, आपका कथन पर्याप्त है? वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया कि, हे रामजी! यद्यपि तुम्हारा यह प्रश्न बहुत विस्तृत और जटिल है, तथापि मैं इस भ्रम को बड़ी सरल युक्ति और अल्प परिश्रम से ही नष्ट कर दूंगा फिर तो जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अंधकार का नाश हो जाता है, उसी प्रकार तुम्हारा यह भ्रम नष्ट हो जायेगा। हे रामजी! यह मैंने बहुत ठीक कहा है कि, महा प्रलय होने पर प्रत्येक दृश्यों का अभाव हो जाता है और जो शेष बचता है यह शून्य नहीं क्योंकि उसमें सदैव दृश्याभास विद्यमान रहता है, पर वास्तव में वह कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है। जिस प्रकार स्तम्भ होने पर शिल्पी उसमें पुतलियों की रचना करता और स्तम्भ न हो तो वह किसमें रचेगा उसी प्रकार आत्म रूपी स्तम्भ के होने पर ही मन रूपी शिल्पी जगत रूपी पुतलियों की रचना करता है। यदि आत्मा न होवे तो वह किस विषे पुतलियों की रचना करेगा। जिस भांति स्तम्भ में पुतलियां स्तम्भ रूपी हैं वैसे ही सब जगत ब्रह्म रूप है। ब्रह्म से परे जगत का होना सम्भव नहीं। जैसे पुतलियों का भाव अभाव स्तम्भ से ही है क्योंकि स्तम्भ ही अधिष्ठान रूप है वैसे ही आत्मा के बिना जगत नहीं होता। हे रामजी! किसी वस्तु का सद्भाव सत्यता पर निर्भर है और असत्यता से नहीं होता। जो हम में अभाव सिद्ध होता है वह भी सत्य वस्तु से ही होता है। इससे सत्य शून्य नहीं है। यदि वह शून्य हो तो फिर उसमें भासना कैसे हो? जिस प्रकार स्वच्छ जल में तरङ्ग उत्पन्न होता है और नहीं भी होता है। नहीं, इस कारण होता है कि तरङ्ग जल से भिन्न अन्यकोई वस्तु नहीं है और सद्भाव इस कारण से होता है कि

की सत्तामें सभी कल्पनाओं की नष्टता है। उसके सम्बन्धमें कुछ कहते नहीं बनता। वह तो पूर्ण, अपूर्ण, सत्य और असत्य आदि सबसे पृथक है। उसके निकट भाव अभाव कुछ नहीं है और आदि मध्य व अन्त की कल्पना भी मिथ्या है वह तो अजर, अमर, आनन्द, अनन्त, चित्स्वरूप, अचेत, चिन्मात्र और अवाच्यपद, सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृढ़से भी दृढ़ एक अद्वैतरूप और अनन्त चिद्रूप है। रामजी बोले, हे मुनीश्वर! आपने यह जो अचिंत्य, चिन्मात्र परमार्थ सत्ता का गूढ़ वर्णन किया, वह क्या है—कृपाकर मेरे ज्ञान होने के हेतु उसको समझा कर फिर कहिए। वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! तुम उधर जान चुके हो कि महाप्रलय के समय जगत् नष्ट हो जाता है और परब्रह्म सत्ता ही शेष रहती है। अतः अब मैं उसी का रूप वर्णन करता हूँ, ध्यान देकर सुनो। हे रामजी! मन रूपी ब्रह्म है इसकी भिन्न २ पांच वृत्तियां हैं। प्रमाण वृत्ति, विपर्यय वृत्ति, विकल्प वृत्ति, अभाववृत्ति और स्मरणवृत्ति क्रमशः पांच नाम हैं। इसमें पहली प्रमाण वृत्ति तीन प्रकार की है। पहली प्रत्यक्ष, दूसरी अनुमान और तीसरी धुआँ व अग्नि की जानकारी रखने वाली शब्द रूप आसकामिकावृत्ति है। उसी भांति दूसरी विपर्यय वृत्ति भी है। तीसरी हाव और भाव से विकल्प वृत्ति है, जिससे शब्द ज्ञान और अर्थका भान होता है। जिस प्रकार चेतन पुरुष कहा जाय तो उससे यह ज्ञात हुआ कि, कोई एक पुरुष है और उसका स्वरूप दूसरी कोई चैतन्य वस्तु है—इससे यह चैतन्य पुरुष कहलाता है। अतः चेतन ईश्वर का रूप है और साक्षी पुरुषस्वरूप है। तात्पर्य यह है कि, जैसे सीप में चांदनी की वृत्ति (झलक) होने से ही सीप मालूम हो तो उसका नाम विकल्प है। इसी प्रकार चौथी स्मरावृत्ति है और पाँचवी अभाव वृत्ति है। इन पांचों का अहङ्कार मन है जब यह अहङ्कार नष्ट होगा तब पीछे जो शेष सत्ता रहेगी वही निश्चल सत्ता और अनन्त आत्मा है। मैं असत्य नहीं कहता हूँ। हे रामजी!

यदि कहा जाय कि मानसिक है, तो आकाश रूप है। अतएव जगत कोई भिन्न वस्तु नहीं है। रूप, देखना, मनसा, कार्यता यह जो कुछ भी ज्ञात होता है, सब आकाशरूप है। आत्मसत्ता ही चित्त के सङ्कल्पों द्वारा जगत होकर प्रतीत होता है। जैसे सूर्य की विद्युत ज्योति में जल का भास होता है, वैसे ही आत्मा में जगत भासता है। अतएव हे रामजी! जिसके द्वारा यह जगत भासता है, उसको शून्य कैसे कहा जाय। फिर यदि चैतन्य माना जाय तो भी कैसे? क्योंकि चैतन्य भी तब जाना जाय जब चित्त की कल्पनायें अपना कार्य पूर्ण करती हों। यदि कलायें अपना कार्य न पूरा करती हों तो वहां चेतन्यता कैसे रहे। जैसे मिर्च की तीक्ष्णता खाने ही पर भासती है वैसे ही चैतन्यता जानना भी स्पंदकलना में होता है। आत्मा विषे जानना भी नहीं, चेतनता से परे चिन्मात्र है और अक्षय तुरीय यानी घोर निद्रा उसकी एक अवस्था है। वह ज्ञेय और ज्ञानवान होकर भी गुप्त है। हे रामजी! जो पुरुष उसमें स्थित है, उसको संसार रूपी सर्प नहीं डसता। वह अचेत्य चिन्मात्र होता है। परन्तु जो अपनी आत्मा में स्थित नहीं है उसको दृश्य रूपी सर्प अवश्य डसता है। अतएव आत्मा की सत्ता में द्वैतभाव नहीं। वह आकाश से भी निर्मल है। उसके लिए द्रष्टा, दर्शन, दृश्य, स्वतः आत्म सत्ता है और वह स्वतः आत्म स्वरूप है। उसको अभ्यास द्वारा प्राप्त किया जाता है। हे राम जी! उसमें द्वैत-कल्पना कुछ नहीं है। वह केवल अद्वैत है। उसमें द्रष्टा, जीव, विकार, स्थूल, सूक्ष्म कुछ नहीं है। वह एक शुद्ध अद्वैत रूप है और स्वतः स्थित है। इसलिए जब उसमें चेतना शक्ति के विकास का वह मूल ही नहीं है कि जिससे वह अपनी कलायें प्रदर्शित करे तब जी कैसे हुआ।? फिर जीव नहीं होगा तब बुद्धि कहां से होगी? और यदि बुद्धि नहीं तो मन और इन्द्रियोंका होना भी कैसे हो सकता है? फिर जब इन्द्रियां नहीं तब शरीर कैसे होगा? शरीर नहीं तो जगत कैसे होगा? इस कारण हे रामजी! आत्मा

आता है और कहाँ जाता है। आकाश का बन भी कहाँ से आता है और कहाँ जाता है ? जिस प्रकार आकाश का बन है, उसी प्रकार यह भी है। रामजी ने कहा-हे मुनिवर ! बांझ स्त्री को पुत्र होना और आकाश में बन होना तो त्रैलोक्य में भी सम्भव नहीं, पर यह जगत् तो स्पष्ट जान पड़ता है, फिर बांझ स्त्री के पुत्र की समता कैसे हुई ? वशिष्ठ जी बोले कि, हे रामजी ! जिस प्रकार बाँझ स्त्री का पुत्र और आकाश का बन उत्पन्न नहीं हुआ वैसे ही यह जगत् भी उत्पन्न नहीं हुआ है। इस भाँति स्वप्नपुर प्रत्यक्ष जान पड़ता है और आकाशवत् है उसका कोई पदार्थ सत्य नहीं है, उसी प्रकार यह जगत् आकाशवत् है-इसमें कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है। इस जगत में भेद वैसे ही नहीं जैसे कि, जल और तरङ्ग में भेद नहीं होता। हे रामजी ! जगत् की कोई वास्तविक रचना नहीं हुई है। इसमें आत्मसत्ता स्वतः स्थित है। जब अज्ञान असत है तब वही जगत मालूम होता है। जिस प्रकार आकाश में दूसरा चन्द्रमा जान पड़ता है, जैसे मरुस्थल में जल और जैसे आकाश में तारागण जान पड़ते हैं, वैसे ही आत्मा के विषय में अज्ञानतावश जगत जान पड़ता है। यह सुनकर रामजी बोले-हे भगवन् ! आप कहते हैं कि, जगत कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, सब आभास मात्र है। इसके उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं है और इसमें कोई वास्तविकता नहीं है। पर हमारा नम्र निवेदन यह है कि अब आप कृपा पूर्वक उस एक युक्ति को कहिये कि, जिसके जान लेने से जगत का अभाव हो जाये। वशिष्ठ जी बोले-हे रामजी ! जगत का अभाव तब होगा जब पहले दृश्य का अभाव हो जावेगा। इससे दृश्य के अभाव निमित्त मैं एक सुन्दर आख्यान कहता हूँ, ध्यानपूर्वक श्रवण करो। इसका निश्चय पूर्वक अर्थ समझ लेने से दृश्य दोष नाश होजयगा और फिर जगत् की वास्तविकता न जान पड़ेगी। हे रामजी ! यह जगत् जो तुमको जान पड़ता है, वह बिना कारण है।

जाग्रत अवस्था के अभाव होने पर जब तक सुषुप्ति नहीं आती, वह परमात्मा का रूप है। अंगुष्ट का जो शीत उष्ण का स्पर्श होता है और उसको जो अनुभव करता है, वही परमात्मा का रूप है। जिसमें द्रष्टा, दर्शन, दृश्य उत्पन्न होते हैं और फिर उसी में लीन हो जाते हैं, वही परमात्मा का वास्तविक रूप है। वह सत्ता ऐसी है कि जिसमें चेतनता भी नहीं है। हे रामजी! जो जीव चैतन्य स्वरूप है और जड़ जो देहादि है यह दोनों ही उस सत्ता के निकट नहीं हैं। अतः जो ऐसा चिन्मात्र स्वरूप है वही परमात्मा का रूप है। जो सब व्यवहार करता हुआ भी अन्त से आकाश की नाईं निर्मल है, और जिसको किसी प्रकार का क्षोभ नहीं है-ऐसी जो सत्ता है वही परमात्मा का स्वरूप है। परन्तु वह रूप शून्यता से भी परे है। हे रामजी! जिसमें आकार सहित द्रष्टा, दर्शन, दृश्य यह तीनों प्रतिबिंबित हैं ऐसी जो सत्ता है वही परमात्मा का स्वरूप है जो स्थावर में स्थावर भाव से विद्यमान है, चैतन्यता में जो चैतन्य भाव से व्याप्त है, जिसको मन और बुद्धि तथा इन्द्रियां नहीं पा सकतीं ऐसी जो सत्ता है, वही परमात्मा का रूप है। हे रामजी! ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का भी जहां अभाव हो जाता है उसके पश्चात् जो वस्तु शेष रह जाती है और कोई विकल्प नहीं रहता-ऐसी जो अचेत, चिन्मात्र सत्ता है, वही परमात्मा का रूप है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा,उत्पत्ति-प्रकरण का दसवां सर्ग समाप्त ॥ १० ॥

—::-※-::—

ग्यारहवां सर्ग

परमार्थ-वर्णन

परमात्मा-स्वरूप का विशद विवेचन हो चुकने पर रामचन्द्रजीने वशिष्ठजी से पूछा-हे मुने! महाप्रलय में दृश्य रूपी पदार्थ कहां चले जाते हैं? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया-हे राघव? बांझ स्त्री का कहां से

पड़ती है। जिस भाँति अनुभव सहित स्वप्न-नगर रूप होकर जान पड़ताहै वैसे ही यह सृष्टि किञ्चनरूप है, दूसरी कोई वस्तु नहीं। सदैव ब्रह्म सत्ता स्वतः अपने आप में स्थित है। इस प्रकार जितना भी स्थावर जङ्गम रूप जगत जान पड़ता है–सब आकाशरूप है।

श्री योगवाशिष्ठ-उत्पत्ति प्रकरण का ग्यारहवां सर्ग समाप्त ॥ ११ ॥

::-❀-::

बारहवां सर्ग

जगत उत्पत्ति वर्णन

वशिष्ठजी बोले–हे रामजी! आत्मसत्ता नित्य शुद्ध और अजर अमर तथा सदैव अपने आप में स्थित है। उसमें जिस प्रकार सृष्टि उदय हुई है, अब उसको सुनो। यह जान लेने से जगत की कल्पनाओं का नाश हो जायगा। हे रामजी! यह जीव सर्वदा ही भाव, अभाव, ग्रहण, त्याग, स्थूल सूक्ष्म और जन्म मरण आदि पदार्थों में पड़ा हुआ छिद्रित होता रहता है। यदि तुम हमारी वाणी को शिरोधार्य करोगे तो इससे मुक्त हो जाओगे और जिस प्रकार चूहे सुमेरु पर्वत को चूर्ण नहीं कर सकते, उसी प्रकार संसार के यह भाव अभाव आदिक विषय तुम्हें चूर्ण नहीं कर सकेंगे। हे रामजी! वह आदि–पुरुष, शुद्धदेव और चिन्मात्र स्वरूप है। उसमें चेत्यभाव सदैव विद्यमान रहता है। क्योंकि वह चेतन्य स्वरूप है। जिस प्रकार वायु में स्पंदशक्ति सदैव विद्यमान रहती है, उसी प्रकार चिन्मात्र में चेतना शक्ति सदैव पूर्ण रहती है। यही कारण है कि, उसका नाम चैतन्य है। हे रामजी! उस चैतन्य में भी जब तक अपने स्वरूप के पहचानने की शक्ति नहीं आती, तब तक उसका भी नाम जीव है। और सङ्कल्प का नाम बीज चित संवित है और उसी से सब प्राणियों की उत्पत्ति हुई है। इसलिए सब का जीव चित्त संवित है। जब संवित चित्तको चेतता है, तब वह सबसे पहले

हे रामजी ! जो वस्तु विना कारण होते हुए भी जान पड़े, उसको उत्पन्न हुआ न जानो वल्कि वह भ्रममात्र है। जिस प्रकार स्वप्न में सृष्टि जान पड़ती है, सो किसी कारण से नहीं संवितरूप है, उसी प्रकार स्वर्ण आदि भी कोई कारण से नहीं उत्पन्न हुआ, केवल आभासरूप है और परमात्मा का कुछ नहीं है। हे रामजी ! जिस वस्तु में जो पदार्थ अकारण ही जान पड़े, वही अधिष्ठान रूप है। जैसे स्वप्न में स्वप्नपुर जान पड़ता है, और वहां किसी पदार्थ की वास्तविकता नहीं, केवल प्रतिविम्व रूप होता है, वैसेही संसार विना कारण परछाईं के सदृश आत्मसत्ता होकर जान पड़ता है। जिस प्रकार जलमें द्रवता है, वायुमें गमनता है, जलमें रस है और तेजमें आकाश है, उसी प्रकार आत्मा चित्तकी संवेदना मात्र है। जव चित्त की संवेदनायें सङ्कल्प-विकल्प रूप धारण करती हैं, तभी जगत का रूप जान पड़ता है, नहीं तो जगत कोई वस्तु नहीं है। हे रामजी ! जिस प्रकार तत्वों के अणु सव जगह पाये जाते हैं और आकाश का अणु नहीं पाया जाता, क्योंकि आकाश शून्य है, उसी प्रकार आत्मा से पृथक इस जगत का भाव कहीं नहीं पाया जाता। क्योंकि जगत परछाईं के सदृश है इसके उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं है। यदि तुम कहो कि पृथ्वी आदि तत्वों से जगत उत्पन्न हुआ है तो यह नितान्त असम्भव है। जिस प्रकार छाया से धूप नहीं उत्पन्न हो सकती उसी प्रकार तत्वों से जगत नहीं उत्पन्न हो सकता। क्योंकि जव पृथ्वी स्वतः नहीं उत्पन्न हुई है तव जगत विना कारण कैसे उत्पन्न होगा। इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म सत्ता स्वतः स्थित है और आत्म सत्ता जगत का कारण नहीं है। हां, यह प्रश्न हो सकता है कि जव जगत कुछ नहीं हुआ, तव वास्तव में यह क्या है। इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार सुवर्ण ही भूषण रूप है, और यह किसी अन्य वस्तु से उत्पन्न नहीं हुआ है, उसी प्रकार ब्रह्म सत्ता ही जगतरूप होकर जान

तेरहवाँ सर्ग

-:❀:-

स्वयंभू उत्पत्ति-वर्णन

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! वह परब्रह्म शान्त, स्वच्छ, अनन्त और चिन्मात्र है। वह सर्वकाल अपने आप में स्वतः स्थित है। उसी में सम, असमरूप यह जगत उत्पन्न हुआ है। सो वह समरूप अर्थात् सजातीय रूप और असम-रूप अर्थात् भेदरूप कैसे है, सुनिये। पहले तो उसमें चेत्य का फुरना हुआ, तब उसका नाम जीव हुआ। जब जीवने दृश्य को जगाया तब उसी के द्वारा तन्मात्र, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध उत्पन्न हुये। इन्हीं सबों से पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश यह पञ्च भूत रूपी वृक्ष उत्पन्न हुए। फिर उस वृक्ष में ब्रह्माण्ड रूपी फल लगा है। इससे जगत का कारण पंच भूत तन्मात्रा ही है। इस तन्मात्रा की बीज आदि संवित आकाश है और उसी से यह सब जगत ब्रह्मरूप है। हे रामजी ! बीज के अनुरूप ही फल होता है। सो इसका बीज परब्रह्म है, इससे यह भी ब्रह्म है और जो चेतना रहित चिन्मात्र है, वह आकाश रूप है और वास्तव में द्वैतरूप कुछ नहीं बना। यह जीवाकाश और ब्रह्माकाश भी है। हे रामजी ! जिस प्रकार इसको शरीर ग्रहण करना पड़ा-अब वह कथा सुनिए। शुद्ध चिन्मात्र से जो चैतन्या-मुखत्य 'अहं-अस्मि' हुआ और उस अहंभाव से जीव अपने को अणु जानने लगा तो उसी अहंभाव के नाते उसका नाम अहङ्कार पड़ गया। जब वह दृढ़ होगया तब उससे निश्चयात्मक बुद्धि उत्पन्न हुई और उससे सङ्कल्प विकल्परूपी मन उत्पन्न हुआ। जब मन संसारने लगा तब इसको सुनने की इच्छा हुई। तब इसके लिए श्रवण की आव-श्यकता होकर श्रवणेन्द्रिय उत्पन्न हुई। इस भांति जब श्रवण करने का सभी साधन मिल गया तब उसे रूप देखने की इच्छा हुई और चक्षु इन्द्रिय उत्पन्न हुई। जब उसने स्पर्श की इच्छा की

शून्य हो जाता है। उसमें केवल एक गुण 'शब्द' का होता है। उस शब्द से पद और वाक्य तथा प्रमाणों सहित वेद उत्पन्न हुए हैं। जितना कुछ जगत् सम्बन्धी शब्द है, उसका बीज तन्मात्रा है। उसी से सूर्य और अग्नि आदि का प्रकाश हुआ। फिर रस तन्मात्रा हुई जिससे जल हुआ और सब जलों का वही बीज हुआ। हे रामजी ! ऐसे ही पंचभूत हुए हैं। उसके बाद पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश से जगत् उत्पन्न हुआ है, सो पंचीकृत और अपञ्चीकृत है। यह भूत शुद्ध चिदाकाश नहीं है क्योंकि यह मेल सङ्कल्प सहित हुये हैं। अतः चिद् अणु में ही सृष्टि भासती है। जिस प्रकार वट वृक्ष में से ही वटका विस्तार होताहै, उसी प्रकार चिद अणु से ही सृष्टि होती है। कहीं क्षण में युग जान पड़ता है और कहीं युग में क्षण जान पड़ता है। उसी चिद अणु में पड़ी हुई सृष्टियाँ फुरती हैं। इस भाँति जब चित्त में चेतनाशक्ति आती है, तब अनेक सृष्टियाँ जान पड़ती हैं और उसी प्रकार जब चित्तमें आत्मा के प्रति स्थान हो जाता है, तब आत्मा का साक्षात्कार होने पर वह सत्य-सृष्टि पिण्डाकार होकर जान पड़ती है। इसका अर्थ यह है कि तब सब सृष्टि आत्मस्वरूप ही जान पड़ती है। इस कारण जगत् का बीज सूक्ष्मभूत है और इसका बीज चित अणु है। हे रामजी ! जैसा बीज होगा, वैसा ही वृक्ष भी होगा। इसलिये यह समस्त जगत चिदाकाशरूप है पर सङ्कल्प से ही आडम्बर है। जिस समय सङ्कल्प मिट जायगा, उस समय यही जगत चिदाकाश हो जायगा। जिस प्रकार सङ्कल्प आकाश पर है, उसी प्रकार जगत भी आकाशरूप है। हे रामजी ! इस जगत का मूल पंचभूत है और उसका बीज संवित और स्वरूप चिदाकाश है। इससे सब जगत चिदाकाश है, द्वैत कुछ नहीं।

श्री योगवाशिष्ठ उत्पत्ति–प्रकरण का सातवां सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥

-::-❀-::-

क्षणमात्र में ही जगत निवृत हो जाता है। कारण कि सब कुछ सङ्कल्प रूप है। अतएव यह जगत् आकाश रूप है, कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। केवल आत्म सत्ता ही स्वतः स्थित है। जैसे स्वप्न में भ्रमके नाते पर्वत और नदियां दिखलाई पड़ती हैं वैसे ही भ्रम के नाते यह जगत जान पड़ता है। हे रामजी! जब आदि विराट स्वरूप ब्रह्मा के उत्पन्न होने में कोई वास्तविकता नहीं है, तब जगत कैसे उत्पन्न हुआ जिस प्रकार बिना कारण ही स्वप्न में अनेक प्रकार के देश काल और व्यवहार दृष्टिगोचर होते हैं और वास्तव में उनके उत्पत्ति की कोई वास्तविकता कहीं है, सब अभ्यास रूप है, उसी प्रकार इस जगत की भी कोई वास्तविकता नहीं है। आभास मात्र है। यद्यपि यह सब कार्य कारण से हैं तथापि अकारण हैं। हे रामजी! स्वयम् हमारे लिए, यह जगत ऐसा ही भासता है, जैसे स्वप्न में जागे हुए मनुष्य के लिये स्वप्न नगर भासता है। क्योंकि जो वस्तु बिना कारण जान पड़ी वह केवल भ्रम मात्र है। जिस प्रकार सङ्कलपपुर और गन्धव नगर जान पड़ते हैं, वैसे ही यह जगत भी जान पड़ता है। हे रामजी! आत्मा आदि विराट–स्वरूप है तो वही अन्तवाहक रूप है। वह पृथ्वी आदि तत्वों से रहित और आकाश रूप है फिर यह जगत अधिभूत कैसे होगा?

श्री योगवाशिष्ठ भाषा–उत्पत्ति–प्रकरण का तेरहवां सर्ग समाप्त॥ १३ ॥

:-❀-:

चौदहवाँ सर्ग

सर्व–ब्रह्म–प्रतिपादन

हे रामजी! यह कितना कुछ दृश्य है, सब असत्यरूप है। जो है वह निरामय ब्रह्म है वह आकाशज जीव के सदृश है। जिस प्रकार समुद्र के द्रवने से तरङ्ग का रूप होता है, वैसे ही ब्रह्म जीवरूप होता है। आदि में जो संवित रूप हुआ है, वह ब्रह्मा हुआ है। उस ब्रह्मा से भी पहले जीव हुए हैं। जिस भांति एक दीपक से अनेक दीपक हो जाते हैं, वैसे ही एक सङ्कल्प से अनेक

तब त्वचा इन्द्रिय प्रकट हुई। फिर जब उसने रस लेने की इच्छा की तब रसना इन्द्रिय प्रकट हुई। अस्तु, इसी भांति शरीरेन्द्रियाँ चेतना लिए हुए प्रकट हुईं और उसमें यह जीव अहं प्रतीत करने लगा। हे रामजी! जिस प्रकार दर्पण में पर्वत की परछाईं दर्पण के वाहर होती है, उसी प्रकार शारीरिक इन्द्रियाँ वाहरी दृश्य हैं और अपने में भासती हैं। फिर उन्हीं के द्वारा उन्हीं में अहं प्रतीत होती हैं जिस प्रकार कुयें में मनुष्य अपने को देखता है, उसी प्रकार देह से भी अपने आप को देखता है। जैसे डब्बे में रत्न होता है वैसे ही देह में प्राणी अपने आपको देखता है। सो वही देहके साथ मिल कर दृश्य की रचना करता है। तब 'अहं' भाव से वह रूप के विषय में यह क्रिया जानने लगी। सो भी कैसे, सुनो। जैसे स्वप्न में दौड़ता जावे और जैसे स्थितविषे स्पंदता होती है, वैसे ही आत्मा के विषय में स्पंद क्रिया प्रकट हुई सो चित्त-संवेदन से ही है। और उसी का नाम स्वयंभू ब्रह्मा है। जैसे सङ्कल्प से दूसरा चन्द्रमा जान पड़ता है, वैसे ही मनोमय जगत् भासता है। कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है। केवल चित्त के सङ्कल्प-विकल्प से फुरता है। तब जिस जिस प्रकार से चित्त फुरता गया वैसे ही वैसे देश, काल, द्रव्य, स्थावर जङ्गम जगत् की मर्यादा भी उत्पन्न होती गई। इसलिये यह जगत् सङ्कल्परूप है, सङ्कल्प से परे जगत् का कोई भी आकार नहीं है। जब सङ्कल्प फुरता है तब आगे जगत् का दृश्य जान पड़ता है। जब सङ्कल्प निस्पंद होता है, तब दृश्य का अभाव हो जाता है। हे राम जी! इस प्रकार से यह ब्रह्मा पहले निर्वाण हुआ है और फिर उपजा है। इससे सब सङ्कल्प मात्र है। जिस प्रकार नट अनेक प्रकार का स्वाँग करके फिर २ वाहर निकल आता है, वैसे ही यह सब माया मात्र है। हे रामजी! जब यह चित्त की ओर संसरता है तब दृश्य का अन्त नहीं होता। पर जब अन्तर्मुख हो जाता है तब समस्त जगत् आत्म रूप हो जाता है। चित्त ज्यों ही निस्पन्द हो जायगा कि त्योंही

यह कल्पना भ्रम होकर जान पड़ती है। नहीं तो आत्म सत्ता ही जगत के सदृश है और उसमें न तो एक जीव है और न अनेक जीव हैं। हे रामजी ! जो आदि विराट रूप आत्मा है वह आकाशवत है? उसी से यह जगत उत्पन्न हुआ है। मैं तुम्हें क्या कहूँ? यह जगत विराटरूप है और वही विराट जीव रूप हैं और वही जीव आकाशरूप है। फिर तुम्हीं बतलाओ कि, जगत क्या रहा और जीव क्या हुआ? हे रामजी! सब निर्मल आकाश रूप है जगत में जितने जीव जान पड़ते हैं सब ब्रह्म रूप हैं। इसमें दूसरा कोई तत्व नहीं है और न इनमें कोई भेद है। यह सुन कर रामजी ने पूछा कि, हे मुने! आप कहते हैं कि, आदि जीव कोई नहीं हुआ, तब इन जीवों का पालनकर्ता कौन है? यह सब जीव किसकी आज्ञा से विचरण करते हैं और इनका स्वामी कौन है? यदि कोई नहीं है तो यह सर्वज्ञ और अल्पज्ञ भी कैसे है, और एक भी कैसे है? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया—हे रामजी ! जिसको तुम आदि जीव कहते हो वह ब्रह्म नित्य, शुद्ध और अनन्त शक्ति वाला है। वह अपने आप में स्थित है। उसमें जगत की कोई कल्पना नहीं है। हे रामजी ! उस शुद्ध और चिदाकाश अनन्त शक्ति वाले में जो आदि चित्त अपूर्ण हुआ है, वह शुद्ध ब्रह्म सत्ता जीव की भाँति जानने लगी है। वही थोड़ा-थोड़ा हिलने के सहारे उत्पन्न हुए की भांति जान पड़ती है। पर केवल स्वरूप मात्र के अतिरिक्त कुछ और उत्पन्न नहीं हुआ है। वही चैतन्य बुद्धि जो आदि में थोड़ा-थोड़ा हिली है, उसी हिलने के नाते विराट आत्मा ब्रह्म स्वरूप होकर स्थित हुआ है। फिर उसने सङ्कल्प करके जगत की रचना और शुभ अशुभ कर्मों की रचना की है। हे रामजी ! वह देव अनन्त शक्ति वाला है और आदि के स्फुरण से स्थित है। तब इस भाँति जो आदि से फुरी वह वैसे ही स्थित है और जो अल्पज्ञ फुरी वह अल्पज्ञ है। इस प्रकार हे रामजी ! वह जो आदि विराट

सङ्कल्पों का होना कठिन नहीं है। उसी भाँति एक आदि जीव से अनेक जीव उत्पन्न हुए हैं। जिस प्रकार स्तम्भ में चित्रकार पुतलियों को चित्रित करता है और वह पुतलियाँ पहले उसके मन में होती हैं-खम्भे में नहीं, उसी प्रकार आत्मा समस्त पदार्थों को मनने उत्पन्न किया है। इसलिए आत्मा ही ब्रह्म है और वास्तव में उन पुतलियों में सबसे बड़ी पुतलीरूप ब्रह्मा है। छोटी पुतलियाँ ही जीव है जिस प्रकार पुतली न उत्पन्न होकर खम्भे की ही वास्तविकता है, वैसे ही जीव में आत्म सत्ता की प्रधानता है। इससे जगत की उत्पति नहीं, सङ्कल्प से ही जान पड़ता है। सङ्कल्प का नाश होने पर जगत् की कल्पना मिट जाती है।

इतनी कथा सुनकर रामजी ने पूछा कि हे भगवन् ! एक जीव से जो अनेक जीव उत्पन्न हुए हैं तो क्या वे पहाड़ में पत्थर के सदृश उत्पन्न हुए हैं या वह कोई जीवों की खान है ? उस एक में इतने जीव कैसे उत्पन्न हो जाते हैं ? कृपया यह प्रसङ्ग भी बतलाइये। फिर यह भी बतलाने की कृपा कीजिये कि, वह एक जीव कौन है, जिससे सम्पूर्ण जीवों की उत्पत्ति होती है ? वशिष्ठ जी ने कहा-हे रामजी ! न तो एक जीव है और न अनेक जीव हैं। तुम्हारे यह वाक्य तो ऐसे ही हैं जैसे, कोई कहे कि मैंने खरगोश के सींग को उड़ते हुए देखा है। जिस प्रकार खरगोश को सींग नहीं उत्पन्न हुआ, उसी प्रकार एक जीव भी नहीं उत्पन्न हुआ। और जब एक जीव नहीं उत्पन्न हुआ तब अनेक जीव कैसे उत्पन्न हुये। परन्तु जो शुद्ध अद्वैत आत्म सत्ता लिए ऐसे उत्पन्न हुए हैं, वह अपने आप में स्थित हैं, वह अनन्त आत्मा है और उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। हे रामजी ! यह जो कुछ जगत् तुम्हें जान पड़ता है, सब आकाश रूप है। इसमें कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं हुआ है। केवल सङ्कल्प के प्रकट होने से जान पड़ता है। जीव और अजीव शब्द का अर्थ आत्मा में कोई उत्पन्न नहीं हुआ।

पड़ता है। आत्म सत्ता ही मन रूप होकर जान पड़ती है। और यही बुद्धि रूप हो जान पड़ती है, तब पर्वत और कन्दरायें भी जगत का रूप जान पड़ते हैं। इस भाँति जब चेतनाशक्ति होती है, तब जगत जान पड़ता है नहीं तो नहीं जान पड़ता। जिस प्रकार वायु गमन करने ही पर जान पड़ती है अन्यथा नहीं, उसी प्रकार जब चित्तकी संवेदना गमनरूप में होती है, तब जगत जान पड़ता है। इसी भांति जब चित्त चलायमान नहीं होता तब जगत का अभाव होता जाता है। हे रामजी! चिन्मात्र में चेत्यभाव होने पर ही वह जगत हुआ है नहीं तो यह कुछ नहीं है। जग जगत् नहीं है तब आत्म के सम्बन्ध में भेद पूर्ण कल्पना भी कैसी? इस लिए न कोई कार्य है, न कोई कारण है और न जगत है। यह सब कुछ भ्रम मात्र केवल कल्पना है। नहीं तो यह शुद्ध परब्रह्म अपने आप में स्थित है। हे रामजी! उस शुद्ध चिन्मात्र में थोड़ा चित्त सदैव रहता है। जिस प्रकार मिर्चके बीजमें थोड़ी तीक्ष्णताई सदैव रहती है पर जब खाया जाता है तभी उसकी तीक्ष्णता जान पड़ती है, अन्यथा नहीं मालूम होती, उसी प्रकार जब चित्त संवेदन चैतन्यामुखत्व होता है तब जीव जगत चैतन्य जान पड़ता है और संवेदनसे न रहने पर जीव को जगत् की कल्पना नहीं जान पड़ती। हे रामजी! जब हिलने के साथ किसी परिभाषा तक संकल्प मिलता है, तब जीव प्रकट होता है और जब इससे परे होजाता है तब शुद्ध चिदात्मा ब्रह्म होता है। जिस प्राणी को अशेष की कल्पना नहीं है और जिसको शुद्ध विकार रहित ब्रह्म सत्ता का दर्शन हुआ है, जानो वह प्राणी मुक्त होगया है। हे रामजी! यह सब जगत आत्मा की छाया मात्र है और वह आत्मा अभेद्य अदाह्य, अक्लेद्य, नित्यशुद्ध और सर्वगत स्थाणुके सदृश अचल है। वह अहंरूप है और सब जगत् भी चिदाकाशरूप है। हम तो सदैव ऐसा ही जानते हैं। पर अज्ञानी वाद विवाद में पड़ा करते हैं। हमारे लिए वाद विवाद कुछ नहीं। क्योंकि हमारे सब

पुरुष है, वह अंतवाहक रूप और पृथ्वी आदि तत्वों से परे नहीं है और वह जगत भी अन्तवाहक रूप है पृथ्वी आदि तत्वों से नहीं उत्पन्न हुआ है। अन्तर यह है कि, इसमें सब सङ्कल्प रूप है। जिस प्रकार मनोद्वेग का राज्य और नगर शून्य है वैसे ही यह जगत शून्य है। हे रामजी ! इसका निमित्त कारण और समवायि कारण कोई नहीं है। अतः केवल भ्रम मात्र है और कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है। इसकी उत्पत्ति की यथार्थता तो तब होती जब यह उपर्युक्त दोनों कारणों में किसी कारण से उत्पन्न हुआ होता। पर इस जगत का तो कोई कारण ही नहीं है। वहां तो ब्रह्म सत्ता ही नित्य शुद्ध अद्वैत सत्ता है। फिर उसमें कार्य कारण की कल्पना कहां से आई ? हे रामजी ! यह जगत तो बिना कारण है और भ्रम के कारण जान पड़ता है। पर ज्यों ही तुम्हारे हृदय में आत्मविचार की शक्ति उत्पन्न होगी त्यों ही यह दृश्य-भ्रम दूर हो जायगा। जिस प्रकार दीपक हाथ में लेकर देखने से अन्धकार दूर हो जाता है, वैसे ही विचार करके देखने से जगत का भ्रम दूर हो जाता है। क्योंकि यह जगत तो केवल भ्रम रूपी मन फुरने (हिलने) से उदय होता है, इससे यह सङ्कल्प मात्र है। इसका स्वामी ब्रह्म है और यह जितने भी नाम पदार्थ हैं, सब में इसी ब्रह्म की सत्ता कल्पित है। यहाँ तक कि छहों प्रकार के विकार भी ब्रह्म सत्ता में ही फुरते हैं और सबसे पृथक भी हैं। इससे वह शुद्ध चिदाकाश रूप है और जगत भी वही रूप है। जिस प्रकार समुद्र की द्रवता से तरङ्ग और बुदबुदों से फेन जान पड़ता है, उसी प्रकार आत्म सत्ता में चित्त के फुरने से जगत जान पड़ता है। जिस प्रकार सर्व प्रथम चित्त में परमार्थ सत्ता दृढ़ हुई, उसी प्रकार यह जगत स्थित है आत्मा के प्रति उसका कोई भेद नहीं है। सब चिदाकाश है और उसकी इच्छा भी आकाशवत है। देवता भी आकाश रूप हैं और समुद्र तथा पर्वत भी आकाश रूप हैं। हे राम जी ! यही सब कारण है कि हमको सदैव ही चिदाकाश रूप जान

जगत् है, नहीं तो आत्म सत्ता से अन्य कुछ नहीं है। चैतन्य बिना घने अन्धकार में जगत् रूपी श्यामता है या चैतन्यरूपी कज्जल का पर्वत है और जगत् रूपी उसका प्रमाण भ्रम है और चैतन्यरूपी सूर्य में जगत् रूपी दिन है, आत्मरूप समुद्र में जगत् रूपी लहरें हैं और आत्मरूपी पुष्प में जगतरूप सुगन्ध है। आत्मरूपी वृक्षमें जगत्रूप फूल है। आत्मारूप स्वर्ण जगत्रूप भूषण है। आत्मारूप पर्वत जगतरूप जड़ है। आत्मरूप अग्नि में जगत्रूपी प्रकाश है। आत्म-रूप आकाश में जगत् रूप शून्यता है आत्मरूपी जगत् में मधुरूपी मीठापन है। आत्मरूपी क्षीर में जगत् रूप घृत है। आत्मरूप सूर्यमें जगतरूपी जलाभास है। अन्य कुछ नहीं है। हे रामजी ! इस भांति देखिये कि, सर्व ब्रह्म सच्चिदानन्द शुद्ध-स्वरूप है, वही सर्वत्र सबमें स्वतः स्थित है। उसमें भेद कल्पना कुछ नहीं है। जिस प्रकार जलकी द्रवता में तरङ्ग रूप होकर जान पड़ता है उसी प्रकार ब्रह्मसत्ता जगत् रूप होकर जान पड़ती है। न कुछ उपजा है, न नष्ट है। हे रामजी ! प्रारम्भ में जो चित्त शक्ति चलायमान हुई है वही विराटरूप ब्रह्म है और वही चिदाकाश रूप है, वह आत्मसत्ता से अन्य भावको नहीं प्राप्त हुआ है। जिस प्रकार पत्तों की रेखायें पत्तों से पृथक अन्य कोई नहीं पत्तों का ही रूप हैं वैसेही ब्रह्म में जगत है, दूसरा कुछ नहीं। बल्कि पत्तोंकी रेखायें तो एक स्वरूप की भी हैं किन्तु ब्रह्म और जगत में कोई आकार नहीं है। सब कुछ आकाश रूप होकर मनमें फुरता है पर जगत कुछ नहीं है। जैसे स्तम्भ में शिल्पी पुतलियां कल्पता है, वैसे ही आत्मा में मनने जगत की कल्पना की है। पर वास्तव में जगत की कोई उत्पत्ति नहीं। वह शिलाकी नाईं स्थूल रहकर जगत् को धारण कर रही है और आकाश की नाईं विस्तरित होते हुए भी शान्त स्वरूप है। अतएव उत्पन्न कुछ नहीं हुआ, जो है वह परब्रह्म स्वरूप है। इसीसे इसमें कोई कल्पना भी कैसे हो सकती है? ऐसा कह कर बाल्मीकि जी बोले कि, इस भांति जब मुनि शार्दूल वशिष्ठजी ने

भ्रमों का नाश होगया है । हे रामजी ! जिनको ऐसा निश्चय हो गया है कि, यह सब जगत ब्रह्मरूप है, दूसरा कुछ नहीं उनके लिये शरीर अपना ही स्वरूप है । फिर उनके लिए निराकार निर्वपु सत्ता का अङ्ग अपना-अपना स्वरूप क्यों न हो ? इससे जो कुछ भी प्रपञ्च है सब चिदाकाश रूप है । पर मूर्खों को भिन्न २ जान पड़ता है और जन्म मरण भी जान पड़ता है । पर जो ज्ञानी हैं उनको सर्वत्र आत्मा का ही स्वरूप भासता है । उनके लिए पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश सब आत्मा के आश्रम से जान पड़ते हैं और वे यह जानते हैं कि, चित्त की शक्ति ही सब कुछ है । जैसे वसन्त ऋतु के आगमन पर रस शक्ति से वृक्ष वेलें प्रफुल्लित हुई जान पड़ती हैं वैसेही चित्त शक्ति स्पन्दता करके जगत रूप होकर जान पड़ती है । हे रामजी ! जैसे वायु हिलने की क्रिया से ही जान पड़ता है वैसे ही जगत फुरणे से (हिलने से) जान पड़ता है । इस लिए चित्त की संवेदना ही जगत रूप होकर जान पड़ती है । अतः केवल फुरने ही से जाग्रत है । दूसरी वस्तु से जो कुछ हुआ नहीं इसीसे जगत कुछ नहीं । जिस प्रकार समुद्र तरङ्ग रूप में जान पड़ता है, वैसे ही आत्मा जगत रूप होकर जान पड़ता है । इससे जगत दृश्य भाव में जान पड़ता है और हिलने से कुछ नहीं हुआ । परन्तु वायु जड़ है और आत्मा चैतन्य है और जल भी किसी मात्रा में तरङ्ग रूप है और आत्मा अच्युत है, निराकार है । हे रामजी ! एक चैतन्य रूप रत्न है जिसका चमत्कार ही जगत है और उसी चैतन्यरूपी अग्नि में जगत उष्णता है । हे रामजी ! उस चैतन्य का प्रकाश ही भौतिक रूप प्रकाश होकर जान पड़ता है । इसी से जगत है, अन्य से नहीं ? वह चैतन्य शक्ति ही शून्य आकाश सदृश होकर जान पड़ती है। इसी भाव से जगत है, अन्य से नहीं ! इस लिए जगत की कोई वास्तविकता नहीं है, चैतन्य सत्ता ही पृथ्वी रूप होकर जान पड़ती है । यह दृश्य में आता है इससे

प्राणियों वाला जान पड़ता है, वह गन्धर्व नगर और स्वप्नपुर के ही समान है। हे रामजी! वह जगत जो पर्वतों सहित बहुत विशाल जान पड़ता है सो, अणुमात्र भी नहीं है। जसे स्वप्न में देखे गए पर्वत जागने पर रत्तीमात्र भी नहीं है, क्योंकि उसकी कोई वास्तविकता नहीं है, वैसे ही यह जगत आत्मस्वरूप है, भ्रम होने से जान पड़ता है। जिस प्रकार सङ्कल्प मेघ सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, वैसे ही यह जगत आत्म के सम्बन्ध में बहुत ही तुच्छ है। जिस प्रकार खरगोश की सींग का होना असत्य है, उसी प्रकार जगत का होना असत्य है। जैसे मृगतृष्णा की नदी असत्य है, वैसे ही यह जगत भी असत्य है। मिथ्या ज्ञान करके जान पड़ता है। पर विचार पूर्ण ज्ञान से शांति मिलती है। शुद्ध चैतन्यसत्ता में जब चित्त उद्वेगित होता है तब वही उद्वेग जगत रूप होकर पड़ता है। पर वास्तवमें जगत हुआ कुछ नहीं। जिस भांति समुद्र अपनी द्रवता से तरङ्ग रूप जान पड़ता है, पर तरङ्ग कोई अन्य वस्तु नहीं है, वह भी जलका रूप है, वैसे ही ब्रह्मसत्ता जगत रूप होकर जान पड़ती है। वह ब्रह्मसत्ता अपने थोड़े ही प्रभाव द्वारा ऐसे जान पड़ती है, जैसे, जैसा बीज होता है वैसे ही उसमें से अँखुये निकलते हैं। इस लिए आत्मसत्ता ही जगत रूप है, दूसरी कोई वस्तु नहीं। आत्मा ही से स्वतः स्थित है और चित्त की संवेदना से ही मिलकर जगत रूप हो गई है। हे रामजी! इसके सम्बन्ध में मैं तुमको एक आख्यान सुनाता हूँ जो श्रवण करने के योग्य है। इसके समझ लेने पर तुम्हारा सब संशय दूर हो जायगा और शांति एवं विश्राम पाओगे। यह सुनकर रामजी ने कहा कि, हे भगवन्! मेरे ज्ञान की उन्नति के लिए आप मण्डपोपाख्यान को संक्षेप में कहिए। वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी! पूर्वकाल में एक बहुत ही गुणज्ञ तेजस्वी, धर्मात्मा, सन्तानवान और मित्र प्रिय तथा प्रजाप्रिय पद्म नाम का राजा इस पृथ्वी पर राज्य करता था। उसकी स्त्री का नाम 'लीला,

कहा तब सन्ध्या का समय होगया था, जिससे सभा के सब लोग एक दूसरे को प्रणाम करके अपने-अपने स्थान को चले गए। दूसरे दिन सूर्य भगवान् के उदय होते ही फिर अपने स्थान पर कथा सुनने आ विराजे।

श्री योगवाशिष्ठ उत्पत्ति-प्रकरण का चौदहवां सर्ग समाप्त ॥ १४ ॥

-::-❀-::-

पन्द्रहवां सर्ग

मण्डपोपाख्यान राज्य-वर्णन

इस प्रकार जब समस्त श्रोतागण यथा-स्थान विराजमान हो गये, तब रामचन्द्रजी को सम्बोधन कर वशिष्ठजी बोले-हे राम जी! आत्मा में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। जो उत्पन्न हुआ जान पड़ता है, वह भ्रम मात्र है। जिस प्रकार आकाश में तारे भासते हैं, सो भ्रम हैं, उसी प्रकार अज्ञानतावश आत्मा में जगत भासता है। जिस प्रकार स्तम्भ में बिना चित्रित पुतलियाँ शिल्पकार के मनमें भासती हैं उसी प्रकार चैतन्य रूपी स्तम्भ में मनरूपी शिल्पी त्रिलोकी रूपी पुतलियां कल्पना है। पर उनकी उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है। ब्रह्मसत्ता यथा तथा स्थित है। हे रामजी! आकाश पर्वत, समुद्र और पृथ्वी आदि सहित जो कुछ जान पड़ता है, वह कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है। जब इनकी उत्पत्ति नहीं, तब अन्य पदार्थ कहा से हुए? इससे सब आकाशरूप है और वास्तव में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। इतने पर भी जो अनुभव से माना जाय तो भी असत्य है। जिस प्रकार स्वप्न की सृष्टि असत्य और असद्रूप है, उसकी उत्पत्ति की कोई वास्तविकता नहीं है, उसी प्रकार यह जगत भी असद्रूप है और शुद्ध निर्विकार सत्ता अपने आप विषे स्थित है। हे रामजी! उस निर्विकार सत्ता का परित्याग करके जो लोग अवयव और अवयवी का विवाद उठाते हैं, उनको धिक्कार है। क्योंकि यह सब जगत तो आकाशवत है पर यह जो बहुत

को बड़ी चिन्ता हुई उसने उन लोगों को विदाकर सोचा कि, "जब राजा का अमर होना कठिन है तो उनसे पहले अपना ही शरीर छोड़ने में सुख और शान्ति मिलेगी अथवा कोई ऐसा यत्न करूँ कि, यदि राजा का शरीर पहले छूटे तो उनका जीव मेरे ही अभ्यन्तर में प्रविष्ट होकर रहे, जिससे मैं प्रति क्षण उनका दर्शन किया करूँ। अतः इस मनोरथकी पूर्तिके लिए मैं सरस्वतीजी की पूजा करूँगी।"

हे रामजी! ऐसा निश्चय कर 'लीला' ने सरस्वतीजी को प्रसन्न करने के लिए ये तीनसौ दिनका त्रिरात्रि निराहार रहकर चतुर्थ दिन पारायण करने वाले महाव्रत का अनुष्ठान किया। उस व्रत में लीला ने देवता, ब्राह्मण, पण्डितों और ज्ञानियों को स्नान, दान, तप और ध्यान सहित ब्रह्मचर्य से रह कर विधि पूर्वक सत्कार किया। जब वह तीनसौ दिन पूरे होगए तब उसकी श्रद्धा और भक्ति से सरस्वती वागेश्वरी प्रसन्न होकर प्रकट हुईं और साक्षात् दिव्य रूप धारण कर बोलीं, हे देवि! तुमने अपने पति को अमर करने के लिए यह महान् अनुष्ठान किया है उससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ, वर माँगो। लीलाने कहा-भगवती, आपकी जय हो! जय हो!! हे देवि! मुझ अनाथिनी की रक्षा कीजिए, मैं आपकी शरण हूँ। देवि! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो पहला वर यह दीजिए कि जब मेरे पति की मृत्यु हो तो उनका जीव बाहर न जावे और मेरे ही अन्तःपुर में रहे। दूसरा वर यह दीजिए कि, जब मेरी इच्छा हो आप मुझे दर्शन दे दिया करें। सरस्वती ने कहा, एवमस्तु-ऐसा ही होगा। हे रामजी! यह वरदान देकर सरस्वती अन्तर्ध्यान होगई और लीला वर पाकर प्रसन्न हुई। इधर तो यह हुआ, उधर तीनसौ दिन के लीला की पृथकता से राजा पद्म की दशा शोचनीय हो गई और वह विरहाग्नि में शरीर को छोड़ चला। फिर तो उसकी मृत्यु देख रानी लीला को बड़ा क्लेश हुआ और वह दारुण विलाप करने लगी। तब उसके उस महा विलाप और बारम्बार की मूर्छा को

था जो बहुत ही सुन्दर और पतिव्रत धर्म में अटल लक्ष्मी के समान थी। उसके सौन्दर्य और गुणों पर राजा ऐसा मुग्ध रहता था कि उसे लेकर कभी कदम्बों और कभी कल्पवृक्षों और कभी सरोवरों में क्रीड़ा किया करता था। धीरे धीरे जब क्रीड़ा करने में राजा की स्पृहा अधिक बढ़ गई तब उसने कई जड़ाऊ मन्दिर और वर्णित स्थान क्रीड़ा करने के लिए बनाये और उनमें भी जाकर रानी सहित क्रीड़ा करता था। यहां तक कि बाद में वे दोनों वहां के निकटवर्ती मन्दिरों और देवस्थानों में भी जाकर क्रीड़ा कर आते थे। क्रीड़ा करने में उन दोनों को यह विचार न आता था कि अमुक स्थान कैसा है। और क्रीड़ा के योग्य है या नहीं। वे सर्वदा अपने रङ्गमें मस्त रहते थे और सबकी तथा राजसी सभी स्थानों में विचरण ही उनका ध्येय था। उस क्रीड़ा के आनन्द में वे दोनों बहुत से श्लोकों की रचना भी कर ले जाते और पुनः आपस में उत्तर प्रति-उत्तर भी श्लोक ही में करते थे। उनके श्लोक साधारण न थे बल्कि मूल में तो वह भाषा के रूपमें रहते और अर्थ संस्कृतमें होते थे।

इस भांति जब दोनों का प्रचुर स्नेह कुछ समय तक व्यतीत हुआ, तब 'लीला-रानी' ने सोचा कि, राजा मुझे बहुत प्रिय है और उसके स्नेह से मैंने बड़ा सुख लाभ किया, इस लिए ऐसा कोई यत्न अथवा यज्ञ, तप, दानादि करना चाहिये कि राजा की युवावस्था सदैव इसी भांति बनी रहे और कभी मेरा इनका वियोग न होवे। ऐसा विचार दृढ़ कर लीला उसकी पूर्ति में चिन्तित रहती थी कि, एक दिन उसके यहां संयोगवश कुछ ब्राह्मण और ऋषि मुनि आए। तब उनका सत्कार कर लीला ने पूछा कि, हे मुनीश्वरो! क्या आप लोग कोई ऐसी युक्ति बतला सकते हैं कि मनुष्य अमर हो जावे और कभी उसकी मृत्यु न हो? मुनियों ने कहा— हे देवि! जप, तप और दानादि से सिद्धियाँ भले ही मिल जाँय पर अमर होना अत्यन्त कठिन है। मुनियों की ऐसी वाणी सुनकर लीला

जब तू चिदाकाश में स्थित होगी, तब समस्त ब्रह्मांड तुझको जान पड़ेगा, क्योंकि उसी में सब प्रतिबिम्बित होते हैं। तेरा पति वहीं गया है और समस्त जगत भी वहीं जाता है, वहीं तुझे पतिका दर्शन होगा। हे पुत्री! यह संवित देश से देशान्तर को क्षणमात्र में चलाजाता है और उसके बीच जो अनुभव आकाश है वही चिदाकाशहै। जब तू संकल्पको त्याग देगी और उससे जो शेष होगा, वही चिदाकाश है। हे सुन्दरी! इस पृथ्वी पर विचरण करने वाले समस्त जीव पृथ्वी के ही आश्रय में रहते हैं और पृथ्वी आकाश के आश्रय में रहती है। इस कारण यह समस्त जीव जो विचरते हैं वह भूताकाश के आश्रय से विचर रहे हैं और चित्त एक क्षत्र में जिसके आश्रय से देश देशान्तर में भटकता है वह चित्ताकाश है। हे लीले! दृश्य के अभाव होने पर परमपद की प्राप्ति होती है। मेरा वरदान तुझको शीघ्र प्राप्त होगा। हे राघव! ऐसा कहकर भगवती अन्तर्ध्यान हो गईं और रानी लीला समाधि लगाकर ब्रह्मांड के प्राण को ऊपर निकाल आकाश को उड़ गई। फिर तो जिस प्रकार पक्षी अपने घोंसले से उड़कर आकाश को चल देते हैं, उसी प्रकार वह रानी भी चिदाकाश को उड़ी और एक क्षण में आकाश को पहुँच गई। वहां पहुँच कर उसने परम शांतिरूप और सबको अधिष्ठान रूप जो है उसमें साथ ले गये हुये अपने स्पंद कल्पना से पति को देखा। वहां उसने बहुत से मण्डलाधीशों को सिंहासनारूढ़ देखा और यह भी देखा कि मेरा पति एक सिंहासन पर आकाश में विराजमान है। वहां चारों ओर से ऐसा शब्द हो रहा था कि, हे राजा! तुम्हारी जय हो, जय हो और तुम बहुत दिन तक जीवो। इस भांति लीलाने वहां बहुत से मन्दिरों को देखा और यह भी देखा कि राजा के पूर्व दिशा में वहां बहुत से ब्राह्मण, मुनीश्वर लोग बैठे हुए तुमुल ध्वनि से पाठ कर रहे हैं। जब लीला ने दक्षिण दिशा में देखा तो उधर बहुत सी सुन्दर स्त्रियाँ विविध प्रकार के वस्त्र आभूषण पहने हुए बैठी हैं,

जानकर देवी सरस्वती ने आकाशवाणी की कि हे लीले ! पति की मृत्यु से शोक न कर और उसके शवको पुष्प मालाओं से भली भांति ढककर सुरक्षित रख। तुझे तेरा पति फिर मिलेगा और वह पुष्प भी ज्यों का त्यों रहेगा। तेरा पति कहीं नहीं गया है और जिस प्रकार आकाश की कान्ति निर्मल है, उसी प्रकार तेरा पति तेरे ही मन्दिर में विद्यमान है, कहीं अयन्त्र नहीं गया है।" हे रामजी ! सरस्वती की ऐसी आकाशवाणी सुनकरजिस प्रकार जलबिना तड़पती हुई मछलीको जल वर्षा से शांति मिल जावे, उसी प्रकार लीला कुछ शान्त होगई परन्तु जिस भांति धनी मनुष्य को कृपणता के नाते धन का सुख नहीं मिलता,उसी भांति केवल आकाशवाणीसे लीला को शान्ति न मिली और अपने पति के दर्शनों की लालसा से दुखी होकर पति के शव को पुष्प मालाओं से ढंक कर वहीं बैठकर फिर विलाप करने लगी। इसी क्षण लीलाने भगवती सरस्वती का स्मरण किया जिससे देवी आ प्रकट हुईं और बोलीं—हे सुभगे ! तूने किस लिए मेरा स्मरण किया और इतना शोक क्यों करती है ? क्या नहीं जानती कि,यह जगत भ्रांति-मात्र है। हे सुन्दरी ! जिस प्रकार मृग तृष्णा की नदी होती है, उसी प्रकार यह जगत भी है। मैं, तुम और वह से लेकर आदि पर्यन्त जो जगत जान पड़ता है, सब केवल कल्पना और भ्रम होने से ही जान पड़ता है। नहीं तो आत्मा में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। फिर तू किसके लिए शोक कर रही है। लीलाने कहा--हे भगवती! इस समय मुझे कुछ ज्ञान नहीं है। मेरा पति कहां है और उसने कौनसा रूप धारण किया है, यही देखने की मुझे उत्कण्ठा है। उनसे मिले विना अब मैं अपने जीवन को नहीं देख सकती। देवी ने कहा—हे लीले ! आकाश के तीन नाम हैं। पहला भूताकाश, दूसरा चित्ताकाश और तीसरा चिदाकाश। यह तीनों क्रमशः एक दूसरे के आश्रय हैं। तेरा पति इस समय चिदाकाश में पहुँचा है और चिदाकाश चित्ताकाश के आश्रय में है। इससे

सोलहवां सर्ग

संदेह-राष्ट्र वर्णन

हे रामजी ! इस भाँति वहाँ के वृहत् समागम को देखकर लीला को बड़ा आश्चर्य हुआ, उसे यह शङ्का हुई कि, हमारा पति ही मरा है या जो लोग परलोक में आए हैं वे दुखी हैं अथवा सम्पूर्ण नगरके लोग मर गए हैं । उसी समय लीलाने देखा कि मध्याह्नकालके सूर्यकी नाईं तेज धारण किए सोलह वर्षका राजा पहले की जरावस्था को त्याग कर नवीन शरीर धारण करके आ बैठा है । ऐसा आश्चर्य देख रानी फिर अपने गृह चली । तब क्या देखा कि, आधी रात का समय है और उसकी सब सखियां सोई हुई हैं । लीला ने उनको जगाते हुए कहा, जिस सिंहासन पर पति देव बैठते थे उसको साफ कर आये । और जिस पर मैं बैठती हूँ और जिस पर मन्त्री व दास आदि बैठते थे उनको भी साफ कर आओ । ऐसा सुनकर सहेलियों ने बड़े मन्त्री से कहा और उस मन्त्री ने सबको जगाया । फिर तो उन सबों ने सिंहासन को खूब झाड़ कर मेघ की नाईं उस पर जल बरसाया और सुखाकर उस पर वस्त्र बिछा दिया । फिर सिंहासन के चारों ओर वस्त्र बिछाकर बड़ी-बड़ी मसालें जलाईं जिससे बड़ा प्रकाश हुआ और अन्धकार का नाश होगया । तब मन्त्री, सेवक, पण्डित, ऋषीश्वर और ज्ञानी लोग वहां सिंहासन के निकट यथा-स्थान आकर बैठ गए फिर तो वहां इतने लोग आकर जमा होगये मानो प्रलयकाक में समुद्र को क्षोभ हो गया और जल से पूर्ण प्रलय होकर मानो अनन्त सृष्टि की उत्पत्ति हुई ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का सोलहवां सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

—:❀:—

तथा राजा के उत्तर दिशा की ओर हाथी, घोड़े, रथ और सिपाहियों की अपार सेना डटी है और पश्चिम की ओर अनेक मण्डलाधीश विराजमान हैं। ऐसी उपस्थिति देखकर लीला को बड़ा आश्चर्य हुआ। फिर लीला ने वहां पर नगर और प्रजागण को भी देखा जो अपने सब व्यवहारों में स्थित थे। यह सब कुछ देखकर लीला राजा की सभा में ऐसे जा बैठी कि उसे कोई देख न सका और वह सबको देखती थी। वहां बैठ कर रानी ने देखा कि उसके अभ्यान्तर में देव-मन्दिर और ठाकुर बाड़ियां बनी हैं और देवताओं की पूजा विधि-पूर्वक हो रही है। वहाँ से गन्ध, धूप, मिली हुई वायु त्रिलोकी को मग्न कर रही थी और राजा का यश चन्द्रमा सदृश प्रकाशित हो रहा था। उसी समय पूर्व दिशा की ओर से एक हरकारे ने आकर कहा कि, हे राजन्! पूर्व दिशा की ओर में किसी और राजा को क्षोभ हुआ है और आपके मण्डलेश्वर युद्ध कर रहे हैं। फिर उत्तर दिशा की ओर से एक हरकारा आया और उसने कहा—हे राजन्! उत्तर दिशा में किसी राजा को क्षोभ हुआ है और आपके मण्डले--श्वर युद्ध कर रहे हैं। उसी प्रकार दक्षिण की ओर से भी एक हरकारे ने आकर कहा कि किसी राजा को क्षोभ हुआ है। फिर पश्चिम दिशा से भी एक हरकारे ने आकर वैसे ही कहा। वह कह ही रहा था कि एक दूसरे ने आकर कहा कि सुमेरु पर्वत पर जो देवतागण रहते हैं, तहाँ भी एक क्षोभ हुआ है। फिर अस्ताचल पर्वत से आए हुए एक हरकारे ने कहा कि, अस्ताचल में क्षोभ हुआ है। तब राजा की आज्ञा से बहुत सी सेना वहां आई और जितने मन्त्री थे और नद आदिक जितने टहलुए थे, सब वहां ऋषियों और मुनियों के सहित आ इकट्ठे हुए। उन भृत्यों के वस्त्र बहुत साफ थे और उनकी बोलियों से ऐसा शब्द हो रहा था कि, उस शब्द के आगे नगारों का शब्द न्यून था।

श्री योगवाशिष्ठ उत्पत्ति-प्रकरण का सातवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥

धारण करेगी तभी जलको उठा सकती है। फिर आप कैसे कहती हैं कि कारण से अल्प कार्य की सत्ता नहीं होती। देवी ने कहा—हे लीले! तुम्हारा यह कहना ठीक है, पर कारण से अन्य कार्य की सत्ता तब होती है, जब उसको भिन्न-भिन्न सहकारी मिलते हैं। जब सहकारी न मिलेंगे तब कारण से अन्य कार्य की सत्ता न होगी। तेरे पति की जो सृष्टि है वह विना कारण भासती है। उसका जीव संवित आकाश रूप था। जहां न कोई समवायि कारण और न निमित्त कारण ही है। फिर उसको कृत्रिम कैसे कहा जाय? यदि किसी ने किया हो तो अवश्य कृत्रिम हो पर जो आकाश रूप और पृथ्वी आदिक तत्वों से भी रहित है वह कृत्रिम कैसे? इसलिए जो वस्तु समवाय कारण नहीं है, उसका निमित्त कारण भी नहीं है। अतएव तेरे पति का सर्ग विना कारण है। इस पर लीला ने पूछा कि, हे देवि! जब ऐसा ही है तव उस सर्ग (जगत) की स्मृति संस्कार का कारण क्यों नहीं है? सरस्वती जी ने कहा—हे लीले! स्मृति क्या वस्तु है। यह तो आकाश रूप है। क्योंकि यह स्मृति शब्द संकलिपत नाम है और वह संकल्प आकाशवत है। इसमें कोई वस्तु नहीं, वह मनोराजरूप है और इसी से उसकी कोई वास्तविकता नहीं है। वह केवल अभ्यासरूप है। लीला ने कहा—हे भगवती! संकल्पमात्र आकाश रूप होने पर भी वह आकाश रूप है और यहाँ जहाँ कि, हम तुम दोनों बैठे हैं, वह भी आकाश रूप है। इससे दोनों ही समान हैं। सरस्वती ने कहा—हे लीले! जैसा तुम कहती हो वैसेही है। मैं, तुम, वह और यह सम्पूर्ण जगत निस्सन्देह आकाशरूप है और भ्रम मात्र जान पड़ता है। वास्तव में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है, सब आकाश रूप है। इसके स्वरूप की कोई सद्भावना नहीं। क्योंकि यदि पदार्थ ही सत्य नहीं है तो उसकी स्मृति कैसे सत्य हो सकती है। लीला ने कहा—हे देवि! मेरा पति तो मूर्ति रहित था पर अब मूर्तिवत होकर उसे जगत कैसे जान पड़ने

सत्रहवाँ सर्ग

सकल-जगत-भ्रान्ति-प्रतिपादन

वशिष्ठजी बोले–इस प्रकार जब सिंहासन के चारों ओर सब लोग आकर बैठ गए और राजा न आया तब लीला रानी को बड़ा दुःख हुआ। वह विधि की विडम्बना पर आश्चर्य करती हुई उलटे पांव अपने पूजा गृह में लौट गई और ध्यानावस्थित होकर सरस्वती जी का स्मरण करने लगी। उसी क्षण कन्या रूप धारण कर सरस्वती जी प्रकट हुईं तब लीला ने कहा– हे देवि ! मैं आपका बारम्बार स्मरण करके आपको कष्ट देती हूँ, और पूछती हूँ, इस पर आप उद्विग्न न हों और मुझे क्षमा करें। क्योंकि शिष्य के बारम्बार पूछने पर बड़े लोग खेद नहीं प्रकट करते। उनका स्वभाव बड़ा उदार होता है। इससे हे देवि ! मैं पूछती हूँ कि यह जगत क्या है और वह जगत क्या है ? इन दोनों में कृत्रिम कौन है ? अथवा इनमें बनावटी कौन है ?

सरस्वती जी ने उत्तर दिया–हे लीले ! तुम्हारा प्रश्न यह है कि अकृत्रिम (असली) कौन है और अकृत्रिम (नकली) कौन है। सो इसका उत्तर मैं बाद को दूंगी। लीला ने कहा–हे देवि ! मेरे समझ से तो यहां हम और आप जो बैठे हैं सो अकृत्रिम हैं और वह जहां कि मेरे पति का स्वर्ग है वह कृत्रिम है। क्योंकि वह सृष्टि शून्यावस्था में हुई है। इस पर देवी ने कहा–हे लीले ! कारण के अनुरूप ही कार्य होता है। यदि कारण सत्य है तो कार्य भी सत्य होता है न कि असत्य और असत्य से सत्य भी नहीं होता। कारण से अन्य रूप का कार्य नहीं होता। इससे जैसा यह जगत है वैसाही वह जगत भी है। लीला ने कहा–हे भगवती ! कारण से अन्य, कार्य सत्ता होती है। क्योंकि मिट्टी जल को नहीं उठा सकती जब तक कि वह घड़े के रूप में न बना ली जाय। जब वह घट का रूप

कि, वस्त्राभूषणों से अलंकृत एक सुन्दर राजा अपने परिवार सहित आखेट के लिये पर्वत के सन्निकट मार्ग से जा रहा था। उसके साथ हाथी, घोड़े, रथ और पदल चारों प्रकार की सेना थी और सेवकगण उसके शिर पर दिव्य चमर डुला रहे थे। उसकी सेना की चाल से पृथ्वी धूल से ढक कर आकाश मार्ग को अन्धेरा बनाये हुए थी। तब नौबत और नगरों के वाद्य को सुनकर और राजा की सवारी जाते हुए देखकर वशिष्ठ ब्राह्मण अपने मन में विचारने लगा कि राजाओंको बड़ा सुख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि जीव बड़े भाग्य से राज-कुल में उत्पन्न होता है। यदि मुझे भी राज्य मिल जाता तो बड़ा अच्छा होता। ऐसा विचार कर वह आकांक्षा करने लगा कि मैं कब संसार-विजयी होऊँगा और यश से दशों दिशायें कब पूर्ण होंगी कि ऐसा ही छत्र मेरे भी शीश पर होगा और उस पर चँवर ढुरेगी। अथवा सुन्दर राजसदन में सुन्दर स्त्रियों के साथ में कब विलास करूँगा और सुगन्ध आदि के पदार्थ कब सेवन करने को प्राप्त होंगे। हे लीले! ऐसा सङ्कल्प धारण करके निज कर्मों को करता हुआ उस ब्राह्मण ने बहुत काल पर्यन्त जरावस्था को प्राप्त किया। फिर तो जिस प्रकार कमल पुष्प ओलों के पड़ने से झुलस जाते हैं, उसी प्रकार उस ब्राह्मण का शरीर झुलस गया और मृत्युदेव निकट आ पहुँचे। तब मृत्यु को निकट देखकर उसकी स्त्री बहुत दुखी हुई और जिस प्रकार तुमने स्मरण किया उसी प्रकार उसने भी अनुष्ठान करके मेरा स्मरण किया और अपने पतिको अजर-अमर होने के लिये वर माँगा। तब मैंने तेरे ही अनुरूप उसे भी वर दिया। फिर बहुत काल पर्यन्त उस ब्राह्मण की मृत्यु हुई और उसका जीव मन्दिर में ही रहा। जिस प्रकार मन्दिर में आकाश रहता है उसी प्रकार वह मन्दिर में पड़ा रहा। हे लीले! आकाश रूप होने पर उसकी पुर्यष्टकमें राजा का जो पूर्व दृढ़ सङ्कल्प विद्यमान था, उसके कारण जिस प्रकार बीज से अंकुर निकलता है, उसी प्रकार सङ्कल्प आफुरा

लगा ? उसका कोई स्मृति कारण है या किसी अन्य प्रकार से यह मेरे दृश्य भ्रम निवृत्ति के लिए मुझको वही रूप महित हुआ है। देवी ने कहा हे लीले ! यह और वह सर्ग दोनों ही भ्रमरूप हैं। यदि यह सत्य होता हो इसकी स्मृति भी सत्य होती पर यह तो स्वयम् असत्य रूप है ? जिस प्रकार यह भ्रम तुमको जान पड़ता है, वह सुनो। एक महाचिदाकाश है और उसका किञ्चन चिदूअणु है और उसके किसी अंशमें जगत रूपी वृक्ष है और सुमेरु उस वृक्षका स्तम्भ है और सप्तश्लोक शाखायें हैं, शिखा आकाश है, सप्त समुद्र उसमें रस है और तीनों लोक फल हैं। उसमें सिद्ध, गन्धर्व, देवता मनुष्य, दैत्यरूप मच्छर हैं, तारागण इसके फूल हैं और उसी वृक्ष के किसी छिद्र में एक देश है और उसमें एक पर्वत है। उस पर्वत के नीचे एक नगर बसता है। वहाँ एक नदी का प्रवाह प्रवाहित होता है। उस स्थान पर वशिष्ठ नाम का एक ब्राह्मण जो कि बड़ा धर्मात्मा अग्नि होत्री धन और विद्या में भरपूर था-निवास करता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा,उत्पत्ति-प्रकरण का सत्रहवां सर्ग समाप्त ॥ १७ ॥

—::-❀-::—

अठारहवाँ सर्ग

ब्राह्मण मरण वर्णन

हे लीले ! वशिष्ट-ब्राह्मण विद्या, कर्म, धन और पराक्रम में आदि वशिष्ठ मुनिके समान था पर जैसा खेचर-वशिष्टका ज्ञान है वैसा भूचर वशिष्ठ का ज्ञान न था। उसकी भी स्त्री का नाम अरुन्धती था और वह भी पति परायणा और महासुन्दरी थी। विद्या, कर्म, कान्ति, धन, चेष्टा और पराक्रम में भी उसी अरुन्धती के समान थी। ज्ञान और चैतन्य आदि लक्षण भी उसी के समान था। भेद इतना ही था कि वह आकाश की अरुन्धती थी और यह पृथ्वी की। एक समय वह वशिष्ठ ब्राह्मण हरी-हरी घासों में एक पर्वत पर बैठा था

लीला रानी की ऐसी बात सुनकर देवी सरस्वती ने कहा—हे लीले ! यह मैंने असत्य नहीं कहा है। क्योंकि आदि परमात्मा का यह नियम और नीति है कि महान् व्यक्ति असत्य नहीं बोलते। इससे हम भी असत्य नहीं भाषण करतीं, हम तो धर्मका ही प्रतिपादन करती हैं और जहां धर्म की हानि होती है वहाँ हम प्रतिपादन नहीं करतीं। क्योंकि यदि हमीं धर्म का पालन न करेंगी तो और कैसे मानेंगे? इस लिए हे लीले ! जिस प्रकार निद्रित को स्वप्न में त्रिलोकी भास आती है और वह अन्तःकरण में ही होती है और जैसे स्वप्न से जाग्रत होता है, उसी प्रकार मृत्यु को भी जानो। जब प्राणी की मृत्यु हो जाती है तब जो पुर्यष्टक जीव है वही आकाशरूप हो जाता है। फिर वासना के अनुसार उसको जगत जान पड़े ऐसा न लगता है। जिस प्रकार स्वप्न में जगत जान पड़ता है और फिर आकाश रूप हो जाता है, उसी प्रकार इसको भी जानना चाहिये। हे लीले ! यह समस्त जगत तेरे उसी अन्तःपुर में स्थित है। क्योंकि उसकी स्थिति चित्ताकाश में स्थित है। जिस प्रकार सिद्धान्त में केवल छाया मात्र शेष है, उसी प्रकार चित्ताकाश में जगत स्थित है। हे लीले ! यह जगत जो तुमको जान पड़ता है, वह आकाशरूप है। जिस प्रकार स्वप्नपुर जान पड़ता है, सङ्कल्प पुर जान पड़ता है और जिस प्रकार आख्यान का अर्थ जान पड़ता है, उसी प्रकार यह जगत भी है। जिस प्रकार मृग-तृष्णा का जल है, उसी प्रकार इस जगत को भी जान। क्योंकि वास्तव में कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं हुआ है, केवल भ्रम से जान पड़ता है। जिस भांति स्वप्न से स्वप्नान्तर जान पड़ता है, फिर और स्वप्न देखता है, उसी प्रकार तुमको यह सृष्टि-भ्रम जान पड़ता है। नहीं तो यह जगत आत्मरूप है। क्योंकि जहाँ चिद् अणु है वहाँ जगत भी है। पर उसका रूप केवल आभास रूप है। जिस प्रकार यह आकाश रूप है, उसी प्रकार जगत भी आकाश रूप है। जैसे २ यह चेता है, उसी २ प्रकार जान पड़ता है, इससे यहाँ केवल सङ्कल्प

और उसी से वह अपने को त्रिलोकी का राजा एवम् परम सौभाग्य शाली देखने लगा। तब उसको ज्ञात हो गया कि, दिशायें मेरे यश से परिपूर्ण हो रही हैं। हे लीले ! उस ब्राह्मण को तो ऐसा आनन्द मिला पर उसकी स्त्री को मृतक देखकर बहुत क्षोभित रहा करती थी फिर तो नित्यशः शोकित रहने के कारण यह परिणाम हुआ कि, एक दिन उसने भी शरीर त्याग दिया और अपने पति से वैसे ही जा मिली जैसे कि वेगवती नदियाँ समुद्र में जा मिलती हैं। उस ब्राह्मण के कई पुत्र थे। अन्त में वही सब धन के स्वामी हुए। अभी उस ब्राह्मण को मरे हुए कुल आठ दिन हुए हैं। अब यही वशिष्ठ ब्राह्मण तेरा पति राजा पद्म होकर तुझे मिला है और अरुन्धती उसकी स्त्री तू लीला होकर उसे मिली है। इससे जो कुछ भी स्थावर जङ्गमरूपी त्रिलोकी है, वह सब वशिष्ठ ब्राह्मण के अन्तःपुरमें एक अणु में स्थित है। वहाँ का अभी केवल आठ दिन व्यतीत हुआ है और सूतक भी अभी नहीं गया है. पर वहाँ आठ दिन तेरे लिए साठ सहस्र वर्ष का हुआ है और तूने इतने अधिक दिन तक राज्य करके कोटिशः सुखों को प्राप्त किया है। हे लीले! तेरे जन्म की पूरी कथा मैंने कह दी। इससे जितना कुछ जगत तुझको जान पड़ता है, सब आभास मात्र है। केवल संकल्प मे ही प्रकट होता है। नहीं तो इसकी कोई वास्तविकता नहीं है। हे लीले ! जब यह जगत सत्य नहीं तब इसकी स्मृति सत्य कैसे ? हम तुम और सब उस ब्राह्मण के मन्दिर में स्थित हैं। लीला ने कहा—हे भगवती ! आपके वचन को असत्य कहने की मेरी सामर्थ नहीं। पर आपने जो कहा है कि उस ब्राह्मण का जीव अपने गृह में ही रहा और जहाँ हम और आप बैठे हैं और देश देशान्तर, पर्वत, समुद्र लोक और लोकपालादि सब जगत उसी गृह में है सो आश्चर्य है कि उसमें इन सबका समावेश कैसे ? आपका यह वचन तो ऐसा ही है जैसा कि घुँघची के दानेसे मस्त हाथी बांधा हुआ है और मच्छर तथा सिंहों का युद्ध हो रहा है।

जगत भी जान पड़ता है। जैसे स्वप्न में द्रष्टा, दर्शन, दृश्य जान पड़ते हैं, वैसे ही आत्मसत्ता में यह जगत किञ्चन होता है। नहीं तो वास्तव में कुछ हुआ नहीं। जिस प्रकार स्वप्न में अकारण ही नाना प्रकार का जगत जान पड़ता है, उसी प्रकार परलोक में भी नाना प्रकार का जगत बिना कारण ही आकाशवत हो केवल भ्रम से भासित होता है। स्वप्न-जगत, परलोक-जगत और जाग्रत-जगत में कोई अन्तर नहीं है। जिस प्रकार वह भ्रम—मात्र है, वैसे ही यह भी भ्रम—मात्र है। वास्तव में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। जिस प्रकार समुद्र की तरङ्ग में कोई वास्तविकता नहीं, उसी प्रकार आत्मामें जगत की कोई वास्तविकता नहीं है और असत्य ही सत्य के सदृश जान पड़ता है। अतः जिस कारण से वह उत्पन्न नहीं हुआ, उसी कारण से वह अविनाशी है। हे लीले ! जिस प्रकार चैतन्योन्मुखत्व होने पर चेतन रूपी आकाश जान पड़ता है, वैसे ही चेत्यता में भी चेतन का रूप आकाशवत है। क्योंकि वह कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। केवल समुद्र में तरङ्ग के समान ही आत्मा और जगत का सम्बन्ध है। नहीं तो आत्मा में जगत कुछ अन्य वस्तु नहीं। जिस प्रकार खरगोशको सींग का होना असत्य है, उसी प्रकार जगत असत्य मिथ्या है। बल्कि यों कहना चाहिये कि समुद्र और उसकी तरङ्ग के सदृश ही आत्मा और जगत का सम्बन्ध नहीं है। हे लीले ! जिस प्रकार मृत्यु कालमें मनुष्यको बिना कारण ही नाना प्रकार का मोहक्षण-क्षण में धर लेता है और उस क्षण में जो कुछ भी जान पड़ता है, उसी प्रकार बिना कारण ही यह जगत जान पड़ता है। इससे न कोई द्रष्टा है न देश, न काल, न क्रिया, न द्रव्य, न देह, न इन्द्रियां, न प्राण, न मन और न बुद्धि, यह सब कुछ भ्रमसे ही जान पड़ते हैं। अन्यथा आत्मा इन उपाधियोंसे परे और आकाश रूप है। इसी के प्रमाद से जगत-भ्रम उदय होता है। हे लीले ! भ्रम के कारण ही तो राजा हरिश्चन्द्र को एक रात्रि बारह वर्ष के

है। जिस प्रकार यह पुर जान पड़ता है और स्वप्न नगर होता है, उसी प्रकार यह जगत है। जैसे मरुस्थल की नदी की तरङ्ग होती है, वैसे ही यह जगत जान पड़ता है। इसलिये तू इसकी कल्पना त्याग दे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा-उत्पत्ति प्रकरण का अठारहवां सर्ग समाप्त ॥ १८ ॥

::-❀-::

उन्नीसवां सर्ग

परमार्थ–प्रतिपादनम्

सरस्वतीजी के ऐसे कथन को सुनकर लीला रानी ने कहा–हे भगवती आप कहती हैं कि,इस वशिष्ठ ब्राह्मण को मरे हुए केवल आठही दिन हुए और मेरे लिये वही साठ सहस्त्र बीत गये, इससे आपकी वार्ता को मैं सत्य किस प्रकार जानूँ ? भला उस थोड़े समय को बहुत अधिक समय कैसे हो गया सरस्वती जी ने उत्तर दिया कि, हे लीले ! जिस प्रकार छोटे देश में बड़े देश भी आकर मिल जाते हैं, वैसे ही थोड़े काल में बड़ा काल भी आ जाता है। अहङ्कार और ममता सहित जो कुछ भी जगत है, सब आभास मात्र है । अब मैं क्रम पूर्वक उसीका वर्णन कर रही हूँ, तू ध्यान देकर सुन। हे लीले ! पहले मरण समय में मूर्छा आती है और मूर्छा के बाद चैतन्यता आती है। तब उससे यह जान पड़ता है कि, वह एक आधार है तो दूसरा आधेय है। उस समय यह जान पड़ता है कि, यह मेरा हाथ है, यह मेरा शरीर है, यह मेरा पति है, इसका मैं पुत्र हूँ । इतने वर्ष का मैं हुआ, वह मेरे भाई हैं, इनके साथ मैं प्रेम करता हूँ, यह मेरा घर है और यह सब मेरा बहुत दिन से चला आता है । इस प्रकार मृत्यु के समय प्राणी इतने क्रम को देखता है। हे लीले ! जिस प्रकार वह देखता है, उसी प्रकार यह भी जान। यह जगत चेतना का किंचन है । जिस प्रकार चेतन संवित्ति में चेत्यता है, उसी प्रकार यह

वस्तु किसी से उत्पन्न नहीं हुई है। इससे यह जगत बिना कारण और ब्रह्म मय है। उस विदूरथ (सूर्यवंशी एक राजा) की सृष्टि सहित सब सङ्कल्प मात्र है। यह सुनकर लीला ने प्रश्न किया कि हे भगवती ! यदि यह सृष्टि केवल सङ्कल्प रूप है तो विदूरथ की सृष्टि इस सृष्टि के संस्कार से हुई है और यह सृष्टि उस ब्राह्मण और ब्राह्मणी की स्मृति संस्कार से हुई है। फिर ब्राह्मण और ब्राह्मणी की सृष्टि किस स्मृति से हुई ? देवी ने उत्तर दिया कि, लीले ! यह तो सत्य है कि, वशिष्ठ ब्राह्मण की सृष्टि उसके सङ्कल्प में हुई और ब्रह्म ब्राह्मण में फुरा। पर वास्तव में ब्राह्मण उत्पन्न नहीं हुआ। इससे उसकी सृष्टि को क्या कहूँ ? इस प्रकार की जितनी भी सृष्टियाँ हैं वह उसी ब्राह्मण के मन्दिर में वास्तव में हैं कुछ हुई नहीं हैं। सब सङ्कल्प–रूप हैं और मन के फुरने से भासती हैं। जैसे २ सङ्कल्प फुरता है वैसे वैसे यह भासता है। इसी भाँति तेरे पति की सृष्टि उसके संकल्प की भावना से भास आई है। लीला ने कहा–हे देवि ! जिस ब्राह्मण को मरे उस सृष्टि में अभी आठ दिन हुए, यदि मैं उसको देखना चाहूँ तो कैसे देख सकती हूँ। देवी ने कहा–हे लीले ! वह सृष्टि तो केवल योगाभ्यास द्वारा देखी जा सकती है, अन्यथा नहीं क्योंकि वह सृष्टि चिदाकाश में फुरती है। इससे जब तू चिदा-काश के सम्बन्ध में पूर्ण अभ्यास करे तो भले ही वह सृष्टि मुझे जान पड़ेगी। क्योंकि वह सृष्टि तो किसी और के ही संकल्प में फुरती है जब तू उसके सङ्कल्पमें प्रविष्ट होगी तब वह तुझे दिखलाई पड़ेगी। जिस प्रकार दूसरे के स्वप्न को दूसरा नहीं जान सकता, उसी प्रकार दूसरे की सृष्टि नहीं भासती इससे जब तू अन्तवाहक रूप हो जायगी तब उस सृष्टिको देखेगी, नहीं तो आदिभौतिक व पञ्च तत्वों वाले शरीर में तेरा जब तक अभ्यास है, तब तक उसको न देख सकेगी। क्योंकि निराकर को निराकार ही ग्रहण करता है, आकार नहीं। आधि–भौतिक शरीर तो भ्रम है जब इसको त्याग कर चिदाकाश सत्ता में

समान जान पड़ी थी। उसी प्रकार यहां भी थोड़े ही काल में बहुत काल जान पड़ता है। दोनों अवस्था में इसको और का और जान पड़ता है। स्वप्न में भी कुछ अन्य जान पड़ता है और उन्मत्त होने पर भी कुछ-का-कुछ जान पड़ता है। वह अपने को भोला और अभोला दोनों ही मानता है और भ्रम के नाते ही उत्साह और शोक को एकत्रित देखता है। किसी को उत्साह होता है और कोई स्वप्न में मृतकभाव और शोक को ही देखता है और वही भ्रम बिछुड़े हुए को स्वप्न में मिला देता है। इससे जो कुछ है सब भ्रम-स्वरूप है। परन्तु सब में ब्रह्म की सत्ता है, उससे परे कुछ नहीं है। इसी से यह बन्ध, मोक्ष भी कुछ नहीं है। जिस प्रकार मिर्च में तिक्तरस है, उसी प्रकार आतमा में जगत है और जिस भांति स्तम्भ में पुतलियां हैं उसी प्रकार आतमा में जगत है। फिर जैसे२ स्तम्भ में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ वह ज्यों-का-त्यों है, उसी प्रकार ब्रह्म में जगत कुछ नहीं है। बल्कि मन रूप शिल्पी ने जगत रूपी पुतलियों की कल्पना की है। अन्यथा आतमसत्ता ज्यों की त्यों अजर-अमर होकर अपने आप में स्थित है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का उन्नीसवां सर्ग समाप्त ॥ १९ ॥

-::-❀-::-

बीसवां सर्ग

विश्रान्ति वर्णन

देवी ने कहा—हे लीले ! जब प्राणी को मृत्यु समय मूर्छा होती है तब उसको जन्म, देश, काल, क्रिया, द्रव्य और अपना परिवार आदि नाना प्रकार का जगत भासने लगता है। पर वास्तव में वह कुछ है नहीं। यहां तक कि, उसकी स्मृति (स्मरण शक्ति) भी असत्य है। स्मृति दो प्रकार की होती है। एक तो अनुभव स्मृति और दूसरी बिना अनुभव स्मृति, पर दोनों ही असत्य हैं। क्योंकि कोई भी

सब कुछ है तब इसमें कलना क्या वस्तु है? देवी ने कहा-हे लीले! जिस प्रकार सुवर्ण में भूषण कुछ नहीं और सीप में रूपा कुछ नहीं तथा रस्सी में सर्प नहीं है, उसी प्रकार कलना भी कुछ वस्तु नहीं है। केवल अद्वैत आत्म सत्ता ही सहज में स्वतः स्थित है। पर उसमें जो नानात्व (अनेकता) भासती है, वह केवल भ्रम है। नहीं तो अपना आप एक अनुभव सत्ता है। लीला ने कहा—हे भगवती! यदि अनुभव सत्ता और अपना आप है तो मैं इतने काल तक क्यों भ्रमती रही? देवी ने कहा—हे लीले! तू अपने अविचार से भ्रम रही है। यदि विचार करे तो भ्रम शान्त होजायगा। भ्रम और विचार दोनों ही तुझसे उत्पन्न हुए हैं। जब तुझे अपने विचार का ज्ञान होगा तब भ्रम छूट जायगा। क्योंकि विचार से ही भ्रम का नाश होता है। जिस प्रकार रस्सी को जान लेने पर सर्प का भ्रम नष्ट हो जाता है और सीपी जान लेने से रूपे का भ्रम नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा को पहिचान लेने पर आधिभौतिक भ्रम नष्ट हो जाता है। दृश्यों का अभाव होने पर ही दृढ़ वैराग्य होता है और तभी आत्म-स्वरूप का अभ्भास होने पर आत्माका साक्षात्कार होता है। और तभी भ्रम शान्त होकर कल्याण होता है। हे लीले! दृश्य रूपी जगत में वैराग्य होने पर ही वासना का नाश होता है और वासना का नाश होने पर ही शान्ति मिलती है। इससे तू जगत-भ्रम शान्त होने के लिए पहले आत्म सत्ता का अभ्यास कर क्योंकि भ्रम कोई वस्तु नहीं है। यह शरीर भी तो केवल भ्रम है, कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है। जिस प्रकार रस्सी को जान लेने पर सर्प का भ्रम नाश होजाता है, उसी प्रकार आत्मा को जान लेने से शरीरादि का अभाव हो जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति—प्रकरण का बीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २० ॥

—❀—

इस प्रकार स्थित होवे कि, जिस प्रकार पक्षी अपने घोंसलों को छोड़ कर आकाश में उड़ जाते हैं और इच्छानुकूल स्वतंत्र होकर जहां चाहते हैं विचरते हैं, उसी प्रकार चित्त को एकाग्र करके,-तू इस शरीर का परित्याग कर दे और योगासन से आत्मसत्ता में स्थित होकर सब आवरण से रहित होकर जहां इच्छा करे वहां चली जा। फिर तू जो कुछ भी देखना चाहेगी, वह देखेगी। हे लीले! हम उसी आकाश में सर्वदा स्थित हैं। इससे हमको आवरण रोक नहीं सकता हमारे सदृश जितने लोग उदार प्रकृति के हैं वे सदैव स्वरूप में स्थित हैं और सदैव ही उससे पृथक हैं। कोई भी कार्य हमारी स्वतन्त्रता में बाधक नहीं? जहाँ चाहें वहाँ जाते हैं। पर तेरे लिए ऐसा करना असम्भव है। हे लीले! अपना ही संकल्प मनोराज है और उसी में चित्त की निवृत्ति लगी हुई है और उसमें अपना शरीर ही काल है। पर जब वही नहीं भासता तब दूसरा क्या भासे? इससे जब तुझे अन्तवाहकता का पूरा अभ्यास हो जाय और आदिभौतिक शरीर से वैराग्य हो जाय तब आदिभौतिकता का लोप हो जायगा क्योंकि पहले सृष्टि ही अन्तवाहक रूप है और सङ्कल्प की दृढ़ता से ही इस प्रकार भासती है, जिस प्रकार जल शीतल होने पर जमकर बर्फ हो जाता है, उसी प्रकार अन्तवाहकता से आदिभौतिकता होती है। नहीं तो प्रमाद रूपी सङ्कल्पसे अन्य कुछ नहीं हुआ। और जब वही सङ्कल्प सूक्ष्म वस्तु, अन्तवाहक की ओर जाता है, तब आदि भौतिकता का नाश हो जाता है। और अन्तवाहकता का उदय होता है। इस प्रकार जब तुमको निवारण रूप का उदय हो और ज्ञान दृष्टि में और जानने में कुछ न हो क्योंकि साकार को निराकार ग्रहण न करेगा. निराकार का ऐक्य निराकार से ही है, नहीं तो नहीं। इस प्रकार जब तू अन्तवाहक रूप हो जायगी तब उसकी सृष्टि में तेरा प्रवेश होगा। हे लीले! जगत केवल सङ्कल्प रूप है और अद्वैत सत्ता अपने आपमें स्थित है। लीला ने कहा—हे भगवती! जब अद्वैत आत्मसत्ता ही

फुरा करती है और शरीर की वासना नष्ट हुई रहती है उसी को अन्त वाहकता प्राप्त होती है । जिस प्रकार बर्फ की विशाल चट्टानें सूर्य की गर्मी पाने से गलकर जलके समान होजाती हैं उसी प्रकार आधि भौतिकता के नाश होने पर अन्तवाहकता प्राप्त होती है । अन्त वाह-कता प्राप्त होने पर शरीर माँस से रहित केवल चित्त-स्वरूप हो जाता है और उसको सर्वसाधारण का ज्ञान हो जाता है । हे लीले ! ऐसे पुरुष के लिए सब कुछ सुलभ है । जन्म जन्मान्तर और सृष्टि का तथा जहां जाने की इच्छा करे या जो कुछ देखने की इच्छा करे ऐसी सभी सिद्धियाँ उसके लिए सुलभ हैं । पर बिना अन्तवाहकता के ऐसी शक्ति का मिलना असम्भव है । अतः इस देह से अहंभाव नाश होने पर ही तुझे सब जगत प्रत्यक्ष जान पड़ेगा । हे लीले ! आदिभौतिक शरीर की वासना नष्ट होने पर ही अन्तवाहक शरीर की प्राप्ति होती है । और अन्तवाहक शरीर में स्थित होने पर ही अन्य संकल्पित सृष्टि जान पड़ती है । इस कारण वासनाको क्षय करने का ही यत्न करना चाहिए । क्योंकि वासना नष्ट होने पर ही अक्षय पद की प्राप्ति होती है । परन्तु जब तक तुझे पूरा ज्ञान नहीं है तब तक के लिए शरीर को यहाँ स्थापित कर यदि तू चाहे कि केवल चलकर ही उस सृष्टि को देख आऊँ तो अन्तवाहक शरीर और माँस मय स्थूल शरीर का व्यवहार ठीक नहीं है । क्योंकि स्थूल शरीर से सूक्ष्म कार्य नहीं हो सकता । उसे अन्तवाहक शरीर के लिए ही अभ्यास करना चाहिए । अभ्यास करने पर ही तू उस सृष्टि को देखने में समर्थ होगी । हे लीले ! यह समस्त जगत अन्तवाहक रूप है । क्योंकि यह सङ्कल्प स्वरूप है और अज्ञानता वश सङ्कल्प के अभ्यास से आदिभौतिक रूप से उत्पन्न हुआ है । उसी से संसार की वासनायें दृढ़ हुई हैं और उसीके नाते जन्म मरणके जो विकार हैं चित्त में स्थित हो भासते हैं । नहीं तो जीव न तो मरता है और न जन्म लेता है । जिस प्रकार स्वप्न में जन्म और मरण दोनों ही भासते हैं और जिस

इक्कीसवाँ सर्ग

विज्ञानाभ्यास-वर्णन

हे लीले ! यह शरीर जो तुझे जान पड़ता है वह स्वप्नपुर के सदृश है। जिस प्रकार स्वप्न में शरीर जान पड़ता है और जब उसके स्वरूप का विस्मरण हो जाता है तब शरीर की कोई वास्तविकता नहीं रहती और जिस प्रकार सङ्कल्प का परित्याग करने पर सङ्कल्प शरीर नहीं भासता, उसी प्रकार ज्ञान होने पर यह शरीर नहीं भासता। अतः स्वरूप का ज्ञान होने पर यह कदापि न जान पड़ेगा। जिस प्रकार स्वरूप का स्मरण होने पर स्वप्न शरीर शान्त हो जाता है उसी प्रकार वासनाके शान्त होने पर जाग्रत शरीर भी शान्त हो जाता है। जिस प्रकार स्वप्न का शरीर ज्ञानाभाव से असत्य है, उसी प्रकार जाग्रत रहने पर भी शरीर की भावना का त्याग करने पर शरीर असत्य है। अतः इस भावना का त्याग करने पर अन्तवाहक देह उदय होता है। जिस प्रकार निद्रा से स्वप्न में रागद्वेष की प्राप्ति होती है और जब ज्ञान से पदार्थों की वासना नष्ट हो जाती है, तब उनसे प्राणी मुक्त होता है, उसी प्रकार जिस पुरुष की वासना जाग्रत पदार्थों के सम्बन्ध में नष्ट हो चुकी है, वही पुरुष जीवन्मुक्त होकर अक्षय पद को प्राप्त करते हैं। ऐसे पुरुष को कदाचित्त वासना भी आ जाय तो भी वह उससे परे है। उसका नाम सत्ता सामान्य है। हे लीले ! जो पुरुष अपनी वासनाओं को रोक चुका है और अज्ञान निद्रा से घिरा है वह सुषुप्ति है। क्योंकि उसकी वासना सुषुप्त है। पर जिसकी वासना प्रकट है और जाग्रत रूपसे विचरती है उसका चित्त अत्यन्त मोहमें घिरा हुआ जानना चाहिए किन्तु जो पुरुष चेष्टा करते रहते हैं और जिनकी अन्तर वासना नष्टहो चुकी है, उनको तुरीया जान। फिर जिसकी जगत-भावना नष्ट हो गई है, वह पुरुष सत्यपद को प्राप्त हो चुका है। पर जिसकी वासना

चुका है और जिनकी चित्त वृत्तियाँ आत्मानन्द में ही आनन्दित हैं वे ही उदारात्मा और ब्रह्माभ्यासी हैं। हे लीले! जिस पुरुष ने जगत की अभावता को जान लिया है और जो यह जानता है कि, जगत की उत्पत्ति नहीं हुई है और दृश्य भी असत्य है, केवल परम तत्व ही सत्य है–ऐसी युक्ति में जो अभ्यस्त है, वही ब्रह्माभ्यासी है। पर जो जानता है कि दृश्य का अभाव नहीं है, वह रागद्वेषादि से कभी मुक्त नहीं होता। पर वह यह नहीं जानता कि रागद्वेष ही संसार के दुःखों का मूल है। किन्तु जो यह जानता है कि दृश्य का निस्सन्देह अभाव है, उसको ज्ञेय अर्थात् परमात्मतत्व का ज्ञान अवश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार जब प्राणी निरन्तर अभ्यास करता रहे, तब निर्वाण पद की प्राप्ति होती है और इसके लिए यत्न करना उसका प्राकृतिक धर्म है। हे लीले! ज्ञान का साधन अभ्यास है और अभ्यास शास्त्र से होता है और उसकी पुष्टि प्रयत्न करने से होती है। पुष्टि होने पर आत्मतत्व की प्राप्ति होती है। हे लीले! ऐसे पुरुष ही ब्रह्माभ्यासी और ब्रह्म–सेवक कहे जाते हैं। पर इनकी भी उत्तम, मध्यम और प्राकृतिक तीन प्रकार की श्रेणियाँ हैं। उत्तम सेवक वह है, जिसको बोधकलना उत्पन्न होकर दृश्य का असंभव ज्ञान हुआ है और जिसको ऐसा ज्ञान हुआ है पर बोधकलना नहीं उत्पन्न हुई है जो अभ्यास करने में ही लगा हुआ है, मध्यम सेवक है। पर जिसको दृश्य का असम्भव ज्ञान नहीं हुआ है और जिसके हृदयमें सदैव यही रहा करता है कि,दृश्यका असम्भव होजाय,वह प्राकृतिक है। इससे जिस भांति मैंने तुझे अभ्यास करने को कहा है, यदि इस प्रकार अभ्यास करेगी तो निस्संदेह तुझे परमपद की प्राप्ति होगी। वशिष्ठजी बोले–हे रामजी! अज्ञान रूपी निद्रा में यह जीव सोया करता है। इसीसे यह जगत को नाना प्रकार से देखता रहता है। उसी प्रकार अविद्या रूपी निद्रा से लीला को ज्ञानरूपी वचनों द्वारा जलकी वर्षा करके सरस्वतीजी ने जगाया। तब उसकी अज्ञानरूपी निद्रा वैसे

प्रकार सङ्कल्प से ही भ्रम का अस्तित्व है, उसी प्रकार जन्म मरण भी भ्रम होने से जान पड़ता है। अन्यथा आत्मपद का अभ्यास करने पर यह विकार मिट जाता है और आत्मपद की प्राप्ति होती है। लीला ने कहा—हे देवि! आपने यह अत्यन्त निर्मल उपदेश मुझे दिया है। इसके जानने से दृश्य दोष अवश्य नाश हो जायगा। पर जिस अभ्यास को आपने बार-बार कहा है, वह क्या वस्तु है? उसके ज्ञान का साधन क्या है और किस प्रकार उसका दृढ़ अभ्यास होगा? तथा अभ्यास दृढ़ होने पर उसका क्या परिणाम होगा? देवी ने उत्तर दिया—हे लीले! कोई भी कार्य अभ्याभ के बिना सिद्ध नहीं होता। सबको सिद्ध करने वाला अभ्यास ही है। इस कारण तू ब्रह्म का अभ्यास कर। क्योंकि चित्त में आत्मपद की ही चिन्तना होती है और उसी का कथन होता है, ज्ञान भी उसी का होता है और जीव की चेष्टा भी आत्मा में ही होती है और चिन्तवन भी आत्मपदका ही होता है। इसी को ब्रह्माभ्यास कहते हैं। वही बुद्धिमान है जो शास्त्र और अपने गुरु की गम्भीर वाणी को सुन चुका है और उस पर युक्तिपूर्ण विचार कर चुका है और वही सत्कथन है जो शिष्यों को उपदेश करने के लिए हो। यथा अन्योन्य परस्पर बोध करना, समान धर्म का निश्चय चर्चा और निर्णय करना और तीनों में परायण रहना उसका नाम बुद्धिमान् जन जन ब्रह्मा--भ्यास कहते हैं। इस प्रकार जिसका पाप क्षीण हो गया है और पुण्य बढ़ा है और जो रागद्वेष से मुक्त हो चुका है वही सच्चा ब्रह्म-सेवक है। हे लीले! जो पुरुष रात दिन अध्यातम शास्त्र का चिन्तवन करते रहते हैं और वासना को अपने पास नहीं फटकने देते, वही सच्चे ब्रह्माभ्यासी हैं, एवम् वही ब्रह्माभ्यास में स्थित हैं। लीले! जिसकी भोग वासना नष्ट हो गई है और जिनके निकट संसार का अभाव है, ऐसे महातमा शीघ्र आत्मपद को प्राप्त करते हैं। फिर जिन पुरुषों की बुद्धि पर वैराग्य का रङ्ग चढ़

तब उनको जो अन्य सृष्टि देखने का सङ्कल्प था वह आ-फुरा। उस फुरने से वह आकाशवत शरीर सहित चित्ताकाश में उड़ीं और उड़ते २ सूर्य-चन्द्रमा के मंडल को भी लांघ कर दूर से भी दूर और अनन्त योजन पर्यन्त लाँघती चली गईं। फिर बहुत दूर चले जाने पर उन दोनों ने भूतों की सृष्टि को देखा और उसमें प्रवेश किया।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का बाईसवां सर्ग समाप्त ॥ २२ ॥

-::-❀-::-

तेईसवां सर्ग

आकाश-वर्णन

इस प्रकार जब वे सब एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए दूरातिदूर उड़ती हुईं जाने लगीं तो क्या देखती हैं कि, अग्नि और वायु के वेग नदियों की नाईं चल रहे हैं। कहीं चन्द्रमा का प्रकाश है तो कहीं सूर्य का प्रकाश है। कहीं देवगण विमानों पर घूम रहे हैं तो कहीं सिद्ध लोग डर रहे हैं और कहीं विद्याधर और किन्नर गन्धर्व गायन कर रहे हैं। कहीं सृष्टि उत्पन्न हो रही है तो कहीं प्रलय पड़ी हुई है। कहीं प्राणी अपने व्यवहार में लगे हैं तो कहीं शिखाधारी तारे उपद्रव करते हुए उदय हो रहे हैं और कहीं पशु पक्षी विचर रहे हैं। कहीं दैत्य, डाकिनी घूम रहे हैं तो कहीं जोगिनियां नृत्य कर रही हैं। कहीं अन्धों और गूंगों का निवास है तो कहीं गीध, पक्षी, सिंह और घोड़े की मुखाकृतिवाले जीव विचर रहे हैं। कहीं वरुण, कुबेर, इन्द्र और यमादिक लोकपाल बैठे हैं तो कहीं सुमेरु और मन्दरा चल बड़े-बड़े पर्वत हैं। कहीं बहुत दूर २ तक वृक्ष ही वृक्ष हैं तो कहीं अनेक योजन तक अविनाशी प्रकाश है और कहीं वैसा ही बहुत दूर तक अन्धकार है। कहीं जल से भरा हुआ बहुत दूर तक का स्थान है तो कहीं सुन्दर पर्वत पर गङ्गा का प्रवाह चल रहा है। कहीं सुन्दर बगीचे, सरोवर तालाब हैं और उसमें कमल लगे हुए हैं और कहीं कल्पवृक्ष के बहुत विशाल बन हैं कि जहां चिन्ता

[illegible] होगई जैसे शरत्काल में मेघ की काली घटा नाश हो जाती है। वाल्मीकिजी बोले, कि इस भांति जब मुनीश्वर ने कहा तब सन्ध्या समय होने से सभा के लोग एक दूसरे को नमस्कार करके स्नान करने चले गए। और रात्रि व्यतीत कर सूर्य के उदय होते ही फिर सब उपस्थित हुए।

श्री योगवासिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का इक्कीसवां सर्ग समाप्त ॥ २१ ॥

बाईसवां सर्ग

लीला-विज्ञान-देहाकाश-गमन-वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! लीला और सरस्वती देवी का यह प्रकार अर्द्ध रात्रि के समय हुआ था। उस समय लीला की सब सहेलियां सोगई थीं और उसका पति भी पुष्प मालाओं से ढँका हुआ पड़ा था। उसके निकट ही दिव्य वस्त्र पहने चन्द्रमा की ज्योति के अनुसार सुन्दर देवियां सब कल्पनाओं और अङ्गों को सिकोड़ कर समाधि में ऐसे स्थित हो गईं मानों रत्न के स्तम्भ में पुतलियां चित्रित हैं। फिर उनके प्रकाश में अन्तःपुर भी प्रकाशित हुआ। वे सब कल्पनाओं को त्याग कर निर्विकल्प समाधि में ऐसे स्थित हो गईं जैसे कल्पवृक्ष नवीन ऋतु के रस को ग्रहण करता है। उसी प्रकार वे सब भी दृश्य-भ्रम को त्यागकर आत्मतत्त्व में स्थित हो गईं और उनका [illegible] शान्त होगया। दृश्य के शान्त होने पर शरत् काल के आकाश की भांति वे सब निर्मल भाव को प्राप्त हुईं। हे रामजी! जिस प्रकार आकाश की सीमा अनन्त है, उसी प्रकार यह जगत् भी अनन्त है। क्योंकि जिसके आदि और अन्त का पता नहीं है [illegible] सो वह भी अनन्त है। जैसे मृग तृष्णा का जल असत्य है, वैसे ही यह जगत् असत्य है। इस प्रकार जब उन दोनों की [illegible] होकर चिदाकाश में स्थित हुईं

दूने घृत के समुद्र से घिरी है। फिर दुगनी पृथ्वी है, जिसका नाम क्रौंच द्वीप है। वहां दूने दही का समुद्र है और उससे वह घिरा है। फिर शाल्म द्वीप है और उससे दूना मधुका समुद्र है। फिर प्लक्ष द्वीप है जिससे दूना इक्षुरस का समुद्र है और उससे दुगना पुष्कर द्वीप है और उससे भी दुगना मीठे जल का समुद्र है। इस भाँति वहाँ सात समुद्र हैं इसके अतिरिक्त दश कोटि योजन कञ्चन की पृथ्वी प्रकाशित हो रही है। उसके ऊपर बड़ा शून्य बन है और उससे परे एक वृहद् समुद्र है। उससे परे दशगुनी अग्नि है। अग्नि से परे दशगुनी वायु है और वायु से परे दशगुना आकाश है। आकाश से परे एक लाख योजन बादल रूप ब्रह्माण्ड का कन्धा है। हे रामजी! उसको देखकर दोनों लौट आईं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का चौबीसवां सर्ग समाप्त ॥ २४ ॥



पच्चीसवां सर्ग

सिद्ध-दर्शन-हेतु-वर्णन

वशिष्ठजी बोले--हे रामजी! वहां से लौटने पर लीला देवी ने वशिष्ठ ब्राह्मण और अरुन्धती का मण्डल देखा। उसे देख कर फिर ग्राम और नगर को देखने लगीं। पर वह सभी स्थान शोभा रहित हो चुके थे। जिस प्रकार अगस्त मुनि ने समुद्र का पान कर लिया था और समुद्र शोभा रहित हो गया था और जैसे बन में अग्नि लग जाने से बन शोभा रहित हो जाय, वैसे ही उन ग्रामों की पहली शोभा नष्ट हो गई थी। दास और दासी विलास कर रहे थे, चारों ओर हा हाकार मची थी। तब लीलारानी जो चिरकाल के ज्ञान का अभ्यास कर चुकी थी उसे यह इच्छा हुई कि, मुझे और देवी (सरस्वती) को मेरे बांधव देख लेते तो बड़ा अच्छा होता। फिर तो लीला के ऐसा सङ्कल्प करते ही बांधव देखने लगे। उसी समय वशिष्ठ ब्राह्मण का ज्येष्ठ पुत्र जिसका नाम देवशर्मा था उसने

मणि अनन्त है। कोई स्थान शून्य है तो किसी स्थान में देव और दानवों का परस्पर युद्ध हो रहा है। उसमें नक्षत्र चक्र पड़े फिर रहे हैं। किसी स्थान पर प्रलय पड़ा हुआ घूम रहा है और कहीं देवता ही घूम रहे हैं। कहीं स्वामि कार्तिक के नियुक्त किये हुए मोरों के समूह विचर रहे हैं तो कहीं कुक्कुट और मोर गण और अन्य पक्षियों तथा विद्याधरों के वाहन पड़े विचर रहे हैं। कहीं यम का वाहन पड़ा है तो कहीं भैरव के गण नाच रहे हैं। कहीं प्रभा चमक रही है तो कहीं कल्प वृक्ष है और मन्द २ शीतल सुगंध पवन चल रही है इत्यादि। हे रामजी ! उस जगत के जाल को देवियों ने इस प्रकार देखा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का तेईसवां सर्ग समाप्त ॥ २३ ॥

—::-❀-::—

चौबीसवाँ सर्ग

भूलोक-वर्णन

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस प्रकार उस महीतल में पहुँच कर उन देवियोंने ग्रामके ब्रह्माण्ड खप्परमें प्रवेश किया। वह ब्रह्माण्ड त्रिलोकी रूपी कमल के समान है और उसकी आठ पुतलियाँ हैं। उसमें पर्वत रूप डोंडा लगा है और चेतना सुगन्ध है और नदियाँ उसके अंबुकण हैं। उसमें जब रात्रिरूपी अलि (भौंरा) जा बैठता है तब वह कमल सकुच जाता है। उसमें पाताल रूपी कीचड़ लगा है, पत्र रूपी मनुष्य ही देवता हैं, दैत्यराक्षस कंटक हैं और डोंडी उसकी शेष नाग है। जब यह डोंडी हिलती है तब भूचालन होता है। उससे जो दिन का प्रकाश है उसका विस्तार एक लाख जम्बू दीप है और उसके परे दुगना खारा समुद्र है। जिस प्रकार हाथ का कङ्कण चारों तरफ से घेरे रहता है उसी प्रकार उस जलसे वह द्वीप घिरा है। उसके आगे दूनी परिधि वाला क्षीर सागर है और उसके आगे उससे भी दूनी पृथ्वी है जिसका नाम कुश-द्वीप है और वह उससे भी

आकाश का रूप जान पड़ती है, उसी प्रकार भ्रम का नाश होने पर पृथ्वी आदि के भूत आकाश सदृश जान पड़ते हैं। जिस प्रकार स्वप्न नगर स्वप्नावस्था में अर्थ संयुक्त जान पड़ते हैं और अग्नि जलती है, पर जाग जाने पर वही सब शून्य हो जाता है-उसी प्रकार अज्ञान का नाश हो जाने पर यह जगत आकाश रूपी हो जाता है। पर जो ज्ञानवान् हैं उनको सब कुछ चिदाकाश ही जान पड़ता है। उनके निकट जगत की कोई कल्पना नहीं रहती। इससे लीला उसको पुत्र और अपने को माता भाव से कैसे देखती? उसको तो अहं और मम की भावना ही न थी। यदि इसके पास कुछ ममता का भाव होता तो वह अवश्य उसको माता भाव से देखती। पर उसके पास तो अहं का नितान्त अभाव था। इसी कारण से न उसने माता भाव से देखा और न तो देवी के ही रूपसे शिर पर हाथ रक्खा। बल्कि सन्तों का ऐसा ही दयालु स्वभाव है। अन्यथा माता और पुत्र की कोई कामना न थी। केवल आत्मा-स्वरूप समस्त जगत उसे जान पड़ा था।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा—उत्पत्ति—प्रकरण का पच्चीसवां सर्ग समाप्त ॥ २५ ॥

-:-❀-:-

छब्बीसवाँ सर्ग

जन्मान्तर--वर्णन

वशिष्ठ जी बोले--हे रामजी! इस प्रकार ज्येष्ठशर्मा को उत्पन्न कर सरस्वती सहित लीला उस पर्वत के ऊपरी भाग वाले ग्राममें जिसमें कि वशिष्ठ ब्राह्मण का गृह था गईं। तब वहांके निवासी प्रसन्न होकर आनन्द काननमें विचरने लगे। इधर अन्तर्ध्यान होने पर सरस्वती ने कहा-हे लीले! तुझे जो कुछ जानना था, सो जान चुकी पर अब जो कुछ और तुझे पूछना हो वह पूछ। लीला ने कहा--हे देवि! मेरी इच्छा होते ही ज्येष्ठशर्मा आदि ने तो मुझे देखा,

पुष्पादि सहित लीला रानी और देवी सरस्वती के चरणों की प्रेम पूर्वक पूजा की और कहा—हे भगवती ! आपकी जय हो ! हम लोग इस समय बहुत शोकवान् हैं, आप हमारे कष्ट को दूर कीजिये। यहां मेरे पिता वशिष्ठ ब्राह्मण और माता अरुन्धती ने बहुत काल तक निवास किया है। पर आज कुछ ही दिन हुए कि वे शरीर छोड़ स्वर्ग को चले गये। उनके रहने से हमारे लिए त्रैलोक्य भी शून्य जान पड़ता है। पर आज हम आपका दर्शन करके बहुत प्रसन्न हो रहे हैं। क्योंकि सज्जनों के दर्शन मात्र से ही बहुत बड़े से बड़े शोक का नाश हो जाता है। फिर आप तो जगज्जननी हैं। आपका समागम निष्फल न होना चाहिये। इससे कृपाकर आप हमारे शोक का निवारण कीजिए।

हे रामजी ! ज्येष्ठशर्मा की ऐसी विनती वाणी को सुनकर दोनों देवियां बहुत प्रसन्न हुईं और लीला रानी ने ज्येष्ठशर्मा के शिर पर हाथ रख कर उसका सब शोक दूर कर दिया। वह अन्तरात्मा से शुद्ध होकर शान्ति को प्राप्त हुआ। जिस प्रकार ज्येष्ठ की तप्तता से त्रसित वृक्ष आदि सूख जाते हैं और पृथ्वी भी जल जाती है पर आषाढ़ का जल गिरते ही पुनः वृक्षों और पृथ्वी में हरियाली आती है, उसी प्रकार लीला द्वारा पुनीत शान्ति को प्राप्त कर ज्येष्ठशर्मा प्रफुल्लित हो गया और उसका हृदय शीतल हो गया। साथ ही उस नगरके समस्त पदार्थों में जीवन सञ्चार हो गया और वृक्ष आदि जो सूख गये थे-वे हरे होकर फूल और फलों से पुनः शोभायमान हो गये।

यह सुनकर रामजी ने प्रश्न किया कि, हे गुरुजी ? ज्येष्ठ शर्मा तो एक प्रकार से लीला रानी का पुत्र था, फिर लीला ने उसको माता के सदृश क्यों न दर्शन दिया ? वशिष्ठजी ने कहा-हे रामचन्द्रजी ! आत्मा में जो संवेदन सत्ता है अर्थात् हिलने की शक्ति है, वह पिण्डाकार जान पड़ती है और वास्तव में वह

अब बतला कि, तू किसके पास चलना चाहती है। जिस प्रकार सुगन्ध को वायु ले जाता है, उसी प्रकार तू जहां कहे मैं तुझको वहां ले चलूं। हे लीले! इस सृष्टि का कोई अन्त नहीं है। यह अनन्त है। समुद्र और मन्दराचल पर्वत आदिक अनन्त हैं, और उन परमाणुओं में अनन्त सृष्टि पड़ी हुई चिदाकाश के सहारे फुरती है। उसी चिद्अणु के अनुसार इस सृष्टि का विस्तार दृष्टिगत होता है। परन्तु विचार पूर्वक इसे तौला जाय तो यह चावल बराबर भी नहीं है। अज्ञानवश देखने में तो अनेक रत्न-पर्वत भी देख पड़ते हैं पर सभी आकाश रूप हैं। जिस प्रकार स्वप्न में चेतना का किंचन नाना प्रकार का जगत दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार यह जगत चेतना का किंचन (हिलना मात्र) है। अन्यथा पृथ्वी आदिक तत्वों से इसकी उत्पत्ति नहीं है। हे लीले! आत्मसत्ता स्वतः स्थित है और उसी में आभास-स्वरूप यह जगत भी उत्पन्न होता और मिटता रहता है। जिस प्रकार नदी में तरङ्ग उत्पन्न होते और लय होते रहते हैं, उसी प्रकार आत्मा में जगत उपजता और नष्ट होता रहता है, परन्तु आत्मसत्ता तो इस सम्बन्ध में सदा एक रस और आभास-स्वरूप है इसकी कोई वास्तविकता नहीं।

लीला ने कहा—हे अम्बे! राजसी जन्म से लेकर अब तक जो नाना प्रकार के अष्टाशत जन्म मैंने पाये हैं, सबका मुझे स्मरण हो गया है। अब मैं जान गई कि पहले मैं चिदाकाश से उत्पन्न हुई थी और विद्याधर की स्त्री थी। उस जन्म में मैंने जैसा काम किया उसके अनुसार भूतल में जन्म लेकर पक्षी हुई, तब जाल में फँसी। फिर भिल्लिनी होकर कदम्ब के बन में रही। फिर बनलता हुई। उसमें गुच्छे ही मेरे स्तन थे और पत्र मेरे हाथ थे। तब मेरी शोभा को देखकर एक ऋषि नित्य मुझ पर हाथ फेरा करते थे जिससे मरणोपरान्त मैं उनके गृह में पुत्री होकर उत्पन्न हुई। फिर वहाँ के शुभ कर्मों के नाते मैं लक्ष्मीवान राजाकी स्त्री हुई। तब मैंने दुष्ट कर्म किया

परन्तु मेरा पति जो विदूरथ है, जिसको देखने में गई थी, उसने मुझे न देखा--इसका क्या कारण है ? देवी ने कहा, हे लीले ! विदूरथ ने तुझे इस कारण नहीं देखा कि, उस समय तक तेरा द्वैत भाव नष्ट न हुआ था। जिस प्रकार ज्येष्ठ के बाद आषाढ़ का आगमन हो और वर्षाकाल का प्रत्यक्ष न हो--तू भी उसी प्रकार थी। संसार मार्ग को तूने अवश्य लाँघ लिया था, पर अद्वैत तत्व को न प्राप्त कर तूने आत्मशक्ति का प्रत्यक्ष न किया था। तब तेरा संकल्प सत्संकल्प न था पर अब तू सत्संकल्पमय हुई है। तुमने ज्येष्ठ शर्मा को देखना चाहा, इससे उसने तुझे देखा ? पर अब यदि तू विदूरथ को देखना चाहती है तो उसके पास जा, वह तुझे अवश्य देखेगा और तेरे साथ पहले की भांति व्यवहार करेगा।

लीला ने कहा--हे भगवती ! अब मैंने जान लिया कि, मेरे पति महाराज राजा पद्म इस लोक के राजा विदूरथ हैं जो पहले वशिष्ठ ब्राह्मण होकर मृतक हुए हैं। इससे मुझे ज्ञात हो गया कि, इस मण्डप रूपी आकाश में उनका जन्म मरण दोनों हुआ और अनेक ब्रह्माण्ड इसमें स्थित हैं। जिस प्रकार छोटे से सम्पुट में सरसों के अनेक दाने हों, उसी प्रकार इसमें ब्रह्माण्ड मुझको समीप ही जान पड़ते हैं, पर अपने पति की सृष्टि में अब भी अन्तर जान पड़ता है। इससे अब आप जो आज्ञा दें वह करूँ। देवी ने कहा--हे भूतल की अरुन्धती ! तेरे तो अनेक जन्म और अनेक पति हो चुके हैं वे तेरे समस्त पति इसी मण्डप में हैं। एक तो वशिष्ठ ब्राह्मण है जो मरणोपरान्त पद्म राजा हुआ और जिसका शव तेरे मण्डप में पड़ा है और तीसरा तेरा पति वसुधापति है जो समुद्र में भोगरूप कल्लोलें करता हुआ चेतना से व्यग्र है। वह राज्य के कार्यों में बड़ा ही निपुण है पर आत्मपद से विमुख है। वह अपनी अज्ञानता से समझता है कि, मैं ईश्वर हूँ, मेरा शासन सर्वोपरि है और मैं बहुत अच्छे-अच्छे भोगों का भोक्ता हूँ। हे लीले ! यह तेरे तीन पति हैं।

विदूरथ जानने लगा। अब तू देख कि यह कहाँ गया और उसका क्या स्वरूप हो गया। आखिर वह वशिष्ठ ब्राह्मण ही के चित्त में तो स्थित है और उसी आकाश मण्डपमें ही तो उसे सृष्टि का अनुभव हुआ! हे रामजी! इसी प्रकार देवी सरस्वती की कृपा से अपनी ही देहाकाश में लीला उड़ी और ब्रह्मांड को भी लाँघ कर फिर अपने प्रथम गृह में चली आई। पर यह आना-जाना भी कुछ नहीं है। फिर ब्रह्मांड के लाँघने में क्या श्रम रहा? वह कहाँ आई और कहां गई, एक ही स्थान में रह कर तो उसने एक सृष्टि से अन्य सृष्टि को देखा। रामजी अन्तवाहक रूप होकर मन द्वारा जहां लाँघना चाहे, लाँघ जा सकता है, क्योंकि वही लाँघने वाला है। पर वास्तव में कुछ है नहीं। केवल स्वप्न-सृष्टि के समान आभास मात्र है। वासना ही जगत है, अन्यथा पृथ्वी आदिक भूत कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है। इसमें निवारथ ज्ञान आकाशवत और अनन्त रूप से स्थित है। जिस प्रकार स्पंद और निस्पन्द दोनों ही वायु के रूप हैं, उसी प्रकार स्फुर और अस्फुर रूप आत्मा ही किञ्चन में ज्यों का त्यों स्थित है। पर वह शान्त रूप और चिदाकाश है। उसमें किंचनता होते ही वह जगतरूप होकर जान पड़ने लगता है। पर आत्म-ज्ञानी पुरुष ही उस जगत से परे रह सकते हैं नहीं तो अज्ञानियों के लिए जगत बज्र के समान दृढ़ भासता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का सत्ताईसवां सर्ग समाप्त ॥ २७ ॥

अट्ठाइसवां सर्ग

परमाकाश वर्णन

हे रामजी! इस भांति गिरि-ग्रामकी अनुपम रचना देखती हुई लीला और देवी ने जाकर अपने गृह में निवास किया। गृह में पहुँचते ही लीलाका ज्ञान और भी निर्मल होगया और वह त्रैकालज्ञ हो गई। तब उसने अपने पूर्व अरुन्धती वाले शरीर का स्मरण कर देवी से कहा-हे भगवती! आपकी कृपासे अब हमारे अज्ञानोंका

जिससे मैं वन्दरी हुई और मेरे अङ्ग कुष्ट रोग से अशोभित हुए। मरणोपरान्त मैंने वैल की योनि में जन्म लिया। खेती के काम में जुतने लगी और वहुत दुःख मिला। फिर भ्रमरी हुई और पुष्पों पर सुगन्ध लेने लगी। तव मृग योनि में उत्पन्न हुई और जीवन पर्यंत वनों में विचरती थी। मरणोपरान्त एक देश का राजा हुई और वहां पूरे सौ वर्ष तक राज्य किया। फिर कछुवे का जन्म मिला और फिर कर्मों के वश मैंने राजहंस का जन्म लिया। इस भाँति मैंने अनेक जन्मों को ग्रहण किया और वहुत कष्ट उठाया। इससे हे देवि! अव मुझे ज्ञात होगया कि, आत्मज्ञान के विना जन्मों का अन्त नहीं होगा। पर आपकी कृपा से अव निःसङ्कल्प पदको प्राप्त कर लिया।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति–प्रकरण का छव्वीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २६ ॥

—❀—

सत्ताइसवाँ सर्ग

गिरि ग्राम और परमाकाश वर्णन

रामजीने पूछा कि,हे गुरुजी! जव ब्रह्माण्ड खप्पर इतने कोटि योजन पर्यन्त लम्वा चौड़ा था कि जिसका अन्त भी नहीं है, तव उसको देवी और लीला ने कैसे पार किया? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया, हे रामजी! न कोई ब्रह्माण्ड खप्पर है और न कोई गया, सव आकाश रूप है। वशिष्ठ ब्राह्मण जिस पर्वत के ग्राम में रहता था, मैंने उसी मण्डप आकाश में सृष्टि का अनुभव किया है। इसी प्रकार जव वह ब्राह्मण मरा, तव उसी मण्डप आकाश के एक कोने में रह कर अपने आपको आसमुद्रान्त पृथ्वी का राजा मानने लगा और कहने लगा कि, मैं ही राजा पद्म हूँ और अरुन्धती ही मेरी रानी लीला है। इसके पश्चात् जव वह फिर मरा, तव उसी आकाश मण्डप में उसने और सृष्टि का अनुभव किया जिससे अपने को राजा

है। पर है बहुत दूर। जब बादल और आकाश के अनेक योजन वाले मार्ग को तू पार कर जावेगी तब अपने पतिके निकट पहुँचेगी। और तभी चिदाकाश के बदले तू उसे अपने पास ही देखेगी। नहीं तो अभी केवल व्यावहारिक दृष्टि से वह बहुत दूर है। इससे अब वहीं चलना चाहिए जहां कि मेरे पति राजा विदूरथ हैं। यद्यपि उनका स्थान दूर है, तथापि निश्चयवानों के लिए निकट है।

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! ऐसी सम्मिलित वार्ता करके वह दोनों ही राजा विदूरथ को देखने के लिए मण्डपाकाश में उड़ीं और बहुत बड़े-बड़े मेघादि पर्वतादि और सूर्य, चन्द्रमा तथा ब्रह्म, लोकादि को लांघकर दूरसे भी दूर चलीं गईं। फिर तो शून्य आकाश में पहुँचकर उन्हें घोर अन्धकार मिला। तब लीला ने कहा—हे देवि ! सूर्य आदि का प्रकाश क्या हो गया यहां तो अन्धकार ही अन्धकार है। यह अन्धकार भी ऐसा है जैसे सृष्टि में ग्रहण होता है। सरस्वतीजी ने कहा—हे लीले ! अब हम तुम दोनों ही महा आकाश में पहुँची हैं! यह तो अन्धकार का ही स्थान है। यहां सूर्यादि का प्रकाश कैसे होगा ? लीला ने कहा—हे देवि ! तब तो बड़ा आश्चर्य है कि हम दूरातिदूर चली आईं। पर अब इससे भी आगे कहां चला जायगा। देवी ने कहा—इसके आगे ही ब्रह्माण्ड कपाट है जो कोटि योजनों वाले विस्तार का है और वहां के धूल की कणुका भी वज्र के समान दृढ़ है।

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! यह वार्ता करती हुईं दोनों चली जा रही थीं कि ब्रह्माण्ड कपाट की सीमा पर पहुँच गईं। परन्तु अपने दृढ़ निश्चय के अनुसार उन दोनों ने उस कोटि योजन विस्तार वाले ब्रह्माण्ड को भी क्षण मात्र में पार कर दिया और तनिक भी कष्ट न पहुँचा। वहां पहुँच कर उन्होंने क्या देखा कि ब्रह्माण्ड कपाट के चारों ओर दशगुना जल, दशगुना अग्नि और दशगुना वायु और दशगुना आकाश—फिर परमाकाश कि, जिसका आदि अन्त

नाश हो गया और पूर्व जन्म में मैंने यहां जो कुछ किया था, सब स्मरण हो रहा है। देखिए, मैं इस स्थान में बैठकर पूजा करती थी, यहाँ मैंने ब्राह्मणों को दान दिया था, यह मेरे दूध रखने का स्थान है, यहां अन्न के ढेर रहते थे और यहां मेरे पुत्र पुत्री और जामात्र आदि रहते थे। इस आसन पर बैठ कर मैं सेवकों को कार्य करने की आज्ञा देती थी कि, अमुक कार्य लाओ। हे भगवती! देखिए, यह मेरे रसोई बनाने का स्थान है, इधर मैंने पुष्प बोया था, यह सब वृक्ष मेरे ही हाथ के लगाये हैं, इनके पुष्पों से मेरी यह खिड़कियाँ ढँकी रहती थीं और अब भी यह चारों ओर से घेरे हैं, देवि! मेरे पतिदेव समस्त कार्य बड़ी शुद्धता से करते थे। आज वह सब कुछ मुझे स्मरण हो रहा है। इसी स्थान में मेरा पुत्र ज्येष्ठशर्मा पड़ा रोरहा है। यही मेरा है और मण्डपाकाश इसी में मेरे पति का जीव आकाश की नाईं है।

लीला के ऐसे कथन को सुन कर देवी ने कहा—हे लीले! शरीर की नाभि कमल से दश अंगुल अंगुष्ठ के समान ऊर्द्ध हृदयाकाश है और उसी में उसका संवित आकाश है सो उस आकाश में राजसी वासना विद्यमान रहने के ही कारण वशिष्ठ ब्राह्मण को मरणोपरान्त आसमुद्रान्त पृथ्वी का राज्य मालूम पड़ा। अभी यहां तो उसे मरे केवल आठ ही दिन हुआ है। परन्तु उसने बहुत दिनों तक राज्य सुख का अनुभव कर लिया। लीला ने कहा हे देवि! मालूम होता है कि थोड़े ही काल में उसने बहुत काल का अनुभव कर लिया। इसीसे तो अभी तक उसका शव हमारे ही मण्डपमें पड़ा है, पर उसके तुर्यष्टक में जगत फुरा आया है। उसी में राजा विदूरथ ने अपने को जाना है और संवित इसी आकाश मण्डपमें स्थित है। अस्तु अब मुझको उस राजाकी सृष्टि करोड़ों योजन जान पड़ी है। जिस प्रकार आकाश में गन्धको लेकर वायु स्थित है उसी प्रकार उसकी चेतना-शक्ति सङ्कल्प को धारण कर इस मण्डपाकाश में स्थित

हुए लीला और देवी अर्द्ध रात्रि के समय अपने मण्डप स्थानों को देखने लगीं। उनका वह देखना ऐसा ही था जैसे कि सोया हुआ मनुष्य जाग्रत अवस्था में वस्तुओं को देखता है। तब लीला ने देखा कि, राजा का शव शरीर पुष्प मालाओं से ढँका हुआ पड़ा है और गृह के समस्त प्राणी सो गए हैं। लीला का शरीर भी शव के पास पड़ा है। उस दृश्य को देखकर दोनों ने विचारा कि, अब राजा की कचहरी में चलना चाहिए। क्योंकि उसकी पुर्यष्टक में ही तो विदूरथ का अनुभव हुआ था ? फिर तो ऐसा विचार कर देवी सहित लीला ने अन्तवाहक शरीर धारण किया और झट आकाश मार्ग को उड़ चलीं। उड़ते-उड़ते जब ब्रह्माण्ड की सीमा को पार कर गईं तब उन्हें विदूरथके सङ्कल्प-जगत की सीमा दिखलाई पड़ी। वह जगत ऐसा ही था जैसे कि, सरोवर में सेवार रहता है। क्योंकि उस जगत में सभी द्वीप द्वीपादि और पहाड़ रचित और विद्यमान थे। जम्बूद्वीप, भरतखण्ड, नवखण्ड और सुमेरुपर्वत आदि समस्त रचनायें दिखलाई पड़ी। उसी राजा विदूरथ का मण्डपस्थान भी दीख पड़ा। यही नहीं, वहां उन दोनों ने राजा सिन्ध को भी देखा कि, वह राजा विदूरथ की कुछ पृथ्वी को अपने शासन अधिकार में दबाये था। उसके लिए राजा विदूरथ ने सेना भेज कर युद्ध करने का निश्चय किया था। उत्तर में राजा सिद्ध की भी सेना डट गई थी और दोनों में घमासान युद्ध हो रहा था। उस युद्ध को त्रैलोक्य के लोग देखने को वहां एकत्र थे। देवगण अपने-अपने विमानों पर आरूढ़ थे और सिद्ध, चारण, गन्धर्व और विद्याधर भी उस युद्ध को देख रहे थे। यह सब कुछ देखते हुए उन दोनों ने देखा कि वहां विद्याधरी और अप्सरायें युद्ध में मृतक शूरों को स्वर्ग ले जाने के लिए एकत्रित थीं। मांस और मज्जा का भक्षण करने के लिए राक्षस, पिशाच और मांसाहारी जीव जमा हो रहे थे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का उन्तीसवां सर्ग समाप्त ॥ २९ ॥

और मध्य कुछ जान नहीं पड़ता वहां विद्यमान है। जिस प्रकार वन्ध्याके पुत्रीकी कथा और चेष्टाओं का अन्त नहीं और आदि भी कुछ नहीं, वैसे ही परमाकाश में आकाशादि का अन्त नहींहै। वह नित्य शुद्ध, अनन्त और अपने आप में स्थित है। उसका अन्त लेने को शिव भगवान् भी यदि अपने मन की दौड़ से कल्पलों दौड़ें तो भी नहीं पा सकते और यदि विष्णु भगवान् भी चाहें तो अपने गरुड़ पर सवार हो कल्पलों दौड़ें तो भी उसका अन्त न कर सकेंगे। फिर यदि उस परमाकाश का अन्त पवन भी लेना चाहे तो वह भी न पावेगा। क्योंकि उसका आदि मध्य और अन्त कहीं नहीं है। वह केवल बोध मात्र है।

उन्तीसवां सर्ग

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा उत्पत्ति-प्रकरण अट्ठाईसवां सर्ग समाप्त ॥ २८ ॥

परमाकाश में भीषण संग्राम

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! परमाकाश में पहुँच कर लीला और देवी सरस्वती ने बहुत आश्चर्यजनक वस्तुओं को देखा। वहाँ पर सृष्टियां तो बार-बार उत्पन्न हो रही थीं और प्रलय भी बार-बार हो रही थी। किसी ओर जल का प्रवाह ऐसा था कि उसके आदि और अन्त का पता नहीं था जिससे अन्धकार ही अन्धकार था और प्रकाश तो नाम मात्र का भी न था। कहीं ऐसा मालूम होता था कि ब्रह्मा ही सृष्टि की रचना करते हैं और कहीं यह जान पड़ता था कि, विष्णु भगवान और शङ्कर ही सृष्टि के रचियता हैं। कहीं यह मालूम होता था कि समस्त सृष्टि प्रजापति से उत्पन्न हुई है और कहीं ईश्वर को भी कोई न मानता था।

इस प्रकार उन दोनों ने अगणित सृष्टि को चिदाकाश में उत्पन्न होते देखा। उनकी संख्या निश्चित करना वाणी शक्ति से परे है। सभी चिदाकाश में आकाशवत फुर रही थीं। अब उन सबको देखते

में स्थित होकर उन दोनों देवियों ने देखा कि युद्ध ने ऐसा भयानक रूप धारण कर लिया है जैसा कि, प्रलयकालमें समुद्र एक रूप होजाता है। वीरों के प्रहार करने के समय शस्त्र ऐसे चमकते थे जैसे बिजुली चमक जाती है। शूरों को अप्सरायें खींच-खींच कर स्वर्ग को ले जा रही थीं और देवता गण उनकी स्तुति करके कहते थे कि, यह चिर-काल तक स्वर्ग भोगेंगे। तब वह वाणी सुनकर और उसकी चिन्तना करके वीरों को भी हर्ष होता था और वह विशेष प्रकार का युद्ध कौशल प्रदर्शित करते हुए मारकाट मचा रहे थे। जिस प्रकार वे युद्ध के लिये ऐसा व्याकुल होते थे वैसे ही उनमें धैर्य भी अधिक दृढ़ होता जा रहा था। इससे वह अचल योद्धा की नाईं युद्ध करते थे। और वह संग्रामभूमि के झपेटों से ऐसे चूर्ण हो जाते थे, जैसे कि ओखली में पड़कर कोई वस्तु चूर-चूर हो जाती है। फिर भी वह एक दूसरे का सामना करने से पीछे न हटते और महा हाहा-कारी शब्द करते हुए एक दूसरे का सामना किया करते। गजा-रूढ़ सैनिक गजारूढ़ों से, खड्गवाले, खड्गवालों से और त्रिशूलवाले त्रिशूल वालों से घोर युद्ध कर रहे थे। यहाँ तक कि जब जिसके पास शस्त्र न रहता तब वह मुष्टि युद्ध करता पीछे न हटता था। फिर तो थोड़ी ही देर में दशों दिशायें युद्ध से परिपूर्ण होगईं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का तीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३० ॥

❀::❀::❀

इकत्तीसवां सर्ग

पुनः घोर-युद्ध-वर्णन

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! वह ऐसा भीषण संग्राम हुआ कि रुधिर की धारा भागीरथी गङ्गा के समान अत्यन्त वेग से बहने लगी। उसमें हाथी घोड़े, मनुष्य और सभी रथ आदि बह चले। उस समय बड़ा कलकल शब्द उत्पन्न हुआ। उस नदी के तट पर बैठ कर माँसाहारी जीव मृतकों की शरीर को निचोड़कर खाने लगे। फिर तो क्रमशः नदी का वेग ऐसा बढ़ा कि रक्त का समुद्र

तीसवाँ सर्ग

:::-::-३-::-:::

युद्ध का प्रथम दृश्य

हे रामजी ! वहां ऐसे भयानक दृश्यको देखने के पश्चात् लीला और देवी ने फिर क्या देखा कि, भिड़ी हुई दोनों सेनाओं ने अपने २ व्यूह की रचना करली है। तब मच्छव्यूह चक्रव्यूह और गरुड़व्यूह रचकर दोनों पक्ष के सैनिक अपनी २ टुकड़ियों सहित युद्ध करने लगे। किसी ने कहा तू पहले अपना वाण चला तो उसने कहा नहीं पहले तू चला। वे ऐसा कह ही रहे थे कि सहसा दोनों ओर से सैनिक गण अपने २ पक्ष को दृढ़ बनाने के लिए टूट पड़े। फिर तो युद्ध की मर्यादा नष्ट हो गयी और सब भिड़ कर युद्ध में रत हो शस्त्रों का प्रहार करने लगे। तब फरसा, त्रिशूल, भाला, बरछी, छुरी, चक्र और गदा आदिक शस्त्रों का ऐसा प्रहार हुआ कि, बड़ा भयानक शब्द उत्पन्न हुआ। उन सब शस्त्रों का एक ही साथ चलना ऐसा मालूम हो रहा था मानो वर्षा की झड़ी लगी हुई है। हे रामजी ! ऐसा मालूम हो रहा था मानों प्रलय काल उपस्थित हो गया है। उसमें वीर योद्धा तो अपने प्राणों की आहुति देने के लिए आगे बढ़ रहे थे और कायर डर कर भाग रहे थे। फिर यो ऐसा घोर युद्ध हुआ कि अगणित शूरवीरों से पृथ्वी ढक गई और उनके हाथी घोड़े तक संग्राम भूमि में कट कर गिर पड़े। उन सबके सिर और शरीर ऐसे कट रहे थे जैसे कमल-पुष्प काट लिया जाता है। तब ऐसा भीषण दृश्य उपस्थित होने पर दोनों पक्ष के राजाओं को बड़ी चिन्ता हुई। फिर तो क्षण मात्र में रक्त की प्रचंड धारा वह चली और वह अपने वेग में वीरों का शिर और शरीर बहा ले चली। इस धारा में प्रवाहित नरमुण्डों और अन्य जीवोंकी टकराहट से ऐसा शब्द उत्पन्न हुआ कि उसके आगे बादलों की गड़गड़ाहट भी कम है। हे रामजी ! इस प्रकार सङ्कल्प विमानारूढ़ और कल्पाकाश

नाश होना ऐसे ही था जैसे कि अग्नि में आहुति नाश हो जाती है। फिर तो ऐसा घोर युद्ध हुआ कि रक्त का समुद्र बह चला और उसमें हाथी, घोड़े, रथ और मनुष्य तृण के समान बहने लगे। समस्त संग्रामभूमि रक्त रञ्जित हो गयी वीरों का शिर कट कर पृथ्वी पर ऐसे गिर रहा था मानों ताड़ वृक्ष के फल तड़ातड़ गिर रहे हैं। हे रामजी ! वह ऐसा लोमहर्षक युद्ध हुआ कि वर्णनातीत है। मेरी तो गिनती ही क्या है, सहस्रमुख शेषनाग भी उस रण कौशल का वर्णन करने में असमर्थ हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति—प्रकरण का तेतीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३३ ॥

-ः-❀-ः-

चौंतीसवां सर्ग

युद्ध--निवृत्ति--वर्णन

ऐसा घोर युद्ध चल ही रहा था कि, सूर्य भगवान् अस्त हो गये। तब राजा विदूरथ ने अपने चतुर सेनापति और मन्त्री को बुलाकर युद्ध बन्द कर देने का आदेश किया। राजा की आज्ञा को पाकर सेनापति ने युद्ध के बीच भाग में जाकर उच्च स्थान से वस्त्र हिलाते हुये युद्ध बन्द कर देने की सूचना दी। फिर तो सैनिक गण जहाँ के तहां रुक गये और युद्ध बन्द हो गया। दोनों पक्ष के सैनिक युद्ध बाद्य बजाते हुए अपने २ स्थान को चले गये। राजा विदूरथ भी अपने राजसदन में पहुँच कर विश्राम करने लगा।

श्री योगवाशिष्ठ—भाषा उत्पत्ति—प्रकरण चौंतीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३४ ॥

पैंतीसवां सर्ग

निशाचर--रात्रि--वर्णन

उधर रात्रि होने पर मांसाहारी जीव संग्राम भूमि में पहुँच कर मांस भक्षण करने और रुधिरपान करने लगे। संग्राम भूमि में कितने वीर तो ऐसे पड़े थे कि उनकी भुजायें कट गई थीं पर प्राण न निकला था और हाय २ कर कराह रहे थे। जब वे देखते थे कि मांसाहारी

हो गया और उसमें हाथी, घोड़े, रथ और शूरमा लहरों के सदृश उछलने लगे। पर उस रक्त के वेग में भी योद्धागण एक दूसरे से भिड़ रहे थे। हे रामजी! जिस प्रकार प्रलय की अग्नि समस्त संसार को भस्म कर देती है, उसी प्रकार संग्राम भूमि वीरों को नाश कर देती थी। जो शिर कट जाता था, उसका धड़ शत्रु से उठ-उठ कर युद्ध कर रहा था। किसी की भुजा कटती थी तो किसी-किसी के ऊपर रथ, हाथी और घोड़े दौड़ पड़ते थे, जिससे योद्धागण पिस उठते थे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का इकत्तीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३१ ॥

बत्तीसवां सर्ग

सहायका गमन वर्णन

हे रामजी! जब संग्राम ने ऐसा भीषण रूप धारण किया तब दोनों ओर के सैनिकों का संहार हो गया। तब काशी, भीला, मालवा, किरात, कवटा, सकला, म्लेच्छ, पारसी, काश्मीर, तुर्किस्तान हिमालय और सुमेरु आदिक पर्वतों के राजे महाराजे दोनों ओर के सैनिकों की सहायता करने के लिये जा भिड़े। फिर तो जिस प्रकार समुद्र के उछलने से दिशायें और स्थान जल से पूर्ण हो जाते हैं, वैसे ही उन राजाओं से युद्ध भूमि परिपूर्ण होगई और वे लोग दोनों ओर से भिड़कर युद्ध करने लगे। चक्रवाल, खड्ग, कुल्हाड़े, छुरी, बर्छी, कटारी और गदादि शस्त्रों का ऐसा भीषण प्रयोग हो रहा था कि जिसका वर्णन करना अत्यन्त कठिन है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का बत्तीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३२ ॥

:::-::-❁-::-:::

तैंतीसवांसर्ग

जनपद--युद्ध--वर्णन

हे रामजी! योद्धागण दौड़ते हुए युद्ध भूमि में आगे बढ़ते थे, पर जाते ही शस्त्रों के प्रहार से काल कवलित हो जाते थे। उनका

वैसे ही उसको सिद्धि मिलती है, दूसरी नहीं। जो ऐसा निश्चय करे कि, शरीरादिक आकाश रूप है, उसको आधिभौतिकता का अनुभव नहीं होता किन्तु जिसके निश्चय में आधिभौतिकता दृढ़ हो रही है उसके लिए आधिभौतिकता कुछ नहीं है। जिस प्राणी को पूर्वार्ध का अनुभव नहीं होता उसको उत्तरार्ध में गमनता नहीं होती जिस प्रकार वायु उर्ध्व को नहीं चलता और जिस प्रकार आदि चेतना की संवित में प्रवृत्ति हुई है, वह वैसे ही स्थित है। इससे जिसको अन्तवाहक शक्ति प्राप्त हो गई है, उसके निकट आधिभौतिकता का विचार लोप होगया है, पर जिसको आधिभौतिकता दृढ़ है उसको अंतवाहक शक्ति नहीं मिलती। जिस प्रकार छाया में बैठे हुए प्राणी को धूप का अनुभव नहीं होता और धूपवाले को छाया का अनुभव नहीं होता और अनुभव उसी को होता है कि जिसका चित्त दृढ़ है अन्यथा किसी को नहीं होता है। हे रामजी ! चित्तसंवित में जैसा उदाहरण होगा और जब तक अन्यकी प्रतीति न होगी तब तक वैसे ही सिद्धता प्राप्त होगी। जिस प्रकार रस्सी सर्प जान पड़े और भयवश कम्पित हो जावे तो वह कम्पायमान तभी तक होता है जब तक सर्प की शङ्का दूर नहीं होती। पर ज्योंही वह रस्सी-रस्सी जान पड़ी कि त्योंहीं सर्प का भ्रम नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार जैसा अनुभव चित्त संवित में प्रमाणतः दृढ़ होता है, उसी का अनुभव होता है यह बात तो बालक भी जानते हैं कि चित्त की भावना के अनुरूप ही रूप प्रकट होता है। यह नहीं होता कि, निश्चय कुछ और हो और अनुभव कुछ और हो। हे रामजी ! आदि सर्ग तो आत्मा से स्वाभाविक और बिना कारण ही उत्पन्न हुआ है। इसमें प्रमादवश द्वैत कार्य अकारण रूप होकर पीछे स्थित हुआ है।

हे रामजी ! उधर कह आए हैं कि आकाश तीन हैं। निद्राकाश, चित्ताकाश और भूताकाश। इन तीनों में चिदाकाश ही मूल है। अन्य दोनों तो भिन्न-भिन्न कलनाओं से हुए हैं। नहीं तो चिदा

जीव और भूत पिशाच माँस भक्षण करते हुए निकट पहुँच रहे हैं तो वे डर जाते थे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति–प्रकरण का पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३५ ॥

–❀–

छत्तीसवाँ सर्ग

विदूरथ–चिन्ता

इधर राजा विदूरथ ने मन्त्रियों को बुलाकर दूसरे दिन के युद्ध का परामर्श किया और पुनः विश्राम करने लगा। पर चिन्ता ने उसे ऐसा सताया कि, वह करवटें बदलता रह गया और नींद न आई उसी समय इन दोनों देवियों ने आकाश से उतर कर जिस प्रकार संध्या समय कमल मुँह बन्द कर लेते हैं, और उनमें वायु प्रविष्ट हो जाता है,उसी प्रकार राजा के बन्दी गृह में सभी देवियों ने सूक्ष्म परमाणु के मार्ग से प्रवेश किया।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा–उत्पत्ति–प्रकरण का छत्तीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३६ ॥

-:-❀-:-

सैंतीसवाँ सर्ग

स्मृति अनुभव वर्णन

यह सुनकर रामजी ने प्रश्न किया कि, हे भगवन्! उन शरीर धारी देवियों ने परमाणु के रन्ध्र में किस विधि से प्रवेश किया। क्योंकि वह रन्ध्र तो कमल के तन्तु और वाल के अग्रम भाग से भी सूक्ष्म अति सूक्ष्म है? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया कि, हे रामजी! वास्तव में इस आधिभौतिक शरीर से सूक्ष्म रन्ध्र में प्रवेश करना अत्यन्त कठिन है पर मनरूपी शरीर तो ऐसा है कि, इसे कोई रोक नहीं सकता। उस समय लीला और सरस्वती का शरीर तो अन्त वाहक था? फिर उनको प्रवृष्टि करने में क्या कठिनाई रही? यदि कहीं आधिभौतिक शरीर होता तो अवश्य यत्न करना पड़ता। पर जहाँ आधिभौतिक ही नहीं है, वहाँ यत्न की शंका कैसे? सभी शरीर चित्त रूपी हैं। इनमें जिसको जैसा अनुभव संवित में होता है

उसी प्रकार मूर्छान्तर में सृष्टि जान पड़ती है। जैसे महाप्रलय होने पर आदि विराट रूप ब्रह्मा ही होते हैं, वैसे ही मृत्युके अनन्तर इसको विराट स्वरूप अनुभव होता है। क्योंकि इसका मनरूपी शरीर होता है। पर रामजी ने कहा, हे भगवन् ! मृत्यु के समय जो सृष्टि जान पड़ती है, वह स्मृति से होती है तो क्या वह सृष्टि कारण-सहित है? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया कि, हे रामजी! महाप्रलय होने पर तो हरि-हरादि सभी विदेहजन मुक्त होजाते हैं फिर स्मृतिका होना कैसे सम्भव हो सकता है। हां, इस समय के जीवों के लिए स्मृति सकारण अवश्य हो सकता है, क्योंकि उनका जन्म-मरण स्मृति-करण से होता है, वे मोक्ष नहीं होते और उनको मोक्षका सर्वदा अभाव है। क्योंकि मरण समय में वह कैवल्य भाव में स्थित नहीं होते और चित्त संवेदन होता रहता है। इससे जगत फुर आता है। परन्तु ज्ञान होने पर काल, क्रिया, भाव, अभाव, और स्थावर जङ्गमरूपी जगतादि सब आकाश रूप होजाता है। पर जिसको ज्ञान नहीं होता, जिसके चित्त में संवेदनायें उठा करती हैं उन्हें शरीर और इन्द्रियां भास आती हैं। यद्यपि वह भी अन्तवाहक शरीर धारण किये हैं तथापि चिरकाल की प्राप्ति अर्थात् उस अज्ञानता के कारण आधि भौतिकता भास आती है जिससे देश, काल, क्रिया आदिक उदय होकर स्थित होते हैं। संवेदन से ही जगत है, अन्यथा नहीं है और इसी से ज्ञात होता है कि, मैं यहां उत्पन्न हुआ हूँ और यह मेरा है। नहीं तो सब मिथ्या है और भ्रमसे अपने को उत्पन्न हुआ देखता है फिर जीव का मृतक होना अर्थात् यह जानना कि जीव भी मरता है-यही जगत-भ्रम है। पर वास्तव में यह बात नहीं है, जीव भी आकाशरूप है और जगत् भी आकाशरूप है। अज्ञानता वश जीव अपने को उत्पन्न जानता है। यही अज्ञानता नाना प्रकार के जगत-भ्रम को दिखलाती है और यही नगर, पर्वत, सूर्य चन्द्रमा, तारागण, जन्म, मरण और लोभ व्याधि में विश्वास

काश ही शुद्ध और आदि है। उसी अचेत चिन्मात्र में संवेदना जैसे फुरा है उसी का नाम चिदाकाश है और उसी में यह समस्त जगत हुआ है। चित्तरूपी शरीर सर्वगत है। इसमें जिस २ प्रकार से स्पंदता हुई है, उसी २ प्रकार से वह जान पड़ती है। अन्य समस्त पदार्थों में तो वह व्याप्त ही है, किन्तु रेणुका में भी वह सूक्ष्मभाव से स्थित है। वही आकाश में व्याप्तमान है। वह अनन्त और बाहर जगत में सर्वत्र चित्तरूप से स्थित है। जिस प्रकार समुद्र और तरङ्ग में भेद नहीं, उसी प्रकार आत्मा और चित्तमें कुछ भेद नहीं है। अतः जो प्राणी आत्मानुभवी हैं और सर्ग का आदि चित्तही जिनका शरीर है और जिनको आधिभौतिकता नहीं जान पड़ती, वह महाआकाश रूप हैं और उनका शरीर अन्तवाहक है। परन्तु जिस प्राणी को आधिभौतिकता में विश्वास है उसको अन्तवाहकता नहीं प्राप्त होती। यों तो सभी अन्तवाहक रूप हैं, पर भ्रमकी दृढ़तासे आधिभौतिकता को देखते हैं। जिस प्रकार मरुस्थल में जल भासता है और जैसे वन्ध्या के पुत्र की सद्भावना होती है, उसी प्रकार आधिभौतिक जगत भासता अर्थात् जान पड़ता है।

यह सुन कर रामजी ने पूछा कि हे भगवन्! चित्त का होना और न होना क्या है और चित्त में क्या रहता है? इस जगत को चित्तरूप क्यों कहा जाता है और यह अन्यथा कैसे होता है? वशिष्ठ जी ने कहा—हे रामजी! प्रत्येक जीव के प्रति चित्त होता है और जैसा चित्त होता है वैसे ही शक्ति भी होती है। क्योंकि चित्त में ही जगत का भ्रम होता है और वह क्षण-क्षण में उदय और लय होता रहता है। यह कल्पना भी किसी को निमेष में होती है और किसी को क्रम पूर्वक मालूम होती है। इसका वितरण भी सुनने ही योग्य है। हे रामजी! जब मरण समय में मूर्छा आती है, तब उस महा-प्रलय रूप-मृत्यु-मूर्छा में नाना प्रकार का जगत जान पड़ने लगता है। जिस प्रकार स्वप्न सृष्टि फुरती है और सङ्कल्पपुर जान पड़ता है

संसार चिदाकाश रूप है। हमको भी ऐसा जान पड़ता है। पर तुमको अर्थ संयुक्त भासता है। इसीसे लीला और सरस्वतीका आख्यान सुनाकर मैंने तुम से कहा है कि, वह दोनों आकाशरूप, सर्वज्ञ-स्वच्छ स्वरूप और निराकार थीं। इसी से वे स्वतन्त्ररूप से विचरण करती हुई इच्छानुकूल सिद्धता को प्राप्त कर लेती थीं। क्योंकि चिदाकाश का अनुभव होने पर उसे कोई रोक नहीं सकता। अतः जो सर्व रूपमें स्थित हो चुकी थी, उसके लिए राजा विदूरथ के बन्दी गृह में प्रवेश करना क्या आश्चर्य है?

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति–प्रकरण का सैंतीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३७ ॥

—::-❀-::—

अड़तीसवाँ सर्ग

राजा विदूरथ का भ्रांति निवारण

वशिष्ठजी ने कहा–हे रामजी! जब अन्तवाहक शरीरधारी दोनों देवियों ने राजा विदूरथ के गृह में प्रवेश किया, तब उनकी प्रभासे गृह मंडप प्रकाशवान होगया और एक अनोखी ज्योति जगमगाने लगी। कल्पवृक्षों से ऐसी सुगन्धि चली कि समस्त व्याधियाँ दूर होगईं और राजा विदूरथ की निद्रा उचट गई। उसने नेत्र खोल कर देखा तो दो देवियाँ सुन्दर स्वरूप और दिव्याभूषणों से सुसज्जित खड़ी हैं। तब जिस प्रकार शेषनाग की शय्या से विष्णु भगवान् उठ खड़े हों उसी प्रकार वह राजा विदूरथ हाथों में पुष्प लेकर खड़ा होगया और दोनों हाथ जोड़े हुए आकर देवियों के चरण कमल पर चढ़ा दिया। फिर विविध प्रकार से निवेदन कर बोला–हे देवियो! आपकी जय हो। आप जन्म–मरण के दोषों को दूर करने वाली हैं। आप का दर्शन करने से भ्रमतम नष्ट होजाता है। आप सूर्य और चन्द्रमा के समान पूजनीय हैं। राजा ऐसी बन्दना कर ही रहा था कि, उसके मन्त्री आदि जो सोये थे, वे भी जाग गए और राजा के निकट आ बैठे। तब देवी सरस्वती ने पूछा कि, हे राजन्! तुम कौन हो और

दिलाकर व्यग्र करती रहती है। इसी से भाव, अभाव, भय, स्थूल, पृथ्वी, नदियाँ, भविष्य, और वर्तमान आदि को भी दिखलाता है। इसी से प्राणी समझता है कि, मैं उत्पन्न हुआ हूँ, मैं अमुक का पुत्र हूँ, अमुकगण मेरे कुनबे के हैं, यह मेरी माता है, यह मेरे भाई हैं, इतना धन मुझको मिला है इत्यादि। हे रामजी! ऐसे ही अज्ञानमय वासना और जालों में प्राणी दुःख भोगता है और कुकृत व देहाकृत की व्याख्या करता है। कहता है कि पहले मैं बालक था, अब युवा हुआ, यह मेरा वर्ण है इत्यादि। यही जगत की अनेक कल्पनायें प्रत्येक जीव को होती हैं। हे रामजी! संसार एक-वृक्ष है और चित्त उसका बीज है। तारागण उसके फूल हैं और चञ्चल मेघ पत्ते हैं। और जङ्गमजीव, मनुष्य, देवता दैत्य और पक्षी उस पर बैठने वाले हैं। रात्रि उसके ऊपर धूल है। समुद्र बावड़ी है। पर्वत शिलवट्टे हैं, अनुभव अंकुर है। मरण समय में जीव क्षण भर में इन सबों को देखता है। ऐसे ही प्रत्येक जीव को अनेक प्रकार का जगत जान पड़ता है। हे रामजी! एक नहीं कितने ही कोटि ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, पवन और सर्पादि हो गए हैं। पर जहाँ सृष्टि है वहीं यह भी है। चिद्अणु में अनेक सृष्टि हैं और उसमें अनेक जीव हुए हैं। उसी में सुमेरु आदिक पर्वत और मंडल तथा द्वीपादि भी अनेक हो गए हैं। उस चिद्अणु में अर्थात् परब्रह्म में कुछ नहीं है। क्योंकि उसकी कोई वास्तविकता नहीं। जिस प्रकार शिल्पी पत्थर की दीवार में पुतलियों की कल्पना करता है और वह कुछ है नहीं, उसी प्रकार चिदाकाश में जगत कुछ नहीं है। केवल मनोमात्र है। मनोमात्र व स्मरण भी चिदाकाश रूप है और इसी से मनोमात्र व स्मरण भी है। यदि दृश्य की वास्तविकता कही जाय तो वह भी कुछ नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार मनोराज नाना प्रकार का जान पड़ता है उसी प्रकार चिदाकाश की ज्योति नाना प्रकार का जगत होकर जान पड़ती है। इससे यह समस्त

अब तक मुझे आपकी उस सृष्टि का स्मरण न हुआ था। किन्तु आज तो मुझे अपने प्रपितामह और बाल्यावस्था और कुमारावस्थाका सम्पूर्ण स्मरण होरहा है। मित्रों का भी पूरा पूरा स्मरण होरहा है।

विदूरथ का ऐसा कथन सुनकर सरस्वतीजी ने कहा—हे राजन्! मृत्यु के समय पहले मूर्छा होती है और उससे नाना प्रकार का जगत भासने लगता है। फिर उसी क्षण में वर्षों का भी अनुभव होता है। जिस प्रकार स्वप्न में एक मुहूर्त से अनेक वर्षों का अनुभव होता है, उसी प्रकार मुझे मृत्यु-मूर्छा में यह जगत भासता है। हे राजन्। जिस सृष्टि में तू राजा पद्म नाम वहां विख्यात था, उस सृष्टि का परित्याग किये मुझे आज केवल एक ही मुहूर्त व्यतीत हुआ है। पर तुझको बहुत अधिक दिन का अनुभव हुआ। किन्तु अब मैं तेरे उस पिछले वृतान्त को बहुत सत्य अंशों में बतला रही हूँ, ध्यान देकर सुन? हे राजन्! इस पर्वत के ऊपर एक ग्राम था। उसमें वशिष्ठ नाम के एक ब्राह्मण रहते थे। उसकी स्त्री का नाम अरुन्धती था। उसने मुझसे वशिष्ठको अमर करने के लिए बर लिया था कि जब मेरा पति शरीर छोड़े तो उसका जीव इसी मण्डपाकाश में रहे। मैंने भी यह वर दे दिया था और जब वह मरा तब उसकी पुर्यष्टक शरीर उसी मन्दिर में स्थिर रही। उसमें राजा की वासना दृढ़ थी। उस मण्डपाकाश में उसको पद्मराजा की सृष्टि जान पड़ी और अरुन्धती ही लीला रानी होकर उसे प्राप्त हुई। तब पद्म का मण्डप उस ब्राह्मण के मण्डपाकाश में स्थित जान पड़ा। फिर उस मण्डपमें तू राजा पद्म मृतक हुआ। तब तेरी संवेदना में अनेक प्रकार के आरम्भ सहित यह जगत जान पड़ा। हे राजन्! यह तेरा जगत है। वही राजा पद्मके हृदयमें जान पड़ता है और उसीके मण्डपाकाश में स्थित है। इससे तू ब्राह्मण वशिष्ठके मण्डपाकाश में स्थित है और वही वशिष्ठ तू राजा विदूरथ हुआ है। तू कैसे स्थित है, सुन। हे राजन्! यह जगत केवल परछाईं के समान एक झलक है और मन

किससे पुत्र हो और तुमने कब जन्म लिया है। राजा विदूरथ उत्तर देना ही चाहता था कि, उसके मंत्री ने कहा–हे देवि! राजाकी ओर से मैं इनके जन्म और कुलका वर्णन कर रहा हूँ। आप ध्यान पूर्वक सुनिए। ये महाराज इक्ष्वाकु कुलके वंशज हैं। इस कुलमें एक बड़े प्रतापी राजा श्रीमान् कुन्दरथ हो चुके हैं। उनके पुत्रका नाम कुधरथ और कुधरथ के पुत्रका जरासिंध नाम था। फिर उन महाराज से महारथ और महारथ से विष्णुरथ और उनसे कलारथ तथा उनसे सूर्यरथ व उनसे राजा नभरथ का जन्म हुआ था। हे देवि! उन्हीं महाराज राजा नभरथ से इन महाराजा राजा विदूरथ का जन्म हुआ है। इनकी माता का नाम सुमित्रा था। यह महाराज जन्म ही से बड़े तीव्रबुद्धि के थे, जिससे केवल दश वर्ष की आयु में ही इनके पिता महाराज नभरथ ने राज्य का सारा भार इन पर सौंप दिया और स्वयम् वनको तपस्या करने चले गए। उसी दिन से इन महाराज ने क्रमपूर्वक पृथ्वी की रक्षा का भार अपने हाथ में ले लिया है। ये महाराज बड़े पुण्यशाली हैं और पुण्य के प्रभाव से ही आज आपका दर्शन मिला है। नहीं तो आपके दर्शनके लिए चिरकाल पर्यन्त कोई तपस्या करके भी नहीं पाता और हमारे महाराज ने प्राप्त कर लिया। इससे ज्ञान होता है, कि पुण्य के परिणाम-स्वरूप ही आपका दर्शन इनको प्राप्त हुआ। हे रामजी! जब सरस्वती से ऐसा कहकर मंत्री चुप होगया तब सरस्वती ने कृपा पूर्वक राजा विदूरथ के शिर पर हाथ रखकर कहा–हे राजन्! अब तुम विवेक-दृष्टि से अपने हृदय में विचार कर देखो कि तुम कौन हो देवी के स्पर्श करने से राजा की बुद्धि निर्मल हो गई और पूर्व-जन्म का स्मरण करके बोला–हे भगवती! इस समय आप की कृपा से मेरी बुद्धि बहुत निर्मल हो गई है जिससे मुझे पूर्व जन्म का स्मरण होकर ऐसा ज्ञात हो रहा है कि, मैं ही राजा पद्म था और मेरी ही स्त्रीका नाम लीला था। वह शरीर छोड़े और इस शरीर को धारण किए आज सत्तर वर्ष व्यतीत होगए। पर

में बहुत वर्षों का क्रम दिखलाई पड़ जाता है, उसी प्रकार जगत का अनुभव मृत्यु के समय होजाता है। जिस प्रकार सङ्कल्पपुरमें अपना जीवन और मरण दिखलाई पड़ता है और जिस प्रकार गन्धर्व नगर केवल भ्रम-मात्र है, जिस प्रकार नाव में बैठने वाले को किनारेके वृक्ष चलते हुए जान पड़ते हैं और जिस प्रकार घुमरी खेलने वाले बालकोंको गृह और पर्वतादि भी घुमरते हुए जान पड़ते हैं और जिस प्रकार अपना शिर कटना भ्रम से जान पड़ता है, उसी प्रकार यह जगत स्वप्न में भ्रम होने से भासता है। हे राजन्! ऐसे ही अज्ञानवश यह मिथ्या कल्पना तुझे उत्पन्न हुई है। परन्तु वास्तव में न तू मृतक हुआ है और न जन्म लिया है। तू शुद्ध विज्ञान और शान्त-स्वरूप है। इससे तुझे चाहिए कि अपने स्वरूप को जानकर उसमें स्थित हो जा। अन्यथा यह अनेक प्रकार का जगत भ्रम से भासता रहेगा, क्योंकि सम्पूर्ण ज्ञानवाली सर्वात्मसत्ता जान पड़ती है और यही जगत है। जिस प्रकार सुन्दर मणिकी ज्योति अनेक प्रकार की ज्योतियों सहित जान पड़ती है और वह मणि से भिन्न कुछ नहीं, उसी प्रकार आत्म-सत्ता का किंचन जगत रूप होकर जान पड़ता है। उस गिरिग्राम में तुम भी किंचन रूप हो। जितना कुछ जगत तुमको विस्तार पूर्वक जान पड़ता है, वह लीला और राजा पद्मके मण्डपाकाश में स्थित है। वह लीला रानी और राजा पद्मकी राजधानी वशिष्ठ ब्राह्मणके मण्डपाकाश में स्थित है। इससे यह समस्त जगत वशिष्ठ ब्राह्मणके भाग्याकाश में पड़ा हुआ फुरता है। वह आकाश में स्थित है। वह न तो पृथ्वी और न पर्वत है और न कोई मेघ है, न समुद्र है और न मुमुक्ष है, केवल शून्य और स्वतः स्थित है। वहाँ न कोई जागता है और न उसकी कोई देखरेख करने वाला है। इससे यह सब कुछ भ्रम मात्र है और तुम्हारे उसी मण्डपाकाशमें फुरा करते हैं। यह सुनकर विदूरथ ने कहा—हे देवि! जब ऐसा ही है तब आप यह कहिए कि मेरी मृत्यु भी अपने आत्मा के सम्बन्ध में सत्य है या असत्य? देवीने

की कल्पनाओं से जान पड़ता है, नहीं तो इसकी कोई उत्पत्ति नहीं है। देवीजी के ऐसे वचन को सुनकर राजा विदूरथ ने कहा, हे भगवती! यह तो बड़े आश्चर्य की बात है कि मेरा जन्म भ्रम रूप है। पर जब मेरा ही जन्म इतना भ्रम-पूर्ण है तो सम्पूर्ण इक्ष्वाकु कुलका भी जन्म भ्रम-रूप होगा! मेरे पिता और माता भी भ्रमरूप ही हैं। इसी भ्रममें मैंने जन्म लिया और बालक होकर जब दश वर्ष का हुआ तब पिताजी वनको चले गए और मुझ पर राज्य–संचालन का अपार बोझ आ पड़ा। फिर तो मैंने दशों दिशाओं को दिग्विजय करके प्रजा का पालन किया। इस अवधि में मेरे सत्तर वर्ष बीत गए। पर अब मुझको युद्ध की भीषणता में समय व्यतीत करना पड़ रहा है। आज पूरे दिन भर युद्ध चलता रहा और जब बन्द हुआ है, तब रात्रि समय आकर गृह में विश्राम कर रहा हूँ। जब मुझे निद्रा आगई है, तब आप दोनों देवियों का शुभागमन हुआ है। फिर मैंने आप की पूजा की है। और आप दोनों में से एक ने मेरे शिर पर हाथ रखा है जिससे मुझे ज्ञान हुआ और हृदय प्रफुल्लित होगया है। अब मालूम होता है कि, मेरा सब अज्ञान नष्ट होगया है और मैंने निर्वाण पद को प्राप्त किया है। सरस्वती ने कहा–हे राजन् तुम्हें जो कुछ भी जान पड़ा है सब भ्रम मात्र है। यह अनेक प्रकार का व्यवहार और लोकाचार सभी भ्रम-मात्र है। क्योंकि जो तुमको उस सृष्टि में मृतक हुए एक मुहूर्त व्यतीत हुआ है, उसी मण्डपाकाश में तुझे यह जगत जान पड़ा है। वहीं तो राजा पद्म की सृष्टि ब्राह्मण के मण्डप में स्थित है और वहीं तुम्हें नदियां, पर्वत समुद्र और पृथ्वी आदिक सम्पूर्ण जगत जान पड़े हैं। तब जिस प्रकार समुद्र में तरङ्ग के प्रकार हो जाते हैं, उसी प्रकार यह जगत जान पड़ा है! क्योंकि मृत्युके समय जब मूर्छा आती है, तब एक न एक प्रकारके रूप में जगत जान पड़ता है। क्योंकि वह केवल मनकी कल्पना है और उसका कोई सच्चारूप नहीं है। केवल अज्ञानतावश सत्यता जान पड़ा है। जिस प्रकार एक मुहूर्त की निद्रा

कहा—हे राजन् ! वेदों ने जिसका वर्णन किया है, वह पुरुष शुद्ध बोध-स्वरूप है। उसके निकट जगत की कोई यथार्थता नहीं, केवल चिदाकाश रूप है। जिस प्रकार शङ्का निवृत होने पर रस्सीमें सर्पका भ्रम नहीं रह जाता, उसी प्रकार जिन पुरुषों को आत्मबोध हो गया है और जगत भ्रम दूर हो गया है, उनको जगत की यथार्थता नहीं जान पड़ती। जिस प्रकार सूर्य की किरणों में जलकी यथार्थता झूठी समझाने पर जल—सत्ता नहीं जान पड़ती, उसी प्रकार जिनको आत्मज्ञान हो गया है और जिन्होंने जगत को मिथ्या जान लिया है, उनको जगत सत्य नहीं जान पड़ता। जिस प्रकार स्वप्नमें कोई अपने शिर को कटा देखे और जागने पर वह व्यथा दूर हो जावे, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष को जगत सत्य सा नहीं प्रतीत होता। जिस प्रकार स्वप्न मरण भ्रम से ही जान पड़ता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष को जगत सत्य जान पड़ता है। पर वास्तव में वह कुछ नहीं है। जिस प्रकार शरद ऋतु के बीत जाने पर आकाश निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष को फिर मैं और तुम आदिक शब्द का नितान्त अभाव हो जाता है। इससे हे राजन् ! तुम और तुम्हारे सेवकों आदि की जो यह सृष्टि है, सब आत्मा से ही फुरी है। जिस प्रकार तू फुरा है वैसे ही यह सब भी फुरे हैं। अन्यथा वस्तुतः कोई उत्पन्न नहीं हुआ है। केवल आत्म—सत्ता स्वतः स्थित है। बाल्मीकिजी बोले कि इस भांति जब सरस्वती देवी और राजा विदूरथ का सम्बाद वशिष्ठजीने रामजीसे कहा, तब सूर्य भगवान अस्ताचल को गए और सन्ध्या काल का समय उपस्थित हुआ तब सभाके सब लोग एक दूसरे को नम्र प्रणाम करके स्नान करने चले गए। फिर रात्रि व्यतीत करके सूर्योदय होते ही अपने२ स्थानों पर आकर विराजमान हो गये।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति—प्रकरण का अड़तीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३८ ॥

-::-❀-::-

उनतालीसवां सर्ग

स्वप्न-पुरुष-सत्यता-वर्णन

वशिष्ठजी बोले–हे रामजी ! जिन पुरुषों को पूर्णज्ञान नहीं हुआ है, उनको यह जगत बज्रके समान ही कठोर हुआ है । जिस प्रकार मरुस्थल का जल असत्य है, उसी प्रकार असम्यकदर्शी को यह असत्य रूप जगत सत्य होकर भासता है । हे रामजी ! यह जगत दीर्घ काल का स्वप्न है । इसकी कोई वास्तविकता नहीं है । इसका सर्व सत्य, शान्ति रूप, चिन्मात्र स्वरूप, जो सर्व आत्मा है उसमें जैसा स्पंद फुरा है, वैसा ही जगत भासता है। जैसे स्वप्न सृष्टि भासती है, और जैसे स्वप्न–भ्रम चिरकाल से स्थित है और जैसे इस चिदाकाश में स्वप्न-पुर का स्फुरण हुआ है, और वही गुण जो द्रष्टा होकर दृश्य में देखता है, वही द्रष्टा और दृश्य दोनों ही चेतक संवित में आभास रूप हैं। हे रामजी ! यह सारा जगत स्वप्नके समान है। इसी स्वप्न रूप में तुम्हारा भी भाव हुआ है और जैसे तुम हो, वैसा ही और भी है, परन्तु जैसे स्वप्न–नगर असत्य है, वैसे ही यह जगत भी असत्य है इतनी कथा सुनकर रामजी बोले, हे भगवन् ! स्वप्न से जाग्रत होने पर तो स्वप्नके पदार्थ असत्य रूप हो जाते हैं, परन्तु यह जगत और इसके पदार्थ तो जब देखिए तब ज्योंके त्यों दिखलाई पड़ते हैं, फिर जाग्रत और स्वप्न को एक समान कैसे कहा जाय ? वशिष्ठ जी ने कहा–हे रामजी ! स्वप्न और जाग्रत में कोई अन्तर नहीं है। स्वप्न को भी स्वप्न तब जानता है, जब जागता है । बिना जागे स्वप्न को असत्य कैसे जाना जा सकता है। इस प्रकार जब तक आत्मपद में नहीं जागेगा, तब तक यह स्वप्न रूप जगत असत्य नहीं भासेगा । हे रामजी ! यह जगत असत्य रूप है । केवल भ्रम वश सत्य के समान भास रहा है। जिस प्रकार स्वप्न–कालकी स्त्रीका रूप असत्य है, और स्वप्नमें सत्यरूप है, उसी प्रकार यह असत्य रूप जगत सत्य

इकतालीसवां सर्ग

अग्निदाह

यह कहकर ज्योंहीं सरस्वती प्रस्थान करना चाहती थीं कि, राजा विदूरथ से एक दूत ने आकर कहा, हे महाराज ! शत्रुओंकी सेना आ पहुँची और वह सब शस्त्रोंकी वर्षा कर रहे हैं। जिस प्रकार प्रलयके समय में बड़े २ पर्वत वायु में उड़ते हैं, वैसे ही शत्रु सैनिक चले आरहे हैं। उनकी सेनासे सब दिशायें ढँक गई हैं उन लोगों ने पहुँचते ही वाणों की वर्षा कर चारों ओर अग्नि लगा दी है जिससे आप के नगर–जल रहे हैं। बड़ा भयानक शब्द हो रहा है। बड़े २ विशाल गृह सत्यानाश हो जा रहे हैं और उनमें रहने वाली जो सुन्दर २ नारियांवस्त्र भूषणोंसे सुशोभित हैं,जल रही हैं। समस्त दिशायेंअग्निसे परिपूर्ण होरही हैं। बड़े २ अङ्गारे उड़ रहे हैं। नरनारी अग्निमें पड़ कर अपने वस्त्रों सहित जल रहे हैं और हाय-हाय करते हैं। उसमें भी सब लोग अपने पुत्र और बन्धु बान्धवों की खोज कर रहे हैं।

दूत के मुँह से ऐसा दारुण समाचार सुनकर राजा विदूरथ का हृदय कम्पित होगया और वह दोनों देवियों और अपने मंत्रियों सहित गृह के ऊँचे झरोखे में बैठ कर उस वीभत्स दृश्य को देखने लगा। तब क्या देखा कि, बड़ी-बड़ी सेनायें चली आरही हैं और स्नेह पाश में बँधे हुए जीव मृत्यु समय में भी स्नेह को नहीं त्यागते और नाना प्रकार का दुःख भोग रहे हैं। हे राघव ! उस समय ऐसा घोर शब्द उत्पन्न हुआ कि संग्राम भूमि शब्दायमान होगई। लोग हाय भाई, हाय माता, हाय पिता, हाय स्त्री, इत्यादिक शब्दों से संग्राम भूमिको कम्पायमान कर रहे थे। न जाने कितने ही हाथी, घोड़े, बैल, ऊँट आदि जलकर ढेर लग गए। उस समय बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ। क्षणमात्रमें महाप्रलयंकरी ज्वाला ने समस्त स्थानों को परिपूर्ण कर दिया।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति–प्रकरण का इकतालीसवां सर्ग समाप्त ॥ ४१ ॥

रूप दिखलाई पड़ता है। हे रामजी ! आत्मा सर्वत्र और सदा अद्वैत रूप है। जहाँ जैसा चिन्तन करता है, वहाँ वैसा प्रतीत होता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का उन्तालीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३९ ॥

चालीसवां सर्ग

सरस्वती द्वारा विदूरथ को वर प्राप्ति और अग्नि का भीषण दृश्य।

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! जब इस प्रकार सरस्वतीने राजा विदूरथ को हाथों से स्पर्शकर अमृतमय उपदेश दिया, तब उसके हृदय में विवेकमग्न सुन्दर ज्ञान का अंकुर उत्पन्न हो गया। तब सरस्वती जी ने फिर कहा-हे राजन् ! मुझे जो कुछ कहना था, कह चुकी। अब मुझे ऐसा निश्चय हो रहा है कि तू संग्राम में मृतक होगा। लीला को दिखाने के लिये मैं यहाँ आई थी। सो देख लिया। सरस्वतीकी ऐसी वाणी सुनकर राजा विदूरथ ने कहा-हे देवि ! हमारे भी बड़े भाग्य हैं कि आपका दर्शन मिला। बड़े लोगों का दर्शन निष्फल नहीं जाता और महा फलको देने वाला है। हे देवि ! मैं साधारण पुरुष हूँ, पर ऐसा विचार रखता हूँ कि जो कोई अर्थवश मेरे पास आवे तो मैं उसे निराश होकर नहीं लौटाता। उसका अर्थ अवश्य पूर्ण करता हूँ। फिर आप तो साक्षात् ईश्वर हैं। इससे मुझको यह वर दीजिए कि शरीर त्यागने पर मैं राजा पद्मके शरीरमें प्रविष्ट करूँ। साथ ही मेरे मन्त्रीगण और मेरी स्त्री लीला वहाँ भी मेरे साथ होवे। तब सरस्वती ने वरदान देकर कहा-ऐसा ही होगा। तू पद्म के शरीरको प्राप्त होगा और विवेक रखते हुए निर्भय होकर राज्य करेगा। हमारी सेवा व्यर्थ न जायगी। अब तू रणमें मृतक होगा और निस्सन्देह पहले के राजा पद्म के शरीर में जा मिलेगा। तुम्हारी यह भार्या और मन्त्रीगण भी वहीं जा मिलेंगे। अभी हमारा और तुम्हारा साथ होने के योग्य नहीं है। इससे हम जा रही हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का चालीसवां सर्ग समाप्त ॥ ४० ॥

::-❀-::

है ? हे देवि ! आप मेरे इस भ्रम को दूर कीजिए। देवी ने कहा-हे लीले ! जैसे चित्त की स्पंदता में संवेदना फुरती है, वैसे ही वह तात्कालिक सिद्ध होजाती है। इसी प्रकार जिस अर्थकी चिन्तना में चित्त संवित देह को त्याग करता है, वह जाकर उसी अर्थ को प्राप्त होता है। फिर तो उसी घड़ी देश, काल और समस्त पदार्थों की दीर्घता होती है जिस प्रकार स्वप्न की सृष्टि फुर आती है, उसी प्रकार परलोक सृष्टि भी जान पड़ती है। हे लीले ! जब तेरा पति मरने लगा, तब उसका तुझमें और मन्त्रियों में जो विशेष मोह था उसी से वह सत्यरूप में अपनी वासना के अनुसार जान पड़ा। जिस प्रकार सङ्कल्पपुर और स्वप्न की सेना जान पड़ती है, उसी प्रकार यह देशकाल और पदार्थ जान पड़ते हैं। परन्तु यदि कोई पदार्थ सत्य भी जान पड़े तो अज्ञानतावश जान पड़ते हैं। अन्यथा ज्ञानी के लिए तो सब बराबर है। ज्ञानी के निकट अधिक और न्यून कुछ नहीं है। जिस प्रकार जाग्रत अवस्था में स्वप्न असत्य जान पड़ता है और स्वप्न में जाग्रत अवस्था का अभाव होता है और जाग्रत शरीर मरण समय में नाश हो जाता है, उसी प्रकार मृतक अवस्था में जन्म असत्य होजाता है। इसलिए यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो सभी अवस्थायें भ्रम-स्वरूप हैं, उनकी कोई वास्तविकता नहीं है। आदि से महाप्रलय तक जो कुछ भी है वह उत्पन्न नहीं हुआ है, केवल ब्रह्मसत्ता स्वतः स्थित है। जगत की कल्पना छाया मात्र है और अज्ञानवश जान पड़ता है, जिस प्रकार आकाश में तारागण जान पड़ते हैं, उसी प्रकार भ्रमवश आत्मा में जगत् जान पड़ता है। नहीं तो वास्तव में किंचित कुछ नहीं है। जैसे समुद्र में तरङ्ग उत्पन्न होकर उसी में मिल जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा में जगत् उत्पन्न होकर लीन होजाता है। इससे मैं, तुम आदिक जो शब्द हैं, सब भ्रम मात्र हैं। हे लीले ! जगत मृग तृष्णा के जल के समान है और इसका विश्वास करना बड़ी अज्ञानता है।

बयालीसवाँ सर्ग

अग्नि-दाह-वर्णन

यह भीषण दृश्य विदूरथ देव ही रहा था कि, उसी समय कुछ सखियां एक महासुन्दरी को साथ लेकर वहां आ पहुँची। उन्हें आते देख कर राजा अचम्भित होगया। तब सखियों ने कहा, महाराज! आपके अन्तःपुर में जो स्त्रियाँ थीं, उनको शत्रु हर ले गए और बहुतों को बड़ा-बड़ा कष्ट दे रहे हैं। राजद्वार पर आपकी जो सेना बैठी है, उसको शत्रु चूर्णित कर रहे हैं। पर इस लीला रानीको हमलोग चुराकर एक दूसरे द्वार से ले भागी हैं। अब आप इनकी रक्षा कीजिए। क्योंकि शत्रुओं का बल बढ़ता ही चला आरहा है और समस्त नगर में हाहाकार मचा हुआ है।

अब सखियों की घबराहट और अन्तःपुर की लूटपाट ने राजा विदूरथ को और भी उत्तेजित कर दिया तब उन्होंने सरस्वती जी से कहा—हे भगवती! अब इस लीला की रक्षा करना आपके हाथ है। यह आपके चरण की दासी है। इससे आप तो, इसकी रक्षा करें और मैं युद्ध करने जाऊँगा। ऐसा कहकर क्रोधावेश में राजा विदूरथ युद्ध करने चला। तब सरस्वती के साथ वाली लीला को अपने ही रूप के समान नवीन लीला को देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ उसने सरस्वती से कहा—हे देवि! मैंने तो आपका आशीर्वाद प्राप्त कर अज्ञान को नष्ट कर डाला है, फिर अब मुझको भ्रम क्योंहो रहा है। क्योंकि जब मैं पहले आई थी, तब मुझको मन्त्री टहलुये और सब नगरके लोग दिखलाई पड़ेथे और वह संशय भी मैंने आपसे निवृत्त करा लिया था। फिर अब उसी रूपमें से एक और लीला होकर क्यों उत्पन्न होगई? इस दृश्य का रूप किस भावको लिए हुए है कि जिसके भीतर और बाहर भी प्रतिबिम्ब है? यह मन्त्री और टहलुये और मेरा यह स्वरूप क्या है और क्यों यह दृश्य भाव होकर जान पड़ता

होकर जान पड़ता है। हे लीले! जिस प्रकार अपने मनोराज्य की प्रतिमा का उदय होता है, वह सत्य रूप होकर जान पड़ता है, उसी प्रकार वह जो नवीन लीला तेरे वैसी ही बैठी है, सो यही हुई है। और तेरे पतिकी जो तुझमें वासना थी, उससे तेरा प्रतिबिम्बरूपहोकर राजा की यह लीला आकर प्राप्त हो होगई है। तेरे ही जैसा शील और आचार इसका भी प्रतिबिम्बित हुआ है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा—उत्पत्ति—प्रकरण का बयालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४२ ॥

-:-❀-:-

तैंतालीसवाँ सर्ग

विदूरथ—निर्वाण—वर्णन

यह सुनकर रामजी ने वशिष्ठ जी से पूछा कि--हे गुरुजी! अब यह बतलाइए कि राजा विदूरथ ने संग्राम भूमि में पहुँच कर क्या किया? वशिष्ठ कहने लगे कि हे रामजी! जब नवीन लीला को सरस्वती जी के सुपुर्द कर राजा विदूरथ अपने गृह से निकलकर सेनामें सुशोभित हुआ, तब उसने महा भीषण संग्राम उपस्थित किया। दोनों सेनायें मिलकर शस्त्रों की वर्षा करने लगीं। फिर तो महा प्रलय का समय उपस्थित होगया और शस्त्रों की झड़ी से अगणित शूरवीर धराशायी होगए। उसमें राजा विदूरथ की अधिक सेना मारी गई और उसका पक्ष कुछ निर्बल होगया।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति—प्रकरण का तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४३ ॥

—❀—

चौंवालीसवाँ सर्ग

हे रामजी! तब उसकी निर्बलता को देखकर दोनों लीलाने सरस्वती से कहा, हे भगवती! आप हम पर बड़ी दया रखती हैं। पर आपके सर्व शक्तिमान होते हुए भी युद्ध में हमारे पति की विजय क्यों नहीं हो रही है? सरस्वती ने कहा-हे लीले! तेरे पतिका शत्रु जो सिन्धु राज है, उसने अपने विजय के लिए बहुत दिनों का तप करके मुझ से बरदान प्राप्त कर लिया है। पर तेरे पति ने ऐसा नहीं किया है।

इसमें भ्रम कुछ नहीं है। जिस प्रकार बादल अँधेरे में यक्ष जान पड़ता है और जो वस्तुतः है नहीं, केवल स्वतः ब्रह्मसत्ता है, उसी प्रकार भ्राँति भी कुछ नहीं है। जैसे जितना कुछ "मैं और तुम" आदिक शब्द हैं, सबका प्रलय में अभाव हो जाता है। और जो शेष रहता है वह शुद्ध शान्त स्वरूप ही रहता है वैसे ही उसको अब भी जान। उसमें कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। हे देवि! पृथ्वी आदिक भूत भी संवित स्वरूप हैं क्योंकि जब चित्त की संवेदना स्पंद रूप होती है, तभी यह जगत होकर जान पड़ता है। इससे यह भी संवित स्वरूप है। जीव रूप समुद्र है उसमें जगत रूप लहरें उठा करती हैं और लय हुआ करती हैं। स्वरूप ही से वह जल रूप है, नहीं तो कुछ नहीं है। जिस प्रकार अग्नि में उष्णता है, उसी प्रकार जीव में सर्ग है और वह ज्ञानवान है। उसको आत्मसत्ता ही सर्वज्ञ जान पड़ती है। पर अज्ञानी के लिए तो अनेक कल्पना हैं। हे लीले! यह जगत जो साकार रूप जान पड़ता है, वह आत्मा से पृथक नहीं है। जिस प्रकार वृक्षमें पत्ते और फल आदिक उसके अङ्ग होकर जान पड़ते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मसत्ता ही जगत रूप होकर जान पड़ती है, और कुछ नहीं। इस सम्बन्ध में अन्य कल्पना करना केवल भ्रममात्र है। नहीं तो जगत सत्-असत् कुछ नहीं है। रस्सी में सर्प के समान यह जगत जान पड़ता है। जैसे अज्ञानी के प्रति जगत असत्य नहीं जान पड़ता, वैसे ही आत्मज्ञानी के लिए जगत सत्य नहीं जान पड़ता। क्योंकि वह कोई वस्तु नहीं है। जिसमें जैसी स्पंदता फुरती है, उसको वैसा ही अनुभव होता है। मरण समय में तो इसको क्षणमात्र में जगत फुर आता है। हां, किसी को पूर्ण रूप से और किसी को अपूर्णतः और किसी को मिश्रित भाव से फुरता है। यही कारण है कि, तेरे पति को वही मन्त्री, वही सभासद और वही स्त्री उसके वासना के अनुसार फुर आये हैं। क्योंकि आत्मा सर्व रूप है। इसमें जिस-जिस भाँति से तीव्र स्पंदता होता है, वैसाही

प्रतीत हो रहा है कि मेरे पतिदेव की ही विजय होगी । लीला की ऐसी बात सुनकर सरस्वतीजी ने कोई उत्तर नहीं दिया और किञ्चित मृदु मुसुक्यान के साथ मन में कहा कि जीव का चित्त बड़ा चंचल है। यह युद्ध अर्द्धरात्रि से ही चल रहा था कि, सूर्य भगवान् अपनी लालिमा को धारण कर उत्पन्न हुए । तब महायुद्ध होने लगा । दोनों पक्ष के सैनिक और दोनों राजा प्राणपण में युद्ध करने लगे । उस झंझावात युद्ध के चलने पर विदूरथ की सेना को विशेष क्षति पहुँची । यहां तक कि जब सिन्धुराज के सैनिकों ने उस पर घोर शस्त्र चलाना आरम्भ किया, तब विदूरथ के सैनिक त्राहि-त्राहि की पुकार करते हुए उसके पास भाग कर पहुँचने लगे । तब सैनिकों की ऐसी दुर्दशा देखकर विदूरथ अत्यन्त कुपित हुआ और उसने रूपक अस्त्र का प्रयोग किया । फिर तो महाभयानक रूप धारण कर भैरव के अगणित गण प्रकट होकर कड़कड़ाते हुए नग्न शरीर से खप्पर लिए हुए सिन्धु के सैनिकों को भक्षण करने और रक्तपान करने लगे । इससे सिन्धुराज के सैनिकों को बड़ा क्षोभ हुआ । उनकी ऐसी दुर्दशा देखकर सिन्धुराज को बड़ा क्रोध आया और उसने राक्षशास्त्र चलाकर करोड़ों राक्षस उत्पन्न कर दिये । वह भयानकरूप काले-काले और जिह्वा निकाले हुए राक्षस ऐसा चमत्कार करने लगे जैसे काली घटा में बिजुली चमत्कार करती है । ऐसे अनेक राक्षस पाताल लोक से निकलकर संग्राम क्षेत्र में पहुँचकर जिसको अपने सामने पाते, चबा डालने लगे । उन राक्षसों को देखकर विदूरथ के सैनिक अत्यन्त भयभीत हो गये । उन राक्षसों का ऐसा भयानक रूप हो रहा था कि, जिसके सामने हँसकर देखें, वह तुरन्त डर कर प्राण छोड़ देता था । तब सेनाकी ऐसी दुर्दशा होते देख कर विदूरथ ने विष्णु बाण का प्रयोग किया, जिससे समस्त राक्षसों का सहार हो गया । पर राक्षसों का संहार और सैनिकों को त्रसित होते देखकर सिन्धुराज से न रहा गया और उसने भी अग्नि-

इसने तो मोक्ष के लिए वर प्राप्त किया है। इस कारण संग्राम में विजय सिन्धुराज का होगी और तेरा पति मोक्ष को प्राप्त होगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का चौवालीसवां सर्ग समाप्त ॥ ४४ ॥

:::-::-❀-::-:::

तैंतीसवां सर्ग

भीषण-दृश्य

हे रामजी ! सरस्वती ऐसा कह ही रही थीं कि दोनों सेनायें फिर भीषण संग्राम करने लगीं और दोनों लीला उसे देखने लगीं। राजा विदूरथ और सिन्धुराज दोनों खड़े होकर ऐसे वाण चला रहे थे जैसे कि दो विष्णु खड़े हों। उनके धनुष वाण की प्रत्यञ्चा से वाण निकल कर आपस में विविध प्रकार का युद्ध करते हुए सैकड़ों टुकड़े हो कर पृथ्वी पर गिरते थे। उसी समय राजा सिन्धु ने सम्मोहन वाण चला कर विदूरथ की समस्त सेना को मोहित कर दिया। सैनिकगण एक दूसरे का मुँह ताकते रह गए। यहाँ तक कि राजा विदूरथ को भी उस वाण का प्रभाव होगया। पर उसने सम्हल कर प्रबोध शस्त्र चलाया जिससे सैनिकों का मोह दूर होगया और वे युद्ध में सन्नद्ध हुए। विदूरथ के इस कौशल को देखकर सिन्धुराजने भी नागास्त्र का प्रयोग करके उसकी सेना को विक्षिप्त कर दिया। दशों दिशाओंमें पर्वताकार नाग ही नाग उड़ने लगे। अतः नागों के मुँह से विष और अग्नि की ज्वाला निकल रही थी। उससे विदूरथ के सैनिकों में त्राहि-त्राहि मच गयी। तब राजा विदूरथ ने गरुणास्त्र का प्रयोग किया ! फिरतो उन नागों के नाश होने पर गरुण भी अन्तर्ध्यान होगए। तब दोनों राजा साधारण वाण युद्ध करने लगे उस समय राजा विदूरथ ऐसी वीरता से लड़ रहा था कि सिन्धुराज के समस्त वाणोंको खण्ड-खण्ड करके उड़ा देता था। फिर तो बहुत पराक्रम करने पर भी सिंधुराज को विक्षिप्त होजाना पड़ा। तब उसे मूर्छित होते देखकर झरोखेमें बैठी हुई नवीन लीला ने सरस्वती से कहा, हे देवि ! अब तो ऐसा

प्रतीत हो रहा है कि मेरे पतिदेव की ही विजय होगी। लीला की ऐसी बात सुनकर सरस्वतीजी ने कोई उत्तर नहीं दिया और किञ्चित मृदु मुसुक्यान के साथ मन में कहा कि जीव का चित्त बड़ा चंचल है। यह युद्ध अर्द्धरात्रि से ही चल रहा था कि, सूर्य भगवान् अपनी लालिमा को धारण कर उत्पन्न हुए। तब महायुद्ध होने लगा। दोनों पक्ष के सैनिक और दोनों राजा प्राणपण में युद्ध करने लगे। उस झंझावात युद्ध के चलने पर विदूरथ की सेना को विशेष क्षति पहुँची। यहां तक कि जब सिन्धुराज के सैनिकों ने उस पर घोर शस्त्र चलाना आरम्भ किया, तब विदूरथ के सैनिक त्राहि-त्राहि की पुकार करते हुए उसके पास भाग कर पहुँचने लगे। तब सैनिकों की ऐसी दुर्दशा देखकर विदूरथ अत्यन्त कुपित हुआ और उसने रूपक अस्त्र का प्रयोग किया। फिर तो महाभयानक रूप धारण कर भैरव के अगणित गण प्रकट होकर कड़कड़ाते हुए नग्न शरीर से खप्पर लिए हुए सिन्धु के सैनिकों को भक्षण करने और रक्तपान करने लगे। इससे सिन्धुराज के सैनिकों को बड़ा क्षोभ हुआ। उनकी ऐसी दुर्दशा देखकर सिन्धुराज को बड़ा क्रोध आया और उसने राक्षशास्त्र चलाकर करोड़ों राक्षस उत्पन्न कर दिये। वह भयानकरूप काले-काले और जिह्वा निकाले हुए राक्षस ऐसा चमत्कार करने लगे जैसे काली घटा में बिजुली चमत्कार करती है। ऐसे अनेक राक्षस पाताल लोक से निकलकर संग्राम क्षेत्र में पहुँचकर जिसको अपने सामने पाते, चबा डालने लगे। उन राक्षसों को देखकर विदूरथ के सैनिक अत्यन्त भयभीत हो गये। उन राक्षसों का ऐसा भयानक रूप हो रहा था कि, जिसके सामने हँसकर देखें, वह तुरन्त डर कर प्राण छोड़ देता था। तब सेनाकी ऐसी दुर्दशा होते देख कर विदूरथ ने विष्णु बाण का प्रयोग किया, जिससे समस्त राक्षसों का संहार हो गया। पर राक्षसों का संहार और सैनिकों को त्रसित होते देखकर सिन्धुराज से न रहा गया और उसने भी अग्नि-

इसने तो मोक्ष के लिए वर प्राप्त किया है। इस कारण संग्राम में विजय सिन्धुराज का होगी और तेरा पति मोक्ष को प्राप्त होगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति–प्रकरण का चौवालीसवां सर्ग समाप्त ॥ ४४ ॥

:::-::-❀-::-:::

तैंतीसवां सर्ग

भीषण–दृश्य

हे रामजी ! सरस्वती ऐसा कह ही रही थीं कि दोनों सेनायें फिर भीषण संग्राम करने लगीं और दोनों लीला उसे देखने लगीं। राजा विदूरथ और सिन्धुराज दोनों खड़े होकर ऐसे वाण चला रहे थे जैसे कि दो विष्णु खड़े हों। उनके धनुष वाण की प्रत्यञ्चा से वाण निकल कर आपस में विविध प्रकार का युद्ध करते हुए सैकड़ों टुकड़े हो कर पृथ्वी पर गिरते थे। उसी समय राजा सिन्धु ने सम्मोहन वाण चला कर विदूरथ की समस्त सेना को मोहित कर दिया। सैनिकगण एक दूसरे का मुँह ताकते रह गए। यहाँ तक कि राजा विदूरथ को भी उस वाण का प्रभाव होगया। पर उसने सम्हल कर प्रवोध शस्त्र चलाया जिससे सैनिकों का मोह दूर होगया और वे युद्ध में सन्नद्ध हुए। विदूरथ के इस कौशल को देखकर सिन्धुराजने भी नागास्त्र का प्रयोग करके उसकी सेना को विक्षिप्त कर दिया। दशों दिशाओंमें पर्वताकार नाग ही नाग उड़ने लगे। अतः नागों के मुँह से विष और अग्नि की ज्वाला निकल रही थी। उससे विदूरथ के सैनिकों में त्राहि-त्राहि मच गयी। तव राजा विदूरथ ने गरुणास्त्र का प्रयोग किया ! फिरतो उन नागों के नाश होने पर गरुण भी अन्तर्ध्यान होगए। तब दोनों राजा साधारण वाण युद्ध करने लगे उस समय राजा विदूरथ ऐसी वीरता से लड़ रहा था कि सिन्धुराज के समस्त वाणोंको खण्ड-खण्ड करके उड़ा देता था। फिर तो बहुत पराक्रम करने पर भी सिंधुराज को विक्षिप्त होजाना पड़ा। तव उसे मूर्छित होते देखकर झरोखेमें बैठी हुई नवीन लीला ने सरस्वती से कहा, हे देवि ! अब तो ऐसा

कि सिन्धुराज का रथ चूर चूर हो गया और घोड़े भी दूर जाकर गिर पड़े और तड़फड़ाने लगे। फिर तो रथको नष्ट होते देखकर सिंधुराज को ऐसा क्रोध आया कि, उसने एक महा भयानक अस्त्र का प्रयोग करके विदूरथ के रथ और घोड़ों को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। अब दोनों नङ्गी तलवार लेकर संग्राम भूमि में कूद पड़े और भीषण युद्ध करने लगे। उसी समय दोनों के सारथी नवीन रथ लेकर पहुँच गए और फिर रथ पर बैठकर दोनों युद्ध करने लगे। फिर तो विदूरथ ने सिन्धुराज पर अपनी बरछी का एक ऐसा वार कर दिया कि, उसकी छाती से रुधिर की धारा बहने लगी। उसे देखकर झरोखे में बैठी हुई लीला ने कहा—हे सरस्वती जी! अब मेरा पति अवश्य विजयी होगा। लीला का ऐसा कहना था कि, उसी समय सिन्धुराज ने अत्यन्त कुपित होकर विदूरथ के हृदय को लक्ष्य कर अपनी विष बुझी बरछी का ऐसा वार कर दिया कि, वह मूर्छित हो गया। उसको मूर्छित देखकर विदूरथ की लीला भी मूर्छायमान होगई। फिर तो सिन्धुराज ने तलवार उठाकर विदूरथ का पांव काट डाला और घोड़ों को भी काटकर संग्राम भूमि में बिछा दिया। पर वह विदूरथ भी ऐसा वीर था कि, पांव आदि के कटने पर भी उठ-उठ कर युद्ध करता ही रहा। किन्तु अर्द्धाङ्ग-वीर का साहस ही कितना, वह मूर्छा से विवश होकर रथ में गिर पड़ा और शरीर से रुधिर बहने लगा। तब सारथी उसके रथ को लेकर घर की ओर चला। पर अत्यन्त कुपित होकर सिंधुराज ने उसका पीछा किया और चाहा कि विदूरथ का शरीर भी छीन लें। वह अपने रथसे कूद पड़ा और शरीर लेने को पांव पैदल बन्दरों की भांति दौड़ने लगा। पर देवी के आशीर्वाद से रथ इतनी शीघ्रता से चल रहा था कि वह उसे पकड़ न सका। फिर तो सारथी रथ लेकर राजा के गृहमें जा पहुँचा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का छियालीसवां सर्ग समाप्त ॥ ४६ ॥

::-❀-::

वाण का प्रयोग कर दशों दिशाओं में अग्नि प्रज्वलित कर दिया। किन्तु उस अग्नि को देखकर राजा विदूरथ ने वरुणास्त्र का प्रयोग करके जल उत्पन्न किया और उससे समस्त अग्नि को शांत कर दिया। फिरतो अग्नि नष्ट होकर समस्त स्थानोंमें जल ही जल दिखलाई पड़ने लगा। तब सिंधुराज ने शोषणमय अस्त्र चलाकर जल को सुखा दिया। यहाँ तक कि उस वाण ने कीचड़ को भी सुखाकर ऐसा ताप उत्पन्न किया कि, विदूरथ के सैनिक ऐसे ही जलने लगेकि जैसे क्रोध वश मूर्ख का हृदय जल रहा हो। पर विदूरथ ने मेघास्त्र का प्रयोग कर उस ताप को बुझा दिया और सिंधुराज ने वायव्य अस्त्र को चलाकर उसे ऐसा भगा दिया, कि जैसे वायु सूखे पत्तों को भगा देती है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का पैंतालीसवां सर्ग समाप्त ॥ ४५ ॥

—::-❀-::—

छियालीसवाँ सर्ग

विदूरथ मरण वर्णन

वशिष्ठ जी बोले-हे रामजी ! इतने पर भी वह राजा विदूरथ भयभीत न हुआ और सिंधुराज के चलाये हुए वायव्य वाणों को विफल करने के लिए उसने पर्वतास्त्र का प्रयोग करके वायुका क्षोभ मिटा दिया। फिर तो जिस प्रकार संवेदना से रहित होने पर चित्त की वृत्तियां शांत हो जाती हैं, उसी प्रकार वायुका वेग रुक गया और सभी पदार्थ स्थिर होगए। पर्वतास्त्र के चलते ही बड़े२ पहाड़ सिन्धुराज की सेना पर टूटने लगे। पर उनको निवारण करने के लिए सिन्धुराज ने वज्र चलाकर सब पर्वतों को छिन्न-भिन्न कर दिया। पर्वतों को छिन्न भिन्न होते देखकर विदूरथ ने ब्रह्मास्त्र का ऐसा प्रयोग किया कि वज्र वाणोंकी शक्ति नष्टभ्रष्ट होगई और वह जहाँ का तहाँ गुप्त होगया। इस प्रकार दोनों राजा एक दूसरे को परास्त करने के लिए वाण-कौशल प्रदर्शित कर रहे थे। पर दोनों ही, चढ़-बढ़कर थे। उसी समय राजा विदूरथ ने बड़ी वीरता पूर्वक एक ऐसा वाण चलाया

त्यों का त्यों आत्मसत्ता ही स्वतः स्थित है। उसी आत्मसत्तामें मैं और तुम इत्यादिक सब जगत भ्रमवश जान पड़ता है। नहीं तो यह कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है। हे लीले! उसी वशिष्ठ ब्राह्मण के मण्डपाकाश में अनेक स्थान हैं और प्राणियों के आने जाने के तीन मार्ग व्यवहरित जान पड़ते हैं। जिन प्रकार स्वप्न में नाना प्रकार की आरम्भिकता असत्य ही जान पड़ती है उसी प्रकार यह जगत भी असत्य रूप है। इसमें द्रष्टा, दृश्य कुछ नहीं है, जो कुछ है सब त्रिपुटी में ही है और चित्त की संवेदना से जान पड़ता है। अतः तेरे पति की जो सृष्टि वशिष्ठ ब्राह्मण के मण्डपाकाशमें स्थित है, अथवा विदूरथ का जगत जो राजापद्म के हृदय में स्थित है, वहाँ तेरा शरीर पड़ा है और राजा पद्म का शव पड़ा है, वह हमारे लिए प्रदेशमात्र है। उस प्रदेश में अँगूठे के प्रमाण के सदृश हृदय-कमल है। उसी कमल में तेरे पति का जीव है। उसमें ही यह जगत चिरकाल का निर्मित हुआ ज्ञात होता है। पर वह एक प्रदेश मात्र है और कई योजनों पर्यन्त दूर से भी दूर है, उसको मार्ग भी वज्र के समान कठिन और तत्वमय है, उसको लांघ जाने पर तेरे पति की वह सृष्टि है जहाँ कि उसका शव पड़ा है। उसी के पास यह लीला पहुँच जायगी। यह सुनकर लीलाने कहा-हे देवि! जब वह मार्ग ऐसा कठिन है तो उसको लांघकर क्षणमात्र में ही यह कैसे पहुँच जायगी। जिस शरीर के साथ उसको जाना था सो तो अभी यहीं पड़ा है। वह कैसा रूप धारण कर वहाँ चली गई और उसको वहाँ के लोगों ने कैसे जान-पहिचान लिया होगा, यह सारी कथा आप संक्षेप में कहिए। तब सरस्वती जी कहने लगीं—हे लीले! यह कथा बहुत बड़ी और इतने महत्त्व की है कि, इसका तत्त्व समझ लेने पर जगत भ्रम का नाश हो जाता है। पर इसे संक्षेप ही में मैं तुझे सुना रही हूँ, ध्यान देकर सुन। हे देवि! सबसे पहले तू यह जान ले कि, विदूरथ का जन्म मरण और नवीन लीला की प्राप्ति और यह जो

सैंतालीसवां सर्ग

सिन्धु-राष्ट्र वर्णन

विदूरथ के रथ का पहुँचना था कि, गृह में जो लोग पहले ही से विद्यमान थे स्त्रियाँ, मंत्री और बन्धु बान्धवगण छाती पीट २ कर महाविलाप करने लगे। उस दारुण रोहाट से बड़ा भयानक शब्द उत्पन्न हुआ। फिर तो युद्ध बन्द हुआ और सिन्धुराज की सेना ने विजय का डङ्का बजाकर राजा विदूरथ का नगर लूट लिया। चारों ओर से सिन्धुराज की जय-ध्वनि सुनाई देने लगी। अब वह समस्त भूमण्डल सिन्धुराज को हो गया।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का सैंतालीसवां सर्ग समाप्त ॥ ४७ ॥

-:::-❀-:::-

अड़तालीसवां सर्ग

मरण-मूर्छा-की-प्रतिभा वर्णन

इस प्रकार विदूरथ का मरण और उसकी लीला की मूर्छा देख कर प्रबुद्ध लीला (नवीन लीला) ने प्रश्न किया कि, हे भगवती ! अभी तो राजा की थोड़ी-थोड़ी श्वांस भी चल रही है, पर उसकी लीला तो मृतकरूप जान पड़ती है। फिर यह कैसे कहा जाय कि लीला राजा के शरीर के साथ वहां पहुँच जायेगी ? सरस्वती ने उत्तर दिया कि, हे लीले ! तू यह जो कुछ भी देख रही है और कैसा कुछ युद्धादि हुआ है और जो यह नाना प्रकार का जगत है, सब भ्रममात्र है। तेरे पति राजा पद्म का हृदय तो मण्डपाकाश में स्थित था। वहीं यह सम्पूर्ण जगत स्थित है और राजा पद्म का मण्डपाकाश वशिष्ठ ब्राह्मण के मण्डपाकाश में स्थित है पर उस वशिष्ठ का मण्डपाकाश चिदाकाश के आश्रय में है। इससे यह सम्पूर्ण जगत वशिष्ठ ब्राह्मण की पुर्यष्टक शरीर में स्थित है। जिस प्रकार आकाश में ही आकाश स्थित है जो यह कल्पना भी कुछ नहीं है उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत फुरा करता है नहीं तो इसकी कल्पना तक कुछ नहीं है। यह

थी कि उधर नवीन लीला ने अन्तवाहक शरीर धारण कर राजा पद्म के मध्यमें पहुँचने का मार्ग बना लिया। वह उड़ती हुई शीघ्रता पूर्वक चली जा रही थी, कि अकस्मात उसके आगे एक कुमारिका आ खड़ी हुई। उसे देखकर लीलाने पूछा आप कौन हैं और मेरे आगे मार्ग रोकने को क्यों पहुँची हैं। कुमारिका ने उत्तर दिया, कि मैं देवी सरस्वती की पुत्री हूँ और आपको मार्ग बताने के लिए आई हूँ। लीला ने कहा, तब तो मेरा बड़ा भाग्य उदय हुआ। अच्छा कृपाकर मुझे मेरे पति देव के पास ले चलिए। फिर तो आगे-आगे कुमारिका मार्ग बतलाते हुए लीला को साथ लेकर आकाश मार्गमें उड़ चली। तब सूर्य और तारों का मंडल बाँधती हुई लोकपाल ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, और रुद्रलोक को लाँघ कर वज्र के समान कठोर ब्रह्मांड कपाट के निकट जा पहुँचीं। वहाँ से चलकर अग्नि, वायु, और आकाशतल की मीमा को पार करते हुए महाचेतन आकाश में जा पहुँची। उस महा चेतन आकाश के आदि और अन्त का पता नहीं कि वह कितना बड़ा है। उसका अन्त पानेके लिए यदि विष्णु भगवान का वाहन गरुड़ भी कोटि कल्प तक उड़े तो भी अन्त नहीं पा सकता। पर अन्तवाहक शरीर से कुमारी के साथ लीला उसे पार कर परमाकाश में पहुँच गई। वहाँ उसे कोटि ब्रह्माण्डों की रचना दिखलाई पड़ी। वह रचना ऐसे ही थी, जैसे कि मनमें अनेक वृक्षों का फल लगा हो। फिर तो वे दोनों देवी एक फल के मार्ग से ऐसे ही प्रविष्ट हुईं जैसे कि, किसी फल में चींटी प्रवेश कर जाती है। फिर तो उन दोनों ने वहाँ भी ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र सहित त्रिलोकी को फिर देखा। परन्तु उन लोकों को भी पार करके वे दोनों लोकपाल, चन्द्रमा और तारागण मण्डल को भी लाँघती हुई वायु और मेघमण्डल को पार कर अपने राजा के नगर में जा उतरीं। फिर नगर में प्रविष्ट होकर राजा पद्म के मण्डपाकाश में जहाँ कि उसका शव पुष्पों से ढँका हुआ पड़ा था, वहाँ जा पहुँचीं। वहाँ पहुँ-

कुछ संग्रामादि हुए हैं सब जगत भ्रमरूप है। केवल मैं सर्वात्मा हूँ, परन्तु मेरा प्रकट होना भी, भ्रमरूप है। हे देवि! वासना के अनुसार ही तू अपने पति राजा पद्म को आ मिली थी। जो कुछ है, सब वासना ही से है। जब यह मृतक हो जाता है, तब पहले यह अंतवाहक शरीर धारण करता है और फिर वासना के अनुसार जो पहली वासना में शेष रहा है उसके अनुसार आधिभौतिक होता है। तब उसी के अनुसार फिर उसका जन्म और मरण होता है उसी प्रकार जब तेरा पति मरा है, तब उसको अपना जन्म-मरण और कुल, भास आया है तो माता पिता तथा लीला के साथ विहार आदि भी उसको भासित हुआ जिस प्रकार तू राजा पद्म को भास आई है, उसी प्रकार वह विदूरथ के प्रति, भास आई थी। पर यह सब कुछ वासना के अनुसार भ्रमसे भासित हुआ है। अन्यथा ब्रह्मसत्ता सर्व आत्मसत्ता है। उसमें जैसी तीव्र स्पन्दता होती है, वह वैसे ही प्रत्यक्ष होता है, पर मैं तो ज्ञाप्ति रूप और चेतनाशक्ति हूँ। मुझ ऐसे को जो जैसी इच्छा धारण करके पूजता है, उसे मैं वैसा ही फल देती हूँ। अतः जो पहले लीला ने मुझसे यह वर माँग लिया था कि, मेरा पति मरने पर भी मेरे ही मण्ड-पाकाश में रहे और मैं विधवा न होऊँ, उसके अनुसार मैंने उसे वर दे दिया था। इसी से उसे मूर्छा के होने पर अपना शरीर जान पड़ा और वह जहाँ तेरे पति राजा पद्म का शव शरीर रखा है वहाँ उस मंडप में इसी शरीर से उसके निकट जा पहुँचा। उसका इस बात का निश्चय था कि, मैं उस शरीर के साथ आई हूँ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४८ ॥

❀::❀::-❀

उनचासवाँ सर्ग

नवीन लीला की मंडपाकाश यात्रा

हे रामजी! इधर तो सरस्वती और लीला में यह वार्ता हो ही रही

पचासवां सर्ग

द्रव्य-सत्ता-नीति-विवेचन

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! इस प्रकार लीलाके प्रश्नों का उत्तर देते हुए सरस्वती जी ने कहा-हे लीले! यदि कोई बड़ा ज्ञानी हो तो उसे भी जानने योग्य पद को न जानने से अन्तवाहकता नहीं प्राप्त हो सकती। अन्तवाहक शरीर भी मिथ्या है क्योंकि सङ्कल्प से ही इसको वास्तविकता है। यह समस्त जगत उत्पन्न नहीं हुआ, केवल शुद्ध-चिदाकाश-सत्ता अपने में स्वतः स्थित है। यह सुनकर लीलाने पूछा कि, हे कल्याणि! सब जगत सङ्कल्प मात्र है तो भाव और अभाव रूप पदार्थ कैसे होते हैं। अग्नि में उष्णता, पृथ्वी में स्थिरता बर्फ में शीतलता और आकाश सत्ता, काल सत्ता और स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थ, ग्रहण और त्याग, जन्म और मरण, फिर मरण और जन्म लेने आदि की सत्ता कैसे भासती है? उसका उत्तर देते हुए देवी सरस्वतीजीने कहा-हे लीले! महाप्रलय होने पर समस्त पदार्थों का अभाव हो जाता है और काल सत्ता भी नष्ट हो जाती है। उसके बाद अनन्त चिदाकाश और सब कलनाओं से रहित केवल बोध मात्र ब्रह्म-सत्ता ही शेष रहती है। उस कैवल्य चेतन सत्ता से जब चित्त संवित में चैतन्यता होती है, तब चेतना शक्तिमें अपने को तेज अणु जानने लगता है। जैसे स्वप्न में कोई अपने को पक्षीके समान उड़ता हुआ देखे, वैसे ही अपने को तेज अणु देखता है। उससे स्थूलता होती है और वह ब्रह्माण्ड रूप है। उसमें वह तेज अणु अपने को ब्रह्मारूप जानता है और यह जानता है कि मैं ही ब्रह्मा हूँ और फिर मैं ही ब्रह्मारूप होकर जगतको रचता हूँ। वह ब्रह्मा जिस प्रकार चेतता जाता है, उसी प्रकार उसमें स्थिरता का रूप भी दृढ़ हो जाता है। आदि रचना से जैसा निश्चय धारण किया है कि, 'यह ऐसा ही हो और इतने काल तक रहे'-इसी का नाम नीति है। अतः जैसे आदि रचना की नीति है और वह ज्यों की त्यों है, उसका निवारण

चते ही देवी कुमारी तो मायावी वस्तुकी नाईं अन्तर्धान होगई और लीला, राजा पद्म के शवके पास जा बैठी फिर कुछ सोच विचार कर पास ही में चमर रखा देख कर उठा लिया और अपने पतिदेव को चमर डुलाने लगी ।

उधर प्रबुद्ध लीलाने राजा विदूरथकी धीरे२ सांस चलते हुए देखकर सरस्वती ने पूछा कि हे भगवती ! अब तो प्रतीत होता है कि, राजाका मरणकाल अत्यन्त निकट है । पर जब यह मर जायगा तब फिर राजा पद्मके शरीर में यह कैसे प्रविष्ट होगा और जागनेपर उस के नौकर चाकर इसे कैसे पहचानेंगे ? सरस्वती जी ने उत्तर दिया-हे लीले ! यह रहस्य बड़ा गुप्त है । इसे या तो मैं जानती हूँ या तू जानेगी या वह लीला जानेगी अन्यथा और कोई न जानेगा । जब राजाके जागने का समय होगा तब मंत्री आदि उसके सेवक (टहलुए) हो जायँगे और उनको दूसरी कोई कल्पना न भासेगी । ऐसा उत्तर सुनकर लीला ने पूछा कि, हे देवि ! अब यह बतलाइए कि उस लीला का शरीर तो अभी यहाँ ही पड़ा है, फिर वह पद्म के पास कैसे पहुँच गई । सरस्वतीजीने कहा-हे लीले ! वह मेरे वरके प्रतापसे और अपने सङ्कल्पके बलसे पहुँच गई है । उसका शरीर सङ्कल्पमें स्थित था और वह उसे ही अपने साथ लेगई है । फिर आत्मसत्ता तो सर्वात्म-स्वरूप है । उसमें जैसी२ भावना दृढ़ होती है, वह वैसा ही रूप धारण करता है । जो यह समझता है कि मैं पञ्चभूत रूप हूँ, उसके लिए उड़ सकना अत्यन्त असम्भव है । पर इस लीला का भ्रम तो मेरे वर के प्रताप से दूर होगया था, इससे मूर्छान्तर में उसको भास आया कि मैं सरस्वतीजी के वर के प्रतापसे चली जाऊँगी ऐसी वासनाने ही उसे वहाँ पहुँचा दिया । हे लीले ! समस्त जगत आत्मामें केवल आभास स्वरूप और स्वतः अपने आप स्थित है । यही अज्ञानी के लिए दूर जान पड़ता है । पर जो ज्ञानी पुरुष हैं वे सदैव शान्तस्वरूप और आत्मानन्दमें तृप्त रहते हैं । किन्तु अज्ञानियोंको शांति नहीं मिलती ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा उत्पत्ति-प्रकरण उनचासवां सर्ग समाप्त ॥ ४९ ॥

जिसकी देश, काल और द्रव्य की क्रिया एवं चेष्टा यथा शास्त्र होती है उसकी अन्य क्रिया भी शास्त्रानुसार ही होती है। पर जो चेष्टा शास्त्रके विपरीत होती है तो आयुर्बल भी वैसा ही होता है। किसी क्रियासे आयु बढ़ती है और किसी क्रिया से घटती है। इसी भांति देश, काल, क्रिया और द्रव्य आयुको घटाने बढ़ाने वाले होते हैं। उन्हीं सब में समस्त जीवों के शरीर अत्यन्त ही सूक्ष्म अवस्थामें सोये पड़े हैं। यही आदि रची हुई नीति है। इसमें दिव्य वर्ष का कलियुग, दो सौ दिव्य वर्षका द्वापर और तीन सौ वर्षका त्रेता और चार सौ दिव्य वर्ष का सतयुग है। पर यही लौकिक व्यवहार में चार लाख बत्तीस हजार का कलियुग और आठ लाख चौंसठ हजार वर्ष का द्वापर व बारह लाख छानवे हजार वर्ष का त्रेता और सत्रह लाख अट्ठाईस हजार वर्ष का सतयुग माना जाता है। ऐसे ही युगों की मर्यादा में जीव अपने कर्मानुसार आयु भोगते हैं। हे लीले! पापीजन ही मरते हैं और उन्हीं को मरण समय में अत्यन्त कष्ट होता है। इस पर लीला ने पूछा कि, हे कल्याणि! मरे हुओं को दुःख और सुख कैसे भोगना पड़ता है। देवी ने उत्तर दिया कि, जीवों की मृत्यु तीन प्रकार की है। मूर्ख, धारणाभ्यासी और ज्ञानी। धारणाभ्यासी न तो मूर्ख है और न ज्ञानी। वह देवता का उपासक है। शरीर छोड़ने पर वह उसी देवता को जा मिलता है। पर ऐसे अपूर्ण ज्ञानियों का शरीर सुख से छूटता है। सुषुप्ति के समान धारणाभ्यासी शरीर त्यागता है। वह पुनः सुखभोगकर आत्मतत्व को प्राप्त करता है। इसी प्रकार ज्ञानी का भी शरीर सुख से छूटता है, किन्तु वह विदेह मुक्त होता है। पर मूर्ख को तो मृत्युके समय अत्यन्त कष्ट होता है (मूर्ख वह है जो अज्ञानियों की सङ्गति में रहे, शास्त्रों के विपरीत आचरण करे और सदैव विषयवासना में लवलीन रहकर पाप करता फिरे) ऐसे मूर्खों को मृत्यु के समय शरीर छोड़ते हुए बड़ा कष्ट मिलता है। क्योंकि वह पापी है। हे लीले! मरण समय में मनुष्य की अर्थाभरण

करने में कोई समर्थ नहीं और वस्तुतः आदि ब्रह्मा भी विना कारण रूप है अर्थात् उसकी कोई उत्पत्ति नहीं है। फिर जगत को उत्पन्न हुआ मैं कैसे कहूँ। हे लीले! रूप धारण कर कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है। केवल चेतन संवेदन के फुरने में जगत आकार होकर भासता है। उसमें जैसा निश्चय है, वैसा ही वह स्थित है। अग्नि में उष्णता, वर्फ में शीतलता और पृथ्वी में स्थिरता ही उसका रूप है। जिस रूपसे वह उपजते हैं, वैसे ही स्थित भी है। हे लीले! चेतन के सम्बन्ध में ऐसी नीति है कि वही उपदेश का अधिकारी है, पर जो जड़ है उसके लिए उपदेश नहीं। क्योंकि वह तो वही स्वभाव ही है। अस्तु जब आदि चित संवितमें आकाश का फुरना निश्चय है, तब उसका आकाश रूप से स्थित होना भी सिद्ध है! जब काल में स्पन्द फुरा अर्थात् सङ्कल्प विकल्प हुआ तब वही चेतन शक्ति व्यात्म रूप होकर स्थित होगयी। जैसे वायु में चेतनता होने पर वह शक्ति वायु रूप होकर स्थित होती है, वैसे अग्नि, जल और पृथिव्यादि अनेक रूप होकर स्थित हैं। ऐसे ही स्थूल और सूक्ष्मरूप होकर चेतनाशक्ति ही स्थित हो रही है। जिस प्रकार स्वप्न में चेतना शक्ति ही पर्वत से वृक्ष रूप होकर स्थित होती है, उसी प्रकार वही चेतना शक्ति जगत रूप होकर भी स्थित है। हे देवि! जैसे-जैसे आदि नीति ने सङ्कल्प रूप धारण किया है वैसे ही वह स्थित भी है। उसे कोई भी निवारण नहीं कर सकता। कारण कि उसने चेतना का पूर्ण अभ्यास किया है। इससे हे लीले! यह जगत मिथ्या है। असत् ही सत् के समान भासता है। वास्तव में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। जिस प्रकार स्वप्न की सत्ता असत्य है, पर उस समय सत्यरूप से भासती है, उसी प्रकार अज्ञान से मिथ्या जगत सत्य भासता है और यही कारण जन्म-मरण आदिक कर्मों का फल होता है। उसका भी कारण सुन? हे लीले! देश, काल और द्रव्य छोटे और बड़े होते हैं। कोई बाल्यावस्था में मरते हैं और कोई युवावस्था ही में मर जाते हैं। उसमें

वह अत्यन्त वेग से चला और दोनों देवियां भी उसी के पीछे-पीछे चलीं। देवियां तो उसे देख ही रही थीं पर राजा उनको नहीं देख पाता था। तब वह तीनों एक ब्रह्माण्ड की सीमा को पार कर दूसरे में और फिर उसे भी पार कर राजा पद्म के नगर में जा पहुँचे। फिर तो पलमात्र में राजा विदूरथ का जीव राजा पद्म के मन्दिर में उसके सब शरीर के साथ जाकर ऐसे ही मिल गया जैसे कि बादल से वायु मिल जाता है। तब देवियां भी वहीं जा मिलीं। यह सुनकर रामजी ने पूछा कि, हे सर्व विद्याओं के आचार्य वशिष्ठजी! राजा विदूरथ तो मर गया था, फिर उसने राजा पद्म के स्थान में पहुँचने का मार्ग कैसे जाना और वहाँ कैसे जा मिला? वशिष्ठजी कहने लगे,—हे रामजी! राजा ने मृतक होकर केवल शरीर का त्याग किया था, उसकी वासना का नाश नहीं हुआ था। उसी वासना से वह अपने स्थान को जा मिला। हे रामजी! जगत तो भ्रान्ति मात्र है। जैसे वट-बीज में अनन्त बट-वृक्ष होते हैं, वैसे ही चिद् अणु में अनन्त जगत भी हैं। जो अपने में स्थित है उसको देखना क्या कठिन है। जब जीव अपने जीवत्व अंकुर को देख सकता है, तब चिद् अणु त्रिलोकी को भी देख सकता है। जिस प्रकार कोई धनी पुरुष अपने धन को पृथ्वी में गाढ़ कर बाहर चला जावे तो सोते जागते वासना द्वारा वह हर समय अपने धन को देखता रहता है, उसी प्रकार वासना की दृढ़ता से ही राजा विदूरथ ने अपने स्थान को देखा। अतः जिसकी जैसी भावना होती है, उसको वैसा ही अनुभव होता है। इस पर रामजी ने फिर पूछा कि, हे भगवन्! जिसकी वासना के पीछे पिंडदानादिक क्रियायें नहीं रहतीं और मर जाता है, तब वह अपने साथ शरीर को कैसे देखता है? क्योंकि उसकी पिंड-क्रिया तो हुई नहीं। वशिष्ठजी ने उत्तर दिया कि, हे रामजी! मनुष्य माता के पिंड अर्थ से तो शुभ कर्म करता है तो उन्हीं की वासना इसके

बुद्धि जो उसकी सम्बन्धिनी रहती है, पहले उससे वियोग होता है, तब कंठ रुँध जाता है, आंखों की ज्योति फट जाती है शरीर की कान्ति ऐसी रहित हो जाती है, जैसे कोई कमल-पुष्प कटकर गिर पड़ा हो। फिर तो शरीर के सभी अवयव टूट जाते हैं और प्राण नाड़ियों से निकलने लगता है। जिन अवयवों और नाड़ियों से उसका सम्बन्ध और स्नेह रहता है, उनमें वियोग होने से बड़ा कष्ट होता है। ऐसा कष्ट होता है, मानों कोई अग्नि के कुण्ड में छोड़ दे। उस समय सभी पदार्थ भ्रम से जान पड़ते हैं और पृथ्वी आकाश रूप तथा आकाश ही पृथ्वी रूप जान पड़ता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का पचासवां सर्ग समाप्त ॥ ५० ॥

:::-::-❋-::-:::

इक्यावनवांसर्ग

मरणान्तरावस्था वर्णन

वशिष्ठजी कहने लगे,—हे रामजी! इतने में राजा विदूरथ के नेत्र फट गये और शरीर निरस होकर श्वांस नासिका के मार्ग से निकल गया। चित्त की चेतनता जर्जर होगई और जीव चेतना की वासना सहित आकाश में जा स्थिर हुआ। तब उसको दूतों के साथ जाते देखकर दिव्य दृष्टि वाली दोनों देवियोंने पीछा किया और धर्मराज के नगर में पहुँची। वहाँ जाकर क्या देखती हैं कि, राजा विदूरथ धर्मराज के समक्ष खड़ा किया गया है और वह चित्रगुप्त से राजा के पुण्य का लेखा जाँच रहे हैं। लेखा जाँचकर चित्रगुप्त ने धर्मराज से बतलाया कि, यह राजा बड़ा पुण्यकर्मी और देवी सरस्वती के वरदान का पात्र है। इसके पुनः प्रवेश के लिए एक शव शरीर पुष्पों से ढँका हुआ पहले ही से रखा है। सरस्वतीजी के वरदान के अनुसार अब यह उसी शरीर में प्रविष्ट करेगा। अतः इससे और कुछ कहने सुनने की आवश्यकता नहीं है। चित्रगुप्त के ऐसा कहने पर दूतोंने राजा को वहाँ से चला जाने दिया। फिरतो

बावनवाँ सर्ग

स्वप्न विवेचन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! अब आगे की कथा सुनिये। जब दोनों देवियाँ राजा पद्म के मन्दिर में पहुँच गईं तो क्या देखती हैं कि, बहुत सुन्दर स्थान बना हुआ है और वहाँ सभी मनुष्य सोये हैं और उनकी श्वांसें निकलकर पुष्प सुगन्धि में आ जारही हैं। किवाड़ बन्द हैं और पुष्पों से ढँका हुआ राजा पद्म का शव एक सुन्दर चबूतरे पर रखा है। उसके निकट पूर्व की लीला अपने उन्हीं पूर्व के सुन्दर वस्त्राभूषणों से कुछ चित्त-भग्न बैठी हुई राजा को चमर डुला रही है। सरस्वती और उसके साथकी लीला खड़ी२ देख रही थीं और वह दोनोंको न देखती थी। क्योंकि यह दोनों प्रबुद्धात्मा और सत्सङ्कल्पमय थीं। यह सुनकर रामजी ने पूछा कि, गुरूजी ! आपने उस लीला का वर्णन नहीं किया कि जो अपने शरीर को राजा पद्म के पास ही छोड़कर सरस्वतीजी के साथ राजा विदूरथ को देखने गई थी। अभी सो, वह कहाँ गई और उसकी क्या दशा हुई ? इस पर वशिष्ठजी कहने लगे, हे रामजी ! वह लीला और उसका शरीर तथा उसकी सत्ता तो कहीं नहीं थी। वह तो अरुन्धती के मन में लीला के शरीर की एक भ्रांति की चमक मात्र थी। आधिभौतिकता तो अज्ञान से है। ज्ञान होने पर तो इसकी निवृत्ति हो जाती है। अतः उस लीला को ज्ञान होने से उसके आधिभौतिक शरीर की निवृत्ति होगई। उसने अन्तवाहक शरीर धारण कर लिया। हे रामजी ! उधर मैंने बहुत बार कहा है कि, समस्त जीव अन्तवाहक हैं, कोई आधिभौतिक नहीं है। तुम मेरे कथन को अपने हृदय में स्थान क्यों नहीं देते ? हे राघव ! जिस प्रकार दृढ़ जड़ता वश जल बरफ हो जाता है, उसी प्रकार प्रमाद वश सङ्कल्पाभ्यास से यह अन्तवाहक शरीर आधिभौतिक रूप हो जाता है। परन्तु तत्व का

हृदय में रहती है। वही वासना फल रूप होकर इसको (जीव को) भासती है। यह मेरा शरीर है, मेरे बाद मेरे पुत्र अथवा बन्धुओं ने मुझे दिया है और उसी से मेरा शरीर हुआ है। हे राघव ! चाहे प्राणी विदेह हो या सदेह, पर निज वासना के अनुसार ही उसे अनुभव होता है। पुरुष चित्तमय है। उस चित्त में पिंड की जैसी भावना रहती है, वैसा ही वह अपनेको पिंडवान जानेगा। उसके अनुसार (भावना के) असत्य भी सत्य हो जाता है। अतः प्रत्येक पदार्थों में भावना ही मूल कारण है। कारण विना कार्य नहीं होता।

रामजी ने पूछा कि, हे मुनिशार्दूल गुरूजी ! जो मनुष्य पिंडादिक शुभ कर्म नहीं करते और उनके पास ऐसी भावना का अभाव है, और जब करते हैं, तब क्या वे प्रेत वासना युक्त हो जाते हैं और क्या तब वे अपने को पापी और प्रेत जानते हैं ? परन्तु बादमें जब उनके बान्धव पिंडादि देते हैं तब क्या उनको ऐसी भावना हो जाती है कि, यह मेरा शरीर हुआ है अर्थात् क्या वह पिंडदानादिक क्रियायें उसको मिल जाती हैं ? क्या उसके बान्धव यह जानते हैं कि, उस जीव के निमित्त मैंने जो कुछ किया है, उसको मिल जायगा ? वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया कि, हे रामजी ! देश, काल, क्रिया, द्रव्य, और सम्पदा से ही भावना की उत्पत्ति होती है। जिसकी जैसी भावना होती है, उसको वैसी ही सिद्धता प्राप्त होती है। जिसका कर्तव्य बलवान है, उसी की जय होती है। स्त्री, पुत्र, और बन्धुजन वासना का रूप हैं। धर्म की वासना ऐसी है कि, उससे बुद्धि में प्रसन्नता उत्पन्न होकर पुण्य कर्मों से पहले की भावना क्षीण हो जाती है और शुभ गति मिलती है। ऐसी बलिष्ठ वासना से जय होती है। अतः कल्याण के लिये शुभ कर्मों का करना अत्यन्त आवश्यक है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५१ ॥

:-❀-:

जला दिया। उस शरीर की तो पिंडादिक क्रिया भी हो गई। यदि उस समय तू उतर आई होती तो मुझे देखकर सब लोग आश्चर्य चकित हो जाते। पर अब भी मुझे देखकर आश्चर्य ही करेंगे और सब यहीं कहेंगे कि, रानी परलोक भ्रमण करके आगई। हे लीले! मेरे विचार से तुझे अब सच्चा बोध हुआ है। इसी से तेरे उस शरीर की वासना नष्ट होकर अन्तवाहकता में निश्चय हुआ और इसी कारण से वह शरीर जीवित हुआ। तात्पर्य यह कि, अब तुझको सच्ची लीला की वासना में बोध हुआ और अब तू सच्ची लीला रानी हुई है। इससे तेरा शरीर वैसा ही है। उस समय तुझमें लीलाके शरीर की थोड़ी सी वासना रह गई थी, इसीसे तू मोक्ष पदको न प्राप्त कर सकी, अन्यथा तू विदेह मुक्त हो जाती। पर अब तू सत्सङ्कल्पमय हुई है, अब तुझे इच्छानुसार अनुभव प्राप्त होगा। क्योंकि जिसको जैसी भावना होती है, उसी के अनुसार उसको प्राप्ति होती है। यों तो समस्त जीवों का शरीर आरम्भ से ही अन्तवाहक है, पर प्रमादवश आधिभौतिक भासता है। हे लीले! अब तुझे अन्तवाहकता में विश्वास हुआ है। इससे तेरा शरीर फिर वैसा ही हो गया है इससे अब तू सत्य सङ्कल्प वाली है, जैसी चिन्तना करेगी निःसन्देह वैसा ही होगा। पर यहां जो तू अपने पति के पास इस कमल नयनी नवीन लीला को बैठे हुए देख रही है, इसको यहां का कोई मनुष्य नहीं जान रहा है—मैंने सबको निद्रा में मोहित कर दिया है। जब तक मैं स्वयम् इसे दर्शन न दूंगी तब तक यह और किसी को तथा और लोग इसको न जान सकेंगे। पर अब मैं इसे दर्शन दूंगी और यह मुझे देखेगी। ऐसा कहकर ज्यों ही देवी सरस्वती ने उस लीला को अपने सत्सङ्कल्प से दर्शन दिया कि त्योंही उसने मण्डप में बड़े प्रकाश को देखा। फिर तो उसने देखा कि उस में अनेक सूर्य और चन्द्रमा से प्रकाशित प्रकाशमें दो देवियाँ समक्ष ही खड़ी हैं। तब उनको देखकर उस नवीन लीला ने दण्डवत् किया

जला दिया। उस शरीर की तो पिंडादिक क्रिया भी हो गई। यदि उस समय तू उतर आई होती तो मुझे देखकर सब लोग आश्चर्य चकित हो जाते। पर अब भी मुझे देखकर आश्चर्य ही करेंगे और सब यहीं कहेंगे कि, रानी परलोक भ्रमण करके आगई। हे लीले ! मेरे विचार से तुझे अब सच्चा बोध हुआ है। इसी से तेरे उस शरीर की वासना नष्ट होकर अन्तवाहकता में निश्चय हुआ और इसी कारण से वह शरीर जीवित हुआ। तात्पर्य यह कि, अब तुझको सच्ची लीला की वासना में बोध हुआ और अब तू सच्ची लीला रानी हुई है। इससे तेरा शरीर वैसा ही है। उस समय तुझमें लीलाके शरीर की थोड़ी सी वासना रह गई थी, इसीसे तू मोक्ष पदको न प्राप्त कर सकी, अन्यथा तू विदेह मुक्त हो जाती। पर अब तू सत्सङ्कल्पमय हुई है, अब तुझे इच्छानुसार अनुभव प्राप्त होगा। क्योंकि जिसको जैसी भावना होती है, उसी के अनुसार उसको प्राप्ति होती है। यों तो समस्त जीवों का शरीर आरम्भ से ही अन्तवाहक है, पर प्रमादवश आधिभौतिक भासता है। हे लीले ! अब तुझे अन्तवाहकता में विश्वास हुआ है। इससे तेरा शरीर फिर वैसा ही हो गया है इससे अब तू सत्य सङ्कल्प वाली है, जैसी चिन्तना करेगी निःसन्देह वैसा ही होगा। पर यहां जो तू अपने पति के पास इस कमल नयनी नवीन लीला को बैठे हुए देख रही है, इसको यहां का कोई मनुष्य नहीं जान रहा है—मैंने सबको निद्रा में मोहित कर दिया है। जब तक मैं स्वयम् इसे दर्शन न दूंगी तब तक यह और किसी को तथा और लोग इसको न जान सकेंगे। पर अब मैं इसे दर्शन दूंगी और यह मुझे देखेगी। ऐसा कहकर ज्यों ही देवी सरस्वती ने उस लीला को अपने सत्सङ्कल्प से दर्शन दिया कि त्योंही उसने मण्डप में बड़े प्रकाश को देखा। फिर तो उसने देखा कि उस में अनेक सूर्य और चन्द्रमा से प्रकाशित प्रकाशमें दो देवियाँ समक्ष ही खड़ी हैं। तब उनको देखकर उस नवीन लीला ने दण्डवत् किया

ज्ञान उदय होने पर आधिभौतिकता नाश हो जाता है और वही शरीर आकाशरूप (अन्तवाहक) हो जाता है। जिस प्रकार स्वप्न में शरीर से आदिलों जो कुछ बृहत् जगत जान पड़ता है, वही जाग्रत होने पर हो जाता है, उसी प्रकार परमात्मा का ज्ञान होने पर आधिभौतिक शरीर निवृत्त हो जाता है और केवल सङ्कल्प का ही रूप जान पड़ता है। अतः अज्ञानाभ्यास होते रहने से ही आधिभौतिकता जान पड़ती है नहीं तो ज्ञानाभ्यास से आधिभौतिकता नष्ट होकर अन्तवाहकता का उदय होता है जिस प्रकार जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है, उसी प्रकार स्वप्न से जागने पर स्वप्न शरीर शान्त हो जाताहै। इससे जगत भ्रममात्र है। अज्ञानता वश सत्यता प्रतीत होती है। पर आत्मज्ञान होने से सब आकाश रूप हो जायगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का बावनवां सर्ग समाप्त ॥ ५२ ॥

—:॰:—

तिरेपनवां सर्ग

राजा पद्म का पुनः जन्म लेकर दोनों लीला सहित निर्वाण पद-प्राप्त करना।

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस प्रकार जब सरस्वती और लीला, राजा पद्म के मंडप में पहुँच गई, तब लीला ने सरस्वतीजी से पूछा कि हे देवि। समाधिस्थ हुए मुझे कितना दिन व्यतीत हो गया। मैं अपने शरीर को यहां छोड़कर आपके साथ भूपाल की सृष्टि देखने गई थी, पर आने पर मैं अपने उस शरीर को नहीं देखती हूँ। कृपाकर बतलाइये कि मेरा वह शरीर कहां गया ? सरस्वतीजी ने कहा,—हे लीले ! तुझे समाधिस्थ हुए अभी कुल इकत्तीस दिन व्यतीत हुए हैं। हे देवि ! यहां तू विदूरथ की सृष्टि में विचर रही थी। तब तुझे उस निर्जीव शरीर से क्या प्रयोजन ? जिस समय तू उस राजा की सृष्टि में विचर रही थी, उसी समय तेरा शरीर निर्जीव होकर गिर पड़ा और यहां के लोगों ने उसे मृतक जानकर घृतादि देकर

मुझमें आपका अत्यन्त स्नेह था, जिससे मेरे प्रतिबिम्ब स्वरूप यह लीला आपको वहाँ भासित हुई थी। पर यह बहुत बड़ी कथा है। कृपा पूर्वक ध्यान देकर सुनिये। हे महाराज ! यह देवीजी, जो मेरे शिर पर हाथ रखे हुए स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान हैं, यह सरस्वती और सर्व जीवों की जननी हैं। इन्हीं की कृपा से मैं आपको पुनः स्वर्ग से जाकर ले आई हूँ। हे रामजी ! लीला का ऐसा कहना था कि, राजा अत्यन्त प्रसन्न होकर देवीजी के चरणों में जा गिरा और स्तुति करके बोला कि, हे भगवती ! आपने मुझपर बड़ी कृपाकी है। पर अब बरावर यह विनय है कि, आप मुझे महान आयुर्बल ऐसा प्रदान कीजिए कि मैं निष्कण्टक राज्य करूँ और अपार लक्ष्मी को प्राप्त कर रोग रहित सम्पूर्ण आत्मज्ञान को पा सकूँ। तात्पर्य यह कि, भोग और मोक्ष दोनों ही पाऊँ। राजा की ऐसी प्रार्थना सुनकर देवी ने कहा, तथास्तु ! ऐसा ही होगा। यह वरदान देकर सरस्वती अन्तर्ध्यान होगई। तब प्रातःकाल होते ही सब लोग जाग गये और भुवन भास्कर भगवान अपनी किरणों सहित आकाश मण्डल में उदय हुए। फिर तो राजा पद्म ने प्रेम पूर्वक दोनों लीला का आलिङ्गन कर बहुत आश्चर्य प्रकट किया। बधाइयां बजने लगीं, अप्सरायें नृत्य गान करने लगीं और चारों ओर से ऐसी हर्ष-ध्वनि हुई कि, मन्दिर गूँज उठा। सब लोग कहने लगे कि, आज हमारी लीला रानी एक नवीन लीला को अपने साथ लाई हैं। जब ऐसा कौतूहल मचा तब अन्य देश के निवासियों ने भी जाना कि, राजा पद्मने फिर जन्म लिया है। हे रामजी ! अब तक तो राजा पद्मको अपने नवीन जन्म लेने पर विश्वास न था, पर देश-देशान्तरों में आश्चर्य और आतङ्क फैलजाने पर उसे भी पूर्ण विश्वास होगया। तब उसके मंत्रियों और द्वार पण्डितों ने विधि पूर्वक राजा को राजतिलक देकर सिंहासन पर बैठा कर राज्य भार सौंप दिया। उस दिन से वह शासन की बागडोर अपने हाथ में लेकर राज्य की

और सुन्दर स्वर्ण सिंहासन बैठने को दिया। फिर उनको बैठाकर उसने कहा—हे जीव-धात्री, आप की जय हो! जय हो!! आपने हम पर बड़ी कृपा की है कि, मैं यहां पहुँच आई हूँ। तब सरस्वती ने पूछा—तू यहाँ कैसे पहुँची और यहाँ आकर भी तूने क्या देखा। उसने कहा, जब मेरा राजा संग्राम-भूमि में मूर्छित हो गया, तब मैं अपने को सँभाल न सकी और मैं भी मूर्छित हो गई। पर मूर्छित होते ही मुझे पुनः चेतना हुई और मैंने उसी शरीर को देखा अर्थात् आपका वरदान स्मरण आया। फिर तो उसी से मैं आकाश मार्ग को उड़ चली। तब मार्ग में मुझे एक कुमारी मिली और मुझे मेरे पति के पास बैठा कर स्वयं गुप्त होगई। इस प्रकार मेरा पति जो संग्राम में थका था यहाँ आकर सोरहा है। आते समय मैंने बहुत देखा, पर कहीं भी आपका दर्शन न मिला। यह कह कर वह ज्यों ही चुप हुई कि सरस्वती ने अपने साथ वाली लीला से कहा कि, अब मैं राजाके जीवको छोड़ूँगी लीला कुछ बोल भी न सकी थी कि सरस्वती ने नासिका के मार्गसे जीवन कला को छोड़ दिया। फिर तो जिस प्रकार कमल के भीतर वायु प्रवेश कर जावे एवं शरीर में वायु प्रविष्ट हो जावे, उसी प्रकार राजा के शरीर में जीवकला पुनः प्रविष्ट होगई। क्योंकि उसकी पुर्यष्टक वासनामय थी। फिर तो राजा के शरीरने कांतिको धारण कर लिया और जिस प्रकार बसन्त ऋतु में पुष्प और वृक्षों में नवीन रसका सञ्चार हो जाता है, उसी प्रकार उसके अङ्गों में प्राणवायु का सञ्चार होगया। फिर तो जिस प्रकार बसन्त ऋतु में पुष्प खिल आते हैं उसी प्रकार उसकी सब इन्द्रियां खिल गईं। इन्द्रियों के खिलते ही जिस प्रकार रोका हुआ विन्ध्याचल पर्वत उठ खड़ा हुआ था, उसी प्रकार राजा पुष्पों से उठ खड़ा हुआ। उसके उठते ही दोनों लीला भी खड़ी होगईं। तब राजाने पूछा, तुम दोनों कौन हो? प्रबुद्ध लीलाने कहा मैं आपकी विवाहिता स्त्री हूँ। आप जब यहाँ अपने पहले शरीरको छोड़कर परलोकवासी हुए थे, तब

चिदाकाश का एक अणु मात्र है और उसी जीवाणुमें यह जगत भासता है अर्थात जान पड़ता है। उस जगत् की सृष्टि और उसकी नीति, उसकी वासना और उसके पदार्थों का वर्णन करते नहीं बनता। हे राघव! यह जगत् कुछ वस्तु होकर उत्पन्न नहीं हुआ है केवल संवेदन के होने से ही भासता है। शुद्ध शक्तिमें कल्पनारूपी नदी प्रवाहित है और उसमें जगत फुर रहा है। जब उस शक्तिका वेग रोका जाय तब दृष्टि भ्रम स्वयंही नष्ट होजायगा। इसके लिये अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार करनेके लिये श्रवण मनन और निदिध्यासन करनेकी आवश्यकता है। ऐसा अभ्यास जब किया जाय, तब दृश्य-भ्रम स्वयम् नष्ट हो जायगा। हे रामजी! यह जगत तुमको भासता है, सो हमको अखंड ब्रह्म-सत्ता ही भासती है। पर यह जगत् मायामय है। माया भी कुछ और वस्तु नहीं, केवल ब्रह्मसत्ता ही अपने आप में स्थित है। रामजी ने कहा—हे मुनीश्वर! आपके इस अमृतमय उपदेश से अब मेरा दृश्य भ्रम नष्ट होगया है और ज्ञातज्ञेय होकर मैंने पाँच बातों पर ध्यान दिया है। पहली यह कि, जगत (मिथ्या है) कुछ नहीं है। दूसरी यह कि, आत्मा में आभास है। तीसरी बात यह कि इसका स्वभाव परिणामी है और चौथी बात यह है कि, यह अज्ञानसे उत्पन्न हुआ है और पांचवीं बात यह है कि, यह अनादि और अज्ञान पूर्ण है। यही जानकर मैं ज्ञानियों की भांति शान्त हो गया हूँ। अब मुझे ऐसा जान पड़ता है कि, मैं निर्वाण और मुक्त होगया हूँ। हे गुरुजी! आपका यह उपदेश अन्य शास्त्रों से बड़ा ही आश्चर्यमय और भिन्न प्रकार का है। आपकी अमृतमय वाणी को सुनकर मैं तृप्त नहीं हो पाता हूँ। इससे फिर निवेदन करता हूँ कि, आप मेरे इस संशय को भी दूर कीजिये कि, लीला के पति को तीन सृष्टि का अनुभव किस प्रकार हुआ? पहली वशिष्ठ ब्राह्मण की, दूसरी राजा पद्म की और तीसरी विदूरथ की। उन सृष्टियों में उसने काल का व्यतिक्रम भी भिन्न २ प्रकार का देखा है, सो कैसे? हे मुनिनाथ! यद्यपि आपने

सुन्दर व्यवहार करने लगा। फिर तो सरस्वती के आशीर्वाद से वह इतना प्रभावशाली होगया कि, समस्त भूमण्डल उस पर मुग्धहो कर उसका अनुचर होगया। समस्त प्रजा उसे प्यार की दृष्टिसे देखने लगी। वह भी धर्म पूर्वक प्रजाकी सेवा करने लगा। इस भाँति उसने पूरे एक हजार वर्ष तक राज्य किया और अन्त में विदेह–मुक्त हो कर निर्वाण पद का भागी हुआ। फिर उसी के साथ लीला भी अक्षयलोक को प्राप्त हुई।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति–प्रकरण का तिरेपनवां सर्ग समाप्त ॥ ५३ ॥

-::-❀-::-

चौवनवां सर्ग

लीला–सम्बन्ध–वर्णन

इतनी कथा कहकर वशिष्ठजी ने रामजी से कहा–हे रामजी ! अब तो आशा है कि लीला रानी आकाशराज ब्राह्मण का आख्यान सुनकर तुम्हारा दृष्टिदोष दूर होगया होगा। क्योंकि दृश्य-भ्रम की निवृत्ति के लिये ही यह कथा मैंने तुमको सुनाई है। अतः अब दृश्य दृढ़ता को त्याग दो। यह जो जगत् तुमको भास रहा है, केवल आभास रूप है। इसकी कोई आदिम उत्पत्ति नहीं हुई है। जब इसकी उत्पत्ति नहीं है तब यह असत्य है और जब असत्य है तब इससे निवृत्त होना कोई कठिन नहीं है। बिना यत्न किये ही यह निवृत हो जायगा। जो ज्ञानी हैं, उनके लिये अब आकाश रूप जान पड़ता है और आकाश की नाईं ही स्थित है। हे रामजी ! पहले पहल ब्रह्म-सत्तामें आभास रूप संवेदन फुरा है और वही ब्रह्मभावसे स्थित हुआहै। पर वह पृथ्वी आदिक तत्वों से परे है। अतएव जब वह स्वयमही आभासरूप है, तब उसमें जगत् उत्पन्न करने की शक्ति कहाँसे हुई ? हे रामजी ! ज्ञानी पुरुष आकाशरूप हैं। क्योंकि आत्मपद का दर्शन होकर उनका दृष्टि दोष नष्ट हो गया है। पर अज्ञानियों के लिये तो यह जगत् साक्षात् नाचता ही रहता है। अन्यथा वह जीव शुद्ध

हुआ कि, जिस-जिस प्रकारसे संवेदन में दृढ़ता होती है, वैसा ही वैसा जान पड़ता है। हे राघव ! यह जितना कुछ जगत् तुम देख रहे हो, सबका फुरना संवेदन के अस्तित्व में ही स्थित है। जब मनुष्य उसमें स्थित हो जाता है, तब न तो दिन जान पड़ता है और न रात्रि जान पड़ती है, न कोई पदार्थ भासते हैं और न अपना शरीर भासता है। उसके लिए केवल आत्म तत्व सत्ता ही दिखलाई पड़ती है। इससे तुम देखो कि, यह समस्त जगत् मन के फुरने में ही है। यह जिस जिस प्रकारसे फुरताहै वैसाही वैसा रूप होकर भासताहै। यदि तीक्ष्णता में मधुरता की भावना हो तो मधुरता ही जान पड़ेगी और मधुरता में यदि तीक्ष्णता की भावना हो तो वह मधुर भी उसको तीक्ष्ण (कटु) रूप हो जायगा। स्वप्न समय में निर्जन स्थान में भी नाना प्रकार के व्यवहार होते जान पड़ते हैं पर वे अस्थिर ही हैं। मनमें जसा स्मरण होता है वैसा ही भासता है। यदि कोई नौका में बैठकर जल में चलता है तो उसको किनारे के सभी वृक्षादि भी चलते हुए जान पड़ते हैं। पर वह सभी स्थिर पदार्थ हैं। इसी प्रकार जो प्राणी विचारवान हैं वह चलते हुए को भी स्थिर जानते हैं। पर जो भ्रम में पड़ने वाले हैं उनको स्थिरी भूत मन्दिर आदिक भ्रमते भासते हैं। किन्तु जो विचार में दृढ़ हैं, उसको भ्रमके समान भासित होने में भी अचल बुद्धि रहती है। इससे निश्चयके अनुसारही भासता है। हे रामजी ! जिसके नेत्र में दोष है, उसको श्वेत वस्तु भी पीत वर्ण सी जान पड़ती हैं, और जिसके शरीर में वात, पित्त, कफ का रोग है, उसको सब पदार्थ विपर्यय भासते हैं। पृथ्वी आकाश रूप भासती है और अचल चल भासता है। जिस प्रकार बालकको अपनी परछाईं में बैताल का भ्रम होता है और जो वास्तव में असत होते हुए भी सत रूप जान पड़ता है अर्थात भय प्रदर्शित करता है। उसी प्रकार यदि शत्रु में भी मित्र की भावना होती है तो वह शत्रु भी मित्र एवं सुहृद के समान जान पड़ता है। पर यदि उसमें शत्रु भाव

इस बात को बहुत बार कहा है पर मेरे समझमें नहीं आता है,अतः इसको फिर वर्णन कीजिये। वशिष्ठजी कहने लगे, हे रामजी ! शुद्ध संवित सर्व के पास है। उसमें जैसा संवेदन होता है, वैसा ही रूप होकर जान पड़ता है। उसके लिए कहीं एक क्षण में कल्प पर्यन्त और कहीं कल्प का अनुभव क्षणमात्र में ही हो जाता है। जिसको विष में अमृत की भावना होती है तो वह अमृत ही जान पड़ता है। यदि शत्रु को मित्र के समान जाना जाय तो वह मित्र ही भासने पड़ेगा। पर यदि उसको शत्रु ही जानिये तो निःसन्देह वह शत्रु ही है। अतः संवेदन के अनुसार ही स्वरूप जान पड़ता है। यदि संवेदन तीव्र भाव वाला अभ्यास करके निर्मल भाव के

और वही वास्तविक रूप है। पर यदि तुम कहो कि, स्मृति जगत् का कारण है तो नहीं। क्योंकि महाप्रलय होने पर ब्रह्माजी तो विदेह मुक्त हो जाते हैं। फिर स्मृति जगत का कारण कैसे हो सकती है? यदि मान भी लिया जाय कि स्मृति ही जगत का कारण है तो आखिर स्मृति भी तो अनुभव से होती है? फिर तो उससे उत्पन्न होने वाला जगत् भी स्मृति का ही रूप होगा।

यह सुनकर रामजी ने पूछा कि–हे भगवन्! राजा पद्म को मंत्री व टहलुवे आदि उस लोक में राजा विदूरथ की देह में उसे कैसे मिल गये? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया–हे राघव! सब में चेतना शक्ति अपने आप ही स्थित है। जब उसके संवित के आश्रयमें जैसा संवेदन फुरता है, तब वैसा ही रूप होकर भासता है। इसी प्रकार जब विदूरथ राजा मरने लगा तब उसकी वासना उन मन्त्री और टहलुओं में प्रवाहित हुई थी, इस कारण वैसे ही उसे मंत्री और वैसेही सेवकगण मिले। जैसे मणि की किरणें ही मणिका अङ्ग हैं, वैसे ही मन्त्री और सेवकगण उसके अङ्ग थे। इससे वह उन्हें स्वप्न के समान प्राप्त हुए। हे राघव! संवेदन में जैसी भावना दृढ़ होती है, वैसा ही रूप होकर भासता है। जिस प्रकार अत्यन्त वेगवान नद समुद्रमें शीघ्र जा मिलता है, उसी प्रकार जिसकी जिसमें दृढ़ भावना होती है, वह उसके अनुसार ही उसे शीघ्र जा मिलता है। इसी से उसके मन्त्री और टहलुवे विदूरथ को जा मिले।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा–उत्पत्ति–प्रकरण का चौवनवां सर्ग समाप्त ॥ ५४ ॥

-:-❀-:-

पचपनवाँ सर्ग

जगत किंचनता वर्णन

इस प्रकार लीला और राजा पद्मका सुन्दर आख्यान सुन चुकनेपर रामजीने वशिष्ठजीसे जगत किंचनता सम्बन्धी प्रश्न उपस्थित करते हुऐ पूछा कि हे मुनिनाथ! आदि परमात्मासे, अहं, त्वं इत्यादिक दृश्यकी भ्रांति

रखे तो शत्रु ही है। जिस प्रकार रस्सी में सर्प का निश्चय असत्य है, पर भ्रम से सर्प जान पड़ा है और तदनुसार भय दिखलाई पड़ता है। फिर बन्धुजनों में यदि बन्धुत्वकी भावना न करे तो वह बान्धव भी अबान्धव होकर जान पड़ते हैं। पर भावना बन्धुत्व के अनुकूल हो तो अबान्धव भी बान्धव जान पड़ते हैं। इससे जो कुछ है सब मनके फुरने से ही है। हे रामजी ! ऐसे ही लीला के पति को भी वैसी सृष्टि का अनुभव हुआ था। जिस प्रकार जाग्रत की मूर्ति को स्वप्न में अमितकाल का अनुभव होता है, उसी प्रकार लीला के पति को भी हुआ था। यह मन जिस २ प्रकार से फुरता है, उसी प्रकार से अर्थात् वैसा ही वैसा रूप चेतन संवेदन में भाषता है। पर मुझको तो सर्वदा ब्रह्म का ही निश्चय है, इससे मुझे सब जगत ब्रह्म स्वरूप ही भाषता है। इसकी कोई मूल उत्पत्ति नहीं है। सब आकाशरूप और बड़े विस्तार युक्त है। पर यह जगत स्वप्न के समान है। जिस प्रकार स्तम्भ में बिना चित्रित पुतली शिल्पीके ही मनमें भासती है, स्तम्भ में नहीं, उसी प्रकार आत्मा रूपी स्तम्भ में संवेदन जगतरूपी पुतलियों की रचना करता है। जिस प्रकार एक स्थान में दो पुरुष हों और उनमें एक जागता हो, दूसरा स्वप्न में हो तो जो स्वप्न में है उसको बहुत युद्ध पड़े भासते हैं पर वही जाग्रत वाले के लिये आकाश रूप है, उसी प्रकार जिनको आत्मज्ञान हुआ है उनके लिए जगत का अत्यन्त अभाव है। पर अज्ञानियों के लिये तो नाना प्रकार के व्यवहारों सहित यह जगत स्पष्ट जान पड़ता है। नहीं तो आत्मा और जगत में तनिक भी भेद नहीं है। जिस प्रकार पृथ्वी और गन्ध में कुछ भेद नहीं है, उसी प्रकार आत्मा और जगत में कोई अन्तर नहीं है। यह तो ब्रह्मकी सत्ता ही संवेदन द्वारा जगत के रूप में भास रही है। महा प्रलय के समय सर्ग नहीं होता और कार्य व कारण की कुछ कल्पना भी नहीं रहती। तब केवल चिन्मात्र सत्ता ही शेष रह जाती है। फिर उसी से जगत भासता है

रूप है। पर जो अज्ञानी हैं उनके लिये यह असत्य स्वरूप जान पड़ता है। यह जगत जिसके चित्त-संवित में जैसा फुरता है, उसको उसी रूप का जान पड़ता है। इससे यह जितनी तन्मात्रायें और तत्व हैं, सब चित्त की संवेदना फुरने से ही स्थित हैं। जिस २ प्रकार से उसमें स्फूर्ति आती जाती है, उसी २ प्रकार से वह होकर जान पड़ता है। कारण कि आत्मा सर्व-शक्तिमान है, इससे उसमें जिन २ पदार्थों का फुरना होता है वही अनुभव में सत्यरूप होकर भासता है। पांचों ज्ञान इन्द्रियों और छठे मनका जो कुछ भी विषय है, सब असत्य है। आत्मा इन छःहों से अतीत है। जिस प्रकार समुद्र में तरङ्ग स्थित है, उसी प्रकार आत्मा में जगत भी स्थित है। यही विश्व का रूप है। जैसे तेज और आकाश अनन्य रूप हैं, वैसे ही आत्मा और जगत भी अनन्य रूप हैं। जिस प्रकार शिल्पी विना चित्रित शिला में भी पुतलियों को देख जाता है और कुम्हार मिट्टी के किसी परिमाण वाले ढेर में ही वासनों को देख जाता है, उसी प्रकार अनन्यरूप परमात्मा में सृष्टि भी अनन्य रूप है। जिस प्रकार मृग तृष्णा का जल असत्य है, पर तृषित मृग को सत्यसा मालूम पड़ता है, उसी प्रकार जगत आत्मा में असत्य रूप चितसंवित (चेतनाशक्ति) के फुरने से ही जगत जान पड़ता है यदि संवेदन न फुरे तो जगत भी जान पड़े। क्योंकि उस परम शक्ति अर्थात् ब्रह्म से जगत कुछ भिन्न नहीं है। निराकार आत्मा में यह सृष्टि उसी प्रकार स्वभावतः स्थित है कि, जिस प्रकार अग्नि में उष्णता स्वभावतः स्थित है। ब्रह्मरूपी एक रत्न है और जगत ही उसका किंचन है। जैसा किंचन होता है, वैसा होकर भासता है। बिना कारण पदार्थ बिना कारण ही होता है और जिस अधिष्ठान में भासता है। उससे अनन्य रूप (अनेक रूप) हो जाता है। पर अधिष्ठान से उसकी सत्ता भिन्न नहीं है। इसी प्रकार जगत आत्मा में अनन्य रूप है। इसमें कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, केवल संवेदन का

विना कारण ही किस प्रकार उत्पन्न हुई। इसे मैं जैसे समझ सकूँ, वैसे ही आप समझाने की कृपा कीजिये।

वशिष्ठजी कहने लगे–हे रामजी! यह जितना कुछ जगत कार्य–कारण सहित भासता है, सब परमात्म सत्ता से उदय हुआ है। यही समझो कि, सबमें संवेदन का ही फुरना है और सर्व शब्द व अर्थों युक्त जो कल्पना जान पड़ती है, वह भी ब्रह्म की आकृति है। ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। जिस प्रकार सुवर्ण से भूषण भिन्न नहीं है, उसी प्रकार से जगत भिन्न नहीं है। इससे सर्व आत्मा परमात्मा ही जगत् का रूप है और जगत् ही परमात्मा अर्थात ईश्वर का रूप है जिस प्रकार स्वर्ण ही भूषण रूप है और भूषण ही स्वर्ण रूप है, केवल शब्दों और अर्थों की एक कल्पना मात्र है नहीं तो वह एक ही वस्तु है–उसी प्रकार जगत् आत्मा का केवल आभास मात्र है। नहीं जगत की कोई वास्तविकता नहीं है। हे रामजी! यह जितना कुछ जगत है, वही ब्रह्म रूप है। आत्मा में संवेदन के फुरने से (अर्थात एक नई शक्ति उत्पन्न होने से) ही तन्मात्रा फुरती है और उसी में कल्पना होती है जिससे यह सब जगत है। इससे यह समस्त प्राणी हैं वे आत्मा से भिन्न (दूसरे) नहीं हैं। जिस प्रकार शिला में चित्रकार ने पुतलियाँ कल्पी हैं और वह शिला रूप ही है, दूसरी कुछ नहीं है उसी प्रकार अहं–त्वं इत्यादिक जगत आत्मा में मनरूपी चित्रकार को कल्पना हैं और वही चितघन रूप है–कोई अन्य वस्तु नहीं है। जिस प्रकार वायु और स्पन्द में कोई अन्तर नहीं है, उसका स्पन्द और निस्पन्द दोनों वायु का ही रूप है, स्पन्द होने से ही स्पर्श रूप जान पड़ता है और निस्पन्द होने पर स्पर्श करता हुआ नहीं जान पड़ता, उसी प्रकार जगत और ब्रह्ममें कुछ अन्तर नहीं है। संवेदन की किंचनता से ही जगतरूप होकर भासता है और निस्पन्द होने से नहीं भासता। पर वह आत्मसत्ता सदैव एक रूप है। ज्ञानी पुरुषों के लिये यह दृढ़ीभूत जगत आकाश

समुद्र में तरङ्ग का अस्फुरण होता है और वह भी जल का ही रूप है, तरङ्ग शब्द और उसका अर्थ भ्रमरूप है, उसी प्रकार आत्मा में भ्रम रूप अनेक सृष्टियाँ फुरती हैं। जिस प्रकार मरुस्थल का जल और मृग-तृष्णा की नदी दृष्टिगत होती है, उसी प्रकार आत्मा में यह जगत भासता है। जैसे स्वप्न सृष्टि और गन्धर्वपुर भासता है, वैसे ही जगत असत्य रूप होते हुए भी सत्य सा जान पड़ता है।

रामजी ने पूछा,—हे सर्व विद्याओं के आचार्य महामुनि! जिसको आत्म-दर्शन हुआ है, उसको अपना शरीर कैसा जान पड़ता है? वशिष्ठजी कहने लगे कि,—हे रामजी! सर्व प्रथम में जो संवेदन ब्रह्म-शक्ति में फुरा है, उसका नाम नीति है। उसमें जैसी-जैसी भावना होती है, वह वैसा रूप धारण करती है। वह नीति ही महाशक्ति, महादृढ़, महासत, महा कृपा और महाचेतना है। वह अनन्त महाब्रह्माण्डों को उत्पन्न करने वाली है। आदि ब्रह्मा से तृण पर्यन्त जो कुछ भी स्थावर जङ्गम रूपी दैत्य, देव, नाग आदिके विचार हृदय में स्थित होते हैं, सब उसी नीति के द्वारा फुरकर स्थित हुए हैं। पर ऐसे स्वरूपों से ब्रह्मसत्ता में कोई व्यभिचार नहीं हुआ। जो ज्ञानी पुरुष हैं वह नीति को ही उत्पन्नकर्त्ता समझकर ब्रह्मभाव में स्थित रहते हैं। उनको सब ओर अचल ब्रह्मसत्ता ही जान पड़ती है और अज्ञानी के लिये तो यह सब जगत चलायमान जान पड़ताहै! वह यही जानता है, कि जैसे आकाश में वृक्ष जान पड़ता है और शिला के गर्भ में पुतलियाँ होती हैं, वैसे ही यह जगत ब्रह्ममें है। हे रामजी! वह नीति ही दैव है। साधना के अनुसार उससे फल प्राप्त होता है। नीति का दूसरा नाम पुरुषार्थ है। जैसे तुमने मुझसे दैव और पुरुषका निर्णय पूछा था और मैंने उसे बतलाया था सो तुम उसी सिद्धांतका पालन करो, उसीका नाम पुरुषार्थ है। उससे तुम्हेंजो फल प्राप्त हो, उसी का नाम दैव है। मनुष्य जो कुछ करे और उससे जो फल प्राप्त हो, सब नीति अर्थात् दैव समझना चाहिये। जिसको

फुरना मात्र है। इससे जगत और वासना का बीज संवेदन है और वह भी भ्रम है। इस कारण संवेदन के अभाव का ही पुरुषार्थ करना चाहिये। इसका अभाव होने से ही जगत-भ्रम स्वयं नष्ट हो जायगा। पर न तो कुछ उत्पन्न हुआ है और न नष्ट होता है, सब शांत स्वरूप चिद्घन अपने आप में स्थित है। चित्त के परमाणु में चेतन्यता से अनेक सृष्टियाँ भास रही हैं। उन सृष्टियों में परमाणु हैं, उनके भीतर अन्य बहुत सी सृष्टियाँ हैं, पर उनकी संख्या कुछ नहीं है। जिस प्रकार जल में अनेक तरङ्ग उठते हैं, पर कुछ तो उसी में गुप्त हो जाते हैं और कुछ प्रकट होकर जान पड़ते हैं किन्तु वह सब क्या है, जल की एक शक्ति है। इसी प्रकार जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थायें जीवों के भीतर स्थित हैं पर कोई गुप्त है और कोई प्रकट रूप हैं। हे रामजी! उस संवेदन शक्ति में जब तक द्वैत भाव लगा हुआ है, तब तक सृष्टि का अन्त नहीं हो सकता। पर ज्योंही चित्त उपशम होगा त्यों ही जगत का भ्रम मिट जायगा। इस प्रकार जब भोगों में इच्छा न होगी तब आत्मपद प्राप्त हो जायगा। मोक्ष दूर होना ही बन्धनों से मुक्त होना है। इससे अहंभाव (जीव-भाव) से मुक्त होना ही जन्म-संपदा का नष्ट होना है। अतः ऐसा शुद्ध स्वरूप होने पर वह स्थावर जङ्गम रूपी जगत सब आत्म स्वरूप ही प्रतीत होने लगता है। जैसी साधना होती है, वैसा फल अवश्य मिलता है। अतः नीति ही दैव है और दैव ही नीति है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का पचपनवां सर्ग समाप्त ॥ ५५ ॥

❀—❀—❀

छप्पनवां सर्ग

देव क्या है?

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी! चिद् परमाणु में जो एक निमेष होता है, इसके लाखवें भाग में जगत के अनेक कल्प फुरते हैं और उन सृष्टि में जो परमाणु होते हैं, उनमें सृष्टि फुरती है। जिस प्रकार

है, वैसा-वैसा होकर स्थित होता है। नहीं तो उस शुद्ध चिन्मात्र में क्या बाहर क्या भीतर कोई भी अन्य कल्पना नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का सत्तानवनवां सर्ग समाप्त ॥ ५७ ॥

❀::❀::-❀

अट्ठावनवां सर्ग

बीजावतार ब्रह्मसत्ता में जीव कैसे स्थित है ?

इतनी कथा सुनकर रामचन्द्रजी ने वशिष्ठजी से पूछा कि, हे भगवन् ! जब उस अनुपम परिणाम में द्वैत रहित शुद्ध ब्रह्मसत्ता स्थित है, तब उसमें जीवकी सत्यता कैसे है ? क्योंकि जीवतो अत्यन्त तुच्छरूप है। वशिष्ठजी कहने लगे, हे रामजी ! ब्रह्म एक ऐसी महत्व पूर्ण सत्य सत्ता है कि, जगत् असत्य रूप होते हुए भी उसमें सत्य रूप भासता है। उसकी बड़ाई सर्वात्मक है और वह सर्व देशकाल और समस्त वस्तुओं से परिपूर्ण है। वह परम चेतन और भैरव रूप है कि, जिसके भयसे सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, जल और वायु अपनी-अपनी मर्यादा में चलते हैं। इससे वह ब्रह्मसत्ता समशुद्ध और अचिन्त्य है। उसमें जो अहंभाव से स्फूर्ति होती है, उसी का नाम जीव है। अतः वह ब्रह्म अनुभव रूपी दर्पण है और उसमें अहंरूपी प्रतिबिम्ब का फुरना ही जीव है। आत्मा और जीव में कुछ भेद नहीं है। जिस प्रकार समुद्र अपनी द्रवता से तरङ्ग रूप होता है, नहीं तो समुद्र और तरङ्गमें कुछ भेद नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म और जीवमें कुछ भेद नहीं है। अपने स्वभावानुकूल ही चित्तरूपी आत्मतत्व ने माया करके संवेदन सहित रूप धारण किया है। जीवरूप धारण करने पर यह अनेक प्रकार का बहुत बड़ा विस्तार करता है। जैसे ईंधन-अग्नि में अनेक अणु होते हैं और वे निकलकर बहुत प्रकार करते हैं वैसे ही अपने फुरने से जीव जगतरूप से मिलता है। अस्तु, अहंभाव से ही ब्रह्ममें जीव रूप जान पड़ रहा है। जिस प्रकार वायुके सहारे समुद्र तरङ्ग का रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार संवेदन के फुरने से ही आत्मा-

जो कुछ प्राप्त होता है। सब उस दैव की आज्ञा से ही प्राप्त होता है। हे रामजी! भवितव्यता वही है जो आदि संवेदन के फुरने में है और उसको भी नीति (दैव) कहते हैं। वह नीति ऐसी है कि, उसे ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र भी नहीं काट सकते। कर्मण्य को फल का प्राप्त होना और अकर्मण्य को न प्राप्त होना भी नीति है। यों तो जो कुछ किया जाय सब पुरुषार्थ करना ही है पर सच्चा पुरुषार्थ वह है जो आत्मज्ञान के लिये हो। जब पुरुष को आत्मबोध हो जाता है, तब परमपद की प्राप्ति होती है और परमपद पाने पर यह सब जगत ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का छप्पनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५६ ॥

::-❁-::

सत्तावनवाँ सर्ग

चित्त विकार

हे रामजी! यह जगत जो स्थित हुआ जान पड़ता है, सब ब्रह्मतत्व से सर्वात्मा होकर स्थित हुआ और वही अनन्त आत्मा है। जब उसमें चित्त शक्ति आती है, तब अहं की स्फूर्ति होने से ही जगत भासने लगता है। फिर तो यह नाना प्रकार से उत्पन्न और नष्ट होता हुआ जान पड़ता है। फिर जैसा २ अभ्यास करता है, उसको वैसा ही भास जाया करता है। क्योंकि वह आत्मा सर्व शक्तिशाली है। उसमें जैसी स्फूर्ति होती है, वह उसी रूप में जान पड़ता है। जितनी शक्तियां हैं आत्मा से कोई भिन्न नहीं है। केवल समझाने के लिये ही बुद्धिमानों ने अनेक प्रकार का सङ्कल्प विकल्प किया है। पर आत्मा के निकट विकल्प कुछ नहीं हैं। जिस प्रकार सुवर्ण और भूषण में कोई अन्तर नहीं है, उसी प्रकार आत्मा और इस जगत की शक्तियों में कुछ भेद नहीं है। हे रामजी! एक संवित है, एक संवेदन है। संवित वास्तविक है और संवेदन कल्पित है। जब संवित में चिन्मात्र संवेदन फुरता है, तब वह जैसे २ चेतता

उत्पन्न हुआ है। कितना कुछ भाव अभाव रूपी जगत् है, सब मनकी कल्पना मात्र है। अन्यथा आत्मा में द्वैतभेद की कोई कल्पना नहीं है। ब्रह्म, जीव, मन, माया, कर्म जगत् और द्रष्टा इत्यादिक सभी भेदों को मन ने ही उत्पन्न किया है। पर यह सभी उत्पत्तियाँ असत्य रूप हैं। कारण कि चलायमान हैं। जैसे समुद्रकी लहरें उछलतीं और विस्तार पाती हैं, वैसे ही चित्तरूपी समुद्र से संवेदन द्वारा नाना प्रकार का जगत् विस्तार पाता है। यह सत् भी है और असत् भी है। सत् तो तब ज्ञात होता है, जब अधिष्ठान रूप से देखा जाता है। पर द्वैत कुछ नहीं है। चित्त से ही सत् असत् दोनों हैं। केवल भ्रम है। किन्तु यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो जैसे बैताल का भ्रम नष्ट हो जाता है वैसे ही आत्मज्ञान से यह भ्रम नष्ट हो जायगा। क्योंकि आत्मा तो अनादि और अंशांशीभाव से रहित और शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है। जब उसमें अपनी चेतना शक्ति से चैतन्योमुखत्व होता है, तब चित्त अपने चेतना लक्षण से ही जीव की कल्पना करता है। फिर जग जीव में अहं होता है कि, 'मैं हूँ' तब उसी से चित्त फुरता है। चित्त से इन्द्रियाँ इन्द्रियों से शरीर और शरीर से ही, स्वर्ग, नर्क, बन्ध और मोक्ष की कल्पनायें होतीं हैं। अतएव अहंभाव से ही जगत का विस्तार है। अन्यथा ब्रह्म और चित्त में कुछ भेद नहीं है। इसी प्रकार चित्त और जीव में, जीव और ईश्वर में तथा ईश्वर और आत्मा में कुछ भेद नहीं है। सब ब्रह्मरूप ही है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का उनसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५९ ॥

—:❀:—

साठवाँ सर्ग

मन क्या है ?

इतनी कथा सुनकर रामजीने पूछा कि, हे सर्व विद्याओंके आचार्य अब कृपापूर्वक यह बतलाइये कि, मन कैसे उत्पन्न हुआ ? वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! ब्रह्म अनन्त और शक्तिवाला है, उसमें अनेक प्रकार

सत्ता जीव रूप धारण कर लेती है। यह जीव बड़ा ही चैतन्योमुखत्व है। इसी से चित्त, जीव, मन, बुद्धि, अहङ्कार, आदिक इसके कई नाम हैं। सर्व प्रथम जब इसने संकल्प से पंचभूत तन्मात्रा को चेता, तब इन्हीं पाँचों तनमत्रों के आकार से यह अणु विना उत्पन्न हुए ही उत्पन्न हुए की भाँति स्थित हुआ और भासने लगा। फिर तो उसी चित्त संवेदन ने अणुको स्वीकार कर जगत् की रचना की और जिस प्रकार एक सूक्ष्म बीज से सत् अंकुर उत्पन्न होकर अनेक वृक्ष हो जाते हैं, उसी प्रकार संवेदन ने अनेक विस्तार पाया। नहीं तो प्रथम में वह एक अंडरूप होकर स्थित हुआ है। बाद में उसी ने अंड को भी फोड़कर उसमें भिन्न-भिन्न शरीर और भिन्न-भिन्न नामों की कल्पना किया।.जैसे पृथ्वी,जल, अग्नि, वायु और आकाश। फिर् इन पाँचों की जितनी सृष्टियाँ हैं, सब सङ्कल्प से ही उत्पन्न हुई हैं। हे रामजी ! जैसे जल जब दृढ़ जड़ता को अङ्गीकार करता है। तब बरफ़ का रूप होकर पाषाण तुल्य होजाता है, वैसे ही जीव जब अनात्म में अभिमान करता है, तब कर्मों के वन्धन में आजाता है। क्योंकि कर्मों की जड़ सङ्कल्प है और सङ्कल्प का फुरना जीवसे है। जीव का उत्थान स्वरूप से है। उत्थान कहते हैं प्रमाद को। अतः जब उस शुद्ध चेतन मात्र में प्रमाद होता है, तब जीवत्व आता है। फिर तो जीवत्वभाव होते ही अनेक सङ्कल्प कल्पना फुरने लगती है। फुरने का नाम ही कर्म है और उसी का नाम चित्त और दैव भी है। पर इन सबका आदि कारण ब्रह्म ही है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा,उत्पत्ति–प्रकरण का अट्ठावनवां सर्ग समाप्त ॥ ५८ ॥

—::-❀-::—

उनसठवां सर्ग

ब्रह्म–विवेचन

हे रामजी ! जगत् के आदि कारण स्वरूप ब्रह्म से ही मन की उत्पत्ति हुई है। मन सङ्कल्प रूप है और इसी से यह समस्त जगत

है तो वह मोक्ष का अनुभव करने लगता है। इस भांति उसे अनेक जन्म लेना पड़ता है और वही वृहद् प्रकार का संसरण है। हे राघव! जिस प्रकार सुवर्ण ही भूषण का रूप धारण करता है, उसी प्रकार संवेदन ही काष्ठ और लोह आदि का रूप होकर भासता है और जानता है कि मैं उत्पन्न हुआ हूँ, अभी जीवित हूँ, फिर मर जाऊँगा इत्यादि भ्रम उसे दिखलाई पड़ते हैं। पर यह सब जन्मादिक अवस्था भ्रमरूप है। आत्मा में ही अज्ञानतावश जीव की कल्पना हुई है। इससे यह समस्त जगत् मन के फेर (भ्रम) में पड़ा हुआ भास रहा है। नहीं तो यह परमतत्व वेत्ता और शिव, चिन्मात्र है। उसमें 'मैं-हूँ' ऐसा चैतन्योमुखत्व होने का ही नाम जीव है। हे रामजी! वह चेतनका फुरना ही जीवके सदृश जान पड़ता है। जिस प्रकार समुद्र द्रवने से ही तरङ्ग रूप जान पड़ता है, उसी प्रकार चित्त चैतन्यता के संयोग से ही जीव कहलाता है। इसी प्रकार जीवके फुरनेको मन कहते हैं और सङ्कल्प का जो निश्चय रूप होता है वही बुद्धि है। उस बुद्धि में अहंभाव के आने पर उसकी मात्रा कल्पित होती है और उसीसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ऐसा सूक्ष्म भूत रूपी जगत् होता है। अतः चित्त के संसरण से ही जगत्-भ्रम भासता है। अन्यथा शुद्धात्मा नित्य तृप्त और शान्त रूप है। वह अपने आपमें ही स्थित है। उसमें चित्तकी संवेदना ने ही जगत् को रचा है। वही जगत् भ्रम से सत्य सा दीखता है। हे राघव! मन के संसरने का नाम जाग्रत् है। अहङ्कार का नाम स्वप्न है। चित्त जो स्वतः चेतने वाला है उसका नाम सुषुप्ति है। चिन्मात्र का नाम तुरीयपद है। जब शुद्ध चिन्मात्र में अत्यन्त परिणाम होता है, तब वह तुर्यातीत पद कहलाता हैं। उसमें स्थित होने पर शोक नहीं रहता। क्योंकि वही सत्य ब्रह्मसत्ता है और उसी से सब उदय और उसी में लीन होते हैं। पर वास्तव में न तो कोई उत्पन्न हुआ है और न लीन होता है। केवल चित्त के फुरने से सब भ्रमसा भासता है। जिस प्रकार नेत्र दोष होने से

की चिन्तनता होती है। जहाँ जैसी शक्ति की स्फूर्ति होती है वहाँ वैसा ही रूप भासता है। जब वह चिन्मात्र सत्ता चेतन में फुरती है तब उस फुरने को ही जीव कहते हैं। वह चित्तशक्ति सङ्कल्पके ही कारण भासती है। जब दृश्य भासता है, तब जीव कहते हैं। जब दृश्य होकर भासता है तब नाना प्रकार का कार्य-कारण जान पड़ने लगता है। रामजीने पूछा कि हे भगवन्! जब वह ऐसा है, तब दैवका क्यानाम है और कर्म व कारण किसे कहते हैं? वशिष्ठजीने उत्तर दिया,—हे राघव! जिस प्रकार फुरण स्फुरण दोनों ही स्वभाव वायुमें स्थित हैं उसी प्रकार आत्मसत्तामें यह दोनों स्वभाव स्थित हैं। जैसे फुरण स्वभाव से वायु आकाशको भी स्पर्श कर लेता है, स्फुरणसे नहीं कर पाता, वैसेही जब शुद्ध चिन्मात्रसत्तामें 'मैं हूँ' ऐसा लक्षण आता है, तब वह स्पंद बुद्धि स्थ होकर उसे जगत् रूप दृश्य जान पड़ने लगता है। पर जब वही जगत दृष्टिसे रहित होजाता है, तब निस्पन्द होजाता है। अतः चित्त के फुरने से ही नाना प्रकार का जगत, जगत् होकर भासता है। अन्यथा अफुर होने पर जगत् का भ्रम लोप हो जाता है। फिर तो नित्य और शांत—स्वरूप ब्रह्मपद प्राप्त होता है। हे रामजी! जीव, कर्म और कारण यह तीनों ही चित्त-स्पंदके नाम हैं। चित्त-स्पंद में अनुभव है और अनुभव ही चित्तकी स्पंदता है। अतः जब चित्त स्पंद रूप होता है, तब उसके आगे २ दृश्य भासने लगता है। फिर उसी चित्ताभास के द्वारा शरीर में अहं होने पर वही चित्त दृश्यों की ओर संवेदित होकर अग्रसर होने लगता है। वह भी दो प्रकार से अग्रसर होता है। एक बृहद्, एक लघु। इन दोनोंके संसरने में अनेक जन्म लग जाता है। कोई तो पहले ही जन्म में आदि स्वरूप में स्थित हो जाते हैं, और कोई पहला जन्म लेकर प्रभाव वश फुरते हुए दृश्यों की ओर जाकर अनेक जन्म लेते हैं और शुभाशुभ रूप वासना से अनुभव करते हुए नर्क को चले जाते हैं। इसीसे वे अज्ञान-बन्धन में ही रहते हैं। पर जब ज्ञान उसे होजाता

हृदय में प्राण वायु के मार्ग से प्रविष्ट होवेगी। पर गुणीजन मन्त्रबल से तुझे दूर भी कर सकेंगे। यह वरदान देकर ब्रह्माजी चले गए। फिर तो राक्षसी ने उस विशाल शरीर को त्यागकर सूई के नोंक की भाँति एक शरीर अत्यन्त सूक्ष्म और दूसरा पुर्यष्टक शरीर धारणकर लिया। इन्ही दोनों शरीरों से वह प्राणियों में प्रवेश कर कष्ट देने लगी। पर जो गुणी पुरुष थे, वे ब्रह्माजी के बतलाये हुए मन्त्र से उसका निवारण करते थे। किन्तु अज्ञानियों को वह कष्ट देकर अपनी क्षुधा तृप्ति करती ही रही। साथही अपनी नीच प्रकृतिके कारण उसने अधिक कष्ट भी उठाया। वाल्मीकिजी कहते हैं कि, इतनी कथा के पश्चात् सूर्य अस्त होगये और सब लोग अपने २ स्थानको चले गये। फिर प्रातःकाल सूर्यके उदय होतेही कथा सुनने सभास्थलमें आ विराजे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का इकसठवां सर्ग समाप्त ॥ ६१ ॥

:::-::-❀-::-:::

बासठवांसर्ग

कर्कटी का पुनः तप और ब्रह्माजी का वरदान

वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी! इस भाँति जब प्राणियों का संहार करते और स्वयम् कष्ट भोगते हुए उसने बहुत दिन व्यतीत किया तब अकस्मात उसके हृदयमें यह भाव आया कि, मैंने बहुत कष्ट पाया और ब्रह्माजी से ऐसा नीच वरदान क्यों माँगा। हा, विषूचिका का शरीर धारणकर मैंने बड़ी मूर्खता की। अन्यथा मेघवर्ण अपने शरीरको त्याग कर यह दुःख मैं क्यों भोगती? इससे अब मेरी मृत्यु हो जाती तो अच्छा था। परन्तु माँगने पर मृत्यु भी नहीं मिलती। अच्छा, अब मैं अपने उसी शरीर के लिये तप करूँगी। भला वह क्या वस्तु है जो तप करने से न मिले। हे रामजी! ऐसा निश्चय कर वह तप करने को समर्थ हुई। तब उसने पहले की भाँति पर्वत की कन्दरा में फिर आसन लगाया। उसके योगासनको देखकर वायुदेवने बड़ा उत्पात किया। पर वह योग से विचलित न हुई। फिर तो उसने एक हजार

आकाश में मुक्तमाला भासती है, वैसे ही चित्त के फुरने से यह जगत भासता है। अन्यथा जगत् वास्तव में कोई दूसरी वस्तु नहीं है। जैसे एक बीज द्वारा ही फल फूल और डालियां तथा पत्ते वाले अनेक वृक्ष होते हैं, वैसे ही आत्माके संवेदन से नाना रूपधारी होकर यह जगत भासता है। पर यह केवल अज्ञानियों के लिये है। ज्ञानी के लिये तो अखण्ड सत्ता ही भासती है। इनके लिए जगत्का कोई क्रम नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा—उत्पत्ति-प्रकरण का साठवां सर्ग समाप्त ॥ ६० ॥

इकसठवाँ सर्ग

कर्कटी गन्धर्वी का आख्यान

इस प्रकार जब रामजीने वशिष्ठजी से कोई प्रश्न किये तब वशिष्ठजी ने कर्कटी नामक गन्धर्वी का वृत्तांत सुनाते हुए कहा कि, हे रामजी! यह गन्धर्वी हिमालय पर्वत पर उत्पन्न हुई थी इसका समग्र शरीर निर्बल काला था और इसका दूसरा नाम विशूचिका था। इसकी जिह्वा अग्नि के समान लाल और चमकीली थी। बड़े २ नख थे और सिर भी बेडौल तथा बहुत ऊँचा था, इसको भोजनसे कभी तृप्ति नहीं होती थी। एक समय इसने सोचा कि जम्बूद्वीपके समस्त प्राणियों का भक्षण करूँ और इस उद्योग द्वारा अपनी भूख मिटाकर तप करूँ। ऐसा सोचकर वह हिमालय की कन्दरा में एक टांग से खड़ी हो गई और दोनों हाथ तथा नेत्र आकाश की ओर करके शरीर को स्थिर कर मूर्ति की नाईं हो गई।

ऐसा सोचकर उसने पूरे एक हजार वर्ष तक महादारुण तप किया। तब ब्रह्माजी ने आकर कहा—हे पुत्रि! तेरी अखण्ड तपस्या से मैं बहुत प्रसन्न हूँ, वर मांग। कर्कटी ने कहा—हे प्रभु! मुझे यह वर दीजिये कि मैं लोह के समान सूक्ष्म सूचिका जीवों के हृदय में प्रवेश करूँ। ब्रह्माजी ने कहा, एवमस्तु! तू दुराचारी जीवों के

में अपने पूर्व शरीर को प्राप्त होऊँ। सो अब तेरा सङ्कल्प फुरा है और अब तू उसी शरीर को पाकर हिमालय के बनमें विचरण करेगी। पर तेरा योग अखंड है, इससे तुझे दो प्रकार का लाभ हुआ। एक तो पूर्व सङ्कल्प के नाते तू पुनः शरीर धारण करेगी। दूसरे योगाभ्यास की प्रचंडता के कारण जीवन्मुक्त भी हो जायगी। अस्तु,मेरे इस वरदान को तू अङ्गीकृत कर। ऐसा कहकर ब्रह्माजी अन्तर्ध्यान हो गये। फिर तो जिस प्रकार बीज से वृक्ष होता है, उसी क्रम से उसका शरीर बढ़ गया और वह अपने पूर्व शरीर को प्राप्त होगई।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का बासठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६२ ॥

—❀—

तिरेसठवाँ सर्ग

राक्षसी का विचार

वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी ! जब ब्रह्माजी के आशीर्वाद से राक्षसी विषूचिकाको पूर्व का शरीर पुनः मिल गया, तब वह छः मास तक उसी योगासन में बैठी रही। उसे न तो कहीं जाने की इच्छा हुई और न किसी पदार्थ को ग्रहण करने ही में लिप्सा हुई। उसके लिये सभी पदार्थों का अभाव हो गया। परन्तु पूर्व सङ्कल्प के नाते योग समाधि से उठकर उसे क्षुधा की तृप्ति का थोड़ा यत्न करना पड़ा। तब वह हिमालय के शिखर से उतर कर किरात देश में पहुँची, जहां कि अनेक मृग और पशुओं का झुण्ड विचरा करता था। वहाँ पहुँचकर वह काली कलूटी राक्षसी अँधेरी रात में विचर रही थी कि, उसी समय किरात देश का राजा अपने अनेक मंत्री और कुछ सैनिकों सहित वहाँ आखेट को जा पहुँचा। तब उसको देखकर राक्षसी ने समझा कि, अब मुझे भोजन की यथेष्ठ सामग्री मिल गई। यह राजा और इसके साथी अज्ञानी हैं। इनको देह का अभिमान है। ऐसे मूर्खों से लोक परलोक को कुछ भी लाभ नहीं पहुँचता। अतः इसको उपाय करके मारना ही योग्य है। कारण

वर्ष तक घोर तपस्या किया। तब दृढ़ वैराग्य होकर उसका चित्त निर्मल हो गया और सङ्कल्प त्यागकर परमपद की भागी हुई। उसके हृदय में ऐसा ज्ञान उदय हुआ कि, परमात्मा का साक्षात्कार होकर वह परम पवित्र रूप होगई। सारांश यह है कि, चेतनमें उसका एकत्वभाव होगया। फिर तो उसके तप से सप्तद्वीप जलने लगे और इन्द्र भगवान् का सिंहासन भी डगमगा गया। तब इन्द्रको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने नारदसे पूछा कि ऐसा घोर तप कौन कर रहा है? नारदजीने सारी कथा बतलाकर कहा कर्कटी नामक राक्षसी ने सात सहस्र वर्ष तक महाघोर तपस्या किया है। इन्द्रने कहा—हे महर्षि! फिर तो बड़ा अनर्थ हुआ। उसका क्या प्रबन्ध होगा। नारदजीने कहा, यह प्रबन्ध हमारे आपके हाथमें नहीं है। यदि ब्रह्माजी के पास चलें तो अवश्य कुछ निवारण हो सकता है। इन्द्रने कहा, बहुत अच्छा, चलिये। ऐसी सम्मति कर नारदजीके साथ इन्द्र ब्रह्माजीके पास पहुँचे। तब उन्हें देखकर ब्रह्माजी ने हँसकर कहा, आप लोगों की चतुराई हम जान गये। अब यहां बैठिये, मैं उस विषूचिका के पास जा रहा हूँ। इन्द्र से यह कह ब्रह्माजी विषूचिका के पास गये। उसको तपश्चर्या में अत्यन्त लवलीन और शुद्ध भावमें स्थित देखकर ब्रह्माजी ने अपने मनमें कहा कि, अब इसको जगत् का भ्रमशान्त होगया और यह वन्दना करनेके योग्य होगई। इससे निकट पहुँचकर, ब्रह्माजी ने कहा—हे पुत्रि! वर मांग। उसने विचार किया कि, अब तो तपोबल से मैं शान्तरूप होगई हूँ और जो कुछ जानने योग्य था जान गई, अब वर लेकर क्या करूँगी। ऐसा विचारकर वह चुप रही और न बोली। तब अन्तर्यामी ब्रह्माजी उसके हृदय के भाव को समझकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—हे कर्कटी! अभी तुझे यहां पर और विचरना होगा। इससे तू वर ले ले। मैं तुझे वर देता हूँ कि विदेह मुक्त होगी और फिर जीवन-मुक्त होकर विचरण करेगी। नेतिका जो निश्चय है वह अवश्य होगा। हे कर्कटी! तूने तप करने के पहले यह निश्चय किया था कि,

कि, यह पाप को जन्म देने वाले हैं। फिर ब्रह्मा की आदि नीति भी यही है कि, पापी बध करने के योग है और गुणवान रक्षाके योग्य हैं। पर अब इसकी परीक्षा करनी चाहिये। यदि यह राजा गुणवान होगा तो मैं इसे न मारूँगी। इस कारण कि उदार पुरुष भू-मण्डल का चन्द्रमा है। ऐसे सन्तों की सत्सङ्गति एवम् दर्शन से मोक्ष लाभ होती है। किन्तु अब बिलम्ब न कर प्रश्न पूछकर कुछ प्रश्नों द्वारा इसका परिचय जानना चाहिये।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का तिरेसठवां सर्ग समाप्त ॥ ६३ ॥

-::-❀-::-

चौसठवां सर्ग

राक्षसी और किरातराज का समागम

हे रामजी! ऐसा निश्चय कर वह राक्षसी महाघोर चिंघाड़ करती हुई किरातराज के निकट पहुँच कर बोली—तू कौन है? बुद्धिमान् है या मूर्ख है? कहाँ से आया है, कहाँ जायगा और तेरा क्या आचार है? अब तू मेरे भोजन की सामग्री बन चुका। क्या मैं तुझे भक्षण कर जाऊँ? राक्षसी का ऐसा प्रश्न सुनकर राजा ने कहा—क्यों? यह भौतिक शरीरधारी तू कौन है और कहाँ रहती है? तेरा यह घोर गर्जन तो मुझे मच्छरों की भिनभिनासट के समान मालूम हुआ है। मैं तुझसे तनिक भी भयभीत नहीं होता। पर तू अपने अभिप्राय को बतला कि क्या चाहती है? मैं तेरा अर्थ अवश्य पूर्ण करूँगा। हे रामजी! राजाका यह कहना था कि, राक्षसी ने उसे भयभीत करने के लिए और भी उच्च स्वर से घोर गर्जन किया। उस भयानक गर्जना से पहाड़ थर्रा उठे और वनचारी जीव भय के वशीभूत होगये। राजा के साथ जो सिपाही थे, वे भी डरके मारे काँपने लगे। परन्तु निर्भीक राजा के मंत्रीने कहा—क्योंरी राक्षसी! तू व्यर्थ के लिए, इतना घोर शब्द क्यों कर रही है? अपने आरम्भिक विचार को क्यों नहीं प्रकट करती। क्या नहीं जानती कि बुद्धिमान् जन केवल अपने प्रयोजन की बातको ही ग्रहण करते हैं

और जिस विषय से सम्बन्ध नहीं रहता, उसके लिए यत्नवान नहीं होते ? अतः हम तेरे विषय के व्यक्ति नहीं। तेरे सरीखे कितनों को हमने मार डाला है। हमारे धैर्य के आगे तेरे समान हजारों मक्खियाँ कुछ नहीं हैं। इससे तू अपने प्रयोजन को कह–हम उसे अवश्य पूर्ण करेंगे। मन्त्री की ऐसी निर्भीक और निर्मल वाणी सुनकर विषूचिका जान गई कि, यह कोई उदार आत्मा और सत्यनिष्ठ आचार के व्यक्ति हैं। अस्तु यह ज्ञानी हैं और इनके धैर्य की सीमा नहीं है। इससे मैं इनका नाश नहीं कर सकती। क्योंकि यह अविनाशी सत्ता और ब्रह्म में स्थित मालूम होते हैं परन्तु यह अज्ञानी हों तो इससे फिर थोड़ा प्रश्न कर सन्देह मिटा लेना चाहिए। क्योंकि सन्देह वालों को ज्ञानियों से अवश्य पूछना चाहिए। नहीं तो बड़ा दोष लगता है। यह विचार दृढ़कर उसने फिर राजासे प्रश्न कर वैसा ही परिचय पूछा। तब राजा के मन्त्री ने कहा–यह किरात देश के महाराज हैं और मैं इनका मन्त्री हूँ दुष्टों का वध करने के लिये ही इस रात्रि में उठे हैं दिन रात हमारा यही आचरण है कि, जितने भी दुष्ट मिलें उनका बध करें। मन्त्री की ऐसी बात सुनकर राक्षसी ने राजा से कहा–तुम्हारे मन्त्री का विचार अच्छा नहीं है। यह महा दुष्ट है। इसकी दुष्टता से तुम्हारी प्रजा सुखी नहीं रहेगी। क्योंकि नीति कहती है कि, मन्त्री न्यायी और विवेकी हो। ऐसा होने पर राजाभी विवेकी और शान्तात्मा होगा। गुणों का उत्तम गुण आत्म ज्ञान है। राजा होने का वही अधिकारी है–जो आत्मा को जाने, और मन्त्री वही हो सकता है, जिसमें प्रभुता और समदृष्टि हो। मेरा परिचय यह है कि मैं अज्ञानियों का भक्षण करती हूँ। इससे अब तुम मेरे पास से तभी मुक्त हो सकते हो कि, मैं जो प्रश्न करती हूँ उसका ठीक–ठीक उत्तर दो। उत्तर मिलने पर ही मैं अपने अर्थ को बतलाऊँगी और तुम उसे पूरा करना। ऐसा न होने पर मैं तुम्हें भक्षण कर जाऊँगी।

श्री योगवाशिष्ठ–भाषा उत्पत्ति–प्रकरण चौंसठवां सर्ग समाप्त ॥ ६४ ॥

ऐसे अणु का क्या नाम है जिसमें अहं, त्वं नहीं है। ऐसा कौन है जो अनेक यत्न करने पर मिलता हुआ भी कुछ नहीं मिलता और सब कुछ मिल जाता है। ऐसा कौन अणु है जिसे देख लेने पर जगत फुरता हुआ दृष्टिगत होता है और जिस अणुको बिना त्यागेही सुमेरु आदिक पर्वत स्थूलाकार होजाते हैं। उस अणु का क्या नाम है जो तालके अग्रभाग से भी छोटा और पर्वत से ऊँचा है? वह ऐसा कौन अणु है जो अपनेको नहीं ढाँपता पर सबको ढाँपता हुआ समस्त जीवों को जीवदान देता है। हे रामजी! इस प्रकार के बहुत से प्रश्न करके राक्षसी ने राजा से कहा—हे राजन्! यदि आपने ऐसे अणु को देखा हो तो मुझे बतलाइये? केवल इन्हीं प्रश्नों की शङ्का मुझे है। यदि आप ज्ञानी हैं तो आपका धर्म है कि ऐसे प्रश्नों का उत्तर दें। ज्ञानी पुरुष संशयों का नाश कर देते हैं। अपने प्रश्नों का उत्तर पाजाने पर मैं तुमको पूजा करने के योग्य समझूँगी। पर यदि उत्तर न मिला तो मैं तुम्हारे मन्त्री सहित तुमको मार कर भक्षण कर जाऊँगी। यही नहीं, तुम्हारी मूर्खतावश समस्त प्रजा को भी चबा डालूँगी। कारण कि मूर्खों का बध करना ही मेरा उद्देश्य है। हे रामजी! ऐसा कहकर राक्षसी चुप होगई।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का पैंसठवां सर्ग समाप्त ॥ ६५ ॥

::-※-::

छासठवाँ सर्ग

राक्षसी के प्रश्न का उत्तर

वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी! जब उस अर्द्ध रात्रिमें राक्षसी ने किरातराज से इतना अधिक प्रश्न किया तब राजा के मन्त्री ने कहा—हे राक्षसी! तेरे जितने प्रश्न हैं। सब अत्यन्त सरल हैं। मैं क्रम पूर्वक इन सबका उत्तर देता हूँ, सुन! ये प्रश्न केवल एक परमात्मा के सम्बन्ध में हैं, जिसको तुमने बहुत प्रकार से पूछा है। ऐसा तो ब्रह्मज्ञानी के लिए उचित ही है। हे राक्षसी! ऐसी सत्ता जो मन

पैंसठवां सर्ग

किरातराज से राक्षसी के अद्भुत प्रश्न

::-❀-::

वशिष्ठजी बोले–हे रामजी ! राक्षसीकी ऐसी बात सुनकर राजा ने कहा–तू प्रश्न कर, हम उत्तर देंगे । तब राक्षसी प्रश्न करने लगी, कि हे राजन् ! ऐसा कौन एक अणु है कि, जिससे अनेक अणु उत्पन्न हुए हैं और एकके अनेक नाम हैं और वह कौन अणु है जिसमें अनेक ब्रह्मांडोंकी रचना होती है और वह उसीमें लीन होजाते हैं ? फिर ऐसा कौनसा आकाश है कि जिसमें शब्द नहीं है और ऐसा कौन अणुहै कि जो किंचित अकिंचित नहीं है ? ऐसा कौन अणु है जिसमें अहं फुरता है ? ऐसा कौन है जो चलता भी है और नहीं भी चलता ? वह तिष्ठित भी है और प्रतिष्ठित भी है । ऐसा कौन है जो पाषाणवत होते हुए भी आकाशमें चित्रित है ? ऐसी कौनसी अग्नि है, जिसमें दाहशक्ति भी नहीं है पर अग्निका ही रूप है और ऐसी कौन अग्नि है जिसमें अग्नि उत्पन्न हुई ? उस अणु का क्या नाम है जो सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि और तारों के प्रकाश से रहित किन्तु अविनाशी है पर वह नेत्रों से भी देखा नहीं जाता और उसीसे समस्त प्रकाश उत्पन्न होते हैं ? ऐसी कौन सी ज्योति है जो फूल फूलादिकों को प्रकाशित करती है और अन्धेको भी प्रकाश देती है । उस अणुका क्या नाम है कि जिसमें आकाशादिक समस्त भूत उत्पन्न हुए हैं और जो स्वभावतः प्रकाशमान है ? उस ब्रह्माण्ड का क्या नाम है कि जिससे ब्रह्माण्डरूपी रत्न उत्पन्न होते हैं ? प्रकाश और अन्धकार सत्य और असत्य किस अणुमें इकट्ठा रहता है । जो दूर से भी दूर और दूर भी नहीं है । ऐसा कौन अणु है कि, उसमें सुमेरु आदि पर्वत भी छिपे रहते हैं । उस अणु का क्या नाम है कि जो एक निमिषमें कल्प और कल्पोंको निमिष मात्र जानता हुआ प्रत्यक्ष और असद्रूप है ? फिर सत्य और अप्रत्यक्षरूप कौन है ? ऐसी कौन चेतना है जो अचेत्य और वायु अवायुरूप है ?

प्रकार उस चिद्अणु में देश, काल भी स्थित है। जैसे बादल की घटा ही एक देश से दूसरे देश को जाती है न कि आकाश को। पर मालूम होता है कि आकाश ही जा रहा है, कारण कि आकाश में सब देश स्थित हैं। इससे वह कहीं नहीं जाता, वैसे ही जाते हुए भी आत्मा नहीं जाता। उसी चिन्मात्र परमात्मा में संवेदना का आकार रचा है। उसी आदि अन्त रहित में यह विचित्र जगत रचा है। वही चिद्-अणु अग्नि की भाँति प्रकाश्य है और वही ताप से रहित है। वही ज्ञान है और वही अग्निसे प्रकाशित है। उसीसे अग्निकी उत्पत्ति होती है। वही सर्वगत है। वही द्रव्यों का पाचक है। उसी में प्रलय के सब जीव लीन होते हैं। यदि पुष्कल मेघ भी एकत्रित हो जांय तो भी उसको नहीं ढांप सकते। वह सदैव प्रकाशरूप और ज्ञानरूप है। वह आकाश से भी निर्मल प्रकाशरूप है। उससे अग्नि उत्पन्न होता है और वही सबको सत्ता देने वाला है। उसी के प्रकाश से सूर्यादि भी प्रकाशते हैं। वही अनुभव रूप बिना नेत्र के भासित होती है और वही परम प्रकाशक है। वही ऐसा है कि, फल, फूल, और लताओं युक्त आत्मतत्वसे प्रकाश करता है। वही ऐसा चिद्अणु है जो देशकाल और क्रिया को सत्ता देता है। अतः वही सब का स्वामी, कर्त्ता, पिता और भोक्ता है। यही कारण है कि, वह किंचन रूप और जगतका धारण करने वाला है। वही अलखभाव से दूर से भी दूर और निकट से भी निकट रहता है। वही चिद्रूपी भाव एवं ज्ञान से निकट और अज्ञान से दूरातिदूर है। वही अज्ञानतावश तमरूप और ज्ञानवश प्रकाशरूप है। उसी चिद्अणु में संवेदना से सुमेरु आदिक पर्वत स्थित हैं। हे राक्षसी! यह सब जगत संवेदन रूप है, सुमेरु आदिक पर्वत उत्पन्न नहीं हुए हैं। चिद्सत्ता स्वतः स्थित है। संवेदन के अनुसार ही भासता है। निमेष का संवेदन होने पर निमेष और कल्प का संवेदन होने पर कल्प फुरता है। जिस प्रकार छोटे से दर्पण में विस्तार युक्त नगर भी प्रतिबिम्बित

और इन्द्रियों तथा चिन्तना से भी रहित और अगम है, वही सूक्ष्म है। इसीसे वह अणु संज्ञा है। उसी अणुमें सत, असत जगत स्थित होकर संवेदन से फुरता है। भासित होने के सम्बन्ध से ही वह चित्त कहलाता है। सृष्टि के पहले उसमें कुछ नहीं था, इसी से वह निष्किञ्चन भी है और इन्द्रियों का विषय न होने से वह किञ्चित भी नहीं है। इससे केवल उसी एकचिद् अणु से सब की आत्मा है, यही कारण है कि, अनन्त भोक्ता पुरुष किंचन है। पर जो किंचन नहीं है, उसका यह कारण है कि, उसमें कुछ भिन्न नहीं है। वही चिद्अणु सबकी आत्मा है और वही एक आभाससे अनेक रूपमें भासित होता है। वही परमाकाश और मन वाणी से परे आकाश से भी सूक्ष्म है। वही सर्वात्मा है। फिर वह शून्य कैसे? सतको शून्य कहना पागलपन है? क्योंकि सत्य के विना असत्य भी सिद्ध नहीं होता। वही सत है कि जिसके आश्रयसे असत सिद्ध होता है। वही अनुभव रूप है, वही चिन्मात्र सर्वरूपसे किंचित है। वही अचेतन है इसमे अकिंचित है। वह इन्द्रियों से रहित और निर्मल है। उसी चिद्अणु में फुरणवश अनेकों जगत स्थिर रहकर उत्पन्न होते और लीन होते हैं। वह मन और इन्द्रियों से अतीत है। इससे वह चिद्अणु शून्य है। वही स्वतः प्रकाशता है, इससे अशून्य है। उसी एक आत्मा से अहं, त्वं की उत्पत्ति हुई है। उसी ज्ञान में अहं त्वं लीन होते हैं। वह सर्वत्र आपही है। त्रिपुटी रूप भी वही है और वही चिद्अणु अनेक योजनों पर्यन्त जाता हुआ भी चलायमान नहीं होता, क्योंकि उसका संवित अनन्त रूप है। वही अन्तर योजनों का भी समूह है। वहां कोई जा, आ, नहीं सकता। वही सब देश काल में स्थित है। उसमें सब कुछ होने से ही उसकी प्राप्ति नहीं होती। यह जितना कुछ जगत है सब उसी एक आत्मा में है। फिर वह आत्मा कहाँ जावे। अतः वह कहीं नहीं जाता। पर जो चलता भासित होता है, वह तो शरीर की अपेक्षा से भासता है। जिस प्रकार आकाश में बादल स्थित है, उसी

अनेक यत्नों से प्राप्त करने योग्य है। उसको प्राप्त कर लेने पर भी मालूम होता है कि कुछ नहीं पाया और सब कुछ मिल गया। ब्राह्मण कि उस आत्माकी प्राप्ति होने पर कुछ पाना शेष नहीं रहता। जन्मों की परम्परा अज्ञान रूपी बसन्त ऋतु की बेलि है और उसको ज्ञान-रूपी खड्ग से काटना चाहिए। जब तक ज्ञानरूपी खड्ग न हो वह नहीं कटती। हे राक्षसी! चिद्अणु संवेदन द्वारा अपने को दृश्य रूप में पाता है और वह शुद्ध ही संवेदन के सहारे अपने को फुरता हुआ देखता है। इसी प्रकार चिद्अणु के सहारे जगत होकर त्रिभुवन में स्थित है। पर वस्तुतः वह माया मात्र है। भ्रम से भाषित है। स्वप्न में स्त्री का आलिंगन करने के समान ही यह जगत् मनके फुरने में पड़ा भासित होता है। इससे भ्रममात्र है। हे राक्षसी! जैसे वह सर्वशक्ति रूपी आत्मा आदिसे फुरता है, वैसेही रूप होकर भासता है, अर्थात् सङ्कल्प अनुसार ही स्थित होता है। इसलिये समस्त जगत सङ्कल्प मात्र है। हे राक्षसी! वह चिद्अणु से भी सूक्ष्म है और उसी से सब जगत परिपूर्ण है। वह सब जगत का अनन्तरूप आत्मा है और उसी के संवेदन से जगत की रचना हुई है। देश, काल और वस्तु से आत्मसत्ता रहित है यही कारण है कि वह सुमेरु पर्वत से भी स्थूल है और उसके लिए बड़े-बड़े पर्वत भी तृण के सदृश और बाल के अग्रभाग के सहस्रों भाग से भी सूक्ष्म हैं। हे राक्षसी! रात, दिन, नदियां, पहाड़ और भीतर–बाहर सब लोकों में आत्मसत्ता का ही प्रकाश है। उसी से नील कमल और श्वेतकमल दोनों ही प्रकाशते हैं। तात्पर्य यह कि तम और प्रकाश दोनों का प्रकाशक वही चिदा-त्मा है। वह उदय अस्त से रहित सर्वदा उदयरूप है। उसके बिना सभी सिद्धियाँ अपूर्ण हैं। क्योंकि वही सर्व प्रकाशक चिद्अणु है। उस अणु में भी एक विचित्र अनुभव-अणु है। जैसे बसन्तऋतु में पत्र, फूल, फल और टास होते हैं, वैसे ही चिद्अणु में अनुभव अणु विद्यमान हैं। जैसे एक बीज से अनेक वृक्ष क्रम पूर्वक होते हैं,

होता है, उसी प्रकार उस निमेष की फुरणा में ही सब जगत फुरता है। पर उसमें दूसरा कोई भ्रम नहीं है। वह ब्रह्मसत्ता चारों ओर से शांत-स्वरूप, अज, एक और आदि अन्त से रहित है। उसमें एक और दो की कोई कल्पना नहीं है। विना उदय हुए ही वह उदय है। वही निर्मल और स्वतः प्रकाश करने वाला आत्मा है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति–प्रकरण का छासठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६६ ॥

—❀—

सड़सठवाँ सर्ग

किरातराज द्वारा परमार्थ निरूपण

मन्त्री के ऐसा कह चुकने पर राजा किरात ने राक्षसी से कहा-हे राक्षसी ! इस जाग्रत जगत के विश्वास का अभाव होने परही आत्मा में विश्वास होता है और सङ्कल्पों की चेतना का नाश होने पर ही आत्मा का साक्षात्कार होता है। उसी आत्मसत्ता में संवेदन के फुरने से जगत होकर भासता है और उसके सङ्कोच करने से सृष्टि का प्रलय होजाता है। आत्मसत्ता ही उसका अधिष्ठान रूप है। वह वाणी से भी अतीत है। अतः उसको जतलाने के लिए, तुमसे कुछ वेदान्त का वाक्य कहता हूँ। ध्यान देकर सुन। हे राक्षसी ! द्रष्टा, दर्शन दृश्य के अन्तर जो अनुभव पूर्ण सत्ता है, वही परमात्मा है और वही द्रष्टा, दर्शन और दृश्य रूप होकर भासित होता है। उसमें ही जगत की सब लीला है। पर ऐसे नानात्व भाव से ही वह खण्डित नहीं अखण्ड ही है। उसी चिन्मात्र सत्ता को ब्रह्म कहते हैं। वही चिद्अणु संवेदना से वायु रूप है और उसमें वायु भी भ्रममात्र है। क्योंकि वह शुद्ध चिन्मात्र है। जब उसमें शब्द का संवेदन फुरता है, तब शब्द रूप होकर भासता है। पर उसमें शब्द भी भ्रांतिमात्र है। उसमें अहं, त्वं का लेश नहीं है। वह निष्कञ्चन है। क्योंकि वह सर्व शक्ति रूपी आत्मा है और प्रतिमा के अनुसार फुरता हुआ तद्रूप से भासता है। अस्तु फुरना ही, जगत का कारण है। वह

को उत्पन्न करता है। निरस वस्तुओं में भी वही चिद्अणु विद्यमान रहता है। अतः कोई भी स्वाद चिद्अणु के बिना नहीं। वह सबको रस देने वाला और आत्मभाव से सबका अधिष्ठान है। वह अत्यन्त सूक्ष्म है, इसीसे बिना स्वाद है। उसी ने समस्त जगत को ढाँक रक्खा है और वह स्वयम् किसी से ढाँपा नहीं जा सकता। कारण कि, वह सबको सत्ता देने वाला और अङ्ग अपभूत है। वह किसी पदार्थ से नहीं छिप सकता। वही सबका प्रकाश रूप है। पर यह बड़ा आश्चर्य है कि मूर्ख उसे नहीं जानते। वह जङ्ग रूप होकर भासता है और उसी सर्वात्मा से सब उत्पन्न हुए हैं। वह एक निमिषके अबोध चित्रअणु में अनेक कल्पों का अनुभव करता है। जिस प्रकार स्वप्न में अभोक्ता भोक्ता का अनुभव करता है उसी प्रकार वह एक निमिष में कल्पका अनुभव करता है। हे राक्षसी! यह जितने आकार भास रहे हैं सब भ्रममात्र हैं। आकाश की नीलता के समान ही आत्मा में यह विश्व भासित होरहा है। क्योंकि आत्मा ही सर्वगत और सब का अनुभव है। उसमें व्याप्य और व्यापक का स्पर्शलेश मात्र भी नहीं है। शुद्ध चित्त संवित में ही संवेदन के स्फूर्तित होने से ही पृथक २ भाव होता है। क्योंकि इच्छासे जो पदार्थ प्राप्त होता है उसमें व्याप्य और व्यापक भाव की कल्पना रहती है और इच्छा ही पदार्थ है। जिस प्रकार समुद्र का फेन उस जाल से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार इच्छा से उत्पन्न हुये पदार्थ आत्मा से भिन्न नहीं हैं, वही भी आत्म स्वरूप ही हैं। उसी में सबका अनुभव है और वही सब में चिन्मात्ररूप से स्थित है। फिर उसके सम्बन्धमें कोई दूसरी कल्पना कैसे हो सकती है? पर जहां दो हैं, एक भी वहीं होगा। जब दो नहीं, तब एक भी नहीं जैसे छाया की अपेक्षा से ही धूप है और धूप से छाया है वैसेही एक के बाद दो होता है। अस्तु जो ऐसी कल्पना से परे है, वही चिन्मात्ररूप है। वह आत्मसत्ता आरम्भ कालमें जब नाना प्रकार की दृष्टि करता है। तब भी समही रहता है सम्यकज्ञान

वैसे ही एक चिद्‌अणु से अनेक अनुभव अणु होते हैं। उन चिद्‌अ-णुओं से आत्मा तटस्थ है और आसीन नाईं स्थित है। वही सबका कर्त्ता और भोक्ता है। पर किसी से स्पर्शितनहीं है। उसी से जगत की सत्यता भी है। अतः यह सबका कर्त्ता, सबका भोक्ता और सबमें है। पर वास्तव में न कुछ उत्पन्न होता है और न लीन होता है। केवल चिन्मात्रसत्ता ही स्वतः अपने में अखण्ड और सूक्ष्मरूप से स्थित है। यही कारण है कि किसी से स्पर्श नहीं किया जा सकता। हे राक्षसी! जितना जगत दिखलाई पड़ता है, सब आत्मा का रूप है, उसमें और जगत में कोई अन्तर नहीं। नाम मात्रके लिये दो हैं। उस पर जितना भी विचार प्रकट किया जाय, केवल नाम मात्र का उपदेश है। वास्तव में कुछ दूसरी वस्तु बनी नहीं है। तीनों जगत चिदाकाश रूप हैं। हे राक्षसी! द्रष्टा दृश्यभाव को प्राप्त होने पर अपने स्वाभाविक भाव को नहीं देख पाता। वह देखी जाने वाली वस्तु में पड़कर अपने को भूल जाता है। जब दृश्य नष्ट होता है, तब द्रष्टा भी नहीं रहता। क्योंकि द्रष्टा का दृश्य से सम्बन्ध है। जिस प्रकार भोगने वाले के बिना भोग नहीं, वैसे ही द्रष्टा के बिना दृश्य नहीं रहता। हे राक्षसी! द्रष्टाही दृश्यको एकसे अनेक करता है न कि दृश्य द्रष्टाको। कारण कि, दृश्य जड़ है। बिना द्रष्टाके दृश्य नहीं भासता। जिस प्रकार भूषण बुद्धि वाले को सुवर्ण नहीं भासता, भूषण ही भासता है और ज्ञान होने पर सुवर्ण ही भासित होता है, भूषण नहीं, उसी प्रकार एक सत्ता में दोनों की सिद्धि नहीं इस भांति जब द्रष्टा दृश्य को देखने लगेगा, तब वह भी दृश्य भाव ही हो जाता है, द्रष्टा भाव नहीं रहता। जैसे ज्ञान होने पर रस्सी का सर्प नहीं रहता, वैसे ही बोध द्वारा दृश्य का अभाव होकर एक परमात्मा सत्ता ही भासित होती है और द्रष्टाकी संख्या भी नहीं रहती। पर वह दर्शन और दृश्य को ऐसे ही प्रकाशता है, जैसे दीपक पदार्थों को प्रकाशता है। हे राक्षसी! वह अत्यन्त निःस्वाद रूपी जो परमाणु है, वही सब स्वादों

के साथ से 'मिटइ दोष दुख, दारिद दावा' की बात चरितार्थ होती है। हे राजन्! मैं आपके वचनों से बहुत प्रसन्न हूँ। मेरा रागद्वेष सब नष्ट हो गया है और अब मैं शान्त स्वरूप हो गई हूँ। इससे निवेदन है कि, अब आप अपने प्रयोजन को बतलाइये। यथासाध्य मैं उसे अवश्य पूर्ण कर सकूँगी। राजा किरात ने कहा,–हे देवी! उधर थोड़े समयसे हमारे नगरमें विषूचिक का रोग फैला हुआ है। सुनते हैं कि, एक कोई देवी है कि जिसकी मायासे यह रोग विस्तार पा रहा है। क्या उसके निवारणका भी कोई मन्त्र है? आज हम इस निशा रात्रिमें उस देवी (राक्षसी) की खोज में निकले हैं पर देखते हैं तो तुम पर ही हमारी शङ्का दृढ़ होती है। यदि तुम्हीं हो तो अब मुझ पर कृपा कर अपना कोप समेट लो। प्रजा अत्यन्त उत्पीड़ित है। राक्षसी ने कहा, बहुत अच्छा, आज से मैं जीवों को न मारूँगी। जीव शब्द सुनते ही राजा ने राक्षसी को रोककर कहा, यह कैसे हो सकता है कि, तू जीव हिंसा न करे। ऐसा करने पर तो तेरा यह विशाल शरीर नहीं रह सकता। राक्षसी ने कहा, आप आश्चर्य न करें, मुझमें सूक्ष्म शरीर धारण करने की भी शक्ति वर्तमान है। यह कहकर उसने अपनी पूर्व तपस्याओं का उल्लेख करते हुए ब्रह्मा जी के वरदान की बात कह सुनाई। उसने कहा, आप इसकी चिन्ता न करें। मेरे निवारण के लिए उसी समय ब्रह्माजी ने 'ओम्' मंत्र बतलाया है। आप इसी मन्त्र को लीजिये और श्रीगङ्गाजी के किनारे जाकर स्नान ध्यान से निर्मल होकर प्रेम पूर्वक जप कीजिये। आपके राज्यसे रोग शीघ्रही हट जायगा। फिर तो राजाने वैसा ही किया। बाद में राक्षसी राजा से विदा हुई तब उसको जाते देखकर राजा ने कहा, हे कल्याणि! तुम हमारे गुरुके समान हो और तुम्हारा दर्शन कर हम कृतकार्य हुए। इससे निवेदन करता हूँ कि अब तुम इस भयावनी सूरत को त्यागकर किसी सुन्दर स्त्री का ऐसा रूप धारण करो कि जिसे देखकर चित्त प्रसन्न हो जाय। फिर आप हमारे

होने पर द्वैत भी अद्वैत जान पड़ता है। कारण कि द्वैत कल्पना की जड़ अज्ञानता है। यदि ज्ञान हो जावे तो ब्रह्म और जगत् भेद कुछ नहीं। द्वैत-अद्वैत का जानना तो दुःखका कारण है। इससे रहित होने ही का नाम परमपद है। अतएव दृष्टा रूपी जो यह जगत है, वह चिद् परमाणु में स्थित है। पर बड़ा अचम्भा है कि, केवल माया से ही चिद्परमाणु में त्रैलोक्य की कल्पना स्थित है। यही कारण है कि मायामय है। बीज और वृक्ष के अनुसार ही यह जगत चिद्अणु में विद्यमान है। जिस प्रकार वृक्षभाव का परिणामी बीज है उसी प्रकार परिणामी चिद्अणु से जगत का रूप है। अन्यथा द्वैत अद्वैत, बीज अंकुर, स्थल, सूक्ष्म, उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ, अस्ति, नास्ति और सम तथा असम जगत, अजगत कुछ नहीं है। चिदानन्द आत्मसत्ता ही भावनानुसार स्वतः स्थित है, और बिना उदय ही संवेदनावश उदय भासता है। इसमें न तो कुछ उदय हुआ है और न अस्त होगा। वह तांतसे भी सूक्ष्म है और उसी चिद्अणुमें अनन्त सुमेरु आदिक स्थित हैं। उसमें सुमेरु आदिक की स्थिरता आकाश की सूक्ष्मता के समान है। ऐसे ही जगत की आत्मा में स्थित है। आत्मज्ञानियों के लिए सुषुप्ति की नाईं भासता है। अस्तु, आत्मसत्ता सदैव अद्वैत रूप और परिणाम से रहित है। उसमें मुक्त प्राणीजन सदैव स्थित हैं। उनके लिए जगत ब्रह्मरूप है। भिन्नता कुछ नहीं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का सड़सठवां सर्ग समाप्त ॥ ६७ ॥

::-❀-::

अड़सठवां सर्ग

राक्षसी की सुहृदयता

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! राजा किरात के ऐसे बोधमय और अमृत तुल्य उपदेशों को सुनकर राक्षसी ने आश्चर्यित होकर कहा-हे राजन्! आपके विचार बहुत उच्च हैं। आप विवेकीजनों से पूजने योग्य हैं। क्यों न हो? सत्सङ्गति का प्रभाव ही ऐसा है कि, सन्तों

के पदार्थ सत्य से जान पड़ते हैं। पर यह ऐसा नहीं है। आत्मसत्ता सदैव सम्पन्नरूप है और वही अविद्यमान की नाईं भासित होता है। उस एक अनादि परमकारण आत्मसत्ता में ही भावना के लिए जगतरूप भासता है। उस ब्रह्म और जगत में कोई अन्तर नहीं है। अहं आत्मसत्ता सदैव अपने आप में स्थित है। चित्तस्पंदताके अनुसार रूप होकर जान पड़ता है। जैसे स्तम्भ की पुतलियाँ शिल्पी के मन मन्दिर में उत्पन्न होती हैं, फिर प्रत्यक्ष चित्रित हो जाती हैं, वैसे ही भावना से जगत होकर भासता है। जिस प्रकार वृक्षों की जड़ से लेकर फल, फूलादि तक सब बीज के ही अनन्यरूप हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में जगत अनन्य रूप है। जो ऐसा बिचार नहीं रखते उनके लिए तो सर्व में भेद है, पर विचार करने से जगत और ब्रह्ममें कोई भेद नहीं है। रामजी! अब इसके सम्बन्ध में बहुत विचार न करो। यह जगत चाहे जैसा हो, उसकी निवृत्ति का यत्न कीजिये। यत्न से जड़-ग्रन्थि छूट जायगी और शब्दार्थ सहित जितनी भी कल्पनायें उठती हैं, वह मेरे उपदेशों से नष्ट हो जाँयगी। हे राघव! यह चित्त बड़ा ही अनर्थकारी है। सारा जगत इसी से उत्पन्न हुआ है। यदि ध्यान पूर्वक मेरा उपदेश ग्रहण करोगे तो शांत हो जावोगे। उसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि, समस्त जगत ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है। इस सम्बन्ध में शास्त्रों ने जो कुछ कहा है, दृश्यमात्र है। केवल उपदेश बतलाने के लिये कहा है। अन्यथा वे शब्द कुछ नहीं हैं। ब्रह्मसे जगत् हुआ, यह बात बहुत ही पुष्ट है। पर इस सम्बन्ध में भिन्न, अभिन्न, कारण, परिमाण, भाव, विकार, विद्या, अविद्य और दुःखकी जो मिथ्या कल्पना उठती है, वह केवल अज्ञान से उठती है यदि ज्ञान किया जाय तो सब कल्पनायें शांत हो जाती हैं और केवल ब्रह्मपद ही शेष रहता है। ज्ञान होने पर ठीक ज्ञात होता है कि, आदि मध्य से रहित अखण्ड सत्ता सी स्वतः स्थित है। उपदेश तो केवल जिज्ञासुओं के लिए द्वैतवाद की एक

ही नगर में रहा करें। कर्कटी ने कहा, यह तो ठीक है, मुझमें सूक्ष्म शरीर धारण करने की शक्ति वर्तमान है। पर राक्षसी स्वभाव तो ऐसा है कि, मानव शरीरमें भी क्षुधा ऐसीही रहेगी। आप इस क्षुधा को तृप्त न कर पाइयेगा। क्योंकि जो स्वभाव है वह सृष्टि पर्यन्त भी नहीं बदलता। राजाने कहा, हाँ ! वह बात तो ठीक है, पर कोई चिन्ता नहीं, आप मानव शरीर धारणकर अभी हमारे साथ चलिये, हम सब प्रबन्ध कर लेगें। राज्य में जितने चोर, दुष्ट मिलेंगे उनको पकड़ाकर मैं आपके हवाले कर दूंगा। आप कंदरा में ले ज़ाकर उनको भक्षण कर डालियेगा और वहीं समाधि भी लगायेइगा। जब समाधिसे उतरियेगा तब आ जाया करियेगा। फिर तो राक्षसी ने वैसा ही किया और झट सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर स्त्री भेष में राजा के साथ चली। मार्ग में एक स्थान पर बैठकर तीनों ने रात्रि को व्यतीत किया और प्रातःकाल होने पर राक्षसी सहित राजा महल में पहुँचे। जब सात दिन व्यतीत हुए तब राजा ने अपने बन्दीगृह से तीन हजार चोरों को राक्षसी के हवाले कर दिया। वह उन सबों को अपने राक्षसी बल से उड़ाकर हिमालय की कन्दरा में जाकर थोड़ी ही देर में सबको खाकर सो गई। दो दिन बाद निद्रा से जागी भी तो समाधि लगाकर बैठ गई और पाँच वर्ष तक बैठी ही रही। जगने पर फिर राजा के पास आई। तब राजाने उसकी बड़ी पूजा की। इसी भांति वह राजा के वहाँ अनेक वर्ष तक राक्षसी स्वभाव करती रही। पश्चात् वह राजा विदेह मुक्त हो गया।

श्री योगवाशिष्ठ—भाषा उत्पत्ति—प्रकरण अड़सठवां सर्ग समाप्त ॥ ६८ ॥

—::-❀-::—

उनहत्तरवां सर्ग

मनोंकुर की उत्पत्ति

इस प्रकार शुद्ध चेतनका निरूपण हो चुकने पर वशिष्ठजी कहने लगे,—हे रामजी। वास्तवमें बड़ा आश्चर्य है कि, यह इस असत्‌रूप जगत्

आत्मा का विस्तरण और निर्मल स्थिति है। मन उसका आभास रूप है। सूर्य किरणों से जलाभास होने के समान ही यह मन आत्माका आभास मात्र है। वह मनरूपी बालक जगतरूपी पिशाचको अज्ञान से देखता है और ज्ञानसे परमात्मपद शांत और निरामयको देखता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का उनहत्तरवां सर्ग समाप्त ॥ ६९ ॥

सत्तरवां सर्ग

आदित्य समागम

वशिष्ठजी बोले,–हे रामजी! अब मैं तुम्हारे बोध के लिए इन्दुब्राह्मण का एक आख्यान सुना रहा हूँ। यह आख्यान मैंने ब्रह्मा जी से सुना है। मेरे पूछने पर ब्रह्माजी ने कहा कि, यह समस्त जगत मन से उत्पन्न हुआ है और मनसे ही जान पड़ता है। जिस प्रकार जल की द्रवता से नाना प्रकार के तरङ्ग फुरते हैं, उसी प्रकार मनके फुरने से ही जगत फुरताहै और वह मनका-ही रूप है। ब्रह्मा जी ने यह भी कहा कि, एक समय जब दिन का क्षय हो गया तब सम्पूर्ण सृष्टि का संहार कर मैं एक भाव स्वस्थ चित्त होकर बैठ गया। फिर जब मेरी रात्रि व्यतीत हुई और मैं जागा तब उठकर नित्य नैमित्तिक कर्म करके आकाश की ओर देखने लगा। उस समय मैंने देखा कि, आकाश तम और प्रकाश से रहित शून्य रूप चारों ओर से व्याप्त है। तब मैंने चिदाकाश में चित्त को मिलाकर सर्ग को उत्पन्न करने का ज्योंही सङ्कल्प चित्त में किया कि, त्योंही मुझको सृष्टि दृष्टि आई। उस सृष्टि में ब्रह्मा विष्णु और रुद्र तीनों देवता देख पड़े। इसके अतिरिक्त अन्य देवगण, गन्धर्व, किन्नर, मनुष्य, सुमेरु आदिक पर्वत, पृथ्वी, नदियाँ और सातों समुद्र भी उस सृष्टि के विस्तार दिखलाई पड़े। वह सृष्टि भी दश हैं और उनमें मेरे ही अनुरूप दश ब्रह्मा भी कमल डोंडी से उत्पन्न और आरूढ़ दिखलाई पड़े। उनकी भी भिन्न २ सृष्टियाँ थीं और सभी वस्तुयें अपना २ कार्य करती थीं। लोग अपनी २ वासना के शुभाशुभ आचारों से स्वर्ग और

कल्पना मात्र है। वोधदर्शियोंके लिये नहीं। अच्छा तो, यह जितनी कुछ भेद कल्पनायें मनने रची हैं, उनकी निवृत्ति के लिये उपदेश सुनिये। हे रामजी! इस मन ने गन्धर्व नगर के समान ही जगत की रचना की है। मैंने जैसा कुछ देखा है, उसके अनुसार तुम्हारे वोधके लिए उदाहरण करता हूँ। इसको जानने से तुमको जगत भ्राँतिमात्र ही भासित होगा। फिर तो निश्चयात्मक होकर तुम जगतकी वासनाको दूरसे ही त्याग दोगे और वोध होनेसे जगत मनका रूप जान पड़ेगा। इससे सावधान होकर मेरा उपदेश सुनो। हे रामजी! यह मनरूपी वृहत्‌रोग विवेकरूपी औषधसे ही शांत होता है। जगत की कल्पना चित्त ने की है। उसमें शरीर आदि कुछ नहीं है। रेतसे तेल का न निकलना और जगतसे कुछ न निकलना एक ही समान है। केवल चित्तमे भासता है। अतः यह चित्तरूपी संसार स्वप्न के समान है और रागद्वेषादि सकल्पोंसे युक्त है। इससे रहित होना, समुद्र को पार करना है। अतः जो विवेकी पुरुष हैं, वह शुभ गुणों द्वारा चित्त को शुद्ध कर शुभ कार्य करते हैं। उनका आहार व्यवहार वड़े विचार से होता है। उन्हीं की भाँति तुम भी शास्त्रानुसार कार्य करो। ऐसा अभ्यास करनेसे तुम्हें शीघ्रज्ञान प्राप्त हो जायगा और सभी कल्पनायें नष्ट हो जाँयगी, और तुम आत्मस्थिति को प्राप्त होगे। मनने ही इस जगतरूपी चित्र को रचा है। वह मन जड़, अजड़ रूप है। मनकी चेतना ही सव अर्थों का वीज रूप है, अर्थात् सवका उपादान है। हे रामजी! सृष्टि के आदि में जव पृथ्वी आदिक तत्व अविद्यमान थे तव ब्रह्माने इस जगतको विद्यमान के समान ही देखा। जैसे स्वप्न भासता है, वैसे ही ब्रह्मा ने प्रमादवश जड़ संवेदना से पहाड़ आदिक जगत् को देखा और चेतन संवेदना से जङ्गमरूप जगत् को देखा। इससे सव जगत् दीर्घ वेदना है। नहीं तो सव देहादिक शून्य रूप हैं। आत्मा ने सवको व्याप्त रखा है। उसका कोई शरीर नहीं है। स्वतः जिसने दृश्यरूपी मनको चेता है, वही मन आत्मा का शरीर

विप्रदेव बोले, हे भगवन्! यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे दश पुत्र ऐसे दीजिये कि, जिनसे किसी प्रकारका शोक दुःख न हो। शिवजी ने कहा, एवमस्तु। ऐसा कहकर शिवजी अन्तर्धान हुए और ब्राह्मणी सहित ब्राह्मण देव अपनी कुटी में चले गये। उसी दिन से ब्राह्मणी को गर्भ रहा और समय पर अत्यन्त तेजस्वी दश पुत्र उत्पन्न हुए। बालक अत्यन्त होनहार थे इससे केवल सात ही वर्ष की अवस्था में वे सब के सब आचार्य हो गए। पश्चात् ब्राह्मण ब्राह्मणी शरीर छोड़ दिया और वह दशो परमार्थचर्या एवम् ब्रह्म को जानने की युक्ति में कैलाश पर्वत पर जाकर तपस्या करने लगे। एक दिन दशों भाई एक साथ बैठ कर विचार करने लगे कि, ईश्वर क्या है? उसका क्या रूप है और वह ईश्वरीय पद क्या है कि, जिसको पा जाने से दुःख भी न हो और नाश भी न हो और वही सबका ईश्वर भी हो। इस विषय पर विवाद होने लगा। सब लोग अपनी-अपनी सम्मति देने लगे। तब सब से बड़े भाई ने कहा, हे भाइयों! यह समस्त विभूतियाँ ब्रह्माजी के कल्प में नष्ट होती हैं। इस कारण ब्रह्मा जी के समान और कोई नहीं है। बड़े भाई की ऐसी वाणी सुनकर सबने कहा, बहुत ठीक! बहुत ठीक! आपने अच्छा कहा है। पर अब यह बतलाइए कि, उस ब्रह्मपद को कि जिसे जगत भी पूजता है, हम लोग कैसे प्राप्त कर सकते हैं? बड़े भाई ने उत्तर दिया, अन्य सभी भावनाओं को त्याग दो और ऐसा निश्चय करो कि, हमीं ब्रह्मा हैं और पद्म-पत्र पर बैठे हैं। हमीं सबका पालन और संहार करते हैं जगत का आश्रय भूत भी हमीं हैं। पर जगज्जाल के आश्रयीभूत हम नहीं हैं, किन्तु सृष्टि हमारे अङ्ग में स्थित है। ऐसा निश्चय और भावना कर लेने पर हम ब्रह्मपद को प्राप्त हो जायेंगे। तब छोटे भाई का कहा, आपका यह भी कहना ठीक है, और हम ऐसा करते भी हैं। फिर तो उन दोनों भाइयों की वाणी सुनकर, सब ध्यानावस्थित हो गए और चिन्ता करने लगे कि, मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही

मोक्ष प्राप्त करते थे। प्रत्येक सृष्टि में सात द्वीप हैं। उनमें उत्पत्ति, प्रलय और कल्प भी दिखलाई पड़े वहाँ मैंने देखा कि गङ्गाजीका प्रवाह जगतके गलेमेंयज्ञोपवीत है। बिजली की नाईं सृष्टि उत्पन्न होती और मिटती है। हे मुनीश्वर ! वहां मैंने एक२ ब्रह्माण्डमें स्थावर जङ्गम ऐसी प्रजा देखो, जैसे गूलर फलमें अनेक मच्छर होते हैं। इन सब सृष्टियों को मैंने भ्रान्त वाहक दृष्टिसे देखा। पर जब चर्म दृष्टि से देखूँ तब कुछ न जान पड़े। इससे मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैं इस भ्रम को दूर करने के लिए बहुत दिन तक बैठा देखता रहा। तब एक सृष्टि के सूर्य को आवाहन कर मैंने अपने पास बुलाया और पूछा कि हे, भुवन भास्कर ! आप कुशल से तो हैं ! कहिए, अब सृष्टि कहाँ से उत्पन्न करना चाहिये। यह जगत है या अनेक जगत हैं ?

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति–प्रकरण का सत्तरवां सर्ग समाप्त ॥ ७० ॥



इकहत्तरवां सर्ग

ऐन्दव समाधि वर्णन

अब सूर्य ब्रह्माजी से कहने लगे–हे भगवन् ! अभी जो आपके एक कल्प की अवधि समाप्त हुई है, उसमें एक जम्बूद्वीप था। उसके एक कोनेमें आपका जो सुवर्णष्ठीव पुत्र रहता था उसकी कुटीमें कश्यप कुलवतंस इन्दु नामक ब्राह्मण भी अपनी भार्या सहित रहता था। वह भार्या से बहुत प्रेम करता था। पर जिस प्रकार मरुस्थल में घास नहीं उत्पन्न होती, उसी प्रकार उसकी काया से सन्तान न उत्पन्न हुई। तब वह उत्पत्ति के लिए कैलाश के समीपवर्ती स्थानों में किसी वृक्ष पर चढ़कर घोर तपस्या करने लगा। तपस्या करते-करते जब उसको द्वापर और त्रेतायुग बीत गया तब शशिकला धारी भवानी-शङ्कर प्रसन्न होकर वर देने चले। निकट पहुँचकर उन्होंने देखा कि वृक्ष पर ब्राह्मण, ब्राह्मणी बैठे सूख रहे हैं। तब शङ्करजी ने जोर से कहा, हे विप्र ! हम तुम्हारी तपस्या से बहुत प्रसन्न हैं, वर माँगो

और उनकी सृष्टियां हैं। अब आपको जो अच्छा लगे कीजिए। अन्यथा जगत की जो कुछ कल्पनायें हैं, सब भ्रममात्र हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का बहत्तरवां सर्ग समाप्त ॥ ७२ ॥

:::-::-❀-::-:::

तिहत्तरवां सर्ग

ऐन्दवनिश्चय

यह कहकर जब सूर्यदेव चुप होगये, तब उनके वचनों को विचार कर ब्रह्माजी ने कहा—हे सूर्य ! आपने-तो दश सृष्टियाँ बतलाईं हैं। अब कहिए, मैं क्या बनाऊँ। जब दशों सृष्टि और दशों ब्रह्मा भी स्थित हैं तब मेरी रचना से क्या लाभ ? सूर्यने कहा—नहीं, आपके लिए सृष्टि रचनामें कोई श्रम नहीं है। आप इच्छा रहित हैं। आपके लिए सृष्टि रचना तो केवल विनोद मात्र है किसी कामनावश तो आप सृष्टि रचते नहीं। केवल निष्कामरूप संवेदन द्वारा सृष्टि को रचते हैं। इसीसे अज्ञानी आपको सृष्टि कर्ता समझते हैं और नहीं जानते कि, आप निष्क्रियरूप सर्वदा स्वतः स्थित हैं। आप को शरीरादि की प्राप्ति और त्याग में कुछ भी रागद्वेष नहीं है, उत्पत्ति और संहार की कोई कल्पना आपमें नहीं है। आपसे सृष्टि केवल लीला मात्र होती है। आप सर्वदा असंसक्त हैं और जगत की रचना ही आप का नित्य कर्म है। अतः आप अपने नित्य कर्मको अवश्य कीजिए। क्योंकि आप सुषुप्ति रूप हैं। आपका किसी प्रकार उत्थान नहीं है। इससे आप सुषुप्ति प्रबोध होकर अपने प्राकृत आचार को अवश्य कीजिए। यदि इन्द्रके दशों पुत्रों की सृष्टि को भी देखें तो भी बुरा कुछ नहीं, ज्ञान दृष्टिसे देखिए तो एक ही ब्रह्म अद्वैत है। केवल सङ्कल्प से अनेक सृष्टियां फुर रही हैं। इनमें आस्था क्यों कीजिए। चर्म दृष्टिसे देखने पर अपनी सृष्टि नहीं भासती। फिर आपका उनसे सम्बन्ध ही क्या है? वह सृष्टियाँ तो उन्हीं के चित्त में स्थित हैं। फिर आप उनका नाश भी तो नहीं कर सकते। क्योंकि, नाश उस कर्मका होता

कमल पत्र पर बैठा हूँ, मैं ही सृष्टिकर्ता और भोक्ता हूँ तथा मैं ही परमेश्वर हूँ। सूर्य मेरी ही आज्ञा से तपता है। लोक पालों को मैंने ही बनाया है जीवों की रक्षा मेरे हाथ है। जगत मैंने ही रचा है। सरस्वती और गायत्री सहित वेद मेरे ही आगे खड़े हैं। जगत मुझसे ही उत्पन्न होकर मुझ ही में लीन होता है। मैंने ही देशकाल की रचना की और मैं ही दिन रात को उत्पन्न करता हुआ आत्मा-पद में स्थित हूँ। मैं ही पूर्ण परमात्मा हूँ। हे ब्रह्माजी! ऐसी भावना करके वे दशों भाई बैठकर विचारने लगे। उनको देखकर ऐसा मालूम होता था कि, मानों कागज पर मूर्ति बैठी है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का इकत्तरवां सर्ग समाप्त ॥ ७१ ॥

:::-::-卐-::-:::

बहत्तरवां सर्ग

जगत रचना निर्वाण

ऐसा विचार करते हुए, इन्द्र के दशों पुत्र बैठे थे कि, जैसे सूखा हुआ कमल-पत्र गिर पड़ता है वैसे ही उन दशों का शरीर धूप और पवन से सूखकर गिर पड़ा। वन के माँसाहारी जीव उनके शरीरों को चिचोड़ने लगे। पर वे ध्यान में ऐसे मग्न थे कि, उनकी वृत्तियाँ ध्यान से न छूटीं और ब्रह्मा की भावना ही में लगी रहीं। जब चारों युग का अन्त हो गया और द्वादश सूर्य तपने लगे, पुष्कल मेघ गरजने व बरसने लगे, भूचाल हुआ, वायु चली, समुद्र खलबला उठा और चारों ओर जल ही जल होकर समस्त भूतों का क्षय होकर आप के कल्प का भी दिन क्षय हो गया तब उनका शरीर छूटा। फिर तो पुर्यष्टकाश में आकाश रूप होकर ब्रह्म सङ्कल्प की तीव्र भावना से वे दशों सृष्टि सहित भिन्न २ अपनी सृष्टि के दश ब्रह्मा हुए। हे ब्रह्माजी! ऐसा होकर वे ही आकाशमें फुर रहे हैं। उन्हीं दशों ब्राह्मणों के चित्ताकाश में सृष्टि स्थित है। मैं उन सृष्टियों की एक सृष्टिका सूर्य हूँ। मुझमें ही क्षण, दिन, मास और युग हैं। यही दशों ब्रह्मा

ही गुणज्ञ था तथापि रानी ने उसका परित्याग न करके अपना प्रेम स्थित रखा। पर अधिक दिन भी न व्यतीत हुए थे कि, राजा को इसका पता चल गया। तब वह दोनोंको अनेक प्रकार से दण्ड देने लगा। पर वे दोनों अपने प्रेममें ऐसे मग्न थे कि, उस दण्ड से तनिक भी दुखी न होते। इस पर राजा ने कारण पूछा तो इन्द्र ब्राह्मण ने कहा—हे राजन्! हम तो अपने को जानते ही नहीं कि हम क्या हैं। हमको तो सर्वत्र अहल्या ही भासती है। रानी ने कहा, हमको भी सर्वत्र इन्द्र ही भासता है, फिर दूसरा दुख कैसे होगा। आप चाहे कितना भी दण्ड क्यों न दें पर हमको रञ्च मात्र भी कष्ट नहीं पहुँचता। यह सुनकर राजा को और भी क्रोध आया और उसने रानी को बँधवाकर अग्नि में छोड़वा दिया। फिर हाथी के पैरों तले डाल दिया। पर न तो वह अग्नि से जली और न हाथी के पाँव से ही कुचली जासकी। इस प्रकार जब उसे तनिक भी कष्ट न पहुँचा तब राजा ने फिर पूछा तो इन्द्र ब्राह्मण ने कहा—हे राजन्! जितना कुछ जगज्जाल है, सब मन में ही स्थित है और मन के अनुसार ही पुरुषरूप है। फिर हमको दण्ड से दुःख क्यों होगा? हमारे हृदय में तो परस्पर की प्रतिमा है हमको अनिष्ट कुछ नहीं है, यदि अनिष्ट होता तो दुःख भी अवश्य होता। हे राजन्! मन के निश्चय को कोई दूर नहीं कर सकता। शरीर भले नष्ट होजाय, पर मन का निश्चय अटल है। मन की तीव्र संवेदना तो वर और शाप से भी नहीं दूर होती! रानी की मूर्ति मेरे हृदय में स्थिरीभूत है और मेरी मूर्ति रानी के हृदय में स्थित है। रानी को चारों ओर जगत में मैं ही मैं भासता हूँ और मुझे रानी ही भासती है। यदि दूसरा कुछ भासित होता तो दुःख भी होता। पर जैसे लोहकोटमें कोई दुःख नहीं हो सकता, वैसे ही मुझको कोई दुःख नहीं दे सकता। मैं जहाँ भी जाता हूँ, वहाँ मुझे अहल्या ही दीखती है। इससे अहल्याही मेरा मन है और यह सारा जगत मनसे ही उत्पन्न हुआ है। मनके दृढ़ निश्चयके

है कि जिसका सम्बन्ध इन्द्रियों से होता है, पर मनके निश्चयका नाश नहीं हो सकता। जिसका जो निश्चय होता है,वही नाश कर सकता है, दूसरा नहीं। शरीर भले ही नष्ट होजाय, पर चिरकाल का दृढ़ किया निश्चय नाश नहीं हो सकता।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति–प्रकरण का तिहत्तरवां सर्ग समाप्त ॥ ७३ ॥



चौहत्तरवां सर्ग

कृत्रिम इन्द्र वाक्य वर्णन

सूर्य ने ब्रह्माजी से कहा–हे देवेश। इस सम्बन्ध में राजा इन्द्रद्युम्न, रानी अहल्या और एक ब्राह्मण पुत्र 'इन्द्र' का इतिहास सुनने ही योग्य है। यह तीनों एक ही नगर के निवासी थे। इनको किसी कथा वार्ताके प्रसङ्गमें गौतम ऋषिकी पत्नी अहल्या और इन्द्र भगवान की कथा सुनने का अवसर मिला। तव उसकी एक सखी ने कहा–रानीजी! पहली अहल्या के समान ही आप हैं और उस इन्द्र के समान आपही के नगर में एक इन्द्र नाम का ब्राह्मण दर्शनीय है। आप उसका एक बार अवश्य दर्शन कीजिए। रानी को उस ब्राह्मण के प्रति अनुराग होगया। पर उससे साक्षात्कार न होने से रानी का शरीर कृशित होकर पीला पड़ गया। इससे राजा ने समझा कि रानी को कोई रोग होगया है। वह औषधि कराने लगा। किन्तु रानी इन्द्र के वियोग में दिन रात तड़पा करती और चारपाई पर पड़ेर हाय इन्द्र! हाय इन्द्र! पुकारा करती थी। तव उसकी एक सखी ने विचार कर कहा, रानी जी! आज मैं इन्द्र ब्राह्मण का आप से साक्षात्कार करा दूंगी। ऐसा कह कर वह सखी अपने घर आई और जव रात हुई तव इन्द्र ब्राह्मण को समझा बुझाकर रानी के पास ले गई। इन्द्र को देखते ही रानी ने प्रेम पूर्वक उसका स्वागत किया और एकान्त पा कर दोनों प्रसन्न हुए। उसी दिन से उन दोनों का प्रेम दर्शन होता रहा। यद्यपि रानी का पति बड़ा

छिहत्तरवां सर्ग

::-❀-::

जीवक्रमोपदेश-वर्णन

हे वशिष्ठजी ! इस प्रकार आप देखिए कि मन के अनुसार ही आगे भासता है। इससे मन ही जगत का कर्ता है और शरीरका कर्ता नहीं है। इस मन के निश्चय को मिटाने के लिए कोई भी औषधि उपयुक्त नहीं है। जैसे मणि की परछाईं दूर करने के लिए मणिको ही उठा लिया जाय, ऐसे ही मनके दृढ़ निश्चय को दूर करने के लिये मनको ही पलट देना चाहिये। हे वशिष्ठजी ! इतना कहकर सूर्य ने मुझसे कहा कि, इसी प्रकार अब आप भी चिदाकाश में सृष्टिकी रचना कीजिये। चिदाकाश अनन्त रूप है। उसमें अधिक से अधिक इच्छा-नुसार सृष्टि आप कर सकते हैं। तब मैंने कहा, हे सूर्य ! तुम्हारे विचार से ज्ञात होता है कि, भूताकाश, चित्ताकाश, और चिदाकाश यह तीन आकाश हैं। अच्छा, अब मैं अपना नित्यनैमित्तिक कर्म करता हूँ पर तुम भी मेरी एक बात मानो। हमारी सृष्टि के तुम्हीं मनु प्रजापतिहो जावो और तुम्हीं इच्छानुसार सृष्टिकी रचना भी करो। हे वशिष्ठजी ! फिर तो सूर्य ने अपने शरीर के दो भागकर, एक को पूर्व की सृष्टि का सूर्य और दूसरे को स्वायंभुव मनु बना दिया। फिर उन्होंने समस्त सृष्टि को उत्पन्न किया। हे वशिष्ठजी ! इसीसे मैं कहता हूँ, कि इस जगत की रचना मनने ही की है। मनके दृढ़ निश्चय के अनुसार ही सफलता होती है। इन्द्र ब्राह्मण की सृष्टि भी ऐसी ही थी। यह चित्त आत्म का किञ्चन रूप है और अपनी स्फूर्ति के अनुसार ही भासता है। आदि शुद्ध संवित में जो उत्थान हुआ है, वही अन्तवाहक शरीर है। उसका दृढ़ाभ्यास एवं स्वरूप का प्रमाद होना ही आधि-भौतिक शरीर का होना है। इसका अभिमानी होने ही को जीव कहते हैं। शरीराभिमान नाना प्रकार की वासना से ही होता है। उसीके अनुसार जीव भटकता है। पर यदि आत्मा का बोध हो जाय तो

अनुसार ही सब कुछ भासता है। मनही सुमेरु पर्वत के समान स्थित होकर कदापि नष्ट नहीं होता। जिस प्रकार फूल फल और पत्तों के नाश होने से वृक्ष का नाश नहीं होता, उसी प्रकार शरीर के नष्ट होने से मन का दृढ़ निश्चय नष्ट नहीं होता क्योंकि सबका बीज और पदार्थों का कारण मन ही है। यह जिधर जाता है सब ओर मुझे रानी ही रानी भासती है। फिर मुझे दुःख किस बातका होगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का चौहत्तरवां सर्ग समाप्त ॥ ७४ ॥

पचहत्तरवाँ सर्ग

अहल्यानुराग की समाप्ति वर्णन

इन्द्र की ऐसी बात सुनकर राजा को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने महर्षि भरत से जो वहाँ उपस्थित थे कहा, कि आप इस पापी को ऐसा शाप दे दीजिये कि, यह अभी मर जाय और आज से इसका नाम मिट जाय। क्योंकि यह बड़ा ही धृष्ट है। पापी को मारना दोष है, इससे आप इन्द्र और रानी दोनों पापियों को अपने शाप बलसे भस्म कर दीजिए। फिर तो राजा की ऐसी बात सुनकर मुनि ने शाप दे दिया। उस शाप को सुनकर इन्द्र ब्राह्मण ने कहा, मूर्खो! तुम्हारे शाप से क्या होगा? मेरा शरीर भले ही नष्ट हो जाय, पर मन तो ऐसा ही रहेगा? तुम्हारे सभी यत्न विफल होंगे और हम अपने इस मन से पुनः नवीन शरीर धारण कर लेंगे। यह कहकर इन्द्र और रानी दोनों ही वृक्ष की भांति पृथ्वी पर गिर पड़े और उनके प्राण पखेरू उड़ गये। पर वासना के संयोग से वे दोनों फिर मृग और मृगी होकर जन्मे। जब वह शरीर छूटा तब पक्षी हुए और अब वही दोनों ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर हमारी सृष्टिमें तप कर रहे हैं। हे वशिष्ठ जी! आप देखिए कि भरत मुनि के शाप से केवल उनका शरीर ही नष्ट हुआ और मन का निश्चय नहीं नष्ट हुआ। यही कारण है कि वे दोनों साथ २ जन्म लेकर प्रेम से रहते आए।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का चौहत्तरवां सर्ग समाप्त ॥ ७४ ॥

भ्रम तो केवल चित्त ही से है। चित्त के निश्चयानुसार होकर भासता है। जिसको शरीर की भावना रहती है, वह शरीर ही के लिए नित्यशः चेष्टित रहता हुआ चिरकाल पर्यन्त कष्ट पाता है। पर जो शरीर से निवृत्त होकर शुद्ध चैतन्य भाव को प्राप्त करता है, उसको शरीरादिक जगत भ्रम नहीं रहता।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा उत्पत्ति-प्रकरण छिहत्तरवां सर्ग समाप्त ॥ ७६ ॥

—::-❀-::—

सतहत्तरवां सर्ग

ब्रह्माजी द्वारा मन माहात्म्य वर्णन

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! ब्रह्माजी के ऐसा कहने पर मैंने उनसे फिर पूछा कि, हे भगवन् ! यह कैसे हो सकता है कि देह को तो शाप हो और मन को न हो ? मन और देह तो अनन्य रूप है यदि आप कहें कि, देह कुछ वस्तु नहीं, चैतन्य ही चित्त है तो एक के नष्ट होने से दोनों ही क्यों नहीं नष्ट होजाते। मेरे विचार से तो जब शरीर को शाप लगा तब मनको भी लगना चाहिये। पर आप कहते हैं कि शरीर का कर्म मन को नहीं लगता। यह कैसे ? ब्रह्मा जी ने उत्तर दिया कि, हे महामुने ! जगत में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो समस्त कर्मों को छोड़कर पुण्यरूप पुरुषार्थ करने से सिद्ध हो क्योंकि पुरुषार्थ ही से सब कुछ होता है। जितने भी रूप हैं, सब भावना से ही भासते हैं। हे मुनीश्वर—इस जगत के दो शरीर हैं। एक का नाम अत्यन्त चञ्चल 'मन' है और दूसरे का आधिभौतिक माँसमय शरीर है। इसमें शरीर का फल निष्फल है और मनकी चेष्टा सुफल है। शाप उस पुरुष को लगता है जो माँस मय शरीर में अहङ्कार रखता है पर जो गूंगे दीन और क्षणनाशी हैं वे दीन रहते हैं। यह चित्तरूपी शरीर महा चञ्चल है, इसका वश में करना बड़ा कठिन है। यदि वैराग्य में दृढ़ अभ्यास हो तो यह वश हो सकता है अन्यथा नहीं। जैसा २ इसमें (मन में) निश्चय

शरीरादिक सहित सब दृश्य स्वयमही शान्त होजायेंगे। अतएव हे मुनि यह सब तो केवल दृश्यभ्रम से है। अन्यथा न कोई उत्पन्न हुआ है और न कोई जगत है। यह सब चित्त का रचा हुआ भ्रम है। आत्मा का सच्चा बोध होजाये तो शरीरादि से लेकर सभी प्रपंच स्वयम् नष्ट हो जायेंगे। केवल चित्तके फुरने से अहं त्वं भ्रम से भासते हैं। हे वशिष्ठ जी ! जिस भाँति इन्द्र ब्राह्मण के दशों पुत्र मनके दृढ़ निश्चय से ब्रह्मा रूप होगए, उसी प्रकार मैं भी ब्रह्मा हूँ। इस मनके जड़ और चेतन दो प्रकार के रूप हैं। जड़का रूप दृश्य और मनका रूप चेतन ब्रह्म है। यही दृश्य की ओर फुरनेसे दृश्य रूप और चेतन की ओर फुरने से जड़भाव नष्ट होकर चेतन ब्रह्म होजाता है। जड़भाव में फुरने ही से नाना प्रकार का जगत दीखता है। अन्यथा ब्रह्मादि तृण पर्यन्त सब चेतन रूप ही है। जड़में चित्त का अभाव है। जिस प्रकार काष्ठ में चित्त नहीं जान पड़ता और प्राणिधारियों में जान पड़ता है और स्व-रूप दोनों का ही समान है. वैसेही सब परमात्मा द्वारा ही प्रकाशित है और चेतन रूप है। यदि चेतनरूप न होते तो भासित ही नहीं होते अतः ब्रह्मामें जो चेतना हुई, वह मन है और उसका चेतन भाव ही ब्रह्मा है। जड़भाव अबोध है। इसी से दृश्यभ्रम होता है और चेतन भावमें स्थित होने पर शुद्ध रूप होता है। चेतनमात्र में अहंकार का उत्थान ही दृश्य है। अल्प या परमार्थ में कोई भेद नहीं। जल और तरङ्ग के समान ही अहं व चेतन मात्रमें भिन्नता नहीं है। ब्रह्मामें ही सबकी प्रतीति है। वही परमात्मा है, वही सब दुखों से परे है। फिर जब वही शुद्ध चित्त जीव, चेत्यभाव को चेतता है तभी उसे जड़भाव दिखलाई पड़ता है। स्वप्न में मरण के समान ही वह चित्त जड़भाव को देखता है। अतः आत्मा ही सर्व शक्तिमान है। सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करता, पर उसके समान और कोई नहीं है। उसमें जब तक अज्ञानता है तभी तक नाना प्रकार का जगत भासित होता है ? आत्म ज्ञान होते ही जगत भ्रम नष्ट होजाता है। क्योंकि यह

न असत्य है। प्रत्यक्ष सुनने से तो सत्य है पर नष्ट भाव से असत्य है। किन्तु यह सत्य असत्य भी केवल मन से भासता है। इसकी कोई वास्तविकता नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७७ ॥

—❀—

अठहत्तरवाँ सर्ग

वासना का त्याग

हे रामजी! सर्व प्रथम अहं शब्द जो ब्रह्म स्थित था, उसमें अहं अस्मि चेतना के लक्षणों संयुक्त चित्त उत्पन्न हुआ। फिर जब दृढ़ हो गया तब वही मन हुआ। वही मन पञ्चतन्मात्रा की कल्पना कर ज्योतिस्वरूप ब्रह्मा कहलाने लगा। वही ब्रह्मा मन का रूप है और मन ही ब्रह्मरूप है। पर वह सङ्कल्परूप ही है। क्योंकि उसने विद्या अविद्या शक्ति की कल्पना किया। अभिमान अविद्या है और इसकी निवृत्ति ही विद्या है। पहाड़, तृण, समुद्र और जल इत्यादिक स्थावर जङ्गम समस्त जगत को उसी ने उत्पन्न किया है। हे रामजी! अब जगत की उत्पत्ति और नष्टता की बात सुनो। समुद्र में तरङ्ग के समान ही यह सब जगत ब्रह्म में उत्पन्न और लीन होता है। शुद्ध आत्मसत्ता में जो अहंभाव है, वही मन और वही ब्रह्मा है। उसी ने सर्व चित्त संयुक्त विस्तारित शक्ति वाले नाना प्रकार के जगत को रचा है। चित्त के फुरने से ही नानात्व भासता है। अन्यथा समस्त जीवों में आत्मसत्ता स्थित है। स्वरूप के प्रमाद से भटकते हैं। पर यदि सत्सङ्ग की प्राप्ति हो तो मुक्त हो जाय। तात्पर्य यह कि ज्ञान की प्राप्ति होने पर ही दृश्य भ्रम से छुटकारा मिल सकता है, अन्यथा नहीं। हे रामजी! वासना अनन्त सङ्कटों का कारण है। यही नाना प्रकार का भ्रम दिखला रही है। इसको ज्ञान कुठार से काटकर इसका क्षोभ मिटा दिया जाय तो शरीर रूपी अंकुर मनरूपी बीज से उत्पन्न ही न होवे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७८ ॥

होता है वैसा ही वैसा भासता है, पर मांसमय शरीर कुछ नहीं कर सकता और मनका निश्चय भी दूर नहीं होता। यदि चित्त आत्मपद में स्थिर होजाय तो अग्नि में जलने पर भी कुछ दुःख नहीं होसकता। क्योंकि चित्तको शरीरादि का भाव ग्राह्य तो रहता नहीं। वह केवल आत्मा में ही स्थिर रहता है। इससे समस्त भावनाओं का त्यागकर मन जिसमें निश्चय हो, वही भासता है। दृढ़ निश्चयी को अन्य दुःख कैसे होगा? यदि किसी शापसे मनको कष्ट पहुँचे तो समझना चाहिए कि वह दृढ़तः नहीं लगा था। अभ्यास में शिथिलता थी। क्योंकि सृष्टि दोष मानती है और मनको हिलाने में किसी पदार्थ की शक्ति पर्याप्त नहीं है। अतः मनमें मनको लेजाकर चित्त को परमपद में ही लगाना चाहिए। यदि चित्त आत्मा में दृढ़ होजाय तो जगत के पदार्थ उसे चलायमान नहीं कर सकते। यही तो बात थी कि, माण्डव्य ऋषि को सूली पर लटकने पर भी खेद न हुआ। क्योंकि उनका मन तो और कहीं था। उसी प्रकार मनकी स्थिरता से ही इन्द्र ब्राह्मण को भी कष्ट न हुआ। हे महामुने! दीर्घतपा नाम के एक ऋषि थे। एक दिन अन्धकार में वे किसी कूयें में गिर पड़े और उसमें मन को दृढ़ कर यज्ञ करने लगे। उस यज्ञ का ऐसा प्रभाव हुआ कि वह मन में देवता होकर इन्द्रपुरी में फल भोगने लगे। ऐसेही इन्द्र ब्राह्मण के दशों पुत्र जो मनुष्य ही थे, मन में ब्रह्मा की भावना से दश ब्रह्मा हो गये और उन्होंने दश सृष्टिको रच डाला। अब वह सृष्टि मुझसे खण्डित नहीं हो पाती। अस्तु दृढ़ अभ्यास नष्ट नहीं हो सकता। भावना ही सब कुछ है। उल्लू को सूर्य में अन्धकार ही दिखलाता है और कितनों को चन्द्रमा की किरणें भी अग्नि रूप भासती हैं। किसी २ को अमृत में विषकी भावना होती है और किसी को विष में भी अमृत टपकता है। ऐसेही कटु, आम्ल और लवण भी भावना के ही अनुसार भासित है। पर मन रूपी बाजीगर जैसा चाहता है वैसा रच लेता है। इससे मनका रचा हुआ जगत न तो सत्य है और

भेद स्थित है। इसी से ज्ञानियों के प्रति यह कहते नहीं बनता कि, जीव ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं। परन्तु दूसरा भी कुछ नहीं है। ब्रह्म सत्ता में कोई कल्पना नहीं है। वह सर्वदा अपने स्वभाव में स्थित है ज्ञानियों को सर्वदा ऐसा ही जान पड़ता है। पर अज्ञानी तो बहुत दूर चला जाता है। वह नहीं जानता कि, जैसे वसन्त ऋतुमें नवीन अंकुर उत्पन्न होते हैं, वैसे ही चित्त की स्फूर्ति से जीव उत्पन्न होते हैं। हे रामजी ! मन और कर्म में कोई भेद नहीं है। यह दोनों इकट्ठे ही आत्मा में उत्पन्न हुए हैं और इकट्ठे ही आत्मा में लीन हो जाते हैं। देव, दानव, नाग, मनुष्य इत्यादिक जितने जीव हैं, सब आत्मा से ही उत्पन्न हुये हैं और आत्मा ही में लीन हो जाते हैं। इनके उत्पन्न होने का करण अज्ञान है। यह सुनकर रामजी ने पूछा—हे भगवन् ! इससे तो यह जान पड़ता है कि, शास्त्र प्रमाणों से सिद्ध किये हुये सभी पदार्थ सत्य हैं और शास्त्र प्रमाण भी वह है जो रागद्वेष से रहित निर्णय करता हो और जिसने दम्भ रहित गुणों का प्रतिपादन किया हो। उसके अनुसार विचरने वाले जीव सद्गति को प्राप्त होते हैं और विपरीत अचरण करने वाले अशुभ गति को प्राप्त होते है। लोक में भी यह कहावत है कि, कर्मानुसार ही जीव उत्पन्न होते हैं और जैसे बीज होता है वैसा ही अंकुर उत्पन्न होते हैं। एसे ही कर्मानुसार जीव अपनी गतिको प्राप्त करता है कर्ता ही से कर्म है, इससे यह दोनों अभिन्न हैं। फिर यह दोनों इकट्ठा कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि कर्ता से कर्म है और कर्म से गति है आपका कहना है कि, मन और कर्म ब्रह्म से उत्पन्न हुये हैं। पर यह मान लेने से तो शास्त्रकारों का वचन अप्रमाणित हो जाता है। अतः आप मेरे इस संदेह को दूर कीजिये और जो सत्य हो वैसा ही कहिए। वशिष्ठजी कहने लगे-हे रामजी ! आपने यह अच्छा प्रश्न किया है। अब मैं इसका वह उत्तर देता हूँ, कि जिसके सुनने से तुमको पूरा ज्ञान हो जायगा। हे रामजी ! उस संवितमात्र आत्मतत्व में जो

उन्यासीवां सर्ग

सर्व ब्रह्म प्रतिपादन

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! समस्त भूतों से ही ब्रह्मकी उत्पत्ति होती है। जैसे छोटे,बड़े और मध्य आकारके बुद्बुदे में ही जल उत्पन्न होते हैं और वह जल रूप ही हैं, वैसे ही यह समस्त जीव ब्रह्म से उत्पन्न हुये हैं और ब्रह्मरूप ही हैं। जैसे अग्नि से चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं वैसे ही ब्रह्म से जीव उत्पन्न होते हैं। जैसे कल्पवृक्ष की लता नाना प्रकार का रूप धारण करती है, वैसे ही ब्रह्म से जीव हुये हैं। जैसे चन्द्रमा से ही किरणों का विस्तार होता है और,पत्र, फल, फूल आदिक वृक्षसे ही उत्पन्न होते हैं, वैसे ही ब्रह्म से जीव उत्पन्न हुआ है केवल संवेदन के फुरने में जीव की कल्पना होती है। जैसे द्रवता से जल ही तरङ्ग रूप जान पड़ता है, वैसे ही ब्रह्म ही संवेदन से जगत रूप भासित होता है। द्रष्टा, दर्शन, दृश्य, ब्रह्म से ही उत्पन्न हुये हैं। जैसे सूर्य के तेज में मृगतृष्णा की नदी भासती है। वैसे ही संवेदन से ब्रह्म में द्रष्टा, दर्शन, दृश्य-त्रिपुटी भासती है। पर वास्तव में इनकी कोई कल्पना नहीं है। जैसे चन्द्रमा और शीतलता में सूर्य व प्रकाश में कोई अन्तर नहीं है, वैसे ही ब्रह्म और जगत में कोई अन्तर नहीं है। वह समस्त जीव ब्रह्म से ही उत्पन्न होकर ब्रह्म ही में लीन हो जाते हैं। अतः यह जगत परमात्मा से हुआ है और उसी की इच्छानुसार सब व्यवहरते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति प्रकरण का उन्यासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७६ ॥

-::-❀-::-

अस्सीवां सर्ग

मन और कर्म

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! यह जो मैंने कहा है कि सब जीव ब्रह्म से उत्पन्न हुये हैं, वह अज्ञानियों को बोध होने के लिये कहा है। पर इसमें सात्विक, राजस और तामस गुण से अनेक

आत्मतत्व अनन्त रूप और वह सर्व शक्तिमान है । उसमें सङ्कल्प का फुरना ही मन है । जड़ अजड़ के बीच में जो थोड़ा २ हिलता है, उस मिले हुये रूप का नाम ही मन है । हे रामजी ! जो भावरूपी पदार्थों के मध्य में सत्य असत्य का निश्चय करता है उसे मन कहते हैं । मन कल्पना से रहित नहीं हो सकता । जैसे गुणों के बिना गुणी नहीं रहता, वैसे ही कर्म कल्पना बिना मन नहीं रहता । कर्मोंकी सत्ता मन से भिन्न नहीं है । इससे मन और आत्मा में कुछ भेद नहीं है । मन बीज है और उसमें सङ्कल्प रूपी बहुत प्रकार के पुष्प हैं । मन की वासना के अनुसार फल प्राप्त होता है । अतः मन का फुरना ही कर्मों का बीज है और भिन्न-भिन्न क्रियायें, उस वृक्ष की शाखा और बहुत प्रकार के फल हैं । मन का निश्चय जहाँ-जहाँ जायगा वहीं २ इन्द्रियां भी प्रवृत्त होंगी और जो कर्म है वही मनका फुरना है । इससे मन ही स्फूर्तिरूप है और यही कारण है कि, मन कर्म रूप है । उस मन की कई संज्ञायें हैं । मन, बुद्धि, अहङ्कार, कर्म कल्पना, स्मृति, वासना, अविद्या, माया और प्रकृति इत्यादिक यह सब मन की ही संज्ञा हैं । अतः संसार का कारण,मनकी कल्पना ही है । चित्त को चेत्य का संयोग होने पर ही संसार भ्रम होता है । अन्यथा जितनी संज्ञायें कही हैं, सब चित्त के फुरने से अकस्मात फुरती हैं । यह सुनकर रामजी ने कहा-हे भगवन्! उस अद्वैत संवित् आकाश में इतनी कल्पना कैसे हो गई और वह अर्थ संयुक्त दृढ़ कैसे है ? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया कि, हे राघव ! वह शुद्ध सत्ता जो केवल फुरने से ही स्थित है, उसी को मन कहते हैं । जब वह मानाभाव हो जाती है, तब पदार्थों का निश्चय करती है । तब उसी को बुद्धि कहते हैं । जब अनात्मा में आत्मभाव परिछिन्नरूप से मिथ्या अभिमान करता है, तब वह अहङ्कार रूप हो जाता है । इससे वही अहंवृत्ति संसार के बन्धन का कारण होती है । पदार्थों को ग्रहण करती और वही त्याग करती है । क्योंकि वृत्ति का धर्म है फुरना और उस

संवेदन फुरा है, वही कर्म का बीज मन हुआ है और वही सबका कर्म रूप है और उसी बीज से सब फल होते हैं। इससे कर्म और मन में कोई भेद नहीं है। क्योंकि प्रथम वाला शरीर मन ही है और उस मन रूपी शरीर से ही कर्म होते हैं। मन की स्फूर्ति ही क्रिया और कर्म है और मन से ही इन दोनों की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं, कर्मों से छूटने के लिए कोई स्थान नहीं है। मन का सङ्कल्प अवश्य सिद्ध होगा और पूर्व पुरुषार्थ भी निष्फल नहीं होगा। वह अवश्य मिलता है। हे रामजी ! ब्रह्म से चेत्यभाव ही मन और कर्म रूप है और वही समस्त लोकों का बीज है। प्राणी एक देश से दूसरे देश में जाते हैं, वह क्या है? वह भी तो मनका ही सङ्कल्प है और सङ्कल्प ही उसे ले जाता है? वहां जाना ही कर्म है। इससे कर्म स्फूर्तिरूप है और मन भी स्फूर्तिरूप है। मन और कर्म में कोई अन्तर नहीं है। मन जैसे फुरता है और जो कुछ मनसे कार्य करता है, वही सिद्ध होता है न कि शरीर की चेष्टा। अतः मन और कर्म में कोई भेद नहीं है। परन्तु जो भिन्नता जान पड़ती है, वह एक मिथ्या कल्पना मात्र है। ऐसी कल्पना मूर्ख करते हैं। बुद्धिमान नहीं। क्योंकि प्रथम परमात्मा से मन और कर्म इकट्ठे ही उत्पन्न हुये हैं और समुद्र में तरङ्ग की लीनता के समान ही मन और कर्म परमात्मा में लीन हो जाते हैं। इससे यह दोनों परस्पर अकिंचन रूप हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा—उत्पत्ति–प्रकरण का अस्सीवां सर्ग समाप्त ॥ ८० ॥

-:-❀-:-

इक्यासीवाँ सर्ग

मन-संज्ञा-विचार वर्णन

हे रामजी ! यह मन भावना मात्र है। भावना कहते हैं फुरने को और फुरना क्रिया का रूप है। उस फुरने की क्रिया से समस्त फल प्राप्त होते हैं। रामजी ने कहा-हे विप्रवर ! अब इस जड़ अजड़ रूपी मनका विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिये। वशिष्ठजी कहने लगे—हे राम !

संज्ञा प्राप्त करता है। मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और जीव इत्यादिक मन की संज्ञा है। इसके अतिरिक्त सिद्धान्तवादियों ने अपने-अपने सिद्धान्तानुसार मनकी और भी अनेक संज्ञायें की हैं। पर यह केवल थोथी कल्पनायें हैं अन्यथा सबका सिद्धान्त एक ब्रह्म आत्मतत्व से ही है। हे रामजी! नैयायिक या साँख्यमतावलम्बी अथवा चार्वाक, आर्हत, बौद्ध और पञ्च-रात्रिक सिद्धान्तवादी जितने हैं, सब अपने ही मत को उत्तम समझकर अन्य मतावलम्बियों का अपमान करते हैं वे अपने-अपने मार्ग को ही पुष्ट बनाते हैं और दूसरे का नहीं मानते। इसी प्रकार मन के भिन्न २ रूप से अनेक प्रकार का जगत है। एक मन की अनेक संज्ञा और अनेक शक्ति है। मन को ही जीव, वासना और कर्म कहते हैं। यह समस्त जगत मनके ही फुरने से हुआ है और जान पड़ता है। यदि फुरना से रहित हो जाय तो कुछ नहीं है। यह साधारण सी बात है कि इन्द्रियों के विषय का ही नाम जीव है और सबकी सिद्धि मन से है। अतः अर्थों का कारण केवल मन है। चैत्यभाव से छूटने वाला पुरुष ही मुक्त होता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति—प्रकरण का इक्यासीवां सर्ग समाप्त ॥ ८१ ॥

बयासीवाँ सर्ग

चिदाकाश माहात्म्य वर्णन

इतनी कथा सुनकर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा कि हे सर्व विद्याओं के आचार्य! अब कृपा पूर्वक यह बतलाइये कि, मन का अनुभव कैसे किया जाय? वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी! मन केवल भावना मात्र है। मरुस्थल में जल के समान ही आत्मा का आभास रूप मन है। मन से ही सब जगत भासित होता है इससे सब मनका ही रूप है। मनुष्य, देवता, पक्षी, गन्धर्व और नागपुर आदिक जो कुछ भासते हैं, सब मन से ही विस्तार पाते हैं। किन्तु ये तृण और काष्ठ के समान हैं। अतः उनका विचार ही क्या है? सब तो मन की ही रचना है और वह मन भी अविचार से है। विचार

फुरनेमें ही वही फलकी ओर दौड़ती है। इसीसे उसको कर्तव्यका अभिमान हुआ और वह फुरना कर्म हुआ। फिर स्मृति उसको कहते हैं कि जो पूर्व कर्मों का स्मरण चित्त में आवे या पूर्व में जिसका अनुभव न हुआ हो और हृदय में आवे कि, पहले मैंने अमुक कर्म किये हैं, इसे स्मृति कहते हैं। जिस अनुभव किये पदार्थ का संस्कार हृदय में दृढ़ हो और उसके अनुसार चित्त में स्फूर्ति हो, उसको वासना कहते हैं। हे राघव! यद्यपि आत्मसत्ता अद्वैत और अविद्यमान है किन्तु विद्यमान हुआ जान पड़ता है, इसी से उसको अविद्या कहते हैं। और निज स्वरूप को भुलाकर जो शुद्धात्मा अपने नाशके लिए चेष्टा करता है या उसमें जो विकल्प होता है उसको अविद्या कहते हैं। यही पाँचों इन्द्रियों का दिखलाने वाला परमात्मा है। हे रामजी! आत्मामें जो दृढ़ जालको रचती है उस स्पन्दकलाको प्रकृति कहते हैं। और जो सत्य असत्य को और जो असत्य सत्य को दिखलाती है, उसका नाम माया है। अस्तु इन्द्रियों का अनुभव करना ही कर्म है और उसीको कर्ता कार्य और कारण भी कहना चाहिए। क्योंकि जो चेतना-शक्ति शुद्ध चेतन कलनाकी नाईं प्राप्त होती है, उस फुरणावृत्ति का नाम विपर्यय है। जब उसमें सङ्कल्प का जाल उठता है तभी वह जीव होता है। उसी को मन कहते हैं और उसी को चित्त कहते हैं और उसी को बन्ध कहते हैं। रामजी ने पूछा कि, हे मुनिनाथ! मन जड़ है या चेतन? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया-हे रामजी! मन चेतन, जड़ कुछ नहीं है। जड़ और चेतन की गाँठ के मध्य को मन कहते हैं और सङ्कल्प विकल्पकी कल्पना ही मन है। यह जगत उसी मन से उत्पन्न हुआ है और जड़ तथा चेतन दोनों भावों में चलायमान है। कभी तो वह जड़भाव की ओर जाता है और कभी चेतन की ओर चला जाता है। इससे शुद्ध चेतनमात्र में जो स्फूर्ति हुई है इसी को मन कहते हैं। इस मनकी अनेक संज्ञायें हैं। जैसे कोई नट अनेक स्वाँग रचने से अनेक संज्ञा पाता है, वैसे ही संकल्पसे मन अनेक

तिरासीवाँ सर्ग

::-❀-::

चित्तकी व्यग्रता

हे रामजी ! यह जितनी उत्पत्तियां हैं, सब मनने ही उत्पन्न किया है । पर यह चाहे जैसे उत्पन्न हुआ हो, अब तुम इससे निवृत होने का यत्न करो । जब आत्मपदमें चित्त को मिला दोगे तब जगत-भ्रम स्वयम् ही नष्ट हो जायगा । हे रामजी ! इस चित्त के सम्बन्ध में एक प्राचीन आख्यान है, सुनो । जैसा मैंने देखा है, वैसा कहता हूँ । एक शून्य वन के किसी कोने में यह आकाश स्थित है । एक दिन उसमें मैंने देखा कि एक अत्यन्त चञ्चल और व्याकुल पुरुष सहस्र भुजाधारी और विशाल शरीर वाला बैठा हुआ अपने शरीर को ही ताड़ित कर रहा था । ताड़ित होकर वह स्वयम् ही बहुत योजनों पर्यन्त भागता और दौड़ता हुआ जाता था परन्तु थक जाने से गिर पड़ता और अङ्ग चूर्णित हो जाते थे । कभी-कभी वह दौड़ता हुआ किसी अँधेरे में जा गिरता और बहुत काल बीतने पर करंजुवे के बन में पहुँचता और वहाँ पाँवों में काटों के चुभने से बहुत कष्ट पाता था । वहाँ से निकलने पर भी वह अपने हाथों से अपने शरीर पर प्रहार करके कष्टमान होता था। निदान कहीं भी वह जाता शान्ति न मिलती तब कदली वन में जाकर शान्ति पाता था । इस भाँति जब मैंने देखा कि, वह स्वयम् ही कष्ट पारहा है, तब मैंने उसको पकड़कर पूछा कि, तू कौन है और यह क्या करता है ? तेरा क्या नाम है और यह तू किस लिये करता है । उसने कहा, न कुछ मैं हूँ, न कुछ यह है, न मैं कुछ करता हूँ, पर तू मेरा शत्रु है । क्योंकि मैं तेरे देखने से नाश को प्राप्त होता हूँ । हे रामजी ! ऐसा कह कर वह अपने अङ्गों को देखते हुये रोने लगा । फिर तो क्षण मात्र में उसके शरीर के प्रत्येक अवयव कट-कट कर स्वतः पृथ्वी पर गिर पड़े और उस महापुरुष ने अपने शरीर को त्याग दिया । तब वहाँ से आगे

करने से नष्ट हो जाता है। मनका नाश होने पर तो परमेश्वर ही शेष रहता है और सबका आश्रयदाता वही है। उसीके प्रमाद वश मन जगत की रचना करता है। इसलिये मैंने कहा है कि, मन और कर्म एक ही रूप है और यही शरीर का कारण है। जन्म मरण आदिक विकार मन से ही जान पड़ते हैं। और मन की सिद्धि अविचार से है। विचार करने से नष्ट हो जाता है। मन के नष्ट होने पर कर्म आदि के सभी भ्रम नष्ट हो जाते हैं। भ्रम से छूटना ही मुक्त होनाहै। जो पुरुष मुक्त है वह जन्म मरण के बन्धन में नहीं फँसता। उसका सब भ्रम नष्ट हो जाता है। रामजी बोले-हे भगवन्! सात्विक, राजसी और तामसी तीन प्रकार के जीव हैं। उनका प्रथम कारण सत्य असत्य रूपी मन है। वह मन अशुद्ध रूप शुद्ध चिन्मात्र तत्व से उपजाकर बड़े विस्तार युक्त इस विचित्र जगत को कैसे प्राप्त हुआ? वशिष्ठजी ने कहा, हे रामजी! यह मैं पहले कई बार बतला चुका हूँ कि आकाश तीन हैं। वह आकाश भाव से समान रूप हैं और सब में अपनी अपनी सत्ता ही है उसमें चिदाकाश बोधरूप और सब भूतों में सर्वव्यापी है और सर्व भूतों का कारण रूप है। पर इन सबको जो विस्तार दे चुका है, वह चित्ताकाश है भूताकाश वह है जो दशों दिशाओं का विस्तार कर स्वतः शून्य है और जिसका स्वरूप पवन आदि भूतों का आश्रयीभूत है। हे रामजी! चिदाकाश और भूताकाश दोनों ही चिदाकाश से उत्पन्न हुए हैं। पर इन तीनों आकाशों का विषय अज्ञानियों के लिए है, ज्ञानी के लिए नहीं। ज्ञानी को तो केवल एक परब्रह्म पूर्ण सब कलना से रहित भासित होता है। द्वैत अद्वैत शब्द केवल उपदेश करने के लिए है प्रबोध के लिए नहीं। हे रामजी! जब तक शुद्धात्मा न हो जावे तब तक के लिए ही मैं तीन आकाश कहता हूँ। वास्तवमें कोई कल्पना नहीं है। जैसे दावाग्नि लगने से बन जलकर शून्य जान पड़ता है, वैसे ही ज्ञान से जले हुये चित्ताकाश और भूताकाश शून्य भासते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का बयासीवां सर्ग संमाप्त ॥ ८२ ॥

चेष्टा करते थे और विवेक व ज्ञानरूपी मैं उनको पकड़ता था। मेरे निकट आने वाले मेरे प्रकाश से प्रफुल्लित होते थे अर्थात् परमपदको पाते थे पर जो अविवेकी मोहवश मेरा निरादर करते थे वे कष्टोंमें ही रहते थे। अब उनके अङ्ग और प्रहार व कूप और करंजुवे के बन की उपमा सुनो। हे रामजी! विषम की अभिलाषा मनके अङ्ग हैं और हाथों का प्रहार करना सकाम कर्म करना है। वह जो दूर से दूर दौड़ते थे वही मृतक होना है। वही विवेक का त्याग कर कुयें में गिरना है। ऐसे ही वे पुरुष अपने से आप प्रहार कर भटकते फिरते और अभिलाषारूपी सहले अङ्गीकृत कर बावले और मृतक होकर नरक रूपी कूप पड़े हुये जब बाहर से निकलें तब पुण्यकर्मों से स्वर्ग में जा प्राप्त होवें। वही कदली बनके समान है। स्त्री पुत्रकलत्र आदि कौटुम्बिक झंझटों में पड़ना ही करंजुवेका बन है। हे रामजी! यह गृहस्थाश्रम करंजुवे के बन की नाईं बड़ा ही दुःखरूप है। पर मनुष्य ऐसे हैं कि, अपने नाश के लिए ही यत्न करते हैं और अनेक दुःख रूप कर्म बारम्बार किया करते हैं। किन्तु जो उन्हें विहित करके विवेक के निकट पहुँचते हैं वे शुभाशुभ कर्मों के बन्धन से मुक्त होकर परमपद को प्राप्त होते हैं। पर जो अपने हित के लिए विवेक का साथ नहीं करते वे दूरातिदूर भटका करते हैं। हे रामजी! जो प्राणी भोगके लिए यत्नवान हैं और तपश्चर्यादिक पुण्य कर्म भी करते हैं वे उत्तम शरीर धारण कर स्वर्ग सुख भोगते हैं। हे रामजी! वह पुरुष जिसने देखकर कहा था कि, तुम हमारे शत्रु हो, तुझसे हम नष्ट होते हैं इत्यादि, वह विषय भोग त्यागने के लिए मूर्ख 'चित्त' है जो कष्ट पाता है। मूर्ख को विषय में प्रीति होती है इससे वह इसको त्यागने में कष्टवान होता है। जब वह मूर्ख (चित्त) विवेक को देखता है तब रुदन करता है। क्योंकि वह अन्धज्ञानी है उसको परमपद की प्राप्ति नहीं है, इसी से भोगों को छोड़ने में उसे कष्ट होता है किन्तु जब मूर्ख चित्त विवेक को प्राप्त होता है, तब सन्तुष्ट

[illegible] मैंने देखा कि एक और पुरुष उसी पुरुष के समान दौड़ता
[illegible] अपने शरीर को ताड़ित कर रहा है। कुएँ में गिरता और कदली
[illegible] आकर प्रसन्न होता था। वहाँ मैं खड़ा हुआ देख रहा था कि
वह मुझे देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और ठहाका मारकर हँसने लगा।
तब उसको [illegible] पर मैंने उसी भाँति उसका परिचय पूछा। पर उसने
भी [illegible] समान अपना शरीर त्याग दिया। यह देखकर मैं फिर
[illegible] खड़ा तो क्या देखता हूँ कि एक और पुरुष ऐसा ही कर रहा
है। तब वह अँधेरे कुएँ में गिर कर बहुत दिन बाद उससे बाहर
निकला तब मैंने प्रसन्न होकर उसी प्रकार उससे पूछा पर उस मूर्ख
ने मुझे न पहचाना और चुप रहकर अपना व्यवहार करता ही रहा।
इसी प्रकार वहाँ मैंने और भी पुरुषों को देखा कि वह सब भी ऐसा
ही व्यवहार करते थे। उनमें से जो मेरे पास आते थे, उनको मैं कष्ट
से मुक्त कर देता था पर जो मेरे निकट ही नहीं आवें वह ऐसे ही
कष्ट भोगा करें। हे रामजी! जिस अटवी में वे सब कष्ट भोगते
हैं [illegible] तुमने भी देखा है। पर उसका व्यवहार तुमने नहीं किया।
इसमें भी कैसे, तुम अभी बालक हो और वह अटवी महा भयानक
है। उसको पार करना अत्यन्त कठिन है।

॥ [illegible] सर्ग समाप्त ॥ ८३ ॥

चौरासीवाँ सर्ग

है। जिस प्रकार तरङ्गों के उठने और लय होने पर भी जल एक रस रहता है उसी प्रकार जगतोत्पत्ति और प्रलय में भी ब्रह्म ज्यों का त्यों रहता है। अनेक विचित्रतायें उस आत्मतत्व में भासित हुआ करती हैं, पर वह सर्वदा अपने आप में स्थित है। कारण, कर्म, कर्ता और जन्म, मरण इत्यादि जो कुछ है सब ब्रह्म रूप ही है। उससे भिन्न कुछ नहीं है। क्योंकि शुद्ध-स्वरूप आत्मा में न लोभ है, न मोह है और न तृण है। वह अद्वैतरूप सर्वात्मा है। जैसे अनेक प्रकार के भूषणों का जन्मदाता सुवर्ण है, वैसेही नाना प्रकार का जगत ब्रह्म से ही है। ज्ञानी पुरुष को सर्वदा ऐसा ही भासित होता है। पर अज्ञानियों के लिये तो भिन्न-भिन्न कल्पनाही भासती है। जिस प्रकार कोई प्राणी अपने बन्धुओं से पृथक होकर विदेश जाता है और बहुत दिन बाद लौटने पर देशकाल के बन्धुवों को अबान्धव जानता है, उसी प्रकार अज्ञान के व्यवधान से जीव अभिन्न रूप आत्मा को भिन्न रूप जानता है। जिस प्रकार भ्रमवश आकाश में दो चन्द्रमा भासित होता है उसी प्रकार सत्य और असत्य रूप होकर मन आत्मा में भासता है। मन ने ही शब्द अर्थ की भिन्न कल्पनायें रची हैं। किन्तु वह आत्मतत्व सदैव स्वतः स्थित है। उसमें बन्ध और मोक्षकी कोई कल्पना नहीं है। यह सुनकर रामजीने प्रश्न किया कि, हे गुरुजी! जब मन के निश्चयानुसार ही सब कुछ होता है, तब यदि मनमें बन्धका ही निश्चय हो तो वह बन्ध कैसे सत्य माना जाय। वशिष्ठजी ने उत्तर दिया कि, हे रामजी! ऐसी कल्पना मूर्ख करते हैं और वह मिथ्या है। और जब वह मिथ्या है तब बन्ध की अपेक्षा से मोक्ष भी मिथ्या है। इससे न तो बन्ध है और न मोक्ष है। केवल अज्ञान से अवस्तु वस्तु भी जान पड़ती है उदाहरण के लिये रस्सी का सर्प पर्याप्त जानो। ऐसे ही बन्ध और मोक्ष की कल्पना मूर्खों को भासित होती है। पर ज्ञानी के लिये ऐसा नहीं है। हे राघव! इस मनकी उत्पत्ति आदि परमात्मा है। उस

होजाता है, ऐसा ही वह हँसने वाला व्यक्ति था। इससे हे रामजी! तुम भी विवेक को प्राप्त कर सांसारिक वासनाओं को त्याग दो। तभी सच्चा आनन्द प्राप्त होगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति–प्रकरण का चौरासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८४ ॥

—❋—

पिचासीवाँ सर्ग

जीव चिकित्सा

वशिष्ठजी बोले--हे रामजी! इस चित्तकी उत्पत्ति ब्रह्म से है। यह आत्मरूप भी है और नहीं भी है। ज्ञानी के लिए चित्त ब्रह्मरूप ही है, भिन्न कुछ नहीं। पर जो अज्ञानी हैं उनके लिये तो मन ही संसार के भ्रम का कारण है। ज्ञानियों ने आत्म सम्बन्धी जितने भेद कल्पे हैं, केवल अज्ञानियों को समझाने के लिए। अन्यथा उनके लिये तो सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म है। क्योंकि वह सर्व शक्तिमान् परब्रह्म, नित्य और चारों ओर से पूर्ण सब कुछ ब्रह्मसत्ता ही विद्यमान है। उसी को सर्व शक्तिमान् आत्मा कहते हैं। वही शक्ति अपनी रुचिके अनुसार प्रत्यक्ष होती है और वही समस्त शक्ति रूप होकर विस्तरता है। ज्ञान और चेतनाशक्ति से जीवों में, स्पन्दता से वायु में, जड़ता से पाषाण में, द्रवता से जलमें और आकाश में शून्यता से तथा स्वर्ग, काल, शोक, प्रसन्नता सर्ग की उत्पत्ति कल्पान्त और वीरों में भावाभाव की जो कुछ भी शक्ति होती है वह सब ब्रह्म से ही होती है। इससे जीव, चित्त और मन इत्यादि की स्थिति ब्रह्म ही में है। उस ब्रह्म का रूप बहुत बृहद् है। उसमें चित्तही मनका रूप है और वही मन ब्रह्म की शक्ति का एक रूप है। अतएव ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। भिन्न की कल्पना करना बड़ी मूर्खता है। हे रामजी! जैसे तरङ्गचक्र समुद्र की द्रवता से भासता है, वैसे ही यह नाना प्रकार का जगत शुद्ध चिन्मात्र सत्ता में जीव के स्फुरित होने से भासित होता है। पर वास्तव में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। केवल ब्रह्म से स्वतः स्थित

नदी सूख रही है और जल केवल एक ही में है। फिर तो उन्होंने उस नदी से इच्छा पूर्वक जल लेकर पान किया और चिरकाल पर्यन्त उसमें क्रीड़ा करते रहे। इस भाँति अधिक समय व्यतीत कर वे वहाँ से निकले तो सुवर्ण जटित विशाल ध्वजाओं सहित सुमेरु पर्वत के समान एक विशाल भविष्य नगर में जा पहुँचे। वहाँ पहुँच कर उन्होंने भोजन बनाकर ब्राह्मणों को जिमाने का विचार किया। तब उन्होंने सोने की तीन ऐसी बटलोइयाँ जिसमें दो को किसी ने रचा भी न था और एक फूटी थी मँगाई। ऐसी बटलोइयों को पाकर— उन्होंने १६ सेर का भोजन बनाया और विदेह ब्रह्मादि देवों ने व बिना मुखवाले तपस्वियों ने भोजन किया। बाद में बहुत से ब्राह्मणों को भोजन कराकर उन तीनों ने भी विधि पूर्वक भोजन किया। हे बेटा! आज तक वे तीनों राज पुत्र बड़े सुख से जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यदि तू इस महत्व पूर्ण कथा को अपने हृदय में स्थान देगा तो बड़ा ज्ञानी होगा। हे रामचन्द्र! दासी के मुँह से ऐसी कथा सुनकर बालक बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने समझा कि यह कथा बहुत सत्य है। परन्तु जिस प्रकार वह कथा केवल सङ्कल्प मात्र थी, वैसे ही यह जगत संकल्प के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। केवल शुद्ध बोधवाला आत्मा ही किंचनता वश भासित होता है। और यह पंच भौतिक सृष्टि केवल संकल्प मात्र है। जिस प्रकार स्वप्ना-वस्था में नाना प्रकार की सृष्टि दिखलाई पड़ती है और उसकी कोई वास्तविक उत्पत्ति नहीं है; उसी प्रकार इस जगतको भी जानना चाहिये। जिस प्रकार उनतीनों राजपुत्रोंने भविष्य नगरमें प्रवेशकिया और उसकी कोई वास्तविकता नहीं थी, उसी प्रकार इस जगत की भी कोई वास्त-विकता नहीं है। जिस प्रकार जलके द्रवी भूत होने से उसमें झाग उत्पन्न होते हैं पर उनका रूप जल ही में स्थित है, उसी प्रकार अनात्मा में आत्मा स्थित है। हे रामजी! इस जगत की उत्पत्ति केवल संकल्प से है और इसीसे यह वृहद् रूप में विस्तरित हुआ है। जिस

ने बन्ध और मोक्ष को मोह के वश होकर कल्पा है। इस दृश्य प्रपञ्च को भी उसी ने रचा है। अतः यह प्रपंच कल्पना मात्र है। और यही बालकों को दन्तकथा के समान मूर्खों को रुचिकर होती है।

श्री योगवासिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का पचासीवां सर्ग समाप्त ॥ ८५ ॥

❀—❀—❀

छियासीवां सर्ग

बालक की कथा

बालक की कथा का नाम सुनकर रघुकुल शिरोमणि रामजी ने पूछा कि—हे मुनीश्वर! बालक की कथा कैसे है? कृपाकर मुझे सुनाइए। वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी! एक अबोध बालक ने अपनी दासी से कहा कि, मुझे कोई कथा (कहानी) सुना। दासी कहने लगी कि, हे बेटा! एक राजा के तीन पुत्र थे। तीनों ही बड़े पराक्रमी और उत्साही थे। कारण कि दो पुत्र तो उत्पन्न न हुये थे और एक का गर्भाधान भी न हुआ था। एक दिन वह तीनों ही अन्य ग्राम करने का निश्चय कर किसी निर्जन नगर की ओर बिना मार्ग ही के शोकातुर हो बुध, शुक्र और शनैश्चर की भांति चल दिये। धूप कड़ी थी, इससे वे कोमल बालक राई-पुष्प की भाँति कुम्हला गए। पाँवों में छाले पड़ गए। मुखाकृति मलीन होगई। फिर भी वे साहस के साथ आगे बढ़ते ही गए। कुछ दूर चलकर उन्हें तीन वृक्ष दिखलाई पड़े। तब वे तीनों उसकी घनी छाया में जा बैठे। और उसके फल फूलों को खाकर विश्राम करने लगे। फिर फूलों को तोड़कर उन्होंने माला बनाई और गले में पहन लिया। इतने में दोपहर का समय हुआ और इनको कड़ी भूख मालूम हुई। तभी व्याकुल हो वे फिर आगे उठ चले। आगे चलकर उन्होंने देखा कि, तीन नदियां अपने कल कल ध्वनि से किलोल करती हुई प्रवाहित हो रही हैं। तब दूर ही से नदी को देख वा पहुँचकर वे तीनों उसके निकट पहुँचे तो क्या देखते हैं कि,

कठिन है। यह नाशवान शरीर को रखने का यत्न करता है, किन्तु वह रहता नहीं। रहे भी तो कैसे? वह तो मोहराग द्वारा मिथ्या भ्रम से दृढ़ हुआ है। अन्यथा आत्मतत्व में कल्पना का नाम भी नहीं है। केवल स्वतः स्थित है। वह नित्य शुद्ध बोध और अविनाशी है। उसमें किसी प्रकार का विकार, बन्धन और मोक्ष नहीं है कारण कि उस आत्मसत्ता के रूप का अन्त नहीं, वह विकार रहित अछेद्य, निराकार और अद्वैत रूप है। उसको बन्ध और मोक्ष की कल्पना कैसे हो सकती है। हे राघव! शरीर के नाश होने से आत्मा का नाश नहीं हो सकता--क्योंकि सबका शरीर मन है, यह मन भी आत्मशक्ति है। उस मन में ही सर्व प्रथम इस शरीर आदि की रचना हुई है। इससे बिना ज्ञान हुये शरीर का नाश नहीं हो सकता। तो फिर शरीर के नाश होने से आत्मा का नाश कैसे हो? हे रामजी! शरीर का नाश होने से तुम्हारा नाश नहीं होता। तुम व्यर्थ के लिये शोक क्यों करते हो। तुम तो स्वयं ज्ञानरूपी आत्मा हो। फिर कब सम्भव है कि बादलों के नष्ट होने से पवन भी नष्ट हो जावे और उसी प्रकार शरीर के नाश होने पर आत्मा भी नष्ट हो जावे। भला जब संसार के क्रीड़ा कर्ता मनका नाश नहीं हो सकता तब शरीर का नाश कैसे होगा? कहीं घड़े के नाश होने से बादलों का भी नाश हो सकता है? यह कब सम्भव है कि वारिधारा के लोप हो जाने से सूर्य की परछाईं भी लोप हो जावे? भले ही वारिधारा अन्यत्र प्रवाहित हो तो प्रतिविम्ब भी अन्यत्र ही प्रतिविम्बित होगा। पर यह तो हो नहीं सकता कि प्रतिविम्ब का ही नाश हो जाये। जिस प्रकार घट के फूटने से घटाकाश महाकाश में स्थित होता है, उसी प्रकार शरीर के नाश होने पर आत्मा निरामय पदमें स्थित हो जाता है। हे रामजी! सब जीवों का शरीर मन रूप है। मरणोपरान्त उसके लिये देश, काल और पदार्थों का अभाव हो जाता है। उस मूर्छाका नामही मरण है। आत्मा का नाश नहीं होता।

प्रकार सूर्योदय के पश्चात् दिन का व्यवहार विस्तार होता है वैसे ही यह सङ्कल्प पूर्ण जगत विस्तरित होता है। तात्पर्य कि, यह केवल चित्त की विलासिता से स्फुरित होने ही से जान पड़ता है हे रामजी ! इसी कारण हम कहते हैं कि इस सङ्कल्प रूपी मैलको त्याग कर निःसङ्कल्प केवल आत्म–सत्ता का चिन्तवन करो। उस पदको प्राप्त कर तुम्हें अमोघ शान्ति प्राप्त होगी।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति–प्रकरण का छियासीवां सर्ग समाप्त ॥ ८६ ॥

:::-::-ॐ-::-:::

सत्तासीवाँ सर्ग

मन की निर्वाणता

इतनी कथा सुनकर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा कि हे भगवन् ! आपने सङ्कल्प को बहुत बार कहा है। पर वह संकल्प क्या है। और वह छाया क्या है कि जो असत्य ही सत्य रूप पिशाचवत दिखलाई पड़ता है ? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया कि हे रामजी ! यह पञ्चभौतिक शरीर ही प्रतिबिम्ब के समान है। कारण कि निज कल्पना से रचित है। इसी से यह अहंकाररूप पिशाच है। इस अहंकार को देखकर अत्यन्त ही खेद होता है। हे रामजी ! जब परमात्मा सब में व्यापित है, तब अहंकार होना कैसे ? परमात्मा के सम्बन्ध में अहंकार नहीं हो सकता। वह तो अभेदरूप है। उसमें जो अहंबुद्धी है वह भ्रम से है। मरुस्थल में जल के समान ही और मिथ्या ज्ञान से ही अहंकार की कल्पना होती है। जिस भांति मणिका तेज मणिसे पृथक नहीं है और वह मणिरूप ही है, उसी भांति यह जगत आत्मामें भासित होता है और आत्मा ही में सदैव स्थित रहता है केवल अज्ञानतावश उसमें नाना प्रकार भासित होता है। इसलिये अज्ञान दृष्टि को छोड़कर और मोह के आरम्भ को त्यागकर उस आनन्द स्वरूपका आश्रय करना चाहिये। और विचार पूर्वक सत्य को ग्रहणकर असत्य का परित्याग कर देना चाहिये। हे रामजी ! मोह की महिमा बड़ी

इस बन में सुख दुःख रूपी वृत्त हैं। और मन रूपी सर्प रहता है। उसको अविवेकी पुरुष भोजन करते हैं। इससे इस परम दुःख के कारण रूप मन को वैराग्य और अभ्यास रूपी खड्ग से काट देना चाहिये। फिर तो आत्मपद का ही दर्शन होगा। बाल्मीकि जी बोले कि जब इस प्रकार वशिष्ठ जी ने कहा तब सायंकाल का समय हो गया था, इससे समस्त श्रोतागण एक दूसरे को नमस्कार कर स्नान करने चले गये। दूसरे दिन सूर्य भगवान के उदय होते ही अपने २ स्थानों पर आ विराजे।

श्री योगवाशिष्ठ—भाषा उत्पत्ति—प्रकरण सत्तासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८७ ॥

—::-❀-::—

अट्ठासीवाँ सर्ग

चित्त माहात्म्य

जब समस्त श्रोता मण्डली यथा स्थान शान्ति पूर्वक बैठ गई तब मुनि शार्दूल वशिष्ठजी ने कथा कहना आरम्भ किया। वशिष्ठ जी बोले--हे रामजी ! चित्त भी परमात्मा से ही उठा है। जिस प्रकार समुद्र से तरंगें उठती हैं, उसी प्रकार परमात्मा से मन उठा है। तब मन ने जगत की रचना की। वही जगत बृहद्रूप में विस्तरित हुआ है। वह छोटा और बड़ा जैसा चाहता है बना लेता है। पर वह मन भ्रम रूप है। क्योंकि निकटवर्ती वस्तुओं को दूर और दूरवर्ती वस्तुओं को निकट जैसा चाहता है, देखता है। वह इतना प्रबल है कि, त्तण मात्र में संसार को उत्पन्न कर त्तण ही में नष्ट कर देता है। जितना कुछ जगत जान पड़ता है, सब मनने ही उत्पन्न किया है यह जो भाव, अभाव और देश कालादिक क्रियायें और द्रव्यादि सम्बन्धी शक्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं,सबको मनही दिखलाता है। जिस स्फूर्ति से ही अनेक प्रकार के भाव अभाव को मन प्राप्त होता रहता है। जिस प्रकार बाजीगर अपने मन्त्र तन्त्रों द्वारा खेलमें असत् वस्तुओं को भी सत्य करके दिखलाता हुआ अपने स्वांगों

हे रामजी ! इस मनने ही संसार-भ्रम को रचा है । ज्ञानरूपी अग्नि से ही उसका नाश होता है । असत्य तत्वका नाश नहीं होता । हे रामजी ! तुम तो स्वयं नित्य शुद्ध और अविनाशी पुरुष हो । तुम में सङ्कल्प की वासना से ही भ्रम वश जन्म मरण इत्यादिक भास रहे हैं । इससे तुम वासना को त्यागकर चिदाकाश में स्थित हो जावो । हे रामजी ! मन वह है जो शुद्ध आत्मा में मनन की स्फूर्ति है । वही स्फूर्ति इष्ट अनिष्ट और बन्धन का कारण है । ऐसा मन ही असत्य रूपी भ्रांति उदय हुआ है । जैसे स्वप्न की सृष्टि भ्रांति मात्र होती है, वैसे ही जाग्रत सृष्टि भी भ्रांति मात्र है । हे रामजी ! अविद्या से ही यह जगत बन्धनमय, और दुःख का कारण है । ऐसी अविद्या को पार करना बड़ा ही कठिन है वहुत विचार करने से ही इसका नाश हो सकता है । इसी अविद्या ने जगत का विस्तार किया है । ज्ञान रूपी अग्नि ही इसे भस्म कर सकती है । हे रामजी ! यह जगत भ्रम मात्र है । इसकी कोई उत्पत्ति नहीं है । विचार पूर्वक देखा जाय तो यह लोप हो जायगा । क्योंकि यह जगत अविद्या से ही बँधा हुआ अनेक अनर्थों का कारण है । चित्त के फुरने से भासता है । मन जितनी कुछ चेष्टायें करता है, सब अपने नाश का कारण है । जिस प्रकार नट अपनी क्रिया से अनेक प्रकार का रूप धारण करता है, उसी प्रकार मन अपने सङ्कल्प विकल्प का रूप देकर अनेक प्रकार का भावा-भावरूप धारण करता है । पर जब वही मन सङ्कल्प विकल्पों को त्यागकर आत्मा की ओर अग्रसर होता है, तव चित्त नष्ट हो जाता है । आत्मा की ओर न देखने में तो अनेक दुःख का कारणरूप जगत को प्रसारित करता है । हे रामजी ! जव तुम सङ्कल्प और दृश्य को त्याग दोगे तव स्वतः आत्मबोध का प्रकाश हो जायेगा । हे रामजी ! मन के नाश होने में वड़ा ही आनन्द उत्पन्न होता है । इससे जहाँ तक हो सके मन के नाश करने का यत्न करना चाहिये, बढ़ाने का नहीं । हे रामजी ! मनरूपी किसान है और जगत रूपी वन है ।

सुना रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो। हे राघव! प्राचीन काल में उत्तर पाद नामक नगर में एक अत्यन्त प्रतापी धर्म निष्ट, साधु सेवी और प्रजा-वत्सल, खल संहारक 'लवण' नाम का राजा महाराज हरिश्चन्द्र के कुल में उत्पन्न हुआ। वह ऐसा प्रतापी था कि, उसने अपनी थोड़ी ही आयु में शत्रुओं और अनेक राजाओं को पराजित कर सागराम्बरा पृथ्वीको विजय कर लिया। वह शत्रुओं का हृदय विदीर्ण करने वाला ऐसा तेजपुञ्ज और पुण्यशाली निकला कि, स्वर्ग में देवगण और विद्याधरी आदिक अप्सरायें भी उसका यश गाया करती थीं। जिसको सुन २ कर लोकपालादिक आश्चर्य चकित हो जाते थे। समग्र संसार उसके यश का गान करता था। उसके समान तेजस्वी, पराक्रमी स्वप्न में भी नहीं दिखलाई पड़ते थे। अपनी उदारता में भी वह अद्वितीय था। एक समय जब दो घड़ी दिन रहे वह धर्मात्मा अपनी सभामें सिंहासन पर बैठा था कि बन्दीजन स्तुति कर रहे थे, अप्सरायें नाच रहीं थी कि उसी समय एक महा आडम्बरी इन्द्रजालिक महा सुविज्ञ मनुष्य आकर कहने लगा–हे राजन्! इस मेरे कौतुक को देखने की कृपा करें। राजाने कहा, दिखलाओ। तब वह अपने खेल का पिटारा खोल कर अनेक रङ्ग बिरंगे खेल दिखलाने लगा। फिर उससे एक मोर पुच्छको हाथमें लेकर घुमाया। इससे राजा को अनेक प्रकार की रचना जान पड़ने लगी। राजाको ऐसा ज्ञात हुआ मानों वह सब परमात्मा की माया है। उसी समय लगाम से हाथ में एक घोड़ा पकड़े हुए एक दूत ने आकर कहा, महाराज! यह घोड़ा मैं आपकी सवारी के लिये लाया हूँ। इस घोड़े की समानता में देवराज इन्द्रको घोड़ा उच्चैःश्रवा भी जो समुद्रमन्थन में प्राप्त हुआ, नहीं है, चालमें यह पवन की बराबरी क्या करता है-- मानों पवनकी साक्षात् मूर्ति है। मेरे मालिकने चाहा है कि आपको दें। अतः आप इसको अवश्य रख लीजिए। हे रामजी! दूतके ऐसे कहने पर उस इन्द्रजालिक ने बड़े गम्भीर स्वर में कहा, महाराज! आप

को प्राप्त होता है, उसी प्रकार मन में जैसी स्फूर्ति होती है, उसी प्रकार वह भासित होता है। उसके अनुसार ही और उसी की चंचलता से इन्द्रियाँ भी विचरण करती हैं, अन्यथा नहीं। हे रामजी! मन की जैसी चेष्टा होती है, वैसी ही सफलता प्राप्त होती है। शारीरिक चेष्टायें मन के विना सफल नहीं होतीं। वीच के अनुसार ही फल होता है। दूसरे प्रकार का नहीं। अतः निश्चय है कि, मन के निश्चयानुसार ही सफलता मिलेगी हे रामजी! इस जगत की रचना वालकों की वनाई हुई मिट्टी की सेना के समान है। यद्यपि मिट्टी की सेना वनाकर वालक उसका पृथक २ नाम धरते हैं पर क्या वह सिवा मिट्टी के कुछ अन्य है? नहीं, आत्मा में ही अनेक प्रकार का जगत कल्पित है। कुछ आत्मा से पृथक नहीं है। जैसे मन निज सङ्कल्पों में नाना प्रकार की अनिष्टता को कल्पता है, वैसे ही उस मनने इस जाग्रत जगत को भी भ्रम से कल्प लिया है। वह इतना प्रवल है कि, गौ की खुर में अनेक योजनों की रचना कर लेता है। कैसी भी गूढ़ रचना हो, उसको रचने में विलम्ब नहीं होता। इससे हम कहते हैं कि जितना कुछ देश कालादिक वस्तुयें हैं, मन से ही उत्पन्न हुई हैं। हे रामजी! द्रष्टा, दर्शन, दृश्य और कर्ता, कर्म, क्रिया सबको मन ने ही प्रसारित किया है। पर यह सब आत्मा के सम्बन्ध की अज्ञानता वश ऐसा जान पड़ रहा है, अन्यथा आत्मज्ञान होने पर इन भ्रमों का लोप हो जायगा अर्थात् सभी भ्रम दूर हो जायेंगे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा—उत्पत्ति—प्रकरण का अट्ठासीवां सर्ग समाप्त ॥ ८८ ॥

-:-❀-:-

नवासीवाँ सर्ग

नृप मोह वर्णन

चित्त माहात्म्य का ऐसा विशद विवेचन करके वशिष्ठजी ने रामजी से कहा कि, हे रामजी! अब मैं तुमको एक राजा का आख्यान

सांसारिक पापों में लिप्त रहते हैं। उनके लिए ज्ञान चर्या और उच्च विचार तथा उदारता स्मरण करना अत्यन्त असम्भव है। हे रघुकुल शिरोमणि रामचन्द्र! मन्त्री और टहलुओं की वार्ता सुनकर राजा सावधान होगया और उसकी मुखाकृति ऐसे प्रफुल्लित होगई जैसे वसंत ऋतु के आने पर बन उपवन प्रफुल्लित हो जाते हैं। तब राजा उस इन्द्रजालिक पुरुष से बोला, रे दुष्ट! तूने यह क्या किया? भला-राजाओं के समक्ष भी कोई ऐसा भ्रमजाल उपस्थित करता है? पर अच्छा, अब तो मैं अपने होश में आया। फिर भी बड़े आश्चर्य की बात है कि वह अनन्त शक्तिशाली परमात्मा अपने में अनेकों पदार्थों की स्फूर्ति किया करता है। तभी तो मैं दो घड़ी तक अनेक भ्रमजालों को देखता रहा। अन्यथा मेरे जैसे ज्ञानी के लिये इतना प्रबल मोह! आश्चर्य है। हे मन्त्री यह आडम्बरी बड़ा ही इन्द्रजालिक है। इसी ने मुझे दो घड़ी तक अनेक देश, काल, और पदार्थ दिखलाये हैं। जिस प्रकार वेदमुख ब्रह्माजी एक निमिष में ही सारी सृष्टि की रचना कर देते हैं; उसी प्रकार इस आडम्बरी ने भी अपने पिटारे से समस्त वस्तुओं को निकाल कर मुझे दिखलाया है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का नब्बेवां सर्ग समाप्त ॥ ९० ॥

--::-❀-::--

इक्यानबेवाँ सर्ग

इतनी कथा सुनाकर वशिष्ठ जी बोले हे रामजी! जब उस आडम्बरी ने पिटारे से मोर पंख निकाल कर घुमाया तब वह कुछ सूर्य किरणों की भाँति चमकने लगी। उसकी चमचमाहट देखकर आश्चर्य हुआ। ऐसा मालूम हुआ मानों सूर्य उगा हुआ है। राजा यह देख ही रहा था कि उसी समय एक दूत एक अत्यन्त शीघ्रगामी घोड़ा लेकर आ पहुँचा। उस घोड़े पर सवार होकर चित्त ही से राजा अत्यन्त दूरवर्ती स्थानों में विचरने लगा। भावार्थ यह है कि राजा वहाँ बैठा रह गया और उसका चित्त निज भावना को लेकर

इस घोड़े को अवश्य रखलें और इसी पर नित्य सवारी करें। इस पर सवार होने से आप सूर्य के समान सुशोभित होंगे। इन्द्रजालिक की बात सुनकर राजा ने घोड़े की ओर देखा तो देखते ही वह ऐसे मूर्छित हो गए मानों कागज पर बनी हुई मूर्ति पड़ी है। इस भांति मूर्छा में पड़े राजा को दो घड़ी व्यतीत होगया। तब उनको अत्यन्त अचेत देखकर टहलुवे दौड़े और होश में लाने के लिए अनेक उपचार करने लगे। पर राजा ऐसा मूर्छित हुआ कि, कोटि यत्न करने पर भी मूर्छा न टूटी और मृतवत पड़ा ही रहा। फिरतो सभा का नृत्य गान बन्द हुआ और सबके सब अचम्भित होगए।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का नवासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८९ ॥

-::-❀-::-

नब्बेवां सर्ग

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! दो घड़ी-पश्चात् राजा की मूर्छा टूटी तो वह अपने को सँभाल कर हिलते काँपते सिंहासन पर जा बैठा। फिरतो मन्त्री और टहलुवे दौड़कर उसे भली भाँति सँभालने लगे। तब इधर उधर चारों ओर दृष्टि दौड़ाकर राजा ने आश्चर्य भाव से कहा--हैं यह क्या है, मैं कहाँ बैठा हूँ और यह राज्य किसका है। यहाँ का राजा कौन है और यह राजसदन किसने बनवाया है। हे रामजी ! राजाकी ऐसी व्यग्र वाणी सुनकर मन्त्री व टहलुओं ने कहा, महाराज ! आपको क्या हो गया है और इतनी व्याकुलता क्यों होगई है ? आप तो पवित्रात्मा पुरुष हैं। हे उदारात्मन् ! जिन प्राणियों की स्थिति सांसारिक पदार्थों में है और जो अपने को विषय भोगों में लगाये हुए हैं वह भले ही मोह पाश में बँध जायें किन्तु जो सन्तजन उदार चित्त हैं उनका मन तो स्वच्छ होता है। फिर वे मोह जाल में कैसे फँस सकते हैं ? ऐसे सत्पुरुष और विवेकी जन शरीर की चिन्ता नहीं करते। चाहे शरीर रहे अथवा नष्ट हो जावे। पर जो अज्ञानी, पुरुष हैं वे आत्मा को न जानकर दिन रात

उसके पीछे यह कहता हुआ कि मुझे भोजन दे, मेरी क्षुधा शान्तिकर मैं भी चला। यह सुनकर उस कन्या ने कहा—कि हम लोग नीच हैं, निष्प्रयोजन भोजन किसीको नहीं देते यह सुन मेरी प्रार्थनाको ठुकरा दिया। उसी समय कन्या ने यह भी कहा कि यह भोजन मेरे पिता के भाग का है। वह श्मशान पर बैठे हैं, इससे यह भोजन आप को नहीं दे सकती। हाँ एक बात है, यदि आप मेरे पति होना स्वीकार करें तो अवश्य दे सकूंगी। कारण कि पति प्राणों से प्यारा होता है। मैंने कहा अच्छा, मुझे भोजन दो, ब्याह कर लूंगा। तब कन्या ने भोजन दे दिया और उसे पाकर मैं बहुत सन्तुष्ट हुआ। पर मोह तो छूटा न था। इससे कन्या ने मुझे यमदूत के समान पकड़ लिया और अपने पिता के पास खैंचती हुई लेगई। पिता क देख कर बोली हे पिताजी! यह मेरे प्राणपती हैं। अभी घर आते समय मार्ग में पाई हूँ। पिताने कहा, अच्छा किया। अब इनको अपने घर ले जा। तब वह मुझे लिवा गई। वहाँ पर पहुँच कर उसने अपनी माता से भी वही परिचय दिया और विश्राम के लिये प्रबन्ध किया। वहाँ मुझे जो भ्रष्ट भोजन मिला वह वर्णन के परे है। इसके पश्चात् उस चाण्डाली का विवाह हुआ। उस अवसर पर चाण्डाली का हँसना व नृत्य करना मुझे ऐसा ही मालूम हो रह था, मानों मेरे ही पाप नृत्य कर रहे हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का इक्यानवेवां सर्गसमाप्त ॥ ९१ ॥

बानवेवाँ सर्ग

चाण्डाली-विवाह

हे मन्त्रीवर! विशेष क्या कहूँ मेरे उस विवाह का उत्साह बड़े धूम धाम से सात दिन तक होता रहा। फिर तो वहां के बहुत बड़े चाण्डालों में मेरी गणना होने लगी। मैं वहां निरन्तर आठ महीने तक रहा। इसके बाद चाण्डाली का मुझसे गर्भ रहा। और क्रमशः एक बालक और एक कन्या उत्पन्न हुई। आगे चलकर राक्षसी

भयानक और निर्जन ग्रामों में विचरने लगा। उस विचरण में राजा ने आकाश को और सप्त सागर पञ्च सागर, अष्ट महासागर तथा भयानक स्थानों एवं गहन वनों को देखने लगा। वहाँ से वह ऐसे स्थानों में पहुँचा जहाँ ग्राम, जीव, वृक्ष, मनुष्य, कोई दृष्टि गोचर नहीं होते थे। इसी भाँति पूरा दिन व्यतीत होगया और राजा अत्यन्त कष्ट को प्राप्त हुआ। उस दिन राजा को न तो भोजन मिला और न शयन करने के लिये सुन्दर स्थान। किन्तु जब निद्रा देवी आ गई तब सभी स्थान सुख कर हो गये। निर्जन स्थान में माता पृथ्वी को ही शय्या मान कर रात्रि बिता दी प्रातः काल सूर्य भगवान उदय भी न हुये थे कि राजा वहाँ से उठकर आगे बढ़ा। आगे बढ़कर उसने बहुत से सुन्दर स्थान और वृक्ष जिन पर अनेक प्रकार के पक्षीगण अपने कोकिल कण्ठों द्वारा प्रकृति की छटा दिखला रहे थे बैठे हुये सन्तप्त हृदयों को प्रफुल्लित कर रहे थे। ऐसे दृश्य को देखकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई। जैसे मृत्यु से मुक्त हुआ प्राणी प्रसन्न हो जाता है राजा वैसे ही प्रसन्न होगया। हे रामजी! यह कहकर राजा ने अपने मन्त्री व टहलुओं से कहा, हे मन्त्रीवर! इस समय प्रमजालों को देखकर मैं बहुत दीन हो गया हूँ। कारण कि उस समय के भूख प्याससे मेरा शरीर शिथिल होगया है। जिस समय मैं पक्षियों के निवास-स्थल के समीप पहुँचा था उस समय सूर्यास्त होने में केवल दो घड़ी का अरसा था। मैं अपनी चिन्ता में डूबता कि एक कन्या मिट्टी के बर्तनों में पके पकाये चावल और जम्बुरस लिये मेरे सामने आ खड़ी हुई। उस चंद्रमुखी को देखकर मैंने पूछा हे बालिका! मैं भूख प्यास से अत्यन्त पीड़ित हूँ, क्या मुझे भोजन लेकर आई है। दुःखी और आर्त को अन्न देना पुण्य धर्म है। मेरे ऐसे वचनको सुनकर उस कन्या ने कहा आप में राजलक्षण दिखाई पड़ते हैं। फिर आप भोजन के अधिकारी कैसे? यह कह कर वह मेरे सामने से हट कर आगे बढ़ी। तब

से मुझमें जो राजा का अभिमान था वह भी भूल गया। एक दिन मैं वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहा था कि एक बहुत छोटे बालक ने आकर कहा-पिताजी! मुझे माँस दीजिये। बड़ी भूख लगी है। प्राण निकलना चाहता है। मैंने कहा बेटा! मांस तो नहीं है। उसने कहा नहीं है तो कहीं से ला दे। यह नियम है कि सब से छोटा पुत्र बहुत प्रिय होता है। मैंने कहा-बेटा! बहुत भूख लगी है, तो ले, मेरा माँस खा ले। तब उस बुद्धि हीन बालक ने कहा दे। तब मैंने बनमें से वहुत सी लकड़ियाँ एकत्रित कीं और उनमें आग जलाकर कहा हे पुत्र! अब मैं अग्नि में प्रविष्ट होता हूँ, जब मेरा माँस पक जाये तब भोजन कर लेना। यह मैंने इस लिये कहा कि किसी प्रकार यह बालक जीवित रहे। ऐसा कहकर मैं उस जलती हुई अग्नि में कूद पड़ा। जब मुझको उष्णता मालूम हुई, तब मैं कम्पित हुआ। तब तुम मुझे दृष्टिगत हुये। हे मन्त्रीवर! वहाँ मैंने ऐसे अनेक चरित्रों को देखा। जिस प्रकार मार्कण्डेय ऋषि ने प्रलय को देखकर देवताओं से कहा उसी प्रकार हमने सब अपना वृतान्त तुम लोगों से कहा। पर हे साधो! परम आश्चर्य है कि मुझ जैसा विवेकी राजा भी मोह के वश होगया। फिर अन्य जीवों की तो बात ही क्या है? वशिष्ठजी ने कहा हे रामजी! राजा की एसी वार्ता ज्योंही समाप्त हुई थी कि त्योंही वह इन्द्रजालिक अन्तरध्यान हो गया। और सभा में जितने मन्त्री आदिक बैठे थे, सभी आश्चर्य चकित होकर दूसरे का मुँह देखते रह गये। फिर क्षण भर बाद लोग कहने लगे, ईश्वर की माया बड़ी विचित्र है। इससे मुक्त होना अत्यन्त कठिन है। हे रामजी! मैंने अपने नेत्रों से देखा था कि राजा ऐसा आश्चर्यान्वित होकर बैठा था। हे रामजी! यह निर्गुण मन महा मोह शाली है। उसके फुरने ही में अनेक प्रकार का मोह दिखलाई पड़ता है। कल्याणतो तभी होजब यहमन उपशम होजाये। अतएवइसमें जितनी कल्पनायें उठती हैं, उनको त्यागकर आत्मपद में स्थित रहो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का तिरानबेवाँ सर्ग समाप्त॥ ९३॥

चाण्डाली को तीन पुत्र और तीन कन्यायें उत्पन्न हुईं। फिर क्या कहना था—मैं एक बृहत् कुटुम्ब वाला होगया। इस भांति वहां रहकर चिरकाल पर्यन्त कष्ट भोगता और भ्रमता रहा। न भोजन के लिये पवित्र अन्न और न पीने को जल। शयन करने के लिये कोई गृह और शय्या की व्यवस्था भी न थी। नंगे शरीर और नंगे पाँव इधर उधर घूमता था। रात्रि होने पर झाड़ियों के निकट जहाँ काँटों के ढेर रहा करते थे, उसी पर सो जाया करता था। श्वान, हस्ती आदिक अपवित्र जीवों के मांस मज्जाके भक्षण से क्षुधा की तृप्ती कर लेता था कभी २ इसके लिये विद्रोह भी हुआ करता था। इतने पर भरी प्रचण्ड लूह और निदाघ वर्षा तथा शरत्काल के प्रचण्ड ओले सहन करने की स्वाभाविक वान सी पड़ गई थी। इससे मेरा शरीर वहुत कुपित हो गया। धीरे २ अवस्था परिवर्तित हुई और मैं उस श्मशान पर वहुत दिन तक वना रहा वहाँ अधिक रात्रि वास करना पड़ता था। एक समय बड़ा उपद्रव मचा, ऐसा जान पड़ता कि प्रलय काल आ पहुँचा। तव भूख व प्यास से कितने ही जीव मर गये। हमें भी विशेष कष्ट हुआ। तव मैं अपने तीनों पुत्रों, तीनों कन्याओं व स्त्री सहित धनाढ्य देश की ओर अन्न जल की खोज में प्रस्थानित हुआ। पर खेद है कि वहाँ पहुँचने पर भी वही वीभत्स दृश्य उपस्थित हो गया। आवाल, वृद्ध नर, नारी क्षुधा से कराह रहे थे। उनका कराहना देख कर मेरी स्थिति डावांडोल होगई। फिर तो हम लोग क्षुधा से इतने व्यग्र हुये कि कोई किसी को सँभाल न सका।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का वानवेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९२ ॥

तिरानवेवां सर्ग

इन्द्रजालिक-उपाख्यान

इस प्रकार वहुत दिनों तक विचरण करते हुये, शरीर वृद्ध हो गया, केश श्वेत हो गये और नित्य चाण्डाल भाव में दृढ़ रहने

संसाररूपी बन में भटकता है। बिना वासना नष्ट किये परमात्मा का साक्षात होना असम्भव है। हे रामजी ! मनही मनुष्य है, शरीर मनुष्य नहीं। कारण कि शरीर जड़ वस्तु है। पर मन तो जड़ नहीं है और न चेतन है,यह दोनोंहीसे विलक्षण है। मनका कष्ट करनाही सफल है। लेना देना जो कुछ है, सब मनसे ही है। शरीर भी जो कुछ करता है मनसे ही करता है। तात्पर्य यह कि समस्त जगत मनका ही रूप है। आकाश, पर्वत, वायु, जल, पृथ्वी नक्षत्रादि सब का प्रकाश मनसे ही है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध सब कुछ मनसे ही ग्रहण होते हैं और अनेक प्रकार की भावनाओं से ही मन अनेक प्रकार का रूप धारण करता है। सत्यको असत्य और लघुको दीर्घ करना मन का ही कार्य है। मन ही शत्रु को मित्र और मित्रको शत्रु बनाता है। हे रामजी ! मनकी वृत्ति जैसे दृढ़ होती है वही सत्य भासती है। इसी से तो हरिश्चन्द्र को और इन्द्र को क्रमशः एकही रात्रि में बारह वर्ष और एक घड़ी में ही पूरे युगका अनुभव हुआ था। इन्द्र और ब्राह्मण के दशों पुत्र जो ब्रह्मभाव को प्राप्त हुये थे वह भी तो मनके निश्चयानुसार ही वैसा हुये थे। हे रामजी ! सुख पूर्वक बैठा रहे पर मनमें कोई चिन्ता आ जाय तो वह रौरव नरक से कम नहीं है। इस भांति दुखों से आहत हो पर मनमें शान्त हो तो वह दुःख नहीं मालूम होता। अतः मनका जैसा निश्चय होता है वैसा ही भासता है। इन्द्रियाँ उसी ओर जाती हैं कि जिधर मनका झुकाव होता है। इससे इन्द्रियों का आधारभूत मन है। यदि मन टूट पड़े तो माले के दाने के समान ही इन्द्रियां भिन्न हो जाती हैं। पर इन सबका अधिष्ठान आत्मतत्व है और वह अत्यन्त सूक्ष्म स्वच्छ और निर्विकार समभाव से नित्य सब में स्थित है वही सब पदार्थों का ज्ञाता है। उसमें अहंभाव का लेश मात्र भी उत्थान नहीं है। उसी में मनके स्फुरण से संसार भासित होता है। वह द्वैतभ्रम से रहित है। उसी आत्मा ने किञ्चनमय सब जगत की रचना की है

—❀—

चौरानवेवाँ सर्ग

चित्त-व्याख्या

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! उस शुद्ध सच्चिदानन्द से आरम्भ में जो चित्त की संवेदना स्फूर्ति हुई है, वही कलना रूप होकर स्थित हुई है। उसी से दृश्य की सत्यता भासती है। आत्मा के प्रमाद से ही मोह की उत्पत्ति है। और चित्त की स्फूर्ति से ही चिरकाल पर्यन्त जगत में मग्न हो रहा है। वह मन असत्य रूप है। उसी ने जगत को फैला रक्खा है। इसीसे अनेक दुःख प्राप्त होते हैं। पर जब वही मन संसार की वासनाओं का परित्याग कर आत्म पद में स्थित होजाय तब क्षण मात्र में समस्त दुःखों का नाश हो जाता है। हे रामजी ! ऐसी वस्तु कोई नहीं है जो अभ्यास करने से न प्राप्त हो। अतः अभ्यास करने से आत्मपद की प्राप्ति अवश्य होती है। आत्मपद का अभ्यास करने से आत्मा निकट जान पड़ता है। और संसार भी दूर भासित होता है। पर जब जगत का अभ्यास दृढ़ होता है, तब ही जगत निकट जान पड़ता है और आत्मा ही दूर जान पड़ता है। हे महामते रामजी ! मूर्ख मनुष्य को अभय भी भयावह मालूम होता है। जैसे यात्रा करने वाले को दूर के वृक्षों में भी वैताल की कल्पना होती है और भयभीत होता है, उसी प्रकार चित्त की विभ्रान्तियों से जीव भय को प्राप्त होता है। हे रामजी ! वासना से युक्त यह मलीन मन संसार में नाना प्रकार के भ्रम उठा रहा है। आत्म पद में स्थित होने से भ्रम मिट जाता है। निश्चय के अनुसार ही यह जान पड़ता है। यह देश कालादिक जितनी क्रियायें हैं, सब मनसे ही भासित होती हैं। इससे संसार का कारण मोह है और इसी से जीव भटकता है। अस्तु वासनारूपो मलीनता को ज्ञान खड्ग से काटकर आत्मपद में ही स्थित होना चाहिये। क्योंकि वासना ही आत्मा वरण है। इसी के जाल में मनुष्य रूपी मृग

मूढ़ता से वासना और वासना रूपी पवन से यह जीव रूपी पत्र भटकता है और सङ्कल्प के वश में होकर सुख दुःख और भय को प्राप्त होता है। जिस भाँति तिलों में तेल रहता है और कोल्हू में पेरने से निकलता है, उसी प्रकार मन में सुख दुःख रहते हैं और मन को मन के संयोग से प्रकट होकर भासित होते हैं। मनके फुरने ही से नाना प्रकार का शोभावान जगत भासता है। पर यदि मन की चंचलता वैराग्य से मिट जाये तो यह वश में हो जाता है। हे राम जी! यदि प्राणी का मन बँधे हुए हस्ती के समान संसार से निवृत्त होकर आत्मपद में स्थित हो जाय तो वह निसन्देह मुक्त होगा। क्योंकि मन से मनन का न होना ही शान्ति प्राप्त करना है। इससे हम कहते हैं कि तुम अपने मन को स्थित कर शान्त बनो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का चौरानबेवां सर्ग समाप्त ॥ ९४ ॥

--:-❀-:--

पिचानबेवाँ सर्ग

चित्त कैसे उपशम हो?

हे रामजी! यह चित्त रूपी महा व्याधि है। उसकी निवृत्ति के लिये मैं तुमको एक ऐसी उत्तम औषधि बतलाता हूँ कि जिसमें यत्न साध्य औषधि अपने आप ही हो जावे। इस उपचार से चित्त रूपी बैताल नष्ट हो सकता है! हे रामजी! रस युक्त जितने भी पदार्थ तुमको दृष्टिगोचर होते हैं, सबको त्याग करो। इसका परिणाम यह होगा कि, तुम मन को जीतकर मोक्ष पद को प्राप्त हो जावोगे जिस प्रकार लोहे को लोहा काटता है, उसी प्रकार मन को मन से ही काटो और यत्न करके चित्त रूपी बैताल को भगा दो साथ ही आत्म सत्ता में जो शरीरादिक की भावना दृढ़ हो रही है उसको भी त्याग कर आत्मभाव में लग जावो ऐसा करने से वासनाओं का लोप होकर चित्त एकाग्र हो जायगा और अक्षय पद की प्राप्ति होगी। पर इच्छा का त्याग करना अत्यन्त कठिन है। कारण

और चैतन्य शक्ति से सबमें व्याप्त है। पृथ्वी, आकाश, सूर्य, अग्नि, जल और वायु इत्यादिक सबमें उसी की चेतना शक्ति का प्रकाश है। पर वास्तव में अनेकता का भाव नहीं है। अनेकता तो मन से जान पड़ती है। देश, काल, पदार्थ क्रिया और द्रव्य को मन ही उलटा करता है। मनके विना किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता जिह्वा से हर प्रकार का भोजन करना, नेत्रों से देखना–यह जो कुछ भी इन्द्रिय विषयक सिद्धियाँ हैं सब मनसे हैं। मन के विना कोई इन्द्रिय सिद्धिता को नहीं प्राप्त हो सकती। अन्धकार और प्रकाश भी मनके विना नहीं भासित होता। इससे मन की उत्पत्ति मन से है। इन्द्रियों ने जितने विषय जालों को फैला रखा है सब मनसे ही उत्पन्न हुए हैं। ऐसे मन को वश में करना महा कठिन है। महात्मा और पण्डित जन ही इसको वश में कर सकते हैं। हमारा उनको बारम्बार नमस्कार है। हे रामजी! यदि मन वश में हो जाय तो संसार में कोई कष्ट न हो। क्योंकि मनके स्थित होने ही में सब कुछ है। सुख दुःख तो सब मनके फुरने से होता है। जैसा स्फुरण मन में होता है वही फुरता है और वही भासित होता है। हे रामजी! यह तन वासना से अनेक प्रकार का रूप धारण करता है और स्पन्दता में जैसा दृढ़ होता है वैसा ही अनुभव होता है। जगत का अनुभव होना क्या है, केवल मनोमात्र और चित्त-भ्रम मात्र है। मनमें जैसी प्रतिमा उदय होती है, वैसा ही अनुभव होता है। इससे यह समस्त जगत केवल मन मात्र है। मनका फुरना ही देवता से दैत्य और दैत्य से देवता कर देता है। जन्म, मरण भी मनके फुरने से ही होता है और स्त्री से पुरुष व पुरुष से स्त्री होना भी मन के ही सङ्कल्प से होता है। जिस प्रकार नट पल मात्र में अपने स्वाँग से अनेक रूप धारण करता है, उसी प्रकार मन भी अपने सङ्कल्प से अनेक रूप धारण कर लेता है। हे रामजी! यह निराकार जीव मन से ही आकार की नाईं भासता है। उसका मनन ही मूढ़ता है। उस

मनको जीत लेने पर त्रिलोकी को भी जीतना तृणवत् है। हे रामजी कितने ऐसे वीर हैं जो शस्त्रों का प्रहार, अग्नि का ताप सहन करते हैं और शत्रु को भी मारते हैं। फिर स्वाभाविक फुरने का दमन करने में क्या दरिद्रता है? हे महामते रामजी! जो अपने चित्त तक की उलटने की सामर्थ नहीं रखता वह मनुष्यों में महा अधम है। जो यह अनुभव करता है कि मैंने जन्म लिया, मैं मरूँगा और मैं ही जीव हूँ, वह असत्यरूप और चपल है। क्योंकि मनरूपी मनुष्य शरीर से यह लोक और परलोक में मोक्ष होने के बाद चित्त में भटका करता है। जब यह निश्चय है कि मोक्ष होने पर भी चित्त का नाश नहीं होता, तब तुमको मृत्यु का भय कैसे है। तुम तो नित्य शुद्ध स्वरूप और सब विकारों से रहित हो। लोकादि के जितने भ्रम चित्त में मन के फुरने से उत्पन्न हुये हैं वे मन से भिन्न चित्त का कोई रूप नहीं हैं। पुत्र, भाई, नौकर आदि के जो स्नेह-स्थान हैं यह भी केवल चित्त से माने जाते हैं, अन्यथा नहीं। यदि चित्त अनुचित हो जाय तो निश्चय जानो कि प्राणी सब बन्धनों से मुक्त हो गया। हे राम जी! मैंने सब स्थान और सब शास्त्र भी देखे, एकान्त बास कर बार-बार विचार भी किया पर शान्ति होने के सिवा चित्त उपशम करने के और कोई उपाय न सूझा। जब तक चित्त दृश्यों की ओर से उदासीन हो, तब तक शान्ति नहीं मिल सकती। उपशम होने पर तो उस नित्य शुद्ध सर्वात्मा शान्त स्वरूप के पद में अवश्य ही विश्राम होगा। हे रामजी! हृदयाकाश में चेतन चक्र (ब्रह्माण्ड) की वृति) है, उसकी ओर जब मन अत्यन्त शीघ्रगामी होता है तब समस्त दुःखों का अभाव हो जाता है। वही ब्रह्माकार वृत्ति रूप चक्र मनको नष्ट कर सकता है अहं, त्वं इत्यादि अर्थ संयुक्त जितने भी शब्द भासित होते हैं, सब मनो मात्र हैं। विचार से इनको क्षीण करना चाहिये। फिर तो मन की वासना स्वतः नष्ट हो जायेगी और वासना के नष्ट होने से परम तत्व शुद्ध भासित होगा। हे रामजी!

कि अशुभ पदार्थों में रमणीकता होती है, जिससे विषयी पुरुष उसे शुभ करके जानते हैं। पर जो शुभ अशुभ का ज्ञान रखते हैं वही बड़े पुरुषार्थी हैं। शुभ और अशुभ दोनों बड़े वीर हैं। इसमें जो बली है, वही वीर है और जो वीर है उसी की विजय है। अतः जितना शीघ्र होसके प्रयत्न करके अपने चित्तको जीतलो। चित्तको जीत लेने पर बिना यत्न ही आत्मपद की प्राप्ति हो जायेगी। किन्तु जो चित्त को वश करने की शक्ति नहीं रखता, उसको लाखों बार धिक्कार है। वह मनुष्य होकर भी गर्दभके समान है। निज पौरुष से मन को अपने वशमें रखना, अपने साथ परम मयत्री करना है। नहीं तो अपना आपही शत्रु होकर घटी यन्त्र की भांति संसार चक्र में भटका करता है। मन को वश में रखने से प्रचुर लाभ होता है। हे रामजी! मन को मारने के लिये यह महा मन्त्र है कि दृश्यों की ओर से चित्त को समेट ले और आत्म चेतन में लग जावे। हे राम जी! इच्छा से मन पुष्ट होता है और उपशम होने से निवृत होता है। उपशम होने पर तो गुरु और शास्त्रों के उपदेश और मन्त्रोंकी अपेक्षा नहीं रहती। हे राघव! जब सङ्कल्प रूप रूपी औषधि से चित्त रूपी रोग कटे तब उस सर्वगत शान्ति रूपी पद की प्राप्ति होती है। इसके लिये यह परम आवश्यक है कि मनको यत्न पूर्वक उस शुद्ध चित्त आकाश में लगा दो। इस भांति लगाये रहने से जब चिरकाल पर्यन्त मन की तीव्र संवेदना आत्मा की ओर होगी तब चिन्तना की निवृत्ति होकर केवल चेतन मात्र में ही चित्त लगेगा। फिर तो बुद्धि स्वतः परमार्थ सत्ता में लग कर बोधरूप हो जायेगी। अतएव चित्तको चित्तसे ही ग्रस लो। इस प्रकार चित्तको चित्तसे अचित करने से तुम महा अद्वैत पद को निस्सन्देह प्राप्त कर लोगे। हे रामजी! मनको जीत लेने में तुम्हें और कुछ यत्न नहीं करना है, केवल संवेदन का प्रवाह उलटना है। अर्थात् दृश्य की ओर से मोड़कर—आत्मा की ओर लगाना है। इसीसे चित्त अचित्त होगा और इस प्रकार

है, वह वैसा ही रूप हो जाता है। अस्तु, यह अत्यन्त ही चंचलरूप है। यह सुनकर रामजी ने प्रश्न किया कि, हे गुरुजी! क्या इस वेग आवेग का कारण स्वरूप ऐसे चञ्चल मनकी निवृति किसी प्रकार हो सकती है? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया—हे रामजी! जब यह चञ्चल ही है तब उससे रहित कैसे होगा? हमने तो कहीं नहीं देखा कि, मन भी चंचलता से रहित हो। यदि यह चंचलता से रहित हो जायगा तो इसमें जो स्फुरना की मानसिक शक्ति जगताडम्बर का कारण रूप है, वह कहाँ जायगी? तब तो वह मृतक ही है न! ऐसे लोग जो मन को चपलता से दूर हैं वे मृतक के ही समान हैं। शास्त्रवेत्ताओं ने मन के मृतक रूप को ही मोक्ष कहा है। क्योंकि मन के नष्ट होने पर भी दुःखों का नाश हो जाता है। फिर तो आनन्द स्वरूप आत्मपद की ही प्राप्ति होती है। हे रामजी! मन की चपलता से रहित होने के लिये आवश्यक है, वासनाओं का त्याग किया जाय। यदि वासना का त्याग सफल हो सके तो मन का शान्त होना निश्चय है। यह अभ्यास के बिना सम्भव नहीं। अभ्यास भी साधारण नहीं होना चाहिये। पूर्ण विवेक पूर्वक विचाराभ्यास से ही यह जड़ता नाश होगी। फिर तो चेतन आत्मसत्ता ही भासित होगी। हे रामजी! भाव और अभावरूप में संसार के जितने भी पदार्थ हैं, सबको मन ने ही उत्पन्न किया है। इस कारण मन को ही उपशम करना चाहिये। बिना इसको उपशम किये बन्धनों से मुक्त होना असम्भव है। इस मनको मन ही उपशम कर सकता है, अन्य कोई नहीं। जिस भांति नृपति के साथ नृपति ही युद्ध कर सकता है, उसी भांति मन के साथ मन ही युद्ध कर सकता है, अन्य नहीं अस्तु शान्ति के लिए तुम मन से ही मन को मारो। हे रामजी! संसार सागर को पार करने के लिये, मन ही नौका रूप है शुद्ध मन रूपी नौका पर बैठ कर इसे पार करना चाहिये। हे रामजी! यह जो बन्धन का कारण रूप और दृश्यों की ओर

इच्छित सङ्कल्पों द्वारा पुष्ट किया हुआ यह मन जीव का परम शत्रु है, इच्छा न हो तो यह स्वयम् ही निवृत हो जाता है। अतएव मन में उठने वाली समस्त कल्पनाओं को त्याग दो। फिर देखो कि यह मन स्वयम् ही नष्ट हो जायेगा। हे रामजी! यह तो बालक भी जानते हैं कि मन को फैलाने से अनर्थ होता है और बटोरने से कल्याण होता है। जिस प्रकार पिता बालक पर कृपा किये रहता है, उसी प्रकार मैं भी तुमको समझा रहा हूँ कि मन रूपी शत्रु ने जो भय दिया है और सङ्कल्प कलना से जितनी भी आपदायें हैं सब मन से उत्पन्न होती हैं। मृगतृष्णा के जलवत् सब आपदायें मन से ही दीखती हैं। मन के स्थिर होने पर तो कोई क्षोभ नहीं रहता। हे रामजी! जो पुरुष मन से रहित है, उसको कोई विघ्न नहीं हो सकता—कारण कि वह तो स्वयम् शान्त स्वरूप है। हे रामजी! यह मन रूप एक बीज है, जिससे संसार रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है। सातों लोक इसके पत्र हैं और शुभाशुभ सुख, दुःख फल हैं। इसी से यह मन सङ्कल्प से रहित होने पर नष्ट हो जाता है। और सङ्कल्प के उठने पर अनर्थों का कारण होता है यदि तुम सन्तोष द्वारा मन वश में कर लो तो यह निश्चय है कि उस नित्य उदय रूप निरीह, परमपावन, निर्मल, समय, अनन्त और सब विकारों व विकल्पों से परे जो आत्मपद शेष है उसको प्राप्त अवश्य करोगे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का पिचानवेवां सर्ग समाप्त ॥ ९५ ॥



छियानबेवां सर्ग

मन—निरूपण

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! जिसके मन, तीव्र संवेग होता है, मन उसी को देखता है। अज्ञानता से जो दृश्य का तीव्र संवेग हुआ है उससे चित्त जन्म मरण आदि का विचार देखता है और निश्चय के अनुसार ही अनुभव करता है उसमें जैसी स्फूर्ति है और

है। यह मृगतृष्णा के समान असत्य है। ऐसी अविद्या माया जिससे इस जगत की उत्पत्ति हुई है, कहीं विकार कहीं स्पष्ट और कहीं दीर्घरूप भासती है। यद्यपि यह जड़ है तथापि आत्मसत्ता को पाकर चेतन होकर तद्रूप से भासित होती है। फिर भी असत्य रूप ही है। निमिषमात्र के भूलने से बहुत भ्रम दिखाती हुई प्रकाशरूप आत्मा में तम दिखाती है कि, मैं आत्मा को नहीं जानता ! हे रामजी ! जिस प्रकार उल्लू को सूर्य में अन्धकार जान पड़ता है, उसी प्रकार मूर्खों को अनुभव रूप आत्मा नहीं जान पड़ता। उनको अविद्यावश असत्य रूप जगत ही भासता है। यह अविद्या अनङ्गरङ्ग बिलासिता विकारता, सूक्ष्मता, कोमलता और कठिनता का ही रूप है। यह स्त्री की भाँति चञ्चल क्षोभरूपी सर्पिणी है और तृष्णारूपी जिह्वा से मार डालती है। हे रामजी ! भोगों में प्रीति करना अविद्या को बढ़ाना है। यह तृष्णा की चिर संगिनी है और भोगरूपी प्रकाश से विजली की भाँति चमत्कार करती है। उसके आश्रय में जो कार्य किया जायगा, कदापि न होगा। क्योंकि यह क्षणभंगुर रूप है। भोग पदार्थ बहुत यत्न करने से मिलता है, इससे जब यह मिल जाता है तब यहाँ अनर्थ भी करता है। पर जितना ही यह विस्मरण होता है उतना ही अधिक सुख भी मिलता है। इसलिये सुख के हेतु इसका विस्मरण ही ठीक है। स्मरण तो दुःख का कारण है। जैसे क्रूर स्वप्न का स्मरण करने से कष्ट होता है, वैसे ही अविद्या-जगत के स्मरण में कष्ट होता है। क्षणमात्र में यह अविद्या त्रैलोक्य की रचना कर लेती है और क्षण में ही ग्रास लेती है। हे रामजी ! रोगी पुरुष और स्त्री वियोगी पुरुष के लिये एक रात्रि कटना कल्प के समान होता है, पर वही रात्रि सुखी प्राणी को एक क्षण के समान बीत जाती है। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो अविद्या से विपर्यय न हो। संसार का जितना जाल है, सब अविद्या से भास रहा है। यह अविद्या जिन पदार्थों को दिखलाती है, सब असत्य रूप है, जिस प्रकार बड़े

दौड़ने वाला अपना मन है, इसको मन से ही छेद कर वैराग्य लो तभी उससे मुक्त होवोगे अन्यथा नहीं। भोग वासना का त्याग करने पर तो विना यत्न ही जगत की वासना छूट जायेगी। इसके छूट जाने पर तो अक्षय सुख की प्राप्ति होगी और अनेक प्रकार की भावना करने वाला मन भी नष्ट हो जायगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा—उत्पत्ति—प्रकरण का छियानवेंवां सर्ग समाप्त ॥ ९६ ॥

सत्तानवेवाँ सर्ग

हे रामजी! वासना का उठना भ्रांति से है और आत्मा में जगत भी भ्रांति से ही भासता है। इससे भ्रांतिरूपी वासनाको ही त्यागो। ज्ञानियों को जगत नहीं भासता। पर जो अज्ञानी हैं वे संसार के नाम से ही संसार को अङ्गीकृत करते हैं। किन्तु ज्ञानी व समदर्शी के लिए तो आत्मतत्व से भिन्न सब अवस्तु रूप ही जान पड़ता है। और वास्तव में असत्यरूप है भी, कारण कि, आत्मतत्व ही अपने रूपमें स्थित है। हे रामजी! नित्य, शुद्ध सम और अद्वैत रूप तुम अपने आप ही हो। न तो तुम कर्ता हो और न अकर्ता हो। कर्त्ता, अकर्त्ता, ग्रहण और त्याग भेद को ही लेकर कहाता है। इससे तुम अपने को कर्त्ता और भोक्ता न मानो। क्योंकि कर्तव्य इत्यादि तो तब होता है, जब कुछ ग्रहण व त्याग होता है और ग्रहण व त्याग भी तब होता है जब पदार्थ सत्य भासते हैं। पर यह सभी पदार्थ मिथ्या इन्द्रजाल की माया के समान हैं। फिर ऐसे मिथ्या पदार्थों में विश्वास कर उसका ग्रहण व त्याग करना क्या है? हे रामजी! चित्त में चैतन्य वासना फुरती है। वही मोह का कारण है। वहीं वासना संसार के पदार्थों को उत्पन्न करती है। यह संसार देखने में तो बड़ा सुन्दर मालूम पड़ता है, पर जैसे बांस बड़े विस्तार को पाता है और भीतर से शून्य है वैसे ही यह भी भीतर से शून्य है। इसमें कुछ नहीं है। इसी से यह संसार असार रूप व नाश रूप

तृष्णा दुःख दिया करती है। यह भोग पहले तो अमृत के समान सुख दायी जान पड़ते हैं परन्तु परिणामतः विषके समान होते हैं। इसी को अज्ञानी सुन्दर जानते हैं। जिस प्रकार मूर्ख पतिंगे दीपक को सुख की खानि जान कर उसकी वाञ्छा करते हैं परन्तु स्पर्श करते ही नाश को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार भोगों को स्पर्श कर यह जीव भी नाश हो जाता है। अस्तु आकाशकी लालिमाके समान की अविद्या से यह जगत जान पड़ रहा है। अविद्या को नष्ट करने के लिए केवल आत्मज्ञान ही सुन्दर उपाय है। यत्न पूर्वक मन के प्रवाह को रोको। हे रामजी! यह जितना कुछ दृश्यरूपी जगत है सब तुच्छरूप है। फिर भी बड़ा आश्चर्य है कि, मिथ्या भावना को लेकर संसार अन्धा हुआ है। नहीं तो यह अविद्या निराकार और शून्य है। इसी ने सत्य होकर संसार को अन्धा बना रक्खा है और संसार के लोग इन्हीं असत्य पदार्थों को सत्य जानकर यत्नवान हो रहे हैं वह चिदानन्द आत्मा सर्वदा अनुभव से प्रकाशित होता रहता है। पर अविद्या नहीं जान पड़ता। इसी असत्य रूप अविद्या ने जगत को अन्धा बनाया है। यही कुकर्मों को करा रही है। पर विचार किया जाय तो नष्ट हो जायगी। यह इतनी प्रबल है कि, बड़े धैर्य-वान और धर्मात्मा को भी अपने वश में कर समर्थवान नहीं होने देती। यह अविचारों से सिद्ध की हुई अविद्यारूपी स्त्री पुरुषों को अन्धा कर दुःखों को विस्मृत कर रही है। यही उत्पत्ति, नाश और सुख दुःखोंको प्रकट करती है और आत्मा को भ्रममें डालते हुए, अज्ञान-वश अनेक दुःखों को दिखलाती हुई बोध से हीन करती हुई काम क्रोध को उत्पन्न करती और हृदय में वासना के सहारे भावना को बढ़ाती है। हे रामजी! इसी निराकाररूप अविद्या ने ही जीव को बाँध रक्खा है। स्वरूप के प्रसाद को ही अविद्या कहते हैं, अन्य को नहीं।

श्री योगवाशिष्ठ—भाषा उत्पत्ति—प्रकरण सत्तानबेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९७ ॥

—::-❀-::—

आडम्बरोंवाली मृग तृष्णा की नदी असत्य है, उसी प्रकार यह आडम्बरी जगत भी असत्य रूप है। जिस प्रकार मृग तृष्णा के जल को देखकर मृग दौड़ जाते हैं और कष्टवान होते हैं, उसी प्रकार अज्ञानी इस जगत के पदार्थों को देख कर दौड़ते हैं और कष्टवान होते हैं। ज्ञानी तृष्णा के पीछे नहीं दौड़ते। वे शान्ति के इच्छुक हैं। पर अज्ञानी कहाँ? जगत में कोई सार वस्तु ऐसी नहीं जो शान्तिरूपी हो। यह जड़रूपी अविद्या पिण्डाकार और चेतन से अभिन्न किन्तु भिन्न की नाईं ही स्थित है। जिस प्रकार मकड़ी अपनी तन्तु फैलाकर अपने में लीन कर लेती है किन्तु वह उससे अभिन्न रूप होते हुए भिन्न की नाईं जान पड़ती है और जैसे अग्नि से धुआँ निकल कर बादलाकार हो जाता है और वही मेघ होकर बरसता है, उसी प्रकार अविद्या आत्मा से उत्पन्न होकर और आत्मसत्ता पाकर जगत की रचना करती है। इसी जगत में यह जीव घट-यन्त्र के समान त्रैगुणी वासना से बँध कर भटका करता है। यह जगत अविद्यारूपी कीचड़ से उत्पन्न कमलदण्ड के छिद्रों के समान अनेक विकाररूपी दृश्यों को लेकर उत्पन्न हुआ है। इसमें सार वस्तु कोई नहीं है। यह अविद्या विषयों की तृष्णा से बढ़ती है। रहित होने से शान्त होती है। तृष्णा ही इसको तेल रूप होकर दीपशिखा की नाईं प्रकाशमान करती है। यदि तृष्णारूपी तेल न रहे और विवेकी पवन चले तो यह दीपशिखा न मालूम कहाँ चला जाय। यह अविद्या कुहरे की भांति ढँके। पर इसको पकड़ा जाय तो कुछ हाथ न लगे। केवल देखने मात्र से ही दृष्टि आती है, विचार करने से तो नाम मात्र को भी नहीं रहती। जिस प्रकार स्वप्न सृष्टि व मृगतृष्णा का जल और रस्सी में सर्प तथा आकाश में दूसरा चन्द्रमा भ्रम से भासित होता है, उसी प्रकार यह अविद्यारूपी जगत अज्ञानी को सत्य जान पड़ता है। पर यह दीर्घकाल का सुपना है। इसको सत्यता केवल मूर्खों के ही चित्त में रहती है और भोगों को

आत्मत्व के परे अन्य नहीं है। न कोई जन्म लेता है, न मरता है। कारण कि आत्मत्व समान भाव से नित्य प्रकाश–स्वरूप व चेतना से रहित अपने आपमें स्वतःस्थित है। वही नित्य शुद्ध निर्विकार अद्वैत और चिन्मात्र सत्ता, आत्मा है। उसी सर्व शक्तिमान आत्ममें कलना-वश जब शक्ति का उदय होता है, तब उसी का नाम मन होता है। वह मन भी कैसा है, जैसे समुद्र की लहरें। वही अपनी चेतना वश तन होता है। वही मन सङ्कल्पवश दृश्य भासता है और वही अविद्या है। यह अविद्या से ही उत्पन्न व नाश होता है। चित्त–विवृत्ति के स्फुरण से अविद्या भी बढ़ती है। विवृत्ति का नाश हो तो अविद्या भी नाश हो जावे। हे रामजी! मैं ब्रह्म नहीं हूँ--ऐसे निश्चय से तो मन दृढ़ बन्धनमय होता है, पर 'सब ब्रह्म है' ऐसे निश्चय से मुक्त होता है। आशय कि दृश्यों का सङ्कल्प करना ही बन्धन और निःसङ्कल्प ही मोक्ष है। अविद्या के बन्धन में यही यथार्थ निर्णय है। आगे तुम्हारी जैसी इच्छा हो करो। मेरे विचार से तो अविद्या भावना मात्र ही है। जन्म, मरण, अस्थि माँस वाला और दुःखी तथा तृषित होने का भाव ही वन्धन का कारण है। जो ऐसा न जाने वह प्राणी मुक्त है। अज्ञानी ही आत्मा में अविद्या की कल्पना करते हैं। अन्यथा अविद्या है ही नहीं। इतना सुनकर रामजी ने--पूछा, हे भगवन्! सुमेरु पर्वत की छाया और आकाश में नीलता का होना सत्य है वा नहीं। बशिष्ठ जी ने उत्तर दिया, नहीं आकाश में छाया कहां? आकाश तो पोल मात्र और गुण में शून्य है। वह शून्यता ऐसी दृढ़ है कि उसमें नीलता भासती है। नहीं तो कुछ नहीं है। मन्द दृष्टिवाले नीलता देखते हैं, दिव्य दृष्टि वाले नहीं। उनको तो पोलमात्र भासता है। जिस प्रकार मन्द दृष्टि वालों को नीलता जान पड़ती है, उसी प्रकार अज्ञानियों को अविद्या सत्य सी जान पड़ती है। मन्द दृष्टि वालों की जहां तक दृष्टि पहुँचती है, वहां तक तो उन्हें आकाश स्वच्छ और निर्मल जान पड़ता है, पर जहां उनकी दृष्टि नहीं पहुँचती कुण्ठित हो

अट्ठानवेवाँ सर्ग

::-❀-::

अविद्या क्या है ?

इस प्रकार—मुनि शार्दूल वशिष्ठजी के यह निश्चय पूर्वक बतलाने पर कि, अविद्या से ही जगत उत्पन्न हुआ है रामजी ने पूछा कि, हे भगवन् ! जब अविद्या से ही जगत की उत्पत्ति है तब इससे किस प्रकार निवृत्त हो सकते हैं ? वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी ! इस अविद्या को नाश करने के लिए आत्म प्रकाश की आवश्यकता है। आत्म-दर्शन से ही यह नष्ट होगी, अन्यथा नहीं। जब आत्मा के दर्शन की इच्छा होती है, तब वही इच्छा मोह को नाश करती है। आत्म पद की इच्छा से धूप से छाया नाश हो जाने के समान ही अविद्या नाश हो जायगी। दृश्य पदार्थों में इच्छा उत्पन्न होना ही अविद्या है। और उस इच्छा का नाश ही विद्या है। विद्या ही को मोक्ष कहते हैं। अविद्याको नाश करने के लिए यह सरल युक्ति है कि, इच्छा न हो और चित्त की वृत्ति चिन्मात्र में स्थित हो। इस भाँति जब वासना नष्ट हो जायगी तब आत्म प्रकाश स्वयम् हो जायगा इससे विवेक को उत्पन्न कर अविद्या को नाश करना चाहिये। हे रामजी। यह मनुष्य संसार की दृढ़ वासना में बँधा हुआ है और मूर्ख बालक के समान परछाईं में बैताल के सदृश कल्पना का उदय होता हुआ निज वासना से पा रहा है। रामजी ने पूछा—हे भगवन् ! वह आत्मा कैसा है कि जिससे अविद्या नाश होती है ? वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी ! जो अशब्दरूप, चेतन, सर्वगत समभाव अनुभव रूप और जो चेतन तत्व है, वही आत्मा परमात्मा है। हे राघव ! इस जगत में ब्रह्म से तृण पर्यन्त जो कुछ जगत है, सब आत्मा है, अविद्या कोई नहीं और आत्म तत्व से भिन्न कुछ नहीं है। हे रामजी ! समस्त शरीर धारियों में वही अविनाशी पुरुष स्थित है। निज कल्पना से अन्य के समान भासित होता है, किन्तु वह

एक-तो रस्सी का दूसरा सर्प का। यह दोनों ही अज्ञानी के लिए हैं। ज्ञानी के लिए नहीं। इससे हे रामजी! तुम भी ज्ञानी बनो। जगतकी जो वासनायें हैं उनको त्याग देने से तुम परम शान्तिको प्राप्त होवोगे। हे रामजी! यह अस्थि माँस की थैली रूपी शरीर मूकवत् जड़ है। पर तुम ऐसा क्यों होते हो। इसी शरीर का अभिमान करना महा दुःख का कारण नाशवान है। पर आत्मा का कभी नाश नहीं होता। इससे तुम आत्मसत्ता में ही स्थित होवो। हाय! महान् आश्चर्य है कि मनुष्य सत्य-स्वरूप ब्रह्म-सत्ता को भूलकर असत्य और अविद्या का बार-बार स्मरण करते हैं। पर तुम इसको न प्राप्त करो। हे रामजी! मन के फुरने में ही सब कुछ है। मरुस्थल की नदी और जेवरी में सर्प और सुख दुःख का अनुभव सब कुछ मन ही से है। मन के प्रमाद से ही आत्मा में दुःख का अनुभव होता है। ऐसे ही प्रमादी और अज्ञानी को उस शून्य अणु में भी संसार के सब भ्रम दृष्टिगत होते हैं। अतः सबसे पहिले तुम संसार की वासनाओं का त्याग करो। यह संसार वासना व बन्धन का मुख्य स्तम्भ है। सब भावों में रहो, पर राग किसी में न रक्खो। जो प्राणी ऐसा है उसको शास्त्रोपदेश की आवश्यकता नहीं है अस्तु लेन देन और बोल चाल सब कुछ प्राकृत आचार करो पर अभ्यांतर से उसका कुछ भी गर्व न करो। यही सबसे सच्चा और उत्तम ज्ञान है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का अट्ठानवेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९८ ॥

:--::--::--:

निन्यानबेवाँ सर्ग

सुख-दुःख भोक्तव्योपदेश

यह कह कर बाल्मीकिजी बोले कि जब वशिष्ठजी ने ऐसा कहा तब रामचन्द्रजी उन महर्षि की ओर मग्न हृदय से देखने लगे और बोले कि, महान् आश्चर्य है जो पद्म तन्तु के साथ पर्वत बँधा है। अविद्या भी कैसी है कि, अविद्या न रहते हुए भी वज्र से भी कठिन बन्धन में जगत को दृढ़ किये है और असत्य रूप

[illegible] है, वहाँ उसको नीलता ही जान पड़ती है । जिस भाँति अन्धे को [illegible] में शून्यता है, उसी भाँति आत्म दृष्टिके क्षय होने वाले को दुःख रूपी अविद्यामय सृष्टि ही भासती है । हे रामजी ! चेतनके अतिरिक्त जो भी स्मरण किया जाय, सब अविद्या है । हाय, आकाश कुसुम के समान यह अविद्या मूर्खों को सत्य प्रतीत होती है, पर इसकी कोई वास्तविकता नहीं है । यह भावनामयी अविद्या महा दुःख का कारण है । जब यह भावना आत्मा की ओर खिंचे तब अविद्या का नाश होवे । भावना का अर्थ है, बारम्बार चिन्तवन करना । जब यह आत्माकी ओर चिन्तवन करे तब अविद्या भी नाश होवे । हे रामजी ! मन तो राजा है । इन्द्रियां उसके टहलुवे का कार्य करती हैं । यदि तुम सांसारिक विषयों की भावना त्यागकर आत्म चिन्तवन करो तो निश्चय ही परमपद को प्राप्त करोगे । जिन महापुरुषों ने ऐसा किया है वे मोक्ष को प्राप्त हो गये हैं । हे रामजी ! जिसका कोई आदि नहीं, उसका अन्त भी नहीं है । इसमें आदि अन्त कुछ नहीं, सब ब्रह्म रूप ही सत्ता है । पर जो भिन्न जान पड़ता है, वह केवल मन है । वास्तव में तुम्हारा स्वरूप तो ब्रह्मानन्दमय और आदि अन्त से रहित है । फिर शोक क्यों करते हो । पुरुषार्थ बल से सांसारिक विषयों को चित्त से हटा दो और आत्मपदका अभ्यास करो । दृढ़ अभ्याससे दृश्य भ्रम भी नष्ट हो जाता है । क्योंकि सांसारिक वासनाओं का उदय होना ही [illegible] आदिक मोह को उत्पन्न करता है । तब पुत्र, बन्धु बान्धव, धन, स्त्री और घर की भावना होकर महा मोहरूपी फांसीमें लटका देता है । वास्तव में जिस शरीर से यह सब उदय होता है, वह मिथ्या और क्षणभंगुर है । अविद्यारूपी वासना में पड़कर वायु गोले के समान [illegible] पड़ता है । उसी में पड़, तू रूपी जगत को [illegible] है । [illegible] को तो [illegible] ही सत्य जान पड़ता है । [illegible] के लिये स्थान का क्रम नहीं है । अतएव तुम [illegible] चिन्तवन करो । [illegible] से भ्रान्ति ही विकल्प होता है ।

ऋषि, मुनि, देवता और अग्नि, पवन जिनका भी पूजन करना चाहिये था किया। दान दक्षिणा देना जो भी आवश्यक था, मनसे दिया। निरन्तर सवा वर्ष उसने ऐसा मानसी यज्ञ किया और मानसी फल भोग किया। अतएव हे रामजी! समस्त कर्म मन से होते हैं। मन ही भोक्ता है। जैसा चित्त है, वैसा ही पुरुष है। पूर्ण चित्त से पूर्णता और नष्ट चित्त से नष्टता होती है। मैं शरीर हूँ, ऐसा निश्चय करना बड़ी नीचता है। इससे अनेक दुःख मिलते हैं। अस्तु विवेक (ज्ञान) का आश्रय ग्रहण करो। विवेकी पुरुषों को दुःख नहीं प्राप्त होता। वे संसार के दुःखों को सहज ही तर जाते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा–उत्पत्ति–प्रकरण का निन्यानवेवां सर्ग समाप्त ॥ ९९ ॥

सौवाँ सर्ग

तत्व विवेचन

रामजी ने प्रश्न किया-हे भगवान्! राजा लवण के राजसूय यज्ञ करने और फल भोगने की कथा तो हम सुन चुके पर अब उस शाम्बर का परिचय दीजिये कि, जिसने राजा को भ्रम दिखलाया। वशिष्ठजी ने कहा-वह इन्द्र का भेजा दूत था। शाम्बर के रूप में राजा लवण को भ्रम दिखलाने आया था। हे रामजी! यह नियम है कि, जो राजसूय यज्ञ करता है उसको बारह वर्ष तक कठिन आपदा भोगनी पड़ती है। वह आपदा उसके मनसे ही उत्पन्न होती है। आपदा भोगवाने के लिए ही इन्द्र ने उसको भेजा था। उसने पहुँच कर राजा लवणको भ्रम दिखला दिया और उन्होंने भोग किया। 'यह मैंने प्रत्यक्ष देखा है लवण ने मन से ही राजसूय यज्ञ किया था, इससे आपदाको भी उसने मन से ही भोग किया। अस्तु यही करता और यही भोक्ता है। निज सङ्कल्पों के अनुसार सुख दुःख का अनुभव होता है। यदि मन स्फुरित न हो तो स्थिर कहा जायगा और स्थिर होने से आपदायें स्वतः मिट जाती हैं।

इस पर रामजी ने फिर प्रश्न किया कि, हे भगवन्! जब मन

जगत को सत्य के समान स्थित किये हैं। हे भगवन्! ऐसे संसार की माया का क्या रूप है कि जिससे महापुण्यशाली राजा लवण भी महान विपत्ति को प्राप्त हुआ और इन्द्रजाली ने भी भ्रम दिखलाया। सो वह दोनों कौन थे कि, जिनको स्वतः कोई लाभ न था? फिर वह दोनों कहां चले गये और देही व देह का कैसे सम्बन्ध हुआ! प्राणी शुभ और अशुभ कर्मों का फल कैसे भोगते हैं? हे भगवन्! कृपाकर मेरे ज्ञान के लिये इन सब प्रश्नों का उत्तर दीजिये।

वशिष्ठजी ने उत्तर दिया--हे रामजी! यह शरीर काष्ठ व मिट्टी के समान और चित्त से कल्पित है। चेत्य सम्बन्ध से जीवपद को प्राप्त हुआ है। जीव चित्त सत्ता से सुशोभित है। यह महा चंचल संसार चित्त के फुरने से ही उत्पन्न हुआ है। फुरने ही से अनेक देह धारण करता है। अहङ्कार मन और जीव इस चित्त के नाम हैं। चित्त ही अज्ञानवश सुख और दुःख भोगता है, शरीर नहीं भोगता। पर जो प्रबुद्ध चित्त है यह तो शान्तरूप है, मन की अप्रबुद्धता ही अविद्या रूपी निद्रा में शयन करता है। मन के प्रबुद्धवान एवं ज्ञानवान होने पर तो संसार-भ्रम निवृत्त हो जाता है। अतः अज्ञान ही दुःख का कारण है। यह पंचभौतिक शरीर शाप्त अभिमानी होकर शुभा-शुभ जैसा कर्म करता है, वैसा भोगता है जितना कुछ इष्ट-अनिष्ट सुख, दुःख है केवल मनके फुरने में है शरीर में स्थिर होकर मन ही सब कुछ करता है। जिस प्रकार वृक्षों को वायु चंचल करता है, उसी प्रकार सुख दुःख की जो भी क्रिया है, सब मन ही करता है। मनही भोगता और मन ही मनुष्य है।

हे रामजी! लवण राजा का वृतान्त ऐसा है कि, वह मन के भ्रम से ही चाण्डाल हुआ। क्योंकि मनसे जो भी किया जाय वही सफल होता है। एक समय राजा लवण अपने भवन में बैठा था कि, पूर्वजों का स्मरण करके उसने राजसूय यज्ञ करने का निश्चय किया। तब चिन्तवन करके मानसी यज्ञ आरम्भ किया।

कहने लगे—हे रामजी ! ज्ञान की सप्त भूमिका एक बड़े महत्व का विषय है। यह प्रश्न उपस्थित कर आपने बड़ा अच्छा किया। क्योंकि इसको जान लेने पर प्राणी मोह पङ्क में नहीं फँसता। इसका वर्णन बहुत प्रकार से हो सकता है। पर मेरा निश्चय मत है कि, यह ज्ञानकी सप्तभूमिका सात प्रकार की है। शुभेच्छा विचारना, तनुमानसा सत्वापत्ति, असशक्ति, पदार्थ भावनी और तुरीया यही क्रम पूर्वक सातों नाम हैं। जो इनके तत्वों को प्राप्त करे वह कभी शोक नहीं कर सकता। पहले 'शुभेच्छा' को सुनो, हे रामजी ! सत्सङ्गति और सच्छास्त्रों का वैराग्य पूर्वक अध्ययन करने का नाम शुभेच्छा है। विचार उसको कहते हैं जो वैराग्य और सत्मार्गका अभ्यास करते हुए सत्याचार में प्रवृत्तरहा जाय और सत्यासत्य को जानकर उनका त्याग किया जाय। तनुमानसा वह है जो विचार व शुभेच्छा सहित तत्वका अभ्यास कर इन्द्रिय निग्रह किया जाय। चौथी भूमिका सत्वापत्ति है। सत्वापत्ति वह है जिसमें इन तीनों भूमिका शुभेच्छा विचारना और तनुमानसी का अभ्यास कर इन्द्रिय निग्रह और जगतसे वैराग्य किया जाय तथा श्रवण मनन और निदिध्यासन से सत्य आत्मा में स्थित हुआ जाय। असंशक्ति नामी भूमिका वह है जिसमें इन चारों से असंशक्त रहा जाय। छटवीं पदार्था भावनी भूमिका वह है जिसमें कि दृश्य का विस्मरण और भीतर बाहर से सभी पदार्थ तुच्छ प्रतीत हो। हे रामजी ! तुरीया भूमिका ऐसी है जिसमें इन छःहों की एकता प्रतीत हो। इस अवस्थाको जीवन्मुक्त अवस्था कहते हैं। यही सातों प्रकार की भूमिकाओं का संक्षिप्त वर्णन है। इन सब में तीन भूमिका जगत की जाग्रत अवस्था की हैं और चोथी तत्वज्ञानकी और पाँचवीं व छटी जीवनमुक्त अवस्था की हैं। सातवीं तुरीयातीत पद में विदेह मुक्त स्थित होता है। जो बड़ा भाग्यशाली है वही इस सप्तभूमिकामें स्थित होता है और वही आत्मारामी महा पुरुष परमपद का भागी है। ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष सुख दुःख मग्न नहीं होते और शान्तरूप

इतना चञ्चल और सुख दुःख की खानि है, तब उसकी चपलता कैसे नष्ट होगी? वशिष्ठजी ने कहा–हे रघुकुल शिरोमणि रामचन्द्रजी! एक युक्ति सुनो। समस्त भूतों की उत्पत्ति ब्रह्म से है। यह सात्वकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की उत्पत्तियाँ होती हैं। सर्व प्रथम शुद्ध चिन्मात्र ब्रह्म में जो कलना उठती है, उसके बाह्य मुखी स्फुरण को मन कहते हैं। वही ब्रह्म का रूप है। उसी ने सुख दुःख जरा मरण मोह इत्यादि संसार की कल्पना की है। कल्पना करके वह निर्वाण हो गया है। सङ्कल्प वश उत्पन्न होना और–लीन होना ही उसका मुख्य कार्य है। इस भाँति अनेक कोटि ब्रह्माण्ड ब्रह्म से उत्पन्न हो २ कर लीन हो गए हैं। अभी कितने होंगे और कितने वर्तमान हैं। हे रामजी! उस शुद्ध ब्रह्मत्व से पहिले मन सत्ता उत्पन्न हुई है। उसने चेत किया तो आकाश हुआ। फिर वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी क्रमशः उत्पन्न हुये। पुनः चिद् शक्ति पंच-भूतों को प्राप्त हुई और सूक्ष्म प्रकृति रूपी अन्तःकरण पृथ्वी, तेज और वायु से मिलकर धान्य में प्राप्त हुआ। जब धान्य को प्राणी भोजन करते हैं तब वह रुधिर वीर्य रूप होकर गर्भ में जाता है। तब पुरुष उत्पन्न होता है। उत्पन्न होते ही वह वेद पढ़ने लगता है, गुरु के समीप जाता है और क्रमशः उसकी विवेक बुद्धि होकर चमत्कार दिखलाती है। पश्चात् उसको ग्रहण, त्याग और शुभाशुभ का विचार उत्पन्न होता है। फिर तो उसी के अनुसार वह निर्मल अन्तःकरण सहित स्थित होता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति–प्रकरण का सौवाँ सर्ग समाप्त ॥ १०० ॥

–::-❋-::–

एकसौ एकवां सर्ग

सप्तभूमिकोपदेश वर्णन

इस प्रकार सात्विक ज्ञान का विशद विवेचन हो चुकने पर राम जी ने सप्तभूमिका सम्बन्धी प्रश्न उपस्थित किया तब वशिष्ठजी

केवल परम पद एवं शान्त रूप है। वही पूर्ण रूप से अपने आपमें स्थित है। यह हमारी विपर्यय दृष्टि है कि, आत्मा में जगत भास रहा है किन्तु दर्पण में प्रतिविम्ब और स्वप्न के पदार्थ सदृशही उसमें कुछ वास्तविकता नहीं है। निज भ्रमसेही यह असत्य जगत सत्य जान पड़ता है। जिस प्रकार मृगतृष्णा का जल और आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है, उसी प्रकार आत्मा में यह जगत भास रहा है किन्तु सब अज्ञान है। हे रामजी ! जब तक आत्म-विचार रूपी अग्नि से अविद्या रूपी बल्ली को जलाकर तुम भस्म न कर दोगे, तब तक इस जगत रूपी वृक्ष का नाश न होगा और तब तक यह उत्तरोत्तर सुख दुःख दिखाती जायगी और जला दोगे तो शान्त पद को प्राप्त होगे। हे रामजी ! आत्मामें अहं, त्वं इत्यादिक अविद्या रूप हैं। राजा लवण तो इसी अविद्या रूपी पिशाचनी के फेर में पड़कर नाना प्रकार के कष्टों को प्राप्त हुआ। यह अविद्या ऐसी है कि, शीघ्र ही सत्य को असत्य और असत्य को सत्य करके अनेक भ्रम दिखलाती है। इस पर रामजी ने पूछा कि, हे भगवन् ! अविद्या सत्य को असत्य और असत्य को सत्य कैसे दिखलाती है। कृपा करके मेरा यह भ्रम भी दूर कीजिये। वशिष्ठ जी ने कहा—यह कौन सा आश्चर्य है। अविद्या तो सब कुछ कर सकती है। स्वप्न में तुम प्रत्यक्ष देखते हो कि, घर का वन हो जाता है। तुम यह भी जानते हो कि, मूर्छा के अनन्तर बुद्धि विपर्यय हो जाती है। फिर क्या स्वरूप से गिरने वाले को अविद्या अनेक भ्रम नहीं दिखला सकती ? जिस भांति मदिरा व विष पान करने वाले को भ्रम प्राप्त होता है, उसी भांति अविद्या से जीव भ्रमको प्राप्त होता है। राजा लवणके समानही एक और राजाथा जिसको चित्तके फुरने से अविद्या ने स्वप्नवत अनेक भ्रम दिखलाया था। तब मैंने उस को शान्त किया। हे रामजी ! समस्त पदार्थों में सत्ता रूप संवेदन है। जैसा दृढ़ सङ्कल्प होता है, वैसा होकर भासता है। यदि सत्यरूप होकर भासे तो सत्य और असत्य रूप होकर भासे तो असत्य भासता है।

होकर अपने प्राकृत आचारको करते हैं। वह कुछ न भी करेंतो भी उनको कोई वन्धन नहीं। उनको क्रिया का ज्ञान नहीं रहता। कारण कि सुप्त भूमिका में सब का अभाव हो जाता है। हे रामजी! इस भूमिका का मूर्ख और पापियों के चित्त में समावेश नहीं होता। यह तो ज्ञानियों का विषय है पशु और राक्षसों को इसमें अधिकार नहीं। हे रामजी! जो संसार से विरक्त होकर इन भूमिकाओं में आए हैं वे मोह रूपी सागर में गोता नहीं खाते और आत्मपद को पाकर पूर्ण आत्मा होजाते हैं। हे रामजी! सभी पुरुष सातों भूमिकाओं तक नहीं पहुँचते। कोई पहली कोई दूसरी और कोई तीसरी को ही पाते हैं। सातों को तो बहुत कम लोग प्राप्त करते हैं। कोई अर्द्ध भूमिका तक ही पहुँचते हैं पर वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं। जिसने जो पाया है उसके सहारे कोई गृह में और कोई वनमें बैठा तपसी और अतीत बना है। उन सभी जनों ने इन्द्रिय रूपी शत्रु को जीता है। इससे वे सभी जन वन्दनीय हैं। उनके समक्ष चक्रवर्ती राज्य भी तुच्छ है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा उत्पत्ति-प्रकरण एकसौ एकवाँ सर्ग समाप्त॥ १०१॥

—❀—

एकसौ दोवाँ सर्ग

उदाहरणोपदेश-वर्णन

वह सुनकर रामजी ने प्रश्न किया कि, हे भगवन्! आत्म सम्बन्धी उपदेश करते समय आपने 'सुवर्ण में भूषण' की बहुत उपमा दी है। सो सुवर्ण में भूषण तो हम समझ गए। पर उसी प्रकार आत्मा अहं भाव कैसे होता है, कृपा कर इसे भी बतलाइए। वशिष्ठजी कहने लगे-हे रामजी! असत्य का कोई भिन्न रूप नहीं है। यह तो आत्मा का चमत्कार है। उसमें द्वैतभाव और विभाग की कल्पना कहां, वह शान्त स्वरूप है। जगत के भ्रम समुद्र की तरङ्गों के समान हैं और भ्रम से भासते हैं। ऐसे ही आत्मा में नाना भाव अथवा जगत भ्रम से भास रहा है। पर वह सुवर्ण में भूषण, जल में द्रवता और वायु में स्पन्दता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह

एकसौ तीनवाँ सर्ग

इस प्रकार चित्त भाव का विवेचन कर चुकने पर वशिष्ठजी ने सप्तभूमिका सम्बन्धी आख्यान को क्रम पूर्वक वर्णन किया। उन्होंने कहा हे रामजी! जन्म लेते ही पुरुष को कुछ बोध होता है। फिर क्रम से बड़ा होकर सन्तजनों की सङ्गति करता है। तब उसे सत् शास्त्रों के विचार का अवसर प्राप्त होता है। शास्त्र विचार से उसको ग्रहण व त्याग की बुद्धि उत्पन्न होती है। उसी को शुभेच्छा कहते हैं। ऐसी शुभेच्छा जिसमें शुभा-शुभ ग्रहण व त्याग शक्ति हो उसीका नाम विचार है। ऐसे सम्यक ज्ञान विचार की ही दृढ़ता से मिथ्या रूप सांसारिक वासनाओं का त्याग होता है और तब प्राणी सत्य में स्थित होता है। इसी को तनुमानसा कहते हैं। ऐसा दृढ़ अभ्यास होने एवं वासनाओं के नष्ट होने पर वैराग्य उत्पन्न होता है। फिर वैराग्य से सम्यक ज्ञान और आत्म-दर्शन होता है। इसी का नाम सत्वापत्ति है। इस भाँति मनकी वासनाओं के नष्ट होने पर सिद्धि प्राप्त होती है और तब प्राणी स्वरूप में सदैव सतर्क रहता है तथा कर्म-फल के बन्धन में नहीं रहता। यही असंसक्त नाम्नी भूमिका है। इस भूमिका में मन की तनुता होने पर चित्त स्वरूप की ओर परिणत रहता है और ऐसे परिणाम से व्यवहारों का अभाव होजाता है। यहाँ तक कि उसके चित्त में फुरना भी नहीं होती और मन भी क्षीण होता है। आशय कि, उसके कर्तव्य की भावना नहीं फुरती। वह कर्ता होते हुए भी कुछ नहीं करता और देखते हुए भी नहीं देखता। यही पदार्थ भावनी योग भूमिका है। ऐसे अभ्यास में कुछ समय व्यतीत होने पर समस्त पदार्थों का अभाव होजाता है और तुरीय रूप होकर जीवन्मुक्त कहलाता है। फिर तो इष्ट अनिष्ट के लिए हर्ष शोक न करके उत्तम पद को प्राप्त होता है। हे रामजी! अब तुम भी ऐसा ही ज्ञात-ज्ञेय होगये हो।

इससे सभी पदार्थ संवेदन रूप हैं और तीनों काल भी संवेदन से ही उत्पन्न हुए हैं। संवेदन ही उनका बीज है। इससे समस्त पदार्थ अविद्यारूप हैं। इसका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। यही कारण है कि, अविद्यारूपी शरीर का आत्मा से सम्बन्ध नहीं रहता। यदि जड़ शरीर से इसका सम्बन्ध हो तो यह आत्मा भी जड़ हो जाये। अस्तु आत्मा सदैव चैतन्य स्वरूप है, जड़ नहीं। यह तो साधारणसी बात है कि,सजातीय पदार्थों से एकता होती है, विजातीय से नहीं। फिर यह कैसे सम्भव है कि जड़ रूपी शरीर से आत्मा का सम्बन्ध होवे। जिस प्रकार सुवर्ण बुद्धि के न होने से अनेक प्रकार के भूषण ही जान पड़ते हैं, उसी प्रकार जब आत्मा में अहं की संवेदना होती है, तब अनेक रूप होकर विश्व भासता है। पर यदि सुवर्ण की ओर देखा जाय तो सुवर्ण ही जान पड़ेगा। वैसे ही ब्रह्म सत्ता की ओर देखने से समस्त जगत ब्रह्मरूप ही जान पड़ता है। पर यह जो कुछ जान पड़ता है, अज्ञानियों के लिए है ज्ञानी को तो एक ही सत्ता भासती है। भला वह भी कोई ब्रह्म है कि जिसमें द्रष्टा, दर्शन और दृश्यों का स्फुरण हो? नहीं इनके मध्य और उनसे रहित जो सत्ता हो, वह ब्रह्म सत्ता है। असम समाधि लगाने पर तुमको वह सत्ता और उसी का रूप भासित होगा। हे रामजी! ऐसे प्राणियों को शरीर के इष्ट अनिष्ट में हर्ष शोक नहीं होता। कारण कि वह निर्मल रूप होकर स्थित होते हैं। तुमको भी ऐसा ही होना चाहिए। क्योंकि असत्यता नित्य, शुद्ध परमानन्द स्वरूप अपने आप में अनुभव रूप स्थित है। यदि उसको भूल जावोगे तो दुःख अवश्य प्राप्त होगा। अतः सावधान हो जावो। स्फुरण होना ही चित्त है। जितना शीघ्र होसके तुम इसको त्याग दो। क्योंकि यह असत्य रूपी चित्त ही संसार है। ऐसे चित्त को असत्य जानकर न त्यागना बड़ी मूर्खता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का एकसौ दोवां सर्ग समाप्त ॥ १०२ ॥

परे है इन्द्रियों के संयोग वियोग में नहीं रहता। अविनाशी शुद्ध चैतन्य और अत्यन्त निर्मल है। उसमें दर्पणके प्रतिबिम्ब समान ही जगत स्थित है और कुछ नहीं। तुम भी शरीर से रहित निर्विकल्प हो और तुम्हारा आकार पतन आदिरूप है। इससे तुम्हारे निकट लज्जा, हर्ष और भय इत्यादिक सभी असत्य हैं फिर तुम किस लिए मूर्खों की भाँति विकल्प को प्राप्त होते हो। तुम तो चैतन्य स्वरूप और अखण्ड हो। फिर शरीर के खण्डित होने से आत्मा कैसे खण्डित हो सकती है। असम्यकदर्शी भी ऐसा ही मानते हैं, फिर ज्ञानवानों का कहना ही क्या है? हे रामजी! चाहे शरीर सत्य हो या असत्य। किन्तु पुरुष तो शरीर नहीं हो सकता इससे आत्मा ज्यों का त्यों है। इन्द्रियों का सुख दुःख आत्मा को नहीं ग्रहण कर सकता। अज्ञानियों के लिए सुख दुःख अभिमान है, ज्ञानी के लिए नहीं। जो आत्मा मनके सर्ग से अतीत शून्य के समान स्थित है, उसको दुःख कैसे? शरीर भले ही नाश होजाय पर आत्मा का नाश नहीं हो सकता। फिर तुम व्यर्थ के लिए क्यों शोकित होते हो। जगत को असत्य जान कर उसका अभाव करो। हे रामजी! असङ्कल्प रूप चित्तमें ही जगत स्थित है। सङ्कल्पों का क्षय हो तो चित्त भी नष्ट होजावे। चित्त के नष्ट होने पर संसाररूपी कुहिरा अवश्य ही नष्ट हो जावेगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का एकसौ तीनवां सर्गसमाप्त ॥ १०३ ॥

::-❀-::

तृतीय उत्पत्ति-प्रकरण समाप्त।

इससे अब तुम्हारे साथ शरीर रहे या न रहे, तुम शोक से रहित होकर अद्वैतरूप अपने आप में स्थित होवो। शरीर तो उदय भी होता है और क्षीण भी होता है। पर देशकालादिक भेदोंसे रहित आत्मा का उदय अस्त नहीं होता। तुम भी वही अविनाशीरूप आत्मा हो। फिर अपने को नाश रूप समझ कर शोक क्यों करते हो? हे रामजी! संसार की जितनी वस्तुयें हैं, सब तुम्हारी छाया मात्र हैं। उनकी वासना भ्रम वश होती है। पर तुम अद्वैतरूप हो फिर किसकी वाञ्छा करते हो? सम्पूर्ण दृश्य तो तुम्हारा ही स्वरूप है। तुम से भिन्न नहीं है। फिर भ्रम क्या है? आत्मा तो सर्व शक्ति मान है। आभास करके अनेक रूप हो भासता है। हे रामजी! चित्तसे दृढ़ हुआ सात्विक,राजस, तामस तुमसे यह तीन प्रकार का जगत उत्पन्न हुआ है। जब इन तीनों से उपशम (इन्द्रिय विग्रह) हो तब कल्याण होवे। वासनाओं के नाश होने पर कर्म भी नाश हो जाते हैं। हे रामजी! चित्त का संसरण ही वासना है और कर्म-संसार माया मात्र है। यह नष्ट हो तो सब शान्त हो जाये। इसी के शान्त न होने से वासना से बँधे हुए जीव भ्रमा करते हैं। अतः तुम यत्न पूर्वक विचार रूपी शस्त्र से उसे काट दो। इस अविद्या की वास्तविकता के जब तक जीव नहीं जान लेता, अनेक दुःख भोगा करता है और संसार सत्य सा जान पड़ता है। पर जान लेने पर अत्यन्त सुख प्राप्त होता है। इसका सच्चा रूप जाना नहीं कि, संसार असार व असत्य प्रतीत होजाता है। ऐसा प्रतीत होने पर सत्स्वरूप स्वतः प्राप्त हो जाता है। हे रामचन्द्र! शिव-तत्व अनन्त रूप और निदु:ख रूप है, सब उसी भूततत्व से उत्पन्न हुआ है। जिस प्रकार जल से तरङ्ग और अग्नि से उष्णता होती है उसी प्रकार ब्रह्म से जगत होता है। उस ब्रह्म ने ही सबको आत्मा इत्यादिक नामों की कल्पना की है। और वास्तव में न तो कोई नाम है और न संज्ञा है। हे रामजी! वह पुरुष रागद्वेष से

श्रीगणेशायनमः

योगवासिष्ठ-भाषा

चौथा-

स्थिति-प्रकरण

पहला सर्ग

जगन्निराकरण—वर्णन

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! अब स्थिति प्रकरण सुनिए । इसके श्रवण करने से जगत निर्वाणता प्राप्त होती है । यह जगत अहंता भ्रान्तिमात्र और दृश्यरूप है । भ्रमवश चित्तमें स्थित हुआ है । इससे यह भावना मात्र है । जैसे गन्धर्व नगर और मृगतृष्णा का जल सत्यसा भासता है और असत्यरूप है, वैसे ही यह सङ्कल्पमय दृढ़ अनुभवतिक जगत सत्यसा प्रतीत होता है यद्यपि असत् रूप है । इसमें वास्तविकता कुछ नहीं है । यह अर्थ से रहित है जैसे लिखित चित्रकी कमलिनी सुगन्ध रहित होती है, वैसे ही शून्य रूप है । जैसे देखने में कदली खम्भ कितना सुन्दर जान पड़ता है, पर उसमें सार कुछ नहीं, वैसे ही यह जगत देखनेमें तो रमणीय भासता है । पर नितान्तही सार रहित है । यह सुनकर रामजी ने पूछा कि, हे भगवन् ! जब महाकल्पका क्षय होता है तब यह दृश्यमान जगत आत्मरूप बीज में जैसे बीज में अंकुर रहता है, जाकर लीन हो जाता है और फिर उत्पन्न तथा स्थित होता हुआ उसी में लीन होता है तो क्या यह सत्य है ? और जो यह बुद्धि है, वह ज्ञानकी है या अज्ञान की । कृपा मेरे

दूसरा सर्ग

स्मृति-बीज-वर्णन

हे रामजी ! यदि यह कहा जाय कि बीजांकुर के समान आत्मासे ही जगत उत्पन्न हुआ तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि आत्मा तो समस्त कल्पनाओं से रहित चैतन्य रूप आकाशवत् निर्मल है। फिर उसमें जगतका बीज कैसे मानाजाय, बीजांकुरतो किसी परिणामसे और समवायिकारण से होता है आत्मा में समवायि या निमित्त कोई कारण नहीं जो उसका सहायक हो। जैसे वन्ध्या-पुत्र का होना सम्भव नहीं, वैसे ही जगत का होना सम्भव नहीं। यदि आत्मा में उपरोक्त दोनों कारण भासित हों तो यह जानना चाहिये कि भ्रांति मात्र भास रहा है। सृष्टि से प्रलय पर्यन्त ब्रह्मसत्ता ही स्वतः स्थित है। जब ऐसा ही स्थित है तब कारण व कार्य का क्रम कैसे होगा। और जब यही नहीं होगा तब पृथिव्यादि भूत कहाँ से उत्पन्न होंगे। अस्तु न तो कोई कारण है और न कार्य है। यह जगत न कभी था न वर्तमान में है और न भविष्य में होगा। केवल विकास-सत्ता ही अपने आपमें स्थित है। जब ऐसे जगत का अभाव हो जाता है तब ब्रह्म दिखजाता है। पर जिसके हृदय में प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अन्योन्याभाव ऐसी त्रिगुणात्मिका भावना विद्यमान है, उसको शांति नहीं मिल सकती। क्योंकि इन तीनों भावनाओं से तो जगत् दृढ़ हो रहा है। यदि इसका अत्यन्त अभाव होवे तो शान्ति भी मिले। पर बिना युक्ति किये अभाव होना कठिन है। और जब तक इसका अभाव न होगा तब तक मुक्ति नहीं हो सकती। सूर्यादि से लेकर जितना कुछ प्रकाशमय पृथिव्यादिक तत्व और क्षण, वर्ष, कल्प इत्यादि जितने काल हैं, सब में हूँ, जगत तो केवल सङ्कल्प मात्र है। ब्रह्माण्ड, ब्रह्मा, विष्णु रुद्र और कीट पतङ्ग सहित जितना भी जग जन्मा है, वह बारम्बार उपजकर अन्तर्ध्यान हो जाता है और केवल आकाश में

इन सब संशयों को दूर करने के लिए स्पष्ट कहिए। वशिष्ठ जी बोले, हे रामजी! जो ऐसा कहे, वह बड़ा मूर्ख है। बीज तो दृश्यरूप इन्द्रिय का विषय होता है और वह आकाश से भी निर्मल है। फिर उसे जगत का बीज कैसे कह सकते हैं। बीज तो आकाश से भी अधिक सूक्ष्म, अत्यन्त उत्तम और अनुभवोपलब्ध, नित्य प्राप्त है। इस कारण उसको बीज भाव कहते नहीं बनता। क्योंकि वह तो शान्त सूक्ष्म, और सदैव प्रकाश करने वाली सत्ता है। उसमें दृश्य रूप जगत असत्य नहीं है, तब उसको जगत भी कैसे कहें। उसका रूप अत्यन्त ही सूक्ष्म है। उसमें दृश्य का विरोध है। जैसे सूर्य में अन्धकार नहीं, अग्नि में शीलता नहीं और अणु में सुमेरु नहीं होता, वैसे ही आत्मा में जगत् नहीं होता। क्योंकि आत्मा सत्य स्वरूप है। उसमें असत् रूप जगत कैसे हो? वह निराकार है और उसमें साकार रूप जगतका प्रवेश नहीं है। वह आत्मा है। अद्वैत है। इसके निकट अन्य वस्तु नहीं हो सकती। वह सदैव मन और इन्द्रियों से परे अविकृत रूप और निराकार है। उसका कर्ता, कारण कोई नहीं। वह आभाच्युत है, उसका कोई परिणाम नहीं। फिर वह जगत का कारण कैसे हो सकता है? इससे यह जगत अकारण भ्रान्ति करके भासता है और बिन स्वरूप में जागे इसका भ्रम नहीं मिट सकता। अतः कार्य और कारण आदिक भ्रमों का परित्याग कर तुम अपने स्वरूप में स्थित होवो। सङ्कल्पों की रचना तो दुर्बोधता से हुई है। उसको त्याग कर आदि मध्य और अन्त से रहितवाली सत्ता में स्थित होवो। तब जगद्भ्रम स्वयं ही मिट जायगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति-प्रकरण का पहला सर्ग समाप्त ॥ १ ॥

--::❀::--

कैसे? महा प्रलय उसका नाम है कि जहाँ अर्थों सहित समस्त शब्द निर्मल हो जायें और जहाँ सब निर्मल हो गया, वहाँ स्मृति किसकी? जब इस प्रकार स्मृति का अभाव हो गया तब कारण किसका होगा। इससे सब जगत चित्त का स्फुरण मात्र है। महा-प्रलय में बिना यत्न ही सब मोक्षभागी होते हैं। यदि ज्ञान हो तो जगत के रहते भी मोक्ष प्राप्त होता है। ज्ञान न होने से जगत दृढ़ होता है। निवृत्त होने से जगत का अभाव हो जाता है और स्वच्छ चैतन्य-सत्ता प्रकाशित होती है। वही आदि अन्तसे रहित है और वही जगत आदि सब रूप होकर भासती है। अनादि सिद्ध ब्रह्मतत्वही प्रकाशता है। उसमें जो आदि संवेदन का फुरना है वही ब्रह्मरूप है। अन्तवाहक शरीर ही विराट जगत होकर भासता है, उसका एक परमाणु ही यह तीनों जगत है। उसी अणु में देश, काल, क्रिया, द्रव्य और दिन रात्रि का क्रमरूपी जगत पड़ा फुरता है। यह क्या है, सब सङ्कल्प रूप ब्रह्मसत्ता का प्रकाश है। प्रबुद्ध एवं आत्मज्ञानीजनों को समस्त जगत ब्रह्माकृति ही जान पड़ता है पर जो अज्ञानी है उसके चित्त में तो जगत की अनेक भावनायें होती हैं और यह द्वैताभाव में पड़ा भ्रमा करता है। किन्तु यह उसकी बड़ी भूल है। केवल ब्रह्माण्डमें परमाणु सदृश अनन्त सृष्टियाँ ही अनन्त स्रष्टा और अनन्त स्रष्टा में अन्त सृष्टियांही फुरा करती हैं। वह सब ब्रह्मतत्व काप्रकाशहै। उसी परमाणु में अभिन्नरूप त्रिलोकी स्थित है। हे रामजी! जैसे सूर्य की किरणों की संख्या करनी सामर्थ्य के बाहर है, वैसे ही आदि अन्त से रहित जो आत्मरूपी सूर्य है और जिसमें त्रिलोकी रूप पर-माणु की संख्यायें हैं उनकी संख्या करनी सामर्थ के बाहर है। अस्तु आत्मा में असंख्य परमाणु सृष्टियाँ हैं और वह सृष्टियों को रखते हुए भी आकाशवत शून्य रूप है। वही आत्मा चिदाकाश जगतरूप है। हे रामजी! मैंने जो उन सृष्टियों का वर्णन किया है यदि तुम उनका अर्थ जगत शब्द से लगावोगे तो बड़े अज्ञानी कहलावोगे। पर

अनन्त वृत्तियाँ ही उठा करती हैं। जगतके आदि में यह शान्त-सत्ता जैसे थी वैसे ही अब भी जानों। हे रामजी ! इस चित्त की कला परमाणु के सहस्रांश के समान अत्यन्त सूक्ष्म है। उसमें सृष्टियां स्थित हैं और वही चित्त-सत्ता निज-स्फुरण से जगत रूप भासती है। अस्तु इस जगत को आत्मा ही में स्थित जानों और यह भी जानों कि यह निराकार, निर्विकार सत्ता अपने आप ही में स्थित है। उसका रूप उदय अस्त से रहित अत्यन्त विस्तृत है। इसमें शून्यरूप भी है जब ऐसा जानोगे तो समस्त कलङ्क कलना शान्त हो जावेगी। अतएव इसके अभाव के लिए, हे रामजी ! तुम ज्ञान भूमिका को प्राप्त होवो। ऐसा जागरण करने से शोक रहित पदको अवश्य ही प्राप्त होवोगे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति-प्रकरण का दूसरा सर्ग समाप्त ॥ २ ॥

—:-:-:—

तीसरा सर्ग

जगत की अनन्तता

इतनी कथा सुनकर रामजी ने पूछा कि, हे भगवन् ! यहाँ प्रलय के पश्चात् एवं सृष्टिके आदि में जब प्रजापति उत्पन्न होकर फिर सृष्टि की रचना करते ही हैं तब क्या यह जगत स्मृति का रूप नहीं हुआ ? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया,--हे रामजी ! यह मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि महाप्रलय में प्रजापति तो रहते ही नहीं, तब जब वह स्वयम् ही नहीं हैं तब उनकी स्मृति कहाँ ? रामजी ने कहा--हे मुनि ! जगत के आदि में जिन ब्रह्मा ने इस जगत की रचना की थी उसकी स्मृति का नाश नहीं होता, सुषुप्ति से उठे की नाईं वही फिर उनकी स्मृति करके जगत को रचता है तभी वह बनता है। फिर आप कैसे कहते हैं कि नहीं बनता ? वशिष्ठजी बोले, हे महामते रामजी ! महाप्रलय में तो सभी ब्रह्मादिक निर्वाण हो जाते हैं। फिर उनकी स्मृति कहाँ ! जब स्मृति ही निर्मूल है तब वह जगत का कारण

ही मन है और मन ही जगत है। दोनों ही परस्पर एक रूप हैं जब इन दोनों में एक नष्ट हो तो जगत भी नष्ट हो जायगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति-प्रकरण का चौथा सर्ग समाप्त ॥ ४ ॥

:--::--::--:

पांचवाँ सर्ग

भार्गव संविद्गमन

इतनी कथा सुनकर रामजी ने-'मनके फुरने से जगत कैसे फुरता है'-यह प्रश्न वशिष्ठजी से किया। तब वशिष्ठजी कहने लगे कि, हे रामजी! जैसे इन्द्र ब्राह्मण के दशों पुत्र दश ब्राह्मण हुए और राजा लवण की इन्द्रजालिक माया से मनके स्फुरण द्वारा चाण्डाल की प्रतिमा दृढ़ होकर भासित हुई, वैसे ही यह जगत मनके फुरने से ही स्थित हुआ है। भार्गव शुक्र भी तो मनके स्फुरण से ही चिरकाल पर्यन्त स्वर्ग भोगते हुये दूसरे अनेक भ्रमों को देखते रहे। वह भी तो मनके दृढ़ भ्रम से ही भासित हुआ। ऐसे ही मन की भ्रमता से यह जगत स्थित हुआ है। वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजी ने भृगु ऋषि और उनके पुत्रों का वृतान्त सुनने की इच्छा प्रकट की। तब वशिष्ठ जी ने कहा, भृगु, और शुक्रजी दोनों मंदराचल पर्वत पर घोर तपस्या किये थे। एक समय ऐसा हुआ कि भृगुजी अपनी तपस्या में लीन थे और शुक्रजी वहीं टहल रहे थे कि भृगुजी को देखकर शुक्रजी भी एकान्त में जा बैठे। उस समय शुक्रजी विद्या और अविद्या के मध्य में विचर रहे थे कि राजा त्रिशंकु विश्वामित्र के वरदान से स्वर्ग में जा पहुँचा। तब उसको चाण्डाल समझ कर देवताओं ने निरादर कर स्वर्ग से गिरा दिया। पर विश्वामित्र ने अपने योगबल से उसे आकाश और पृथ्वी के बीच में ही रोक दिया और गिरने न दिया तब वह आकाश के मध्य में ही स्थित होगया। इतने में एक अप्सरा भी स्वर्ग गमन करने लगी। शुक्रजी उसको बड़े ध्यान से मानो विष्णु लक्ष्मी को देख रहे हों-उसकी ओर देखने लगे। तब

उनका अर्थ ब्रह्म-शब्द से जानोगे तो ऐसी बुद्धि से परमसार को प्राप्त होवोगे।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा स्थिति-प्रकरण तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥

—❀—

चौथा सर्ग

बीजांकुर वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! इन्द्रियों को जीतना ही, मोक्ष का कारण है। अन्यथा किसी भी उपायसे इस संसारको पार नहीं किया जा सकता। सत्सङ्ग व सच्छास्त्र के विचार से जब आत्मज्ञान हो तभी इन्द्रियों पर विजय मिलती है और तभी जगत का अभाव होता है। जगत का अभाव न हो तो आत्मबोध नहीं होता। इसी क्रम से संसार सागर से तरा जा सकता है। विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है समस्त कर्मों का वीज मन है। मन के कष्ट होने से ही जगत नष्ट होता है। क्योंकि यह सर्व जगत मनका ही रूप है। इससे मनोभाव का ही यत्न करना चाहिये। मलिन मन जन्म समूहों को उत्पन्न करता है। इस पर विजय मिले तो जानों समस्त लोकों पर विजय मिलगई। कारणकि जगत तो मनसे ही है।मनसे ही शरीर उत्पन्न हुआ है। दृश्यों का अभाव होने से मन मृतक हो जाता है। इसमें अन्य यत्न कुछ नहीं है। इस भवरूपी पिशाच को नष्ट करने के लिए दृश्यों का ही अभाव करना चाहिये। इसके लिए जगत की अभावता का चिंतवन करना और आत्माभ्यास करना ही परम औषध है। इस उपाय से द्रष्टा नष्ट हो जायगा। अन्यथा मन के विना नष्ट हुए जन्म-मरण और मोह प्राप्त होता ही रहेगा। पर यदि मन बन्धनों से मुक्त हो जाय तो समझना चाहिये कि, ईश्वर बड़ा प्रसन्न है। जिस प्रकार तिलों में तेल है, पुष्प में सुगन्ध है, और धर्मात्माओं में कर्म है, उसी प्रकार सत, असत, स्थूल, सूक्ष्म, और कारण-कार्य रूपी जगत मन में ही विद्यमान है। जगत

छटवाँ सर्ग

भार्गव सङ्गम विविध जन वर्णन

इस प्रकार इन्द्र के पास बैठे एक घड़ी का समय व्यतीत हुआ तब अप्सरा के ध्यान में मग्न शुक्र-मुनि व्याकुल होकर उठ खड़े हुए और स्वर्ग को देखने चले। देवगण उनके साथ होलिए। उस समय मुनि को पर्वत वाले शरीर का विस्मरण होगया था और वासना युक्त मनोराज का शरीर साथ था। स्वर्ग स्थानों को देखते २ मुनि शुक्र वहाँ पहुँचे जहाँ परम सुन्दरी अप्सरायें बास करती थीं। वहां की रचना और उन चन्द्रमुखियों को देखते ही महामुनि शुक्रका काम बाण से व्यथित होकर हृदय व्याकुल हो गया। वह अप्सरा भी वहां बैठी थी। मुनिको देखते ही वह भी स्नेह युक्त कातर होगई। तब मुनिने मन से तम रचा जिससे समस्त स्थानों में अन्धकार छा गया। सूर्यका नितान्त अभाव होगया। समस्त भूत व पशु पक्षी तक अपने अपने स्थानों में चले गए। तब वस्त्राभूषणों से सुसज्जित अप्सरा शुक्र मुनि के पास पहुँची। मुनि तो उसकी बाट देख ही रहे थे कि आते ही अपने श्वेत आसन और चरणों के निकट बिठालिया। यद्यपि काम बाण से दोनों ही व्यथित हो रहे थे कि, अप्सरा ने मुनि से कहा, हे नाथ! मुझको कामदेव महा दारुण कष्ट दे रहा है। मैं निर्बल होकर आपकी शरण में आई हूँ, मेरी रक्षा कीजिए। हे साधो! स्नेह रूपी रसको सब नहीं जानते, वही जान सकता है जिसे प्राप्त हुआ हो। दो स्नेहियों के सुख के समान तीनों लोक के सभी सुख व्यर्थ हैं। सो हे मुने! मैं आपको पाकर परम आनन्दवान हुई हूँ। आप भी मुझे पाकर आनन्दित होंगे। अप्सरा के ऐसा कहते ही मुनि काम के वशीभूत होकर क्रीड़ा करने और अनेक प्रकार से अमृत पान करने लगे। कभी नन्दन वन, कभी मन्दरा व कल्प वृक्ष के नीचे और कभी कैलाश पर्वत तथा विद्याधरों के स्थान में

उस महा सुन्दरी, सुगन्धराशि अप्सरा को देखकर शुक्रजी अत्यन्त मोहित हो गए और कामदेव के वाण से विंध गये। उनका नेत्र मुँद गया। वह विचारने लगे कि इस मृगनयनी का मेरा साथ हो जावे तो वड़ा अच्छा हो। ऐसा विचार वह कर उसके पीछे २ चले तो स्वर्ग में पहुँचकर उन्होंने कल्पतरु, सुवर्ण मय देवताओं तथा मृगनयनी स्त्रियों के स्वरूप और मणियों के ढेर का ढेर देखा। विश्व की जैसी उपमा है स्वर्ग में भी दिखलाई पड़ी। वहाँ मन्दर–वृक्ष की मञ्जरियाँ प्रफुल्लित थीं। मन्द-मन्द पवन चल रहा था और अप्सरायें नृत्यकर रही थीं। यह देखते हुए इन्द्र-भवन में गये तो क्या देखाकि मदमस्त ऐरावत हस्ती झूम रहा है, सौने के कमलों का वृक्ष लगा हुआ है गङ्गा का प्रवाह चल रहा है, देवगण विचर रहे हैं, लोकपाल यथास्थान विराजमान हैं। यम, चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, वायु, अग्नि लोकपाल महा ज्वालवत प्रकाश युक्त यथास्थान बैठे मंडरा रहे हैं। विमानों की पंक्तियाँ विचर रही हैं, नन्द वन में अप्सरायें आलाप रहीं हैं अप्सरायें इन्द्र की सेवा में तत्पर हैं इत्यादि–ऐसी स्वर्ग-रचना को शुक्रजी ने मनसे देखा। इतने में शुक्रको पहुँचा हुआ देख कर इन्द्र ऐसे उठ खड़े हुए मानों दूसरे भृगुमुनि जा पहुँचे हों। तव इन्द्र ने नम्रतापूर्वक प्रणाम कर शुक्र जी को अपने पास वैठा कर कुशल पूछी और कहा, महाराज! आपका आगमन हमारे अहोभाग्य का शुभ सूचक है। अव कृपाकर चिर पर्यन्त आप यहीं स्थित होइए। इतने में देतवाओं ने भी पहुँच कर भृगु–पुत्र शुक्रजी को प्रणाम किया और शुक्रजी निज मन से इन्द्र के पास जा वैठे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति–प्रकरण का पांचवां सर्ग समाप्त ॥ ५ ॥

:: ❀ ::

रूपी शरीर वासना युक्त हुई। फिर ब्रह्मा की रात्रि क्षय होने पर दिन हुआ अर्थात् ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना की। तब वह एक मुनि के यहाँ उत्पन्न हुआ और बड़ा तप किया और एक मन्वन्तर तक सुमेरु पर्वत पर तप करता रहा। फिर इकहत्तर चौयुगी व्यतीत होने पर भोगवश वह हरिणी का पुत्र हुआ और मनुष्य के आकार में रहा। फिर पुत्र-स्नेह में पड़ धन, गुण और आयुर्बल की चिन्ता करने लगा। तपक्षीण होने से निज धर्म से गिर गया जिससे आयु भी क्षीण होगई और सर्प के काटने से शरीर छूट गया। तब भोग की अभिलाषा से मद्र देशके राजा के घर जन्म लिया और राज्य करने लगा। बहुत दिनों तक राज्य करने पर शरीर जर्जर होगया और तप की अभिलाषा में शरीर छूट गया। अभिलाषा वश तपेश्वर के गृह में उत्पन्न हुआ और तब गङ्गाजी के तट पर जाकर तप करने लगा। इस भांति मन के फुरने से शुक्र ने अनेक शरीरों को भोग किया।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का छटवां सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥

❀-❀-❀

सातवां सर्ग

काल-वाक्य

इस प्रकार मनकी भ्रमना से शुक्र मुनि अनेक जन्मों में भ्रमते रहे। पर जब मुनीश्वर के गृह में जन्म लिए तब उनको विश्राम मिला और तप करने लगे। तप से उनका शरीर सूख गया और वे परम आनन्दित होगये। फिर तो उनके शरीर को कोई नष्ट नहीं कर सकता था। इस भाँति जब उनका सहस्र वर्ष और भूलोक का तीन लाख साठ सहस्र वर्ष व्यतीत हुआ तब भृगु मुनि समाधि से जागे तो क्या देखते हैं कि पुत्र शुक्र नहीं हैं। उन्होंने ध्यान करके देखा तो ज्ञात हुआ कि उसका शरीर कृश होकर गिर पड़ा है काल ने भक्षण कर लिया है और अब तपस्या से जर्जरीभूत होने के पश्चात् नेत्रों में गढ़े पड़ गये हैं, शरीर में कीड़े रेंग रहे हैं और ऐसे अन्य जीवों ने उसमें अपना घर बना लिया है।

जा-जाकर मुनि क्रीड़ा करते थे। इस भांति बत्तीस युग पर्यन्त जब तक पुण्य बना रहा मुनिने वहाँ निवास कर आनन्द किया। पुण्य क्षीण होने पर दोनों भू-लोक को गिरा दिए गये। गिरते ही उनका शरीर टूट गया और अन्तर्ध्यान होगया। तब वासना संयुक्त दोनों चन्द्रमा की किरणों में जा स्थित हुए। फिर शुक्रने किरणों के द्वारा धान्य में आकर निवास किया। उस धान्य को दशारण्य नामक ब्राह्मण ने भोजन किया जिससे वीर्य बनकर उसकी ब्राह्मणी को गर्भ रहा और समय पर उसको शुक्र-पुत्र उत्पन्न हुआ। उसी धान्य को मालव देश के राजा ने ग्रहण किया जिससे रानी गर्भवती हुई और उसके गर्भ से अप्सरा कन्या होकर उत्पन्न हुई। बाल्यावस्था से ही उसे अपने पूर्व पति को प्राप्त करने की लालसा लगी। वह नित्य पूजाकर यही वर मांगेकि एक बार मेरा पूर्व पति मुझे मिले। समय पर राजाने उसके ब्याह के लिए स्वयम्बर किया। देश-देश के राजा ऋषि मुनि ब्राह्मण एकत्रित हुए। दशारण्य ब्राह्मण भी अपने पुत्र सहित पहुँचा था। स्वयम्बर भूमि में पहुँचने पर कन्या ने उसके पुत्र को देखा। देखते ही वह मोहित होगई और पूर्व प्रेम के स्मरण से कातर हो उसके नेत्र अश्रुमय हो गए। फिर तो उसने झट ब्राह्मण-पुत्र के गले में जयमाला डालकर अपना पति बना लिया। तब राजा उसी के साथ कन्या का ब्याह कर स्वयम् वनको चला गया। दोनों मालव देश का राज्य करने लगे। जब दोनों वृद्ध हुए तब उनको वैराग्य हुआ। पर शरीर जर्जर होने पर तृष्णा लगी रही। मरणोपरान्त ज्ञानहीन होने से दोनों नरक में पड़े। फिर कर्मानुसार सुख दुःख भोगकर अङ्गवङ्ग देश में धीवर होकर धीवर कर्म करता रहा। वृद्ध होने पर वैराग्य हुआ और सूर्य भगवान का तप करने लगा। तब वेद पढ़ते और योग करते उसका शरीर छूटा तो वह एक बड़ा गुरू हुआ और सबको मन्त्रोपदेश करने लगा। फिर विद्याधर हुआ। कल्प का अन्त होने पर उसका शरीर अन्तर्ध्यान होगया और उसकी पवन

कर्तव्य और भोक्तव्य भासता है। अन्यथा कुछ नहीं। सब मिथ्या है। अतः आप क्रोध न कीजिए। समस्त आपदाओं का कारण यह दुष्ट कर्म है। यह मैं अपने अभिमान से नहीं कह रहा हूँ बल्कि यही ईश्वरीय नीति है हम उसी नीति में स्थित हैं। बोधवान पुरुष अभिमान में नहीं विचरते। बाहर से प्राकृत आचार करते हैं, पर भीतर से सुषुप्ति की नाईं स्थित रहते हैं। फिर आप अन्धों की भाँति मोह मार्ग में क्यों जाते हैं। आप तो त्रिकालदर्शी हैं। फिर अविचारी और मूर्खोंकी भाँति जगत यन्त्र में क्यों जा रहे हैं। आपका पुत्र तो अपने कर्मानुसार फल को प्राप्त हुआ है। तिस पर आप मूर्खों की भाँति मुझे शाप देना चाहते हैं। हे मुने! इस लोक में जीवों का शरीर दो प्रकार का होता है। एक मन रूप, दूसरा अधिभूत रूप। अधिभूत शरीर जड़ और अविनाशी है। मन इसका प्रेरक है। बिना मन के यह स्वयं कुछ नहीं कर सकता। जैसे सारथी अच्छा हो तो रथ अच्छे मार्ग से जाय और सारथी अच्छा न हो तो रथ को अच्छा मार्ग न मिले, वैसे ही मन को जानना चाहिये। मन शरीर का सारथी है। मन जिसको सत् करे, वह सत् है जिसको असत् करे, वह असत् है। हे साधो यह चित्त पुरुष है। इसी के करने से सब कुछ होता है। देह, नेत्र और अङ्ग इत्यादि जो कुछ फुरना है, सब मन का ही रूप है। जीवों को हो मन कहते हैं। उसी मन के निश्चयात्मक वृत्ति का नाम बुद्धि है। वही बुद्धि जब अहङ्कार का शरीर का स्मरण करती है। तब उसको चित्त कहते हैं। इसका कोई अन्य शरीर नहीं है। भावनाओं की दृढ़ता से मन ही शरीर का रूप होकर आधिभौतिक शरीर होता है। शरीर की भावनाओं का त्याग करने पर परम पद मिलता है। समस्त जगत् केवल मन के फुरने में ही है। यह जैसा फुरता है, वैसा ही जान पड़ता है। आपके पुत्र शुक्र ने भी मनके फुरने से अनेक स्थान देखे हैं।

मक्खियाँ आती जाती हैं। श्वेत दांत ऐसे निकलते हैं, मानों उसके शरीर को देखकर हँस रहे हैं। पुत्र के शरीर की ऐसी दशा जान भृगु मुनि को बड़ा क्रोध आया। वह आसन पर खड़े होगये और क्रोधित होकर बोले--मेरा पुत्र महातपस्वी था। वह सृष्टि पर्यन्त मेरे पास रहने वाला था। काल ने बिना समय आए ही उसे कैसे मार डाला। हे काल! अब मैं शाप देकर तुझे भस्म कर दूँगा। मुनि के ऐसा क्रोध करने पर काल शरीर धारण कर षटमुख, षटभुज, खड्ग, त्रिशूल ज्वाजल्यमान मुख व कानों में मोती पहने, फाँसी लिए, श्याम शरीर, अग्नि की लपटों से संयुक्त मुनि के समीप चला। जहाँ वह चरण रखता था वनों व पर्वत सहित पृथ्वी कांपने लगती थी। तब मुनि के निकट पहुँच उसने कहा--हे मुने! परमात्मवेत्ता जन क्रोध नहीं करते फिर आप बिना कारण ही क्रोध और मोह के वशीभूत क्यों होते हैं। यदि आप ब्रह्म पुत्र और तपस्वी हैं तो मैं नीति का पालक हूँ। इससे आप हमारे पूज्य हैं। तपके बल से क्षोभ न करें। फिर आप मुझे भस्म भी नहीं कर सकते। यही नहीं, प्रलयाग्नि भी मुझे दग्ध नहीं कर सकती। फिर आपके शाप से मैं कैसे भस्म होऊँगा। हे मुनिजी! मैं तो अनेक ब्रह्माण्डों को भक्षण कर चुका हूँ और न जाने कितने ब्रह्मा विष्णु और रुद्र को भी मैंने ग्रह लिया है। फिर आपका शाप मेरा क्या कर सकता है? ईश्वरीय नियम टल नहीं सकता। हम सब के भोक्ता हैं आप ऐसे कितने ही ऋषि हमारे भोगे हैं। हे मुने! भोक्ताही को भोग प्राप्त होता है यही विधिका विधान है। पर निष्कलंक ज्ञान-दृष्टि से देखिये तो भोक्ता, कारण और कार्य कुछ नहीं है। केवल अद्वैत सत्ता ही वर्तमान है। कर्ता भोक्ता तो अज्ञान से भासते हैं। सम्यक ज्ञान होवे तो कोई नहीं रहता। समस्त भूतों की नष्टता और स्फुरता स्वभाव से ही है। ब्रह्मा भी फुरने से ही सृष्टि की रचना करता है। इसी प्रकार, मन के फुरने से आत्मा में

क्रोध किया था, परन्तु जब आपने विचार करके स्मरण कराया तब मैंने विचार करके देखा तो मेरा पुत्र गङ्गा के किनारे तपस्या करता हुआ मुझे दिखाई पड़ा। हे भगवन्! अभी आपने यह कहा है कि मन के दो शरीर हैं। पर मुझे तो एक ही दिखलाई पड़ता है। मन ही जो कुछ करता है सफल होता है शरीर का किया नहीं सफल होता। कालने कहा, हे मुने! आपने ठीक कहा है कि मन का ही किया सफल होता है, शरीर का नहीं। यद्यपि मन शरीर से रहित और निराकार है तथापि क्षण में आकार को रच लेता है। मन में जो स्फुरण सत्ता है, वही भ्रम दिखलाती है और उसी में बड़े आकार युक्त गन्धर्व नगर भास आता है। पर वह मन ही सत्ता है। स्थूल दृष्टि से जीवों को दो शरीर भासते हैं। बोधवानों को तो तीनों जगत मन की रचना से ही मनका रूप भासते हैं। भेद वासनाओं से ही असत्यरूप जगत् नाना प्रकार से भासता है। जैसे अज्ञानी को आकाश में दो चन्द्रमा भासते हैं वैसे ही ज्ञानी को चन्द्रमाके समान शान्तरूप आत्मा ही भासता है, और भेद भावना से घर वन इत्यादि अनेक पदार्थ भासते हैं। पर सब वासना मात्र है। मन शरीर की वासना को त्याग कर परमार्थ की ओर आवे तो भ्रम को न प्राप्त हो। हे मुने! समुद्र से उठकर तरङ्ग ऊपर को जाते हैं यदि ऐसा जाने तो बड़ी मूर्खता है। यही अज्ञान दृष्टि है। इसमें वास्तविकता नहीं है। जल रूप जानना ही वास्तविकता है। आत्मा में अनेक आकार से जगत् भासता है पर वास्तव में दूसरा कुछ नहीं, ब्रह्म सत्ता ही समस्त शक्तियों का रूप है। उससे विचित्रता व चंचलता भासती है। पर वह सदैव एक रूप से अपने आप में स्थित है। यह जगत् ब्रह्म में ही फुरता है और ब्रह्म में ही लीन होता है। एक आत्मा अनेक शक्तियों को धारण करता है जैसे एक रङ्ग मेघ में अनेक रङ्ग का इन्द्र धनुष भासता है, वैसे ही यह अनेक भ्रम पाता है।

यह कहकर काल ने शुक्र का अप्सरा के मोह में पड़कर स्वर्ग में जाने और अनेक स्थानों में विचरने को समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। उसे सुनकर भृगु मुनि चुप हो गये।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति-प्रकरण का सातवां सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥

--::❀::--

आठवां सर्ग

संसारावर्त वर्णन

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! काल के ऐसा कहने पर भृगु मुनि ने ध्यान धरकर देखा तो अपने पुत्र का आद्योपान्त वृत्तान्त ज्ञात होकर यह प्रतीत हो गया कि, वह इस समय गङ्गा के तट पर तपस्या कर रहा है। फिर तो भृगु मुनि का वह प्रचण्ड क्रोध शान्त होगया और काल भगवान् से बाल रूप होकर नम्र वाणी में बोले—हे भगवान्! आप समस्त जीवों की वार्ता को जानने वाले हैं। मैंने भ्रमवश पुत्र के लिए ऐसा क्रोध किया था। पर मेरा क्रोध किसी आपदा का कारण नहीं था। मैंने पुत्र के शरीर को निर्जीव देखकर कहा था। उसके मृतक होने का कारण न था। हे भगवान! क्रोध भी नीति रूप है। क्रोध--स्थान में क्रोध करना परम आवश्यक है। फिर मैंने संसारिक गति एवं पुत्र की अवस्था से तो क्रोध किया नहीं था, मैंने तो उसके निर्जीव शरीर को देखकर क्रोध किया था। इसी से मेरा यह क्रोध आपद्‌जनक नहीं है। क्रोध दो प्रकार का होता है। अयुक्ति और युक्ति। अयुक्ति कारण का क्रोध आपदा का कारण है और युक्ति कारणका क्रोध सम्पदा मय है यह कर्तव्य संसार की सत्ता में स्थित है। यह नीति है कि, जब तक जीव है तब तक जगत् का भी क्रम रहेगा। जैसे जब तक अग्नि है, तब तक जगत् क्रम है। जो कर्तव्य है वह करना है और जो त्यागने योग्य है वह त्यागना है। यही नीति जगत् में स्थित है। इसी कारण पुत्र की अकाल मृत्यु देखकर मैंने

हैं सब से ब्रह्म भिन्न रूप और सत् है । 'मैं ब्रह्म नहीं'—ऐसा जानना तो जीव के सङ्कल्प का कलङ्क है। ऐसा ही निश्चय तो मोहित करने वाला और अधोगति को पहुँचाने वाला है। उस शुद्ध ब्रह्म का संवित एवं कम्पायमान होना ही कलंकित रूप कर्म का बीज है। जैसा बीज मिलता है वैसे २ रस को प्राप्त होता है। पर यह संकल्प से कलंकित होना ही अनेक दुःखों का कारण है। फिर ऐसे प्रमादरूप कर्मकञ्ज के बीज को बोकर दुःख क्यों न प्राप्त हो यह जगत् आत्मरूप समुद्र की तरङ्ग है कोई ऊपर को उठती है और कोई नीचे की ओर जाती है और फिर लीन हो जाती है। ब्रह्मा से तृण पर्यन्त सबका यही धर्म है। मन का स्पन्दित होना पवन का धर्म है। उस पवन में कोई निर्मल पूजनीय ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रादि हैं पर कुछ मोह संयुक्त देवता, मनुष्य और सूर्यादि भी अनन्त मोद में स्थित हैं। इस भांति सत्सङ्ग और सत्शास्त्रों को पाकर भी कुछ माया के व्यवहार में बह जाते हैं और यमरूप सर्प उनको काटता है। तात्पर्य यह है कि, प्रमाद वश जीव अनेक दुःखों को भोगता है। आत्मज्ञान हो तो आपदाओं से मुक्ति मिले और शान्ति प्राप्त हो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, स्थिति-प्रकरण का नवां सर्ग समाप्त ॥ ९ ॥

-::-❀-::-

दसवां सर्ग

काल वाक्य

काल ने कहा—हे मुने! संसार की समस्त भूत जातियाँ आत्म-समुद्र की लहरों के समान हैं। एक से ही अनेक विचित्र विस्तार को प्राप्त हुआ है। किन्तु जिन भूतों ने मन पर विजय लाभकर ब्रह्मका दर्शन किया है वे निःसन्देह जीवन्मुक्त हैं। हे मुनिजी! जीवों की तीन श्रेणियाँ हैं। अज्ञानी जिज्ञासु और ज्ञानवान ? अज्ञानी को शास्त्र-श्रवण में कुछ भी रुचि नहीं रहती। जिज्ञासुओं के लिये ज्ञानियों ने शास्त्र की रचना की है। ज्ञानी वह है जो उन पर विचार

समस्त ब्रह्म से फुरा है। जड़ पदार्थ भी उसी चेतन सत्ता से स्फुरित हुए हैं। जैसे मकड़ी अपने मुख से जाला निकाल कर अपने को ग्रस लेती है, वैसे ही चैतन्य से जड़ होकर उसी में लीन होजाते हैं। आखिर चैतन्य जीव से ही तो सुषुप्ति रूपी जड़ता उत्पन्न होती और फिर उसी में लीन हो जाती है। फिर यह पुरुष अपनी इच्छा से बन्धनवान और मुक्त हो तो क्या आश्चर्य ? ईश्वर की शक्ति बड़ी विचित्र है। जैसी शक्ति फुरती है, वैसा ही रूप देख पड़ता है। इससे जीव को बन्ध और मोक्ष कुछ नहीं है। यह तो दोनों ही भ्रांति मात्र है। मैं तो जानता ही नहीं कि बन्ध और मोक्ष भी लोक में कहीं से आये हैं। खेद है कि सत्रूप आत्मा को असत्य ने ग्रस लिया है। यह क्या कम आश्चर्य है कि, दुःख-सुख और मोटा-दुबला होना ही जगत् को मोहित किये हैं ? हे मुनीश्वर ! बन्ध और मोक्ष दोनों ही मन की शक्ति हैं। मन जैसा फुरता है, वैसा ही रूप भासता है। आत्मा ही से अनेक शक्तियाँ और अनन्तरूप है। सब की उत्पत्ति आत्मा से है और सब आत्मा ही में स्थित हैं। वह परमात्मा महा समुद्र का रूप है। चेतना उसका जल है। उसी से जीवरूपी अनेक तरङ्ग उत्पन्न और स्थित होते हुए उसी में लीन हो जाते हैं। उसी में कोई २ तरङ्ग ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र होकर प्रकाशते हैं और कोई तरङ्ग प्रमाद से रहित, यम, कुबेर, इन्द्र सूर्य अग्नि, मनुष्य, देवता, गन्धर्व, विद्याधर, यक्ष और किन्नर आदिक रूप होकर उत्पन्न होते और लीन हो जाते हैं। अस्तु यह संसार स्वप्नारम्भ है, पर दृढ़ होकर भास रहा है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, स्थिति-प्रकरण का आठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८ ॥

—:❀:—

नवां सर्ग

उत्पत्ति विस्तार-वर्णन

इस भांति संसारावर्त का विशद वर्णन कर चुकने पर काल ने भृगु मुनि से कहा—हे मुनीश्वर ! देव, दानव और मनुष्य जितने

कालको उन्होंने समझा कि, यह दोनों विष्णु और शिवजी हैं। तब उनको एक शिला पर बैठकर शुक्र ने बड़ी बन्दना की और पूछा कि हे ऋषीश्वरो ! आप कौन हैं आपके आगम से मेरा स्थान पुनीत होगया। आप यहा ऐश्वर्यमान सूर्य हैं या चन्द्रमा अथवा आप कौन हैं। पुत्र की ऐसी वार्ता सुनकर भृगुजी कहा,–हे साधो ! अपने को स्मरण कर कहो कि तुम कौन हो ? अज्ञानी या प्रबुद्धात्मा ? तब शुक्र मुनि ने नेत्र मूँदकर ध्यान किया तो उन्होंने अपना सब वृतांत ज्ञात होगया। वह आश्चर्य में होकर कहने लगे,– ईश्वर की गति बड़ी विचित्र है। भ्रम वश मैंने अनेक जन्मों में भ्रमण किया। महान् आश्चर्य है कि, मैंने बहुत दुःख और अनेक अवस्थाओं का भोग किया। ऐसा कोई कार्य नहीं जो मैंने न किया हो। इष्ट, अनिष्ट, स्वर्ग, नर्क सब कुछ मुझे देखना पड़ा। यह सब देख लेने पर ही मुझे विश्राम मिला और मेरा सङ्कल्प भ्रम नष्ट हुआ।' हे पिताजी ! अब आप वहाँ चलिये जहाँ मन्दराचल पर्वत पर मेरा शरीर पड़ा है। यद्यपि मुझे अब कुछ इच्छा नहीं है। न हेय है, न उपादेय है। तथापि नीति रचना के अनुसार कहता हूँ। फिर आपकी जैसी इच्छा हो वैसा कीजिए। पर बुद्धिमान जनको प्रकृति आचार में अवश्य विचरना चाहिए।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति–प्रकरण का ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ ११ ॥

:--::---::--:

बारहवाँ सर्ग

भृगु काल समागम

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी ! पुत्र शोक की बात सुनकर भृगु मुनि काल और शुक्र को साथ लेकर आकाश मार्ग से बड़े २ मेघ मण्डलों को पार करते हुए मन्दराचल पर्वत पर अपनी स्वर्ण कन्दरा में जा पहुँचे। तब वहाँ शुक्रने जो अपने पड़े और सूखे शरीर से स्वर्ग सुख का उपभोग किया था, कह सुनाया। शुक्र ने कहा, हे पिताजी ! यह वही शरीर है जो देवाङ्गनाओं से मिला और अनेक

कर मोह से निवृत्त होता है। पर मूर्ख अज्ञानियों को तो मोह व तृष्णा ही अधिक होता है। ऐसे ही मूढ़ अन्ध कूप में गिरते हैं। समस्त भूत जातियों के सुख दुःख का कारण यह मन रूपी शरीर है। मन जैसा फुरता है वैसा गति को प्राप्त होता है, शरीर से नहीं? क्योंकि आदिभौतिक शरीर को मन रूपी सङ्कल्प ने ही रचा है। अस्तु, हे मुने! आपके पुत्रने मनरूपी शरीर से जो किया उस गतिको प्राप्त हुआ, उसमें मेरा क्या अपराध है। अपनी वासना के अनुसार जो जैसा करता है, पाता है, आपका पुत्र जैसी २ तीव्र भावना में फुरा वैसी २ गति को प्राप्त हुआ, विशेष क्या कहूँ। अब उठिए आपका पुत्र जहाँ है वहाँ चलिए। यह कहकर वाल्मीकिजी बोले कि, हे भारद्वाज? जब काल ने ऐसा कहा तब दोनों जगत की गति को समझ हँसकर उठ खड़े हुए और एक दूसरे का हाथ पकड़ कर कहने लगे, ईश्वर की नीति आश्चर्य रूप है जो जीवों को अनेक भ्रम दिखलाती है। ऐसा कहकर वहाँ से चल दिये। इतनी कथा सुनकर वशिष्ठजी ने सूर्य को अस्त होते देखकर सभा को विसर्जन किया और सब लोग अपने २ स्थान को उठ गये। दूसरे दिन सूर्य के उदय होते ही फिर निज आसनों पर आ बैठे

श्री योगवाशिष्ठ भाषा—उत्पत्ति—प्रकरण का दसवां सर्ग समाप्त ॥ १० ॥

ग्यारहवाँ सर्ग

शुक्र जन्मान्तर-वर्णन

इस भाँति काल और भृगु मुनि पर्वत से उतर कर गङ्गा तटपर अपने पुत्र के निकट पहुँचे। वहाँ पहुँच कर मुनि ने क्या देखा कि, पुत्र शुक्र समाधि लगाये पड़े हैं। तब कालने उनको जगाया। कल्पना में फुरने और बादल के शब्द से जैसे मोर जागे वैसे ही शुक्रजी आँखें मींचते हुए उठ बैठे तो क्या देखते हैं कि भृगु मुनि सामने ही खड़े हैं। पर पिता को देखकर भी पहिचान न सके। पिता और

ज्यों का त्यों है। अज्ञानी बाहर से क्रियाओं को भले ही त्याग दे पर तिस पर भी वह बन्धन में ही रहता है, किन्तु क्रियाओं को रखते हुए भी ज्ञानी मोक्ष रूप है। उसको कर्म का बन्धन नहीं। क्योंकि बाहर से वह चाहे जैसा व्यवहार करे पर हृदय से अद्वैत ज्ञान युक्त है। हे रामजी! तुम भी बाहर से सब कार्य करो पर अन्तःकरण से शून्य रहकर सर्व ईषणाओं से रहित आत्मपद में स्थित हो जावो। इसी भांति अपना प्राकृत व्यवहार करो। नहीं तो इस आधि व्याधि और अहं ममता रूपी संसार में गिरकर गोते खाओगे। अतएव संसार के भावों में न स्थित होकर शुद्ध बुद्ध आत्मभाव में स्थित होवो ऐसे ब्रह्म, शुद्ध, सर्वात्मा, निराकार निर्विकार और आत्म पद में स्थितजनों को मेरा नमस्कार है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, स्थिति—प्रकरण का बारहवां सर्ग समाप्त ॥ १२ ॥

-::-❀-::-

तेरहवां सर्ग

भृगु देह परिवर्तन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! शुक्र मुनि की ऐसी वार्ता और प्रथम शरीर में त्याग बुद्धि देखकर काल भगवान ने शुक्र से कहा—हे मुने! हम आप की इस वार्ता को नहीं मानते। आप को भृगु-पुत्र के शरीर में प्रवेश करना चाहिये। जैसे कोई राजा अनेक देशों में भ्रमण कर अपने नगर में आ जाता है वैसे ही आप भी इस शरीर में प्रवेश करें। कारण कि भार्गवतन से आपको असुरों का गुरु होना है। परमात्मा के नियमानुसार अभी आपको इस शरीर से महाकल्प तक जीवित रहना होगा। इसके प्रथम आप भार्गव शरीर का परित्याग नहीं कर सकते। वह समय अभी बहुत दूर है जब प्रारब्ध वेगके पूर्ण होने पर आपका यह शरीर गिर पड़ेगा और जीवन मुक्त होकर आप प्राकृत आचारमें विचरियेगा। इससे यही अच्छा है कि आप इस शरीर को छोड़कर भार्गव—शरीर में प्रवृष्ट हूजिये।

विलास किया, नन्दन वन और न जाने कहाँ २ रहकर आनन्द किया, पर आज वही रागवान होकर चिन्ताओं से सूखकर महा भयानक मालूम हो रहा है। शरीर आत्मारूप था, जो अहङ्कार का विनाशक था और जिसमें स्वर्ण के समान सुन्दर प्रकाश था वह अब धूपसे सूखकर भयानक भास रहा है। अब इसको सब गुणों ने छोड़ दिया है, मानो यह विरक्त आत्मा और विषयोन्मुक्त हो निर्विकल्प समाधि से स्थित हो गया है। हे साधो! यह चित्त सब अनर्थों का कारण है। जब तक यह शान्त न हो आनन्द नहीं मिल सकता। रामजी ने पूछा,–हे भगवन्! भृगु–पुत्र शुक्र ने तो अपने पिताके आश्रित शरीरको छोड़कर अनेक शरीर धारण किया था फिर अपने पूर्व शरीर को देखकर उतना शोकित क्यों हुआ, अन्य शरीर का चिन्तन क्यों न किया? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया,–हे रामजी! शुक्र की संवेदन कला जो जीव भाव को प्राप्त हुई थी, वह कर्मात्मक होकर भृगु से उत्पन्न हुई। फिर वही चित्त कला के फुरने से भूताकाश को प्राप्त हुई और वही वायुकला में स्थिर होकर प्राण अपान के मार्ग से भृगु के हृदय में प्रविष्ट हुई। यहीं वीर्य–स्थान को प्राप्त कर गर्भ मार्ग से उत्पन्न होकर क्रमशः बढ़ी। उसी से विद्या और गुण सम्पन्न शुक्र का शरीर हुआ। उस शरीर को उसने बहुत दिन तक सेवन किया। इसी से शुक्र ने उसका सोच किया था। वीतराग और निरिच्छित होने पर भी चिरकालाभ्यास से उसे वही फुर आया। हे रामजी! चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, दोनों का व्यवहार एक समानही होता है। केवल शक्ति और अशक्ति का भेद है। अज्ञानी क्रियाओं में बन्धनवान रहता है और ज्ञानी नहीं। ज्ञानी मोक्षरूप है, और अज्ञानी दरिद्र है। जाल में फँसे हुए पक्षी के समान अज्ञानी लोक व्यवहार में बन्धनवान् होता है। पर व्यवहार तो दोनों के समान हैं। केवल वासना-भेद है। शरीर के रहने ही में सुख दुःख है। पर ज्ञानी दोनों ही में शान्त है। अज्ञानी को सुख-दुख जान पड़ता है। पर स्वरूप

सभी सिद्धियाँ हैं, पर मलिन हृदय वालों का सङ्कल्प शीघ्र नहीं सिद्ध होता। फिर भृगु—पुत्र भी तो मनोराज से ही भ्रमते फिर थे। वैसे ही सब लोग स्वरूप-प्रमाद से भ्रमते फिरते हैं। स्वरूप का साचात्कार हुए बिना शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। इसी से तो समस्त भूत जातियाँ भ्रमवश अनेक भ्रमको प्राप्त होती हैं। समस्त जगत मन का स्फुरण है मिथ्या-भ्रम से नानात्व भासता है। एक एक करके जितना भ्रम है, सब सङ्कल्प मात्र है। उदय और अस्त सब कुछ मिथ्या एवं माया मात्र है। अज्ञान वश यह जाग्रत—भ्रम दृष्टि में आ रहा है। भूत और पिशाच आदिक शरीर भी सङ्कल्प मात्र हैं। हमारा तुम्हारा और उनका सुख दुःख एक समान हैं। हे रामजी! ऐसे मिथ्या जगत को सत् जानना अपने पुरुषार्थ को नष्ट करना है। जहाँ तक हो सम्यकज्ञान से इसका अभाव ही करना चाहिए। क्योंकि यह स्वप्नवत् है। चित्त रूपी हस्ती को बांधे हुए है। जिससे जगत सत्य सा प्रतीत हो रहा है और जगत सत्ता से चित्त है। इनमें से एक नाश हो जाय तो दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। जगत की सत्यता नष्ट होने पर चित्त भी नष्ट होजाता है और चित्त के (उपशम) होने पर जगत शान्त हो जायगा। पर यह बिना आत्म विचार के न होगा। क्रमशः इसका उद्योग करना चाहिए। सबसे प्रथम हृदय को निर्मल करने की आवश्यकता है। शास्त्रानुसार क्रिया करने से हृदय निर्मल होता है। हे रामजी! प्रत्येक जीव के हृदय में अपनी २ सृष्टि है तो भी मलिन चित्त वाले दूसरे को नहीं जानते, और सृष्टि का जानना तो तब होता है जब चित्त होवे। ऐसा अभ्यास दृढ़ हो तो चिरपर्यन्त सब कुछ भासने लगे। क्योंकि आत्मा सब का अधिष्ठान है। उसमें स्थित होने से सब का ज्ञान होता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! केवल प्रतिमा के आभास से शुक्र मुनि को देश, काल और क्रिया द्रव्य कैसे दृढ़ होकर भासित हुआ वशिष्ठजी ने उत्तर दिया,—

यह कह कर काल भगवान ने पुष्प फेंककर दोनों को आशीर्वाद दिया और अन्तर्ध्यान होगया। तब महातपस्वी शुक्र ईश्वरीय नीति पर विचार करने लगे कि, अब क्या होगा। झट उन्हें विश्वास हुआ कि, काल भगवान् ने जो कुछ कहा है वही होगा। ऐसा विचार कर वह उस महाकृश रूपी अपने पूर्व शरीर में प्रवृत्त हुए और ब्राह्मण शरीर को छोड़ दिया। फिर तो वह शोभा रहित शरीर कम्पित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा और शुक्रदेह में जीवकला का संचार हुआ। तब उस संचारित शरीर को देखकर भृगुजी प्रसन्न होकर कमण्डल से जल लेकर पुष्टि-शक्ति के लिये मन्त्र-पाठ करने लगे। पाठ करके मुनिने उस जलको उस पर शरीर पर छिड़क दिया। फिर तो शरीर का सब नाड़ियां पुष्ट होगई और शरीर प्रफुल्लित होकर श्वास आने जाने लगा। पश्चात् शुक्र ने उठकर पिता भृगु को प्रणाम किया और नेत्रों में जल भर आया। तब भृगुजी पुत्रको कण्ठ लगाकर बहुत प्रसन्न हुए। हे रामजी! यही भृगु मुनि का आख्यान है। इसी क्रम से महाज्ञानी भृगु को ममता और स्नेह फुर आया था। फिर दूसरे की बात क्या है? इस भाँति बहुत दिन तक पिता और पुत्र उदार आत्मा होकर वहाँ रहे। समय आने पर वही शुक्रजी दैत्यराज वृषपर्वा के गुरू हुए।

श्री योगवाशिष्ठ भाषास्थिति-प्रकरण का तेरहवां सर्ग समाप्त ॥ १३ ॥

❀-❀-❀

चौदहवां सर्ग

संसारावर्त-वर्णन

इस कथा को सुनकर रामजी ने वशिष्ठजी से प्रश्न किया कि,--हे भगवन्! जिस प्रकार भृगु--पुत्र की यह प्रतिमा फुर आई क्या ऐसे ही अन्य जीवों को नहीं सिद्ध हो सकती? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया,--हे रामजी! भार्गव शुक्र को जो सिद्धि मिली वह ब्रह्म तत्त्व के बल से मिली। वह जन्म से कलङ्कित न हुये थे। वह सब ईषणाओं से रहित और शुद्ध चैतन्य स्वरूप थे। निर्मल हृदय को

है ऐसा आत्मस्थित होने से आत्मऐक्य प्राप्त होकर यह सबसे सुहृदभाव हो जाता है। पर अज्ञानी सुषुप्ति अवस्था में रहकर संसार को देखता है। इससे वह संसार की ओर जाता प्रमाद वश अनेक सृष्टियों को देखता है, पर उसे शान्ति कहीं नहीं मिलती। जब उपशम स्वभाव में स्थित हो तो नानात्व भाव मिटकर शान्तरूप होवे। हे रामजी ! यद्यपि जगत का समूह भासित होता है फिर भी आत्मा से द्वैत नहीं। जैसे केले के भीतर पत्र से भिन्न कुछ नहीं वैसे ही आत्मा से जगत भिन्न कुछ नहीं है। आत्मा में जीव नहीं। जीव का कारण तो रस है। आत्मा कार्य--कारण भाव से परे अद्वैत और अचिन्त्य रूप है। वही अकारण रूप परमात्मा विचारने योग्य है। फिर अन्य से क्या प्रयोजन ? बीज जब अपने भाव को त्यागता है, तब फूल भाव को प्राप्त होता है। पर ब्रह्मसत्ता अपने स्वभाव को नहीं त्यागती। बीज का परिणाम आकाशवत है पर आत्मा अकृत्रिम, निराकार और अच्युत रूप है यही कारण है कि आत्मा को बीज के समान भी नहीं कह सकते। क्योंकि आकाश से आकाश नहीं उत्पन्न हो सकता। वह तो अभिन्न रूप है। अस्तु न तो कुछ उत्पन्न हुआ है और न किसी ने उत्पन्न किया है। केवल ब्रह्माकाश स्वतः स्थित है। द्रष्टा को देखने से अपने को नहीं देखा जा सकता। क्योंकि जब मनोराज की वस्तु देखी जायगी तब विद्यमान वस्तु नहीं दिखलाई पड़ेगी। आशय कि आत्म सत्ता को देखने वाला जगत को नहीं देख सकता, और जगत के देखने वाले को आत्मसत्ता नहीं दिखलाई पड़ती। फिर अज्ञानी क्या जाने कि सर्वत्र ब्रह्मसत्ता ही है। हे रामजी ! स्थूल पदार्थों के आगे पलट आने से वह नहीं भाषित होता है। फिर सूक्ष्म निराकर और द्रष्टारूपी पुरुष के आगे आवरण आने पर कैसे भासित होगा। इससे जो द्रष्टालु पुरुष हैं उनके निकट दृश्य वस्तुयें कुछ नहीं हैं। उनमें केवल द्रष्टा रूप एक

हे रामजी ! उन्होंने अपने अनुभव भण्डार में मन से जगत को देखा था। जैसे केवल बीज से पत्ते और फूल फल निकलते हैं वैसे ही जीव जीवको अपने २ अनुभव से संसार खण्ड फुरते हैं।

ॐ योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति-प्रकरण का चौदहवां सर्ग समाप्त ॥ १४ ॥

पन्द्रहवां सर्ग

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्था वर्णन

वशिष्ठजी बोले--हे रामजी ! संसार खण्ड की समस्त वस्तुओं का बीज रूप आत्मा है। वही सबका आभास है। उस आभास के उदय और अस्त होने में आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है। उसी सत्ता में फुरने से जीव इस स्वप्न तुल्य जगत के भ्रम को देखते हैं। यों तो सभी जीव अपनी २ सृष्टियों में स्थित हैं। पर जो पुरुष उपशम होता है वह आत्म पद में प्राप्त होता है और आत्मब्रह्म से एकता होने पर उसको,परस्पर की और सृष्टियाँ एक समान भासने लगती हैं। उसी में सृष्टियाँ स्थित होती हैं। जैसे कपूर का पर्वत हो तो उसके अणु २ में सुगन्ध होती है और उन्हीं सब अणुओं की एकता से सुगन्ध पर्वत में एकता होती है वैसे ही समस्त जीवों का अधिष्ठान आत्मसत्ता है। जैसे सब नदियाँ समुद्र में जाकर मिलती हैं और उनका अधिष्ठान है समुद्रवैसे ही चित्त की वृत्तियाँ आत्मा में मिल जाती हैं और वही सबका अधिष्ठान है। पर मलिन चित्तवाला नहीं मिल सकता। एक-एक जीव में सहस्त्रों सृष्टियाँ गुप्त रूप से होती हैं और जहाँ जैसा फुरना होता है वहाँ वैसा भासती है। उनमें कोमल का स्फुरण सफल नहीं होता। दृढ़ मन का सफल होता है। हे रामजी ! समस्त जीवों की तीन अवस्था होती हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। यह तीनों अवस्था आत्मा में जीवित का लक्षण है। पर आत्मा में प्रमाद भी है। प्रमाद से ही प्राणी तीनों अवस्थाओं में भटकता है। एक अवस्था तुरीय नाम की है। जब चिदात्मा तुरीयावस्था में हो तब प्राणी जीवन्मुक्त होता

है। उनके दो लक्षण हैं। तृषा निवृत्ति और तपन निवृत्ति। इस भाँति विवेक दृढ़ी पुरुष इन्द्रियां दमन संतोष से हृदय में शीतलवान होता है और उसको सर्वत्र आत्मा ही भासता है। विवेक का फल ऐसा है। पर जिस प्रकार अग्नि लिखित चित्र व्यर्थ है, उसी प्रकार निश्चय रहित वचन दुःख को नाश नहीं कर सकता और उससे शान्ति भी नहीं मिलती। विवेकवान पुरुष लक्षणों से ही मालूम होते हैं, उनकी जिह्वा नहीं हिलती। कारण कि जिह्वा के हिलाने से वास्तविक ज्ञान दुर्लभ है। विवेक तो भोग की तृष्णा का नाश होने ही से मिलता है और तभी शान्ति मिलती है, वाग्विलास से नहीं। विवेकागमन का प्रथम लक्षण यह है कि राग-द्वेष से रहित हो जाय, विषय भोगों की तृष्णा और बैर भाव भी नष्ट हो जाय। जैसे सूर्य के उदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसेही विवेक उदय होने पर अज्ञान नष्ट हो जाता है और जीव परमपद का भागी होता है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा स्थिति-प्रकरण पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १५ ॥

सोलहवाँ सर्ग

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति वर्णन

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! परमात्मा ही समस्त जीवों का बीज है और वही सब ओर से आकाश की नाईं स्थित है। उसके फुरने का ही नाम जीव और उसी जीव में जगत है। पर वास्तव में सभी जीव चिद्घन स्वरूप हैं। कदली खम्भ के भीतर पत्र होते हैं और जैसे शरीर के भीतर कीट होते हैं, वैसे ही आत्मा के भीतर जीवों की राशियां हैं और चित्तकला के स्फुरण से जीव समूह स्फुरित हो आते हैं। वे जीव जैसी २ सिद्धियों के लिये यत्न और उपासना करते हैं, वैसी २ गति को प्राप्त होते हैं। देव उपासक देवों को, यज्ञोपासक यज्ञको पाते हैं। अतएव तुम भी महत् पद का उपासक बनो। जैसे दृश्यों की ओर लगकर शुक्रने अनेक दृश्य भ्रम को देखा

मात्मा ही स्थित है, वही देव आत्मरूप और सर्व शक्तिमान है। फुरने के अनुसार शीघ्र भासता है। वही आत्मसत्ता अनेक जीवों में देह रूप होकर भास रहा है। उस एक आत्म में अनेक चिद्-अणु फुरते हैं और उनके भीतर सृष्टि होती है। उन्हीं सृष्टियों के भीतर चिद्अणु और चिद्अणु के भीतर अनेक सृष्टि व ब्रह्माण्डों का निवास है जिनकी संख्या कही नहीं जा सकती। वह स्वयम् ही फुरता और स्वयम् ही स्वाद लेता है। वह आकाश, पवन और अग्नि आदिक समस्त द्रव्यों में स्वयं स्थित है। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो चित्त सत्ता से परे हो। जहाँ चित्त होगा वहाँ उसका प्रतिबिम्ब स्वरूप द्रष्टा भी अवश्य स्थित है। उसमें जैसा स्फुरण होता है, वैसा ही स्थित होता है और आत्मा ही सबका अधिष्ठान रूप है। पर जगत तो दीर्घ स्वप्न तुल्य अपने ही अनुभव से उदय हुआ। इसमें सृष्टियाँ भी स्वप्न के ही सदृश स्थित हैं। उसमें देश काल और क्रियादिक भी कुछ नहीं है केवल आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त तक जो कुछ भी जगत भासित होता है सब परमात्मा का किंचन मात्र है। वही रससत्ता कहीं फल होकर भासती है और वही कहीं सुगन्ध चेतन्य है और कहीं जड़होकर जान पड़ती है। किन्तु सर्वगत अविनाशी आत्मा ही सबका बीज रूप है और उसकी के भीतर समस्त जगत स्थित है। उसी आत्मा के प्रमाद से नाना रूप जगत भासता है। इसी प्रमाद से जीव नाना प्रकार का जगत-भ्रम देखता है। अन्यथा आत्मा और जगत में कोई भेद नहीं है। कारण कि जगत तो कुछ भी नहीं है। आत्मा ही जगत सा प्रतीत हो रहा है। विचार रहित वालों में ही जगत के पदार्थ भासते हैं। वही जानता है कि मैं हूँ, यह जगत है, यह उत्पन्न हुआ है और यह लीन होगा इत्यादि। पर जो सत्सङ्ग और शास्त्र के संयोग से विचारवान हैं, उनको प्रति दिन भोग की तृष्णा घटती जाती है और आत्म विचार दृढ़ होता जाता

स्वरूप--प्रमाद दोष द्वारा फुरकर जगत भासे और उसी को सत्य स्वरूप जानकर ऐसा विश्वास हो कि, यह अल्पकाल ही रहकर फिर निवृत्त हो जावेगा। फिर सुषुप्ति अवस्था वह है कि जिसमें दृश्यों के फुरने का अभाव हो और अज्ञात वृत्ति जड़ रूप से हो। तुरीया वह अवस्था है जिसमें जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की व्यवहारी हो पर इनकी रञ्चमात्र भी सद्भावना न हो, केवल ज्ञान में अहं विश्वास हो। ऐसे स्थित प्राणी ही जीवन्मुक्त कहलाते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, स्थिति–प्रकरण का सोलहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

—::-❀-::—

सत्रहवां सर्ग

भार्गवोपाख्यान समाप्ति वर्णन।

इस प्रकार मन निरूपण व अवस्थाओं का विशद विवेचन हो चुकने पर वशिष्ठजी ने कहा--हे रामजी ! चित्तमें जैसा निश्चय होता है वैसा ही रूप होकर भासता है। भाव, अभाव, ग्रहण, त्याग सब कुछ मन से ही होता है। न तो कोई सत् है न असत् मनकी चपलता से ही सब फुर रहे हैं। मन-मोह से ही जगत भासता है। मन नष्ट हो जाय तो जाग्रत भी नष्ट हो जाय। मलिन मन, ही जगत को रचता है। और मन ही पुरुष है। ऐसे मनको तुम अशुभ मार्ग में न लगाओ। यदि मनको तुम जीत लोगे तो मानों सब जगत को जीत लिया। मनको जीतकर, महान् विभूति प्राप्त होती है। शरीर पुरुष नहीं है। यदि शरीर पुरुष होता तो भार्गव शुक्रका अन्य शरीर रचने की क्या आवश्यकता थी ! उनका शरीर तो वहाँ पड़ा ही था। अतएव शरीर पुरुष नहीं मन पुरुष है। चित्तके करने से शरीर होता है, शरीर से चित्त नहीं। चित्त जिस वस्तु में जा लगे वही वस्तु मिलती है। इसमें कोई संशय नहीं चित्त का पद महान तुच्छ है। अस्तु तुम भ्रम को त्याग कर सदैव चित्त में आत्मा का अभ्यास करो। अन्यथा दृश्यों की ओर मनका संसरना तो महान् दुःख का द्योतक है। जब यह आत्मा की

और शुद्ध बुद्धि से निर्मल ज्ञान को प्राप्त हुए, वैसे ही जो जिसका उपासक होगा वह उसको प्राप्त होगा, अन्य को नहीं।

इतनी कथा सुनकर रामजी ने जाग्रत और स्वप्न के बारे में पूछा कि, क्या है? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया कि स्थिर–विश्वास का नाम जाग्रत और अस्थिर विश्वासका नाम स्वप्न है। जो चिरकाल रहे वह स्थिर है और जो अल्पकाल रहे वह अस्थिर है। भाव यह कि जो दीर्घकाल रहे उसका नाम जाग्रत और जो अल्पकाल रहे उसका नाम स्वप्न है। इसमें और कोई भेद नहीं। अनुभव दोनों का ही बराबर है। हे रामजी! जीव वह है जो शरीर के भीतर रहकर शरीर को जीवित रखे। उसको तेज और बीजरूप भी कहा जाता है। जीव का नाम धातु भी है। जब जीव धातु स्पन्दित होकर जीव रन्ध्रों में विस्तार करता है तब मन, वाणी और शरीर व्यवहार करने लगता है और रन्ध्र खुल जाते हैं--उसी का नाम जाग्रत है। इस भांति चित्तकला के जाग्रत व्यवहार जब स्पष्ट रूप से होकर भीतर फुरते हैं तब उसके भीतर जगत-भ्रम जान पड़ने लगता है। वही स्वप्न कहलाता है। सुषुप्ति का क्रम ऐसा है कि, मन वाणी और शरीर से जहाँ क्षोभ न हो, स्वच्छ वृत्ति जीवधातु भीतर स्थिर हो, हृदय में प्राण वायु का क्षोभ न हो, नाड़ियाँ रसपूर्ण हों और उस मार्ग से प्राण का आवागमन न हो, क्षोभ-रहित समवायु का गमन हो वह सुषुप्ति अवस्था है। क्योंकि वहाँ तो संवित् सत्ता ही स्थतः अपना अनुभव लेती है। संवित सत्ता बरफ में शीतलता और तिलों में तेल के समान ही स्थित होती है। जड़रूप सुषुप्ति अवस्था जाग्रत दृश्य भाव को न प्राप्त हो निर्विकल्प प्रकाश में स्थित होने का ही नाम तुरीयावस्था है। ऐसी अवस्था यदि व्यवहरित भी हो तो भी वह जाग्रत, और स्वप्न सुषुप्ति के बाधक में नहीं। हे रामजी! वह भी जाग्रत अवस्था है जिसमें आत्मसत्ता से फुरना होकर स्वरूप विस्मरण हो और फुरना दृढ़ होकर स्थिर होवे। स्वप्न वह है जिसमें

अपने फुरने से स्वप्न में अनेक अवस्था को प्राप्त होता है। ऐसे ही जाग्रतावस्था में भी मन जिस ओर फुरता है, शरीर को भी उसी ओर जान पड़ता है। अतएव सब कार्यों का बीज मन है। मन से ही सब कार्य होते हैं। मन और कर्म में भेद नहीं। मनमें जैसे कर्म का दृढ़ अभ्यास होता है—शाखा फलकर वह उसी फल को प्राप्त होता है। वह उसी स्वाद का अनुभव करता है। तात्पर्य यह कि चित्त जिस भाव को ग्रहण करता है, उसी भाव को प्राप्त होता है। वही कल्पना रूप उसे मान्य है। धर्म अर्थ, काम और मोक्ष के लिये भी वह जैसे भावना करता है उसको वैसा ही सिद्ध करता है। महात्मा कपिल मुनि ने जितने शास्त्र रचे वह केवल मनकी सत्ता ही से ही तो रचे थे। उन्होंने निर्णय किया है कि, प्रकृति माया है और उसका दो स्वभाव है। अनुलोम परिणाम, प्रतिलोम परिणाम। अनुलोम परिणाम से आत्मा की ओर आता है और प्रतिलोम से दृश्य भाव को प्राप्त होता है। अनुलोम परिणाम मोक्षप्रद है! वेदान्त वादियों का यह निश्चय है कि, सर्वत्र ब्रह्म ही है—शत, दम से जब मन सम्पन्न होता है तब यह निश्चय होता है कि सर्व ब्रह्म है और ब्रह्मज्ञान बिना मोक्ष कठिन है। यह उनका निर्णय है। पर विज्ञान वादी कहते हैं कि, जब तक बुद्धि पड़ी फुरती है, तभी तक संसार है। तव यह अपने स्वभाव में फुरती है तब उस काल में स्वरूप स्थित होता है जब यह अपने स्वभाव में फुरती है तब उस कालमें स्वरूप स्थित होता है। ऐसा काल आने पर मोक्ष प्राप्त होता है। मीमांसा और पातञ्जलि व वैशेषिक नामक आदि से लेकर जितने शास्त्रकार हैं सबने अपनी २ बुद्धि के अनुसार—जैसे २ निश्चय को उन्होंने धारण किया है—वैसा ही उनको भासित हुआ है। पर स्वरूपतः न कोई मत है और न कोई शास्त्र है। केवल मन ही सब का कारण है मन के अङ्गीकृत में सब मत डूबे हुए हैं। नींव न तो कटु है और न मिष्ठ है, अग्नि में तो उष्णता है और न चन्द्रमा

और प्रवाहित हो तो परमपद प्राप्त होता है। इससे दृश्य-भ्रम को त्यागकर तुम आत्म पद में ही स्थित होवो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति-प्रकरण का सत्रहवां सर्ग समाप्त ॥ १७ ॥

--:❋:--

अठारहवां सर्ग

विज्ञान

रामजी ने पूछा—हे भगवन्! जो आत्मसत्ता निर्मल निर्विकार और देश, काल और वस्तु से रहित है उसमें यह मलिन संवित 'मन' कहाँ से आकर स्थित हुआ कृपाकर मेरा यह महान् संशय निवृत्त कीजिये। वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! तुमने यह अच्छा प्रश्न किया। मालूम होता है, अब तुम्हारी बुद्धि पूर्व अपर के विचारों से जाग्रत होकर मोक्षभागी हुई है। इससे अब तुम शुक्र आदि के पद को प्राप्त होवोगे। तुम्हारा यह प्रश्न सिद्धान्त काल से सम्बन्ध रखता है। उसका उत्तर सुनो। हे रामजी! मैं तुमको अनेक प्रकार से और अनेक युक्तियों से इसका उत्तर कहूँगा। इस मन की शान्ति के लिए वेदों और शास्त्रों ने जो निर्णय दिये हैं, उनका लक्षण सुना रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो। हे रामजी! यह मन बड़ा ही चंचल है। जैसा भाव अङ्गीकृत करता है, वैसाही रूप होकर भासित होता है। किन्तु मनसे रहित जो शरीर से क्रिया करता है, उसका फल कुछ नहीं होता और जो मनसे करता है, इसका फल प्राप्त होता है। यह मन जिस ओर झुकता है शरीर भी उसी ओर झुकता है। बुद्धि अर्थात् इन्द्रियाँ जो मनका ही रूप है यदि क्षोभको प्राप्तहो और शारीरिक इन्द्रियाँ स्थिर हों तो भी कार्य होता है। किन्तु मन क्षोभित न हो और कर्मेन्द्रियाँ भी क्षुभित भी हों तो कार्य नहीं हो सकता। जैसे धूल क्षोभित भी हो और पवन न चले तो वह आकाश को नहीं उड़ सकती, पर यदि पवन क्षोभवान् हो और धूल न स्थिर तो भी वह उसको उड़ा ले जायगा। वैसे ही शरीर पड़ा रहता है पर मन

करो। जैसी भावना करोगे वैसा ही भासेगा। जैसे सूर्य के उदय होते ही अन्धकार लोप हो जाता है, वैसे ही आत्मभावना से दृश्य भावना का लोप हो जायगा। लोहे को लोहा काटता है। अतः भावना को भावना ही काटेगा। इससे अतुच्छ पद निरुपाधि और निःशंसय रूप का ही आश्रय करो। जब उसकी भावना दृढ़ होगी तब भ्रम रहित सिद्ध पदको प्राप्त होवोगे। हे रामजी! तुम आत्म रूप हो। बुद्धि आदि की कल्पनाओं को क्यों करते हो, और संसार की भावनाओं को त्यागकर स्वरूप में स्थित क्यों नहीं होते हो? हे रामजी! मणि भले ही अपने प्रतिबिम्ब को न दूर कर सके क्योंकि वह जड़ है। पर तुम जड़ तो नहीं हो न? तुम तो चैतन्यरूप आत्मा हो। तुम में जो दृश्य का प्रतिबिम्ब पड़ता हो, उसका त्याग करो। जब तुम्हारे हृदय में सङ्कल्पों का दृश्य उठे तो उसको असत्यरूप जानकर वहीं त्याग दो और जो प्राकृत व्यवहार उपस्थित हो उसी को करो। उसे करते हुए भी मणि के समान भीतर से रस रहित रहो। जैसे परछाँही वहि दृष्टि होती है और अन्तर से रङ्ग नहीं चढ़ता वैसे ही बाहर देखने में तुममें व्यवहार भासे पर अभ्यान्तर से तुम राग द्वेष को स्पर्श न करो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति–प्रकरण का अठारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १८ ॥

::-❀-::

उन्नीसवाँ सर्ग

परम विश्राम--वर्णन।

वशिष्ठजी बोले–हे रामजी जब यह पुरुष ज्ञान ज्ञेय होकर परमतत्व में जागता है और संसार की ओर से वैराग्यवान हो अभोग रस में बुद्धि निरस हो जाती है तब मन अपनी सत्ता को त्यागकर आत्मरूप होता है। विवेकरूपी सूर्य के उदय होने पर मन गलकर आत्मरूप हो जाता है और मृग तृष्णा की नदी भी नष्ट हो जाती है। पर जब तक संसार की सत्यता रहेगी, मन नहीं नष्ट होगा। ज्ञान वर्षा हो तो मन नष्ट होवे। हे रामजी! इस

दर्शी है। जो ऐसा जानता है कि, चैतन्य सत्ता ही सर्वत्र है। मैं भी अनन्त चिदाकाशरूप देश, काल, वस्तु से पृथक हूँ, आधि, व्याधि, भय, उद्वेग, और जरा, मरण जन्म आदि सहित देह भी मैं नहीं हूँ-वही वास्तविक दर्शी है। मैं सर्व शक्ति, अनन्त आत्मा हूँ, सब पदार्थ मुझ में ही स्थित हैं, मैं ही अद्वैत चिदादित्य हूँ जो इस भांति देखता है, वही देखता है। ऐसा वास्तविक दर्शी अर्ध,उर्ध मध्य को अपने से पृथक नहीं जानता। जिस प्रकार मणि सूतके धागे में पिरोई रहती है उसी प्रकार वह जानता है कि सब कुछ मुझ में ही पिरोये हैं। वह जानता है कि, न तो मैं हूँ न यह जगत है-केवल ब्रह्मसत्ता ही स्थित है। सत्य असत्य के मध्य में जो देव-प्रकाश है और जो त्रैलोक्य में भी एक ही है, वह मैं एक अविनाशी पुरुष हूँ और जैसे समुद्र में तरङ्ग फुरा करते व लीन होते हैं-ऐसा देखने वाला ही अर्थात् जो देखना है कि पहले अहं है फिर दृश्यरूप जगत है पर वह भी न तो मैं हूँ और न जगत है केवल एक आत्म सत्ता ही है, उसमें अहं और भ्रम कुछ नहीं है। जो ऐसा देखता है, वास्तव में वही देखता है। हे रामजी ! ऐसे महात्मा और आत्मसत्ता में स्थित पुरुषों को मेरा नमस्कार है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति-प्रकरण का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

:--::--::--:

बीसवाँ सर्ग

शरीर---नगर---वर्णन

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! उस उत्तम पद का आश्रय करने वाले प्राणी ही जीवन्मुक्त कहलाते हैं। पर जिनके प्रारब्ध शेष रह गये हैं, ऐसे पुरुष अपने शरीर रूपी नगर में ही राज्य करते हैं। उनका लोप न होकर शरीर से ही भोग और मोक्ष दोनों सिद्ध होता है। वे शरीर रूपी नगर में ही नन्दन वन का अमोघ सुख भोगते हैं। वे सर्वदा ही शरीर से सुखी रहते हैं, दुःख तो जानते ही नहीं, और

संसार रूपी वासना जालमें जीव रूपी पक्षी फँसे हुए हैं—वैराग्यरूपी चूहा इसको कतरे तो जीव को छुटकारा मिले। विना वैराग्य के जीव का स्वभाव निर्मल नहीं हो सकता। जब यह जीव राग-द्वेष और मोह से रहित हो तब संदेह की दुर्मति शान्त हो जगत भ्रम नष्ट होगा अन्यथा नहीं। वैराग्य होने पर जीव ऐसे पूर्ण हो जाता है जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा पूर्ण होकर शोभायमान होता है। तभी उसको उत्तम सौन्दर्य की प्राप्ति होती है। उसके लिए उदय, अस्त, राग द्वेष कुछ नहीं। वह सब में समभाव से वर्तता है। उसे न्यून और विशेष भाव भी नहीं रहता। वह मूक, जड़ और अन्धकर्म की वासनासे रहित और अचल हो जाता है सब में चेतना का ही प्रकाश देखता है। विवेक से उसकी बुद्धि प्रफुल्लित हो जाती है। जैसे सूर्य के उदय होते ही कमल प्रफुल्लित हो जाता है, वैसे ही वह पुरुष परम लक्ष्मी को प्राप्त कर शोभायमान होता है। अधिक क्या कहें। ज्ञान ज्ञेय पुरुष पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान शोभायमान होकर आकाशवत् निर्मल हो जाता है। वह न उदय होता है, न अस्त होता है। ऐसे आत्मतत्वदर्शी पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी प्रसन्न होते और उसमें स्थित होते हैं। प्रकट रूप में ही उसका आकार जान पड़ता है, पर वह भीतर, बाहर अहङ्कार से रहित है। विकल्प के समूह और मृगतृष्णा की नदी उसे खैंच नहीं सकती। वह संसार से दुःखी नहीं होता। शरीर नाश में वह अपना नाश नहीं मानता। उपज में उत्पत्ति भी नहीं मानता। क्योंकि आत्मा शरीर से उत्पन्न नहीं हुआ है। इससे शरीर के नष्ट हुए वह नष्ट भी नहीं हो सकता। ऐसे ही विवेक से वासना-जाल नष्ट हो सकता है। फिर कोई भ्रम नहीं रहता। जीव को जब तक यह विचार न हो कि मैं कौन हूँ और जगत् क्या है, तभी तक संसार का अन्धकार है। पर जब यह ज्ञान हो जाय कि आत्मा से यह जगत् भिन्न कुछ नहीं है सब कुछ आत्म-सत्ता से ही स्थित है—तब वह यथार्थ

देश वालों को नहीं घुसने देता और स्वयं ध्यानरूपी नगर में रहता है। वह सत्यता और एकता नामक दोनों स्त्रियों को सदैव अपने साथ रखता है और उन्हीं से सर्वदा सुशोभित रहता है। वह सदैव मनरूपी तुरङ्ग पर चढ़ तीर्थ स्नान करने जाता है, और मोक्ष दोनों ही से सम्पन्न रहता है। उस ज्ञानी को शरीर की नष्टता में कुछ हानि नहीं होती। यद्यपि वह देह ही है, तथापि वह उसको स्पर्श नहीं करता। क्रिया, कर्ता और भोक्ता भी वही है, पर किसी से लेपायमान नहीं होता और सदैव एक रस भगवान् आत्मदेव में निवास करता है। जब वह विमानारूढ़ हो शरीर रूपी नगर में विचरण करता है तब उसके परम मित्र नेत्र उसे सब दिखलाते हैं। मित्रभाव से वह उसमें सदैव ही रहता है और सत्यता एकता उसके पास सदैव रहकर उसे शोभा देती हैं। अन्य जीवों को सदैव दुःखरूपी आरे से काटता देखता है। जैसे कोई पर्वत पर चढ़ा हुआ पृथ्वी में लोक को जलता देखे और स्वयं आनन्दित हो वैसे ही ज्ञानी अन्य जीवों को दुःखी देखते हैं, पर स्वयं आनन्दित हैं। कारण कि वे सदैव अपनी दृष्टि में अद्वैत रूप को ही रखते हैं। उनके निश्चय में जगत और जीव कोई नहीं है। उनकी चारों आवश्यकतायें-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पूर्णतया प्राप्त हैं। किसी ओर से उसे कमी नहीं रहती। वह सदैव सम्पदा सम्पन्न विराजता रहता है। उसे भोग दुःख नहीं दे सकते। कारण कि वह भोगों को तो कुछ जानता ही नहीं भोग वस्तुयें तो तब दुःख देतीं हैं जब उनमें आसक्त रहे। हे रामजी! जिस प्रकार यात्री मार्गमें स्त्री पुरुषों का समूह पाता है और आसक्त न होकर उनके साथ आगे पीछे चला जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी सांसारिक वस्तुओं से न आसक्त हो उनमें चित्त को नहीं लगाता और साथ में उठता बैठता भी यात्रा करता है पर किसी से राग द्वेष नहीं करता और किसी बन्धन में नहीं रहता। उसके सम्यक ज्ञान के आगे सभी संशय चूर्ण हो जाते हैं। उसे कोई वस्तु आश्चर्यित नहीं करती।

निज स्वरूप में ही स्थित रहते हैं। रामजी ने पूछा-हे महामुने। उस शरीर का नगर कैसा है और उससे सुख कैसे भोगते हैं। वशिष्ठजी ने कहा-हे रामजी। ज्ञानी का शरीर रूपी नगर रमणीक होता है। वही सर्व गुण सम्पन्न शरीर आनन्द विलास दिखलाता है। अब उसका स्वरूप और लक्षण सुनो। शरीर में गांठ और ईंट भी हैं। रुधिर और मांस चिक्कड़ का स्थान है, अस्थिरूपी लकड़ी स्तम्भ है। रोमावली वनस्पति हैं। पेट खाई है। छाती चौक है, उसमें नेत्र झरोखा हैं और उसी द्वार से त्रिलोकी का प्रकाश है। उसमें लेन देन करने वाला हाथ गली है। ग्रीवा और शिर विशाल मन्दिर हैं। उसमें भिन्न २ रेखायें माल हैं और नाड़ियां विभाग स्थान हैं। उन्हीं नाड़ियों में वायु आदि द्वारा जीव विचरता है। उसी आतम चिंतामणि में बुद्धिरूपी स्त्री निवास करती है। पर जिसमें इन्द्रियरूपी स्त्री निवास करती है और जिसने इन्द्रियरूपी बन्दर को बाँधकर छोड़ दिया है और जिसमें हंस रूपी सुन्दर पुष्प खिले हैं ऐसा शरीर रूपी नगर ज्ञानी के लिये सुख की खानि है। उससे ज्ञानी सुखी व दुःखी नहीं होता। किन्तु अज्ञानी के लिए शरीर रूपी नगर परम दुःखमय प्रतीत होता है। इसी अज्ञान वश शरीर के नाशवान होने से वह जानता है कि आत्मा भी नाशवान है। पर ज्ञानी ऐसा नहीं जानता। वह जब तक रहता है, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध सबको ग्रहण करता है और इष्टरूप हुआ रहता है। वह सदैव भ्रम से दूर रहकर शरीर-नगर में निष्कंटक राज्य करता हुआ लोभ से रहित है। इसीसे काम, क्रोध, मान और मोह रूपी शत्रु उसका कुछ कर नहीं सकते और वह उन शत्रुओं को अपने निकट तक पहुँचने नहीं देता। वह जानता है कि यह सब मोहादिक अज्ञान--देश के हैं। इसी से वह उसके देशों में नहीं प्रवृत्त करता और न अपने ज्ञान--देश में उन्हें आने ही देता है। उदारता, धर्य, सन्तोष, वैराग्य, समता, मुदिता और उपेक्षा यह ज्ञान--देश है। इन्हीं देशों में यह अज्ञान

इक्कीसवां सर्ग

मन की सत्यता

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! जो अज्ञानी है, उसके पीछे आकाशरूपी शलका लगी रहती है और वह महा नरक को प्राप्त होता है। दुष्ट इन्द्रिय रूपी शत्रु उसे मारा करते हैं। अतः तुम महा दुःख रूपी इन्द्रियों को अपने वश में करो। यह इन्द्रियाँ मन रूपी पक्षी हैं। जब इनको विषय नहीं प्राप्त होता जब यह ऊपर को उड़ती हैं और जब विषय प्राप्त हो जाता है तब नीचे को आ गिरती हैं। पर जिन प्राणियों ने विवेक रूपी जाल में इन्हें बांध रखा है उन्हें यह भक्षण नहीं कर पाती। हे रामजी ! यह जितनी भोग वस्तु हैं सब विरस हैं। इनमें रमण करना अपने को नरक में ढकेलना है। पर जिस ज्ञानी के पास ज्ञानका प्रचुर धन एकत्रित है और जो देशरूपी शरीर में निवास करता है, वह परमशोभा को पाकर महा आनन्दित होता है। कारण कि उनसे ज्ञानरूपी परम ऐश्वर्य से इन्द्रिय रूपी शत्रुओं पर विजय पा लिया है। इससे ज्ञानीके समान सुवर्णालयमें निवास करने वाला भी सुखी नहीं है। वह इन्द्रियों का दमन कर शरीर नगर में रहता हुआ महा शोभायमान रहता है। हे रामजी ! यह वासनारूपी बैताल तब तक विचरण किया ही करेगा कि जब तक तुम इसे दृढ़ाभ्यास से जीत न लोगे। बिना विवेक रूपी सूर्य के उदय हुए अन्धकार का नाश नहीं होगा। विवेक द्वारा मनको वश कर लोगे तो यह इन्द्रियां स्वयं ही टहलुआ बन जाँयगी। फिर तो मन ऐसे सभी मित्र हो जाँयगे और तुम स्वयं राजा होकर राज्य सुखको भोग करोगे। तब यही इन्द्रियाँ पतिव्रता स्त्री हो जाँयगी और मन सीता के समान तुम्हारी आज्ञा का पालन करने वाला हो जायगा। इसी से निश्चयवान पुरुष सच्छास्त्रों का विचार कर परम सिद्धान्त को प्राप्त करते हैं तब उनका मन अपने मनन भाव को

उसकी वासनाओं का समूह नष्ट हो जाता है और वह चक्रवर्ती सम्राट बना सुशोभित रहता है। पर हे रामजी! ऐसे सुन्दर जीवन को भोग की इच्छायें दीन कर देती हैं और आत्मपद से गिरा देती हैं। वे अनात्मा को प्राप्त हो कृपण हो जाते हैं और आत्मावलम्बी जन उन्हें देखकर हँसते हैं कि यह व्यर्थ ही दीन भाव को प्राप्त हुए। जैसे स्त्री के वशीभूत होकर पति दीन हो जावे और लोग उसकी हँसी उड़ावें वैसे ही ज्ञानी पुरुष तृष्णासक्त को देखकर हँसते हैं। अस्तु जीव को परम सिद्धान्त से गिराने वाला यह चंचल मन ही है। इससे मन रूपी हस्ती को विचार रूपी कुँये से वश में करो। तब सिद्धि-पद प्राप्त होगा बिना मनको ताड़ना दिये शान्त पद नहीं प्राप्त होता। मन बड़ा अभिमानी है। अभिमानी का कितना भी मान किया जाए पर वह उपकार न मानेगा। यदि प्रथम में ही इसको ताड़ना दी जाय तो यह थोड़े ही उपकार से प्रसन्न हो जाता है। जैसे जल से भरा हुआ धान के खेत में जल दिया जाय तो वह उपकार नहीं मानता किन्तु यदि भरे रहने के पूर्व ही जल दिया जाय तो वह उसके लिये अमृत तुल्य होता है, वैसे ही प्रथम में यदि मनको ताड़ना देकर सम्मान किया जाय तो वह उपकार मानकर मित्र बना रहेगा। विषयों से संयम करना ही उसे ताड़ना देना है और सांसारिक पदार्थों में उसे बरतना ही सन्मान करना है। ऐसा करने ही से वह शत्रु भाव त्यागकर मित्र बना रहेगा। अस्तु पहले मन को ताड़ित कर पीछे उसका सन्मान करना ही सुख प्रद है। इससे हाथ को हाथ से मींचकर और नीचे ऊपर दाँतों को दबाकर और अङ्ग से अङ्ग को रोककर इन्द्रिय दमन कर उस पर विजय प्राप्त करे। फिर तो वह सर्व के नमस्कार करने ही योग्य हो जायगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, स्थिति-प्रकरण का बीसवाँ सर्ग समाप्त॥ २०॥

—::-ॐ-::—

नाईं "और "भीमभास हृदके समान स्थित" शब्द कहा, वह क्या है? कृपाकर आप इन शब्दों को मुझे समझाइये। वशिष्ठजी बोले— हे रामजी! पहले इन दोनों के समान स्थिर होकर सुनो तब पीछे जो इष्ट हो उसमें विचरना। हे रामजी! पाताल में एक शम्बर नाम का दैत्य राज्य करता था। वह ऐसा आश्चर्य रूपी मायावी और मनमोहक था कि उसने आकाश में भी एक नगरकी रचना करदी थी। वहाँ उसने बाग दैत्य मन्दिर, सूर्य चन्द्रमा और दैत्य सभी रच दिये थे। उसमें दैत्यों की स्त्रियाँ कोकिल कण्ठ से सदैव गान किया करती थीं। उस नगर में उसने ऐसे वृक्ष लगाये थे कि जिनमें चन्द्रमा के समान फल लगते थे और श्वेत पीत रत्नों की कमलिनी और सुवर्ण हंस तथा सारस सुवर्ण कमल वृक्ष की डालियों पर बैठे हुए कलोल करते थे। रत्न जटित सुन्दर स्थान बरफ के समान शीतल लगते थे। बनस्थान चन्दनों से रचा था जो सर्व ऋतु के पुष्पों से लदा हुआ था। वह वन इन्द्र के नन्दन वन से भी श्रेष्ठ था। उसमें दैत्यों की स्त्रियाँ कीड़ा करती थीं। उस नगर में दैत्यराज ने महान ऐश्वर्य रच दिया था। विष्णु व शिवपुरी से भी अधिक महा प्रकाश युक्त रत्न के तारागणों से सुशोभित हो रहा था। वहाँ के मायावी हाथी इन्द्र के ऐरावत को भी जीत लेने योग्य थे। सभी दैत्य मण्डलेश्वर बनकर उसकी बन्दना करते थे। इस भाँति का अनुपम नगर बनाकर वह दैत्यराज अपना शासन चला रहा था। पर जब देवताओं ने उसके मायावी ऐश्वर्य को देखा तो उन्हें परास्त करने की सूझी और जब कभी अवसर मिलता कि देव उसके नगरको लूट लेते। इस आपत्तिसे बचने के लिये शम्बरने अपनी सेनामें सेनापतियोंकी रचना की। पर देवता उन्हें भी मार गये। तब शम्बरने क्रोध करके देवताओं को मारना चाहा और अमरपुरी को चढ़ गया। देवगण भयभीत हो कर कुछ तो शङ्करजी के पास और कुछ कन्दराओं में जा छिपे। फिरतो प्रलयकाल के समान स्वर्ग की समस्त दिशायें शून्य होगईं। वह देख

त्यागकर शान्त रूप से पिता के समान उनका पालन करने लगता है। अस्तु विवेक द्वारा पहले मनको वश करो। फिर तो जिस प्रकार विधि और तागे में पिरोई हुई मणि को पहन कर प्राणी शोभायमान होता है उसी प्रकार इस मणिरूपी मनकी आत्म विचार की शिला के साथ घिसो और वैराग्य जल से धोकर उज्वल कर विवेक रूपी तागे के साथ पिरोकर कंठ में पहिन कर शोभायमान हो जावो। यह विवेक जन्म रूपी वृक्ष के लिए कुल्हाड़ा है। इसीसे मनरूपी शत्रु मित्र बनकर सदैव शुभ कर्म करता रहता है। अतः मन को वश में करना ही आनन्द का कारण है। यदि मन वश में न होगा तो अवश्य दुःख देगा। इसका वश होना ही सुख का मूल है। यह मन रूपी मणि भोगों की तृष्णा से कलङ्कित हो गया है। जब विवेक रूपी जल से शुद्ध करोगे तभी शोभायमान होगा। अस्तु संसार महा भयानक है। जिनको कुछ ज्ञान है, वे भी इस मायारूपी संसार में गिरे पड़ते हैं। पर इधर लोगों के समान छले जाकर तुम इसमें न गिरो। यह संसार माया रूप अर्थ संयुक्त है। महामोह रूपी कुहरे से जीव आच्छादित है। इससे तुम विवेक पद का ही आश्रय कर ज्ञान द्वारा सत्य को देखो और इन्द्रियों से वैराग्यरूपी नौका पर चढ़कर संसार सागर को पार कर जावो। हे रामजी! शरीर असत्य है। इसमें सुख और दुःख असत्य है। फिर तुम दाम-व्याल-कटक की भाँति क्यों होते हो? भीम भास की दृढ़ स्थिति को ग्रहण कर शोक रहित होवो। मनका अहं निश्चय भी व्यर्थ है। उसको त्यागकर तत्वपदका आश्रय करो और चलते, बैठते, खाते, पीते यही मनन किया करो

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति-प्रकरण का इक्कीसवां सर्ग समाप्त ॥ २१ ॥

—:-:-:—

बाईसवां सर्ग

दाम-व्याल-कटक परिचय

रामजी बोले-हे भगवन्! आपने जो "दाम-व्याल-कटक की

कटे हुए वीरों अपने प्रवाह में बहा ले चली। महा भयदायक समय उपस्थित होगया। कोई २ शस्त्र ऐसे चले शस्त्रों की नदी बन जाती थी। फिर तो संग्राम-दिशायें अग्नि रूप, मेघरूप, तमरूप प्रकाश, निद्रा, प्रबोध, सर्प, और गरुड़रूप अस्त्रों से आच्छादित हो गईं। संग्राम भूमि में मांस के ढेर लग गये। देवता दैत्य कटे हुए वृक्षों के समान कट कर गिर रहे थे। महाघोर संग्राम हुआ। अनेक देवता, गन्धर्व और किन्नरों का संहार हो गया और दैत्यों की विजय हुई।

इसके पश्चात् फिर महादारुण संग्राम आरम्भ हुआ। इसमें देवता और राक्षसों का शरीर ऐसे गिर रहा था जैसे पंख हीन टूटे पर्वत पड़ते हैं। फिर रुधिर की धारा बहने लगी। महाभयानक शब्द उत्पन्न होकर आकाश और पृथ्वी परिपूर्ण हो गई। फिर तो दामने देवताओं के समूह को घेर लिया और व्यालने पकड़कर पहाड़ में पीस डाला। इससे 'कट' ने देवताओं के समूहको चूर्णकर उनके स्थानों को भी तोड़ डाला और महा दारुण संग्राम उपस्थित किया। तब महा मदमस्त ऐरावत हाथी भी उनकी मार से ताड़ित होकर भाग चला। मध्याह्न के सूर्य के समान दैत्य तपने लगे। उनका वेग ऐसा बढ़ा कि मानों बांध का पुल टूट गया है। फिर तो बड़ी तीक्ष्णता से देवगण भाग चले और दाम, व्याल कटक विजयी होकर प्रसन्नता पूर्वक अपने स्वामी शम्बर के पास लौट आये। इस भाँति दैत्यों से मारे देवता बड़ी चिन्ता में पड़े तब शम्बर के भय से रक्षा न होते देखकर वे इन्द्र सहित ब्रह्माजी के पास गये उन्हें देखकर रक्ताम्बरधारी ब्रह्माजी उठ खड़े हुए और आगमन का कारण पूछा। देवताओं ने शम्बर दैत्य और दाम, व्याल, कटक से युद्ध का सारा वृतान्त बतला कर विनय किया कि, अब रक्षा आपके हाथ है। तब त्रिलोकी दयालु ब्रह्माजी ने कहा, हे अमरेश! इन दैत्यों के लिये आप लोगों का यत्न व्यर्थ है।

कर दैत्यराज और भी क्रुद्ध हुआ। तब अग्नि लगा कर उसने लोक पालों के स्थान को भस्म कर दिया। देवताओं को ढूँढ़ा तो वे न मिले। फिर तो वह बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसी समय उसने अपनी सेना की रक्षा के लिए दाम, व्याल और कटक नाम के तीन कालरूपी राक्षसों को रचा। उनको धर्म कर्म का ज्ञान नहीं था। यहाँ तक कि, पूर्व वासना के कर्म भी उन्हें न थे। वह निर्विकल्प स्वरूप थे। वह शारीरिक स्वभाव सत्तामें भी स्थित न थे और केवल स्पन्दमात्र कर्मरूप चेतना ही उनमें विद्यमान थी। मैंने उन्हीं तीनोंका नाम तुमसे लिया है। वे ऐसे बली और मायावी थे कि मनमाने अस्त्र भी रच लेते थे। वे बिना वासना भी चेष्टा किया करते थे। वे जीत हारको कुछ भी न जानते थे। वे ऐसे वीर थे कि उनकी भीषण मार से विशाल पर्वत भी चूर्ण हो जाते थे। फिर तो उन तीनों की वीरता से शम्बर बड़ा प्रसन्न हुआ। कारण कि वे वासना से रहित थे। वासना रहित होने से न तो वे मर सकते थे और न जीते थे, फिर वे देवताओं के भयसे भागते भी क्यों? लाख प्रयत्न करते हुए भी देवता उन्हें न मार सके।

श्री योगवाशिष्ठ भाषास्थिति-प्रकरण का बाईसवां सर्ग समाप्त ॥ २२ ॥



तेईसवां सर्ग

दाम-व्याल-कटक का अद्भुत पराक्रम और देव ब्रह्म परामर्श

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! जब ऐसे महाबली तीन वीरों को स्थापित कर शम्बर प्रसन्न हुआ तब देवताओं को बड़ी ईर्ष्या हुई। यद्यपि वह शम्बर के भय से भागते फिरते थे तथापि उसकी वृहद सेना का सामना करने के लिए उन्होंने अपनी एक विशाल सेना का आयोजन किया और युद्धके लिए सन्नद्ध होगये। फिर तो प्रलयकाल के समान दोनों सेनायें युद्ध करने लगीं। महाघोर युद्ध हुआ देवताओं की सेना कटती थी, पर दाम, व्याल कटक तिलभर भी पीछे न हटते थे समस्त दिशायें शस्त्रों से ढँक गईं। रुधिर की धारा

तब भला जो शरीर का अभिमान करता है, जिसके हृदयमें तृष्णा ही उठती है उसको एक बालक क्यों न जीत लेगा। हे देवगण! तुम तो निर्वासनिक हो अस्तु अस्त्र युद्ध का त्यागकर जिस प्रकार हो उनमें वासना उत्पन्न करो। हे देवराज! जिसमें अहं मम और इदं की वासना नहीं जो राग-द्वेष में नहीं है, उसको अस्त्र शस्त्र से कोई नहीं जीत सकता। अतः वे तीनों बिना इस युक्ति के और किसी प्रकार भी नहीं जीते जा सकते। उसमें वासना उत्पन्न करना ही वश करने की सरल युक्ति है। यह कहकर ब्रह्माजी अन्तर्ध्यान हो गये।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा–उत्पत्ति–प्रकरण का तेईसवां सर्ग समाप्त ॥ २३ ॥

-:-❀-:-

चौबीसवाँ सर्ग

दाम, व्याल, पराजय वर्णन

वशिष्ठजी बोले,–हे रामजी! ब्रह्माजीका ऐसा उपदेश सुनकर देवगण भी अपने २ स्थानों पर लौट आये और पुनः युद्ध करने की बात सोचने लगे। कई दिन पश्चात् जब घोर शंख–ध्वनि से आकाश पाताल शब्दित हो गया तब दैत्य गण पाताल से निकल युद्ध करने को फिर उद्यत हुए। युद्ध होने लगा। दोनों ओरसे बरछी गदा, प्रास, मुग्दर, वृक्ष और पर्वत आदिक शस्त्र अस्त्र चलने लगे। शस्त्रों का वेग ऐसा बढ़ा मानों गङ्गा आदिक नदियाँ बह रहीं हैं। फिर तो कितने ही देवता और दैत्यों के शिर कट गये। पृथ्वी रक्त रञ्जित होगई। आकाश की दिशायें अग्नि से ऐसे पूर्ण होगईं मानों प्रलयकाल का द्वादश सूर्य तपने लगा। बड़े २ पर्वतों की वर्षा हो रही है। रक्त–प्रवाह में विशाल पर्वत ऐसे घूम रहे थे, जैसे समुद्र में जल की तरंगें घूमती हैं। ऐसा दारुण संग्राम हुआ कि, शस्त्रों का प्रवाह सर्प और गरुण के समान दिखलाई पड़ने लगा। कभी प्रकाश हो जावे तो कभी अन्धकार छा जाता था। जब युद्धने ऐसा भीषण रूप धारण किया तब दैत्यगण आकाश

अभी ये मर नहीं सकते। समय आवेगा कि, अहङ्कार होने पर यह तुम्हारे हाथ से मारे जावेंगे और तभी तुम विजयी होवोगे। मैंने इनके भविष्य को जाना है। यह तो मारना मरना भगना भागना जानते ही नहीं। इनको शम्बर दैत्य ने अपनी माया से रचा है, और इनको अहं मम का अभिमान नहीं है। फिर यह नाश कैसे होंगे। विना अहङ्कार उपजे नाश नहीं हो सकता। इससे अब आप लोग अहङ्कार उत्पन्न करने का यत्न कीजिये। यत्न यह कि, आप लोग युद्ध तो करते ही रहे पर छल के साथ। इस प्रकार सदैव के युद्धाभ्यास से उनमें अहङ्कार का बीज उत्पन्न होगा और वे उस अंकुर से अपना प्रतिविम्ब देखेंगे। फिर तो वासना स्वयं ही फुर आवेगी और ग्रहण त्याग तथा कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान होगा जिससे वे अपने को दाम, व्याल, और कटक जानेंगे। फिर तो उनको वश कर तुम अपनी विजय कर लोगे। क्यों कि वासना की ताँत में बँधे हुए जीवों को वश करना कठिन नहीं है। पर जो बुद्धिमान, दार्शनिक असंशक्त बुद्धि वाले समदर्शी हैं उन्हें कोई जीत नहीं सकता। वासना फाँस में पड़े हुए देहाभिमानी चाहे सर्वशास्त्र वेत्ता भी हों, पर उनको एक बालक भी जीत लेगा। क्योंकि वे सब अपराधों के पात्र हैं। ऐसे कृपणों में उदारता कहाँ? भला जिसने अपने स्वरूप अनन्तातमा को देहादि के अभिमान में फँसा रखा हो वह क्यों न दीन होवेगा? संसार का कोई भी पदार्थ जब तक सत्य प्रतीत होगा तब तक बुद्धि उपादेय ही बनी रहेगी और वासनामें बँधी रहेगी। यह भावना ही तो दुःख का कारण है। अतएव दाम, व्याल और कटक को तुम तब तक न मार सकोगे जब तक जगत के पदार्थों में उनकी आस्था न होगी। इससे तुम उन तीनोंमें अहंका भाव उत्पन्न करो तब तुम्हारी विजय होगी। तृष्णारूपी कंजका बीज महान् आपदा का कारण है। वासना रूपी ताँते में बँधे हुए जीव अनेक जन्म दुःख पावेंगे। चाहे बली हो, चाहे सर्वकुल श्रेष्ठ, वह भी तृष्णा में बँधा है।

के स्थान में कुकुहा नाम से जाकर रहने लगा। तब वहाँ उसे कई सुन्दर स्त्रियाँ प्राप्त हुईं और वह उन्हें लेकर सातवें पाताल में चला गया। फिर उसे बहुत से पुत्र पुत्रियाँ हुईं। उनको देखकर वह प्रसन्न रहता था और 'यह मैं हूँ'-'यह मेरी स्त्री है'-ऐसी वासना में खूब बँध गया और इस भाँति वह वहाँ एक हजार वर्ष तक रहा। एक समय किसी कार्य वश धर्मराज वहाँ जा पहुँचे तो उनको देखकर सभी किंकर खड़े होगये और प्रणाम किया। फिर दाम, व्याल, कटक ने यम को जानकर प्रणाम नहीं किया, इससे यम बहुत कुपित हुए और आज्ञा दी कि अभी इन तीनों को सपरिवार नरक कुण्ड में छोड़ दो। किंकरों ने वैसा ही किया। वे नरक कुण्ड की दावाग्निमें जल गये। पश्चात् मलिन वासना से एक धीवर के घर पैदा हुए। वहाँ बहुत काल तक मछली आदि मारते रहे। जब वह भी शरीर छूट गया तब हाथी हुए और फिर क्रम पूर्वक मछली, चील, बगुला और धीवर योनि में जन्म पाते गये। अब वही तीनों काश्मीर देशके एक तालाब में मच्छर हुए हैं। वहाँ के बन में अग्नि लगी थी, इससे तालाबमें जल भी थोड़ा है। पर वे उसी में रहते हैं और केवल जल पीते हैं। न कभी मरते हैं न जीते हैं। दिन रात चिन्ता में पड़े रहते हैं। हे रामजी! अज्ञान वश जीव अनेक जन्म लेते और मरते हैं। समस्त जीव वासना में भ्रम रहे हैं। अतः इनका ज्ञान ही उचित और यही सुख का हेतु है। नहीं तो सुख कदापि न मिलेगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का पच्चीसवां सर्ग समाप्त ॥ २५ ॥

—❀—

छब्बीसवां सर्ग

निर्वाणोपदेश-वर्णन

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! इन दैत्यों का इतिहास तो मैंने तुम्हारे बोध के लिये सुनाया है। पर तुम ऐसा न होना। अविवेकी को अनेक आपदायें और दुःख प्राप्त होते हैं। नहीं तो

में उड़ २ कर युद्ध करने लगे। पर देवता लोग शास्त्रों से मारकर उन्हें गिरा देते थे। कई पर्वतों के टूटे पंख के समान पृथ्वी पर गिर पड़ते थे। फिर देवता और दैत्य बड़े सङ्कट को प्राप्त हुए। निदान देवताओं को फिर हारना पड़ा और वे लोग, अपनी २ जान बचा भाग खड़े हुए। पैंतीस वर्ष पश्चात् फिर युद्ध आरम्भ हुआ। यह युद्ध चार-चार और आठ-आठ दिन का बीच देकर होने लगा। इसमें देवता लोग छिप २ कर छलके साथ युद्ध करते थे। इस भाँति छल सहित निरन्तर के युद्ध से दाम, व्याल और कट देवताओं के पीछे दौड़ने लगे। उनको अहङ्कार फुर आया। अहङ्कार फुरने से पदार्थों की वासना फुरी और यह फुरा कि हम दाम, व्याल और कट हैं, देवताओं को जीतना चाहिये। फिर तो यह भावना आते ही अहङ्कार वश उन्हें अपने नाश व अपनी रक्षा का यत्न सूझने लगा। तब इस आशा फाँस में बँधकर वे अपने शरीर को ही देखने लगे। उनका धैर्य जाता रहा और वे महा दीन होगये। तब वे शत्रुको पहचानकर बचनेकी चिन्तामें पड़े। फिर तो उनकी शोभा जाती रही और खान पान की वासना सूझी। सांसारिक भावनाओं ने आ घेरा। फिर तो वे ढाल आदिक लेकर युद्ध करने लगे। पश्चात् क्रमशः वे ऐसे दीन होगये कि देवताओं की तो बात ही क्या थी सर्व साधारण से भी डर जाते थे। फिर तो देवताओं की बन आई। और उन्होंने दैत्यों को परास्त कर दिया। बहुत कट से गये और जो बचे वह भाग खड़े हुए, देवता विजयी हुए।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा स्थिति-प्रकरण चौबीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २४ ॥

पच्चीसवाँ सर्ग

दाम, व्याल, कट जन्मान्तर

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! जब इस भाँति देवताओं की विजय हो गई और दैत्यराज के तीनों वीर अपनी सेना कटाकर भाग गये, तब शम्बर दैत्यों के मण्डल को छेदकर यमकिङ्कर

जैसा निश्चय है वही चाहे तो दृढ़ अभ्यास से दूर कर सकता है अन्यथा नहीं। ज्ञानी भी अज्ञानी के निश्चय को नहीं दूर कर सकता। अतएव जो ज्ञानी पुरुष हैं उन्हीं को मेरा वचन अच्छा लगेगा। केवल आत्मा का ही अनुभव सर्वदा सत्यरूप है और अन्य सभी पदार्थ असत्य हैं। इससे प्रबुद्धों का विषय उन्हीं को शोभता है और अज्ञानी के लिए तो जगत् ही सत् है। फिर उसे ब्रह्मवाक्य कैसे अच्छा लगे। ज्ञानी तो यह जानता है कि, जगत् रंचमात्र भी सत्य नहीं है, केवल एक परब्रह्म सत्ता का ही स्वरूप है। ऐसा विवेकीजनों का अनुभव है। उनके निश्चय को कोई दूर नहीं कर सकता कि परमात्मा से भी पृथक और कुछ है। पर अज्ञान को तो पंचभूत ही भासते हैं। वह अपने को जानता भी है तो नाम मात्र। किन्तु समदर्शी को इसके विपरीत जान पड़ता है अतः 'मैं-तुम, इत्यादिक असत् रूप हैं, सत् तो केवल वही शुद्ध, संवितबोध, आकाश, निरञ्जन, सर्वगत, शान्तरूप, उदय व अस्त से रहित है। यह जगत अज्ञानी को ही सत भासता है। आत्मा में जैसा निश्चय होता है, वैसा ही भासता है। हम तुम इत्यादिक जितना जगत है सब उसी निराकार अनन्त चेतन की स्फूर्ति से शरीराकार हो भास रहा है। दामादिक भी ऐसे ही थे। संवित की किंचनता में निश्चयानुसार वह आकारवान होकर भासित हुए थे–ऐसे ही हम तुम भी संवेदन के फुरने से स्थित हुये हैं। व स्वप्नपुर और मृगतृष्णा के जलवत हम तुम इत्यादिक जगत आत्मरूप से भास रहे हैं। किन्तु प्रबुद्धों को सर्व चिदाकाश भासता है। ऐसे आत्म–जागृत और जगत-निद्रित पुरुष मोक्षरूप हैं। पर जो इसके प्रतिकूल है वह अज्ञानी और बन्धरूप है। अन्यथा न तो कोई सोया है न जागा है, न बन्ध है, न मोक्ष है, केवल चिदाकाश हो जगत रूप होकर भासित है। वही ब्रह्म है, वही जगत है। एक

देवनाशक और दैत्यराज शम्बर को अनेक निकृष्ट योनियों में क्यों भ्रमना पड़ता। हाय, उनके निरहङ्कार चित्त, शान्ति और उदारता को वासना ने अहङ्कार वश नष्ट कर दिया। वह अनेक दुःख और आपदाओं को प्राप्त हुए। पर क्यों न हों, अहङ्कार ही तो संसार रूपी वृक्षका बीज है। इसीसे तो अनेक दुःख और आपदायें प्राप्त होती हैं? अतः तुम इस अहङ्कार को ही मारो। इस अहंवृत्ति को असत् रूप जानो कि, मैं कुछ नहीं हूँ। इसको मारकर ही तुम सुखी होवोगे। हे रामजी! इस शान्त रूप आत्मा पर अहङ्कार रूपी मेघने छा लिया है। विवेक रूपी पवन चले तो वह मेघ नष्ट हो अन्यथा नहीं? अहङ्कार रूपी पिशाच ही दाम, व्याल, कट नामक मायारूपी दानवों को उत्पन्न कर अनेक दुःखों को भोगता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जब सत् का अभाव और असत् का भाव नहीं होता तब दाम, व्याल, कट जो असत् हैं-सत् कैसे हुए? वशिष्ठजीने उत्तर दिया सत्को कुछ नहीं भासता और असत् सब कुछ प्राप्तसा दीख पड़ता है। वह नहीं देखता कि यह असत्य है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! हम आप तो सत्रूप ही हैं न, पर यह दामादि की झूठी माया सत् कैसे हुई? वशिष्ठजी कहने लगे,—हे रामजी! मैं तुम और दामादि माया जो कुछ जगत् में भास रहा है सब असत्य है। जैसे स्वप्नान्तर में अपना मरण भासे और जो असत्यरूप है। वैसेही हम, तुम और यह जगत भी असत्यरूप है। हे रामजी! मेरे यह वचन मूढ़ों के लिए नहीं है, उनको यह नहीं शोभित होंगे। क्योंकि वह तो संसार सद्-भाव में दृढ़ हो रहे हैं। संसार का अभाव बिना दृढ़ अभ्यास के नहीं होता। भला वह मूर्ख कितना उन्मत्त है कि जिसका जगत का निश्चय है। ज्ञानी को जगत की सद्भावना नहीं होती। वह केवल ब्रह्मसत्ता के भाव में रहता है और अज्ञानी जगत को सत्य जानता है। ज्ञानी अज्ञानी में बड़ा अन्तर है। वह एक दूसरे को नहीं जानते। उनके विचार कभी एक नहीं हो सकते। जिसको

में दाम 'व्याल' कटक की कथा राजा को सुनावेगा। तब कट पक्षी अपना वृत्तान्त सुनकर विचरेगा और उसका अहङ्कार शान्त होगा। वह निर्वाण सत्ता को प्राप्त होगा। तब यही सुनकर व्याल नामक दैत्य भी निर्वाण सत्ता को प्राप्त होगा और ऐसेही दम नामक दैत्य भी मुक्त होगा। हे रामजी! यह वृत्तान्त मैंने तुमसे इसलिये कहा है कि, यह संसार मायामय और भ्रम मात्र है। यह महाशून्य और अविचार सिद्ध है। विचार पूर्ण ज्ञानसे ही इसकी शान्ति होती है। केवल अज्ञानरूपी अहङ्कारसे जीव इतनी लघुताको प्राप्त हो रहे हैं और अपनी वासना से जगत को सतरूप जानते हैं। पर यह मृगतृष्णा के जलवत कल्पना से भ्रमवश सत्य भासता है। ऐसे संसार को तरना बड़ा ही कठिन है। सच्छास्त्र व संसार निरूपण शास्त्र जो शब्द प्रकाशक हैं उनका आश्रय करने पर ही संसार के पदार्थ शुभरूप जान पड़ते हैं। हे रामजी! इस भांति जो अनुभव के प्रसिद्ध पथगामी हैं वे नाश को नहीं प्राप्त होते और सुखसे स्वच्छन्द गमन करते हैं। ब्रह्म निरूपण शास्त्र सुखदायक और संसार निरूपणशास्त्र दुःखदायक है। जो अपनी बुद्धि में यह समझता है कि, अमुक पदार्थ मुझको मिले और उनसे मुझको सुख प्राप्त हो, वह बड़ा अभागा है ज्ञानी पुरुष को यह जगत तृणाके ही समान तुच्छ भासता है। यही नहीं, वह ब्रह्माण्ड खंड लोक और लोकपालों को भी तृणाके समान ही तुच्छ जानता है। वह ऐश्वर्यों को आपदा रूप समझ कर त्याग देता है इस कारण तुम हृदय से निश्चयात्मक तत्व हो रहो और बाहर जैसा अपना आचरण हो, वैसा करो। आचार न छोड़ना। आचार छोड़ देने से शुभ कार्य भी अशुभ हो जायँगे। अतः शास्त्रानुसार चेष्टा करते रहना चाहिये। सत्सङ्गति और सच्छास्त्रों के विचार से बड़ा प्रकाश मिलता है। जो यह सेवन करता है वह अंधकूप में नहीं गिरता। हे रामजी! वही पुरुष सम्पदाशाली है जिसके हृदय में वैराग्य, धैर्य, सन्तोष और उदारता आदिक गुण प्रवेश करते हैं और वास्तव में

ही वस्तु के दो नाम हैं। अतः तुम अपनी समस्त कल्पनाओं को त्याग कर अपने आप में स्थित हो जाओ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति प्रकरण का छब्बीसवाँसर्ग समाप्त ॥ २६ ॥

--:❀:--

सत्ताईसवां सर्ग

दाम, व्याल उपाख्यान-देशान्तर वर्णन

यह सुनकर रामजी ने पूछा कि, हे भगवन्! तब दाम, व्याल, और कटके दुःखका अन्त कैसे हुआ? वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! जब यमराज ने उन्हें नरक कुण्ड की अग्नि में भस्म कर दिया, तब उन किंकरों ने उनके उद्धार के लिये पूछा कि, इनका उद्धार कब होगा। तब यमराज ने कहा था कि जब इन तीनों का साथ नहीं रहेगा और ये अपनी सम्पूर्ण कथाको जानेंगे तब इनकी मुक्ति होगी। इस पर रामजी ने पूछा कि यह कैसे और कब होगा? वशिष्ठजी ने कहा, काश्मीरके जिस तालाबमें यह तीनों रहते हैं उसमें फिरकल्प पर्यंत बार बार मन्द होकर शरीर त्यागने पर सारस पक्षी होंगे और वहाँ के कमल बन में बहुत काल तक व्यतीत करेंगे। फिर ईश्वरीय कृपा से उनका पाप क्षीण होगा और बुद्धि निर्मल होगी। तब वह तीनों आपस में बिछुड़ जायेंगे और युक्ति से मुक्ति को प्राप्त होंगे। फिर काश्मीर के पर्वत पर एक प्रद्युम्न नाम का नगर बसेगा और वहाँ कमलों से पूर्ण एक महा सुन्दर सरोवर होगा जहाँ एक राजा होगा जिसका मन्दिर नगर के ईशान कोण में बनेगा। उस मन्दिरमें व्याल नामक दैत्य पक्षी के रूप में अपना गृह बनाकर रहेगा और निरर्थक बोला करेगा, तब शङ्कर नामक राजा राज्य करेगा। उसके मन्दिर की छत-छिद्र में 'दाम' नाम दैत्य मच्छर होकर भूं भूं शब्द करता हुआ विचरेगा। और 'कट' नामका एक पक्षी वहाँ रत्न जड़ित पिंजड़े में क्रीड़ा करेगा। और राजाके मन्त्री का नाम नरसिंह होगा। वह बड़ा बुद्धिमान होगा। वह बन्ध और मोक्षको जानेगा। वही मन्त्री श्लोकों

अट्ठाईसवाँ सर्ग

दाम, व्याल, कटोपाख्यान समाप्ति वर्णन

वशिष्ठजी बोले–हे रामजी ! जहां भी चला जाय पर प्रत्येक समय में अपने कर्मों के अनुसार ही फल प्राप्त होता है। एक दिन ऐसा हुआ कि नन्दीगण ने एक सरोवर पर शिवजी की आराधना की तो शिवजी ने प्रसन्न होकर उसे मृत्यु को जीतने का वर दिया, जिससे उसका नन्दी नाम पड़ा। तब उसने अपने शुभ कर्मों द्वारा मित्र बान्धव और कुटुम्ब वालों को बड़ा सुख दिया। शास्त्रके अनुसार यत्न करना कभी व्यर्थ नहीं जाता शास्त्रीय विचारों से ही राक्षसों ने सर्व श्रेष्ठ देवताओं को मारा है जिसने भी यत्न किया है, कभी व्यर्थ नहीं गया। यत्न से ही तो संवृत ऋषिने देव, दानव और मनुष्यों युक्त इस सृष्टि की रचना की और विश्वामित्र आदिक तपस्वी भी तो यत्न द्वारा ही राजर्षि हुए। उपमन्यु जैसा भाग्यहीन ब्राह्मण भी कोई होगा, जिसे भोजन तक का ठिकाना न था। पर जब एक दिन उसने अपने पिता के साथ किसी यजमान के घर खीर का भोजन किया और उस स्वाद के वश ही घर पहुँच कर अपने पिता से वही भोजन मांगा तो पिता ने यह कह कर कि मेरे पास ऐसा भोजन कहाँ है–शिवजी के पास भेज दिया। शिवजी के चरणों में पहुँच कर उसने बड़ा तप किया। शरीर को सुखा डाला। तब शिवजी ने प्रसन्न होकर उसे दूध भात मिलने का वर दिया। हे रामजी ! यह भी तो पुरुषार्थ है। भगवान् विष्णु तो सर्व श्रेष्ठ हैं न। पर यदि वह भी यत्न न करें तो काल उन्हें भी चबा डाले जानते हो, सावित्री ने यमदेव से झगड़ कर अपने पतिको छुड़ा लिया था। अन्त में पतिदेव को लेकर वह परलोक में भी पहुँची। यह भी अपना पुरुषार्थ है। देवन ऋषि ने यत्न पूर्वक काल को भी जीतकर अपना मृत्युञ्जय नाम प्राप्त किया। अतएव यथा शास्त्र यत्न करने

ऐसे ही पुरुष पुरुष हैं अन्य पुरुष पशु हैं। यहाँ तक कि, वैराग्य, सन्तोष और धैर्य आदिक गुणों को रखने वाला पुरुष क्षीर समुद्र है और उसी में विष्णु भगवान् विराजते हैं। उसको कोई वस्तु भोगने और देखने की इच्छा नहीं है। उसकी तृष्णा नष्ट हुई रहती है। आकाश वासी देवता और अप्सरायें उसका गुण गान करती हैं। वह मृत्यु से तर जाता है। पर भोग की तृष्णा वाले नहीं तरते। वास्तव में ऐसे ही पुरुष जीवित हैं। शेष मरे हुए हैं। इसलिये तुम पुरुषार्थ के आश्रय में रहो, तब सिद्धि को प्राप्त होवोगे। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो शास्त्रानुसार पुरुपार्थ करने से न मिले। आदि शीघ्र नहीं मिलती तो कभी न कभी अवश्य प्राप्त होती है। अतएव तुम मूर्खों की भाँति संसार कूप में न गिरो संसार मिथ्या है। तुम उपशम होकर अपने पुरुषार्थ का आश्रय करो और शास्त्रों को विचारो। यह संसार एक रण क्षेत्र है। पुरुषार्थ रूपी शस्त्र से इसमें युद्ध करो और शास्त्रों से विचारो कि क्या करना चाहिये। विचार से रहित होकर तुम अभागे, दीन और अशुभ मत बनो। तुम उदारमना हो। निद्रा को त्याग कर उठो और पुरुषार्थ को स्वीकार करो, यही जरा-मरण की शान्ति के लिये परम कर्तव्य है। संसार के समस्त भोग रोग हैं। सम्पदा आपदामय है। अस्तु इन सबको त्यागो और सत्य मार्ग को स्वीकार कर अपने प्राकृतिक आचार में विचरण कर शास्त्र व लोक-मर्यादा के अनुसार व्यवहार करो, तभी अक्षय सुख प्राप्त होगा। जो पुरुष ऐसा करते हैं, वे संसार के दुःखों में नहीं पड़ते। उनके आयु, यश और लक्ष्मी की वृद्धि होती है। ऐसे पुरुष वसन्त ऋतु की मंजरी के समान प्रफुल्लित होते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, स्थिति-प्रकरण का सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २७ ॥

—:·❀·:—

रूपी मेघ जब हृदयरूपी आकाश में गरजकर वर्षा करते हैं तब तृष्णा रूपी कंटक मञ्जरी बढ़ती है और वह अहङ्कार रूपी मेघ आत्मा पर आक्रमण कर अंधकार कर देता है, प्रकाश नहीं होने पाता। इस अहङ्कार वृक्षकी शाखायें अनन्त हैं। इस अहङ्कार ही से संसार के सब सुख दुःख प्राप्त होते हैं। संसाररूपी चक्रकी अहङ्कार नाभि है और अहं-मम रूपी बीज से अनेक जन्मरूपी वृक्षकी परम्परा उदय-क्षय होती है और कभी नष्ट नहीं होती। अतः यत्न पूर्वक इसको नाश करो। बिना इसको नाश किये कल्याण नहीं है। जब तक इस अहङ्काररूपी पिशाच ने घेरकर नीच बना रखा है, तब तक मन्त्र तन्त्र भी दीनता पाशसे मुक्त नहीं कर सकते। रामजी ने पूछा—हे भगवत्! चिन्मात्र आत्म सत्ता है अहङ्काररूपी मलिनता कैसे प्रतिबिम्बित हुई? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया हे रामजी! यह जो अहङ्कार का चमत्कार है धर्म (सत्य) नहीं असत्य है। क्योंकि यह वासनाओं के भ्रम से उत्पन्न हुआ है। प्रयत्न करने से नष्ट हो सकता है। इस अहं-मम में कुछ सार नहीं। न मैं किसीका हूं, न कोई मेरा है। ऐसा अहङ्कार जब शान्त हो तब कोई दुःख न रहेगा। आत्मा में अहं कोई नहीं है, दृश्य में ही सब कुछ भरा है। स्फुरणके शांत होने पर अहङ्कार नष्ट होजाता है और अहङ्कारके नष्ट होनेपर हेयोपादेय बुद्धि भी शान्त होजाती है और समभाव की सुन्दर प्रसन्नता का उदय होता है। इस अहङ्कार के प्रभृति ही समस्त दुःखों का मूल है। रामजी ने पूछा—हे भगवन्! अहङ्कार का रूप क्या है और इसको कैसे लगाया जा सकता है। यह कब शरीर से रहित होता है। और इसके त्यागने में क्या फल मिलता है? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया, हे राघव! अहङ्कार तीन प्रकार का है। जिसमें दो अङ्गीकार के योग्य हैं और एक महा निकृष्ट त्यागने के योग्य है और शरीर से ही सब त्यागे जाते हैं। पहला अहङ्कार यह कि सब दृश्य में ही हूँ और मैं ही परमात्मा अद्वैतरूप हूँ। मुझसे भिन्न कुछ नहीं ऐसा निश्चय परम अहङ्कार का है और मोक्ष दायक है। यह बन्धन

से सब कुछ प्राप्त होजाता है। इस कारण पुरुष प्रयत्न का त्याग न करना चाहिये। क्योंकि यह सुख, फल और सर्व प्राप्ति का मूल है। यदि तुम सच्चा सुख और अविनाशी भावका सुख प्राप्त करना चाहते हो तो आत्मज्ञान का अभ्यास करो। सांसारिक सुख तो दुःख से सने हैं। दुःखों का नाश कर्ता तो आत्म सुख है। यद्यपि सम असम सब ब्रह्म ही है। पर सम परम कल्याण का करने वाला है। अस्तु अभिमान को छोड़कर सम का आश्रय करो और निरन्तर बुद्धिसे विचार करो। यदि यत्न पूर्वक संतों का साथ करोगे तो अवश्य परमपद को प्राप्त करोगे। इससे बढ़कर और कोई युक्ति नहीं है। सन्त वही हैं जो मोह, क्रोध से परे और शास्त्राचारी हैं। ऐसे सन्त अवश्य ही आचार्य होने के योग्य हैं। यदि ऐसे आत्मवेत्ता पुरुषों का साथ हो तो बुद्धि में संसार का नितान्त अभाव होजाये। फिर तो आत्मा ही शेष रहे और जीव का जीवन भाव निवृत्त होकर बोध तत्वकी प्राप्ति हो जावे। जगत न तो था, न होगा, न वर्तमान है—यही मैंने तुमको अनेक युक्तियां से कहा है और कहूँगा। ज्ञानी का मन सर्वदा ऐसा ही रहता है। अचल चिदात्मा में ही चंचल चित्त ने जगत का आभास रचा है और फुरने के अनुसार ही भासित होता है पर वास्तवमें कुछ है नहीं। अहंरूप आत्मा में आपको न जानना ही आत्माकाश में मेघरूपी मलीनता है। परमार्थ में अहंभाव को जाने तो अनात्मा में अहंभाव लीन होजावे और तभी जीव एकाग्र हो जावे। विचार पूर्वक देखा जाय तो यह निश्चय है कि अहं आदिक दृश्य कुछ हैं नहीं। बल्कि परछाईं के समान यह जगत भ्रम मात्र सिद्ध हो रहा है। अपने सङ्कल्प विकल्प ही दुःखदायक हैं। विचार से ही ये नष्ट होते हैं। क्योंकि आत्मरूपी चन्द्रमा तो सदैव प्रकाशित है और अहं रूपी मेघ पहुँच कर परमार्थरूपी कमलिनीको विकास नहीं करने देता। अतः विवेक-रूपी पवन चलाकर उसे नष्ट करो। नरक, स्वर्ग, बन्ध, मोक्ष, तृष्णा ग्रहण, त्याग इत्यादि सब केवल अहङ्कार से ही फुरते हैं। ये अहङ्कार

इसको त्याग कर तुम बड़े ज्ञानवान हो जाओगे । अहंकार का नाश होने पर शरीर पुण्यवान हो जायेगा और परमसार को प्राप्त करोगे । इसी का नाम परमपद है । जब मनुष्य में इस शरीर का अहंकार नहीं रहता तब वह समस्त व्यवहारों की चेष्टा में आनन्दित होता है । ऐसे पुरुषों को भोग राग में स्वाद नहीं रहता । क्योंकि वह अमृत से तृप्त रहता है । राग-द्वेष रूपी खट्टे मीठे स्वादों से वह चलायमान न होकर सर्वदा एक रस बना रहता है । ऐसे मनुष्य संसार सागर को प्रयत्न पूर्वक पारकर जाते हैं । अतः यही धारणा करो कि न मैं हूँ–न कोई मेरा है, सब कुछ मैं ही हूँ, मुझ से भिन्न कुछ नहीं है । ऐसे निश्चय से द्वैत-भ्रम नष्ट होकर आत्म तत्वका सदा भान होता रहेगा ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा,उत्पत्ति–प्रकरण का अट्ठाईसवां सर्ग समाप्त ॥ २८ ॥



उन्तीसवां सर्ग

भीम, भास, दृढोपाख्यान वर्णन

वशिष्ठजी बोले कि–हे रामजी ! शम्बर और देवताओं के युद्धमें जब शम्बर की सारी सेना मारी गई और उसके दाम, व्याल और कट नामक तीनों प्रधान सेनापति भाग गये तब शम्बर को बड़ा दुःख हुआ । तब वह भी भागकर एक गुप्त स्थान में अपना शोकमय जीवन व्यतीत करते हुए पुनः यह सोचने लगा कि देवताओं को किस प्रकार पराजित करूँ । उस समय में शम्बर को यह विचार आया कि दाम, व्याल आदि तो बड़े वीर थे, पर वे अहंकार वश नष्ट हुए और भागे । यदि उसको अहंकार न फुरा होता तो वे कदापि युद्ध से न भागते । इससे अब ऐसे वीरों को रचना करूँ जिनमें अहंकार का लेश तक न हो और वह ज्ञानवान और आत्मवेत्ता हों । ऐसे वीरों को कोई जीत न सकेगा और वे निश्चय ही देवताओं की सेना को मारेंगे यह सोचकर शम्बर ने अपनी माया से भीम भास और दृढ़

का कारण नहीं है। यह जीवन्मुक्त विचारणीय है। पर यह भी मैंने कल्प कर तुमको कहा है। नहीं तो यह भी कुछ नहीं है, केवल अचेतन चिन्मात्र सत्ताही सब कुछ है। दूसरा अहङ्कार यह कि, मैं सबसे पृथक और बालके अग्रभागकेसौ अंश से भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म हूँ, ऐसा निश्चयभी मोक्ष, प्रद है। यह भी मेरी कल्पना है, इसमें भी कोई वास्तविकता नहीं है। तीसरा 'अपने को हाथ मात्र में रखने वाला ही जानना' ऐसे निश्चयवान बड़े ही तुच्छ हैं और वह बन्धन का कारण है। इसको त्याग दो। क्योंकि यह दुष्टरूप है और परम शत्रु है। इस अहङ्कार में मरकर जीव परमार्थ की ओर नहीं जा सकते। यह शत्रु बड़ा चतुर और बड़ा बलवान नाना प्रकार के मानसिक दुःख काम, क्रोध, और राग-द्वेष को देने वाला है। यही सब जीवों को नीच बनाकर संकट में डालता है। पर इस दुष्ट के त्यागने के बाद जो शेष रहता है, वह आत्म भगवान् मुक्त रूप सत्ता है। हे रामजी। संसार में शरीर की भावना ही सुख दुःख का कारण है। इसी से महापुरुषों ने इस का त्याग किया है क्योंकि यह जानते हैं कि यह शरीर नही है चिन्मात्र शुद्ध आनन्द स्वरूप सत्ता है। इस प्रकार दो अहंकार तो ग्रहण योग्य हैं और तीसरा निकृष्ट त्यागने के योग्य है। इसी तीसरे निकृष्ट अहंकार को ही ग्रहण करने से दास व्याल, और कष्ट आपदा को प्राप्त हुए जो भयदायक आपदा कहते नहीं बनती। रामजी ने पूछा, हे भगवन्। इस तीसरे निकृष्ट अहंकार को त्याग कर क्या विशेषता प्राप्त होती है, कृपा कर कहिये। वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! यह तो प्रकट ही है कि, शरीरादि का अहंकार त्यागने पर परम पद प्राप्त होता है। प्राणी जैसे २ इसका त्याग करता जाता है, वैसे २ दुःखों से मुक्त होता जाता है और जब सबको त्याग देता है तब परम आनन्दित और शोभायमान हो जाता है। जब तुम इसको त्याग दोगे तब उत्तम पद को प्राप्त होगे अतः प्रत्येक अवस्था में दुष्ट अहंकार को त्यागने का यत्न करते रहो। यही परमानन्द और बोध का कारण है।

वही चित्त है। चित्त में सब पदार्थ, शब्द और अर्थ सहित स्थित रहते हैं। यदि सत् की ओर देखा जाय तो सम्यक ज्ञान होकर इसका नाश हो जावे और परम पद ही शेष रहेगा। अन्य चित्तमें वासना युक्त अनेक पदार्थों की तृष्णा होती है। जो इससे मुक्त है, वही मुक्त है। हे रामजी! चित्त के फुरने में अनेकता है। क्योंकि परछाहीं में बैताल भ्रम के समान ही नाना प्रकार के भ्रम चित्त में भासते हैं। जैसी वासना को लेकर चित्त स्थित हो, वैसा ही स्वरूप होकर भासता है। हे रामजी! चित्त के परिणाम ने ही दाम, व्याल और कट के स्वरूप का विपर्यय कर दिया था। पर भीम, भास और दृढ़ का निश्चय तुम सुन चुके। अब तुम भी इन्हीं के अनुसार निश्चयी बनो अन्यथा संसार में सभी दुःखी हैं, विरला ही कोई सुखी है। यदि तुम संसार की भावना को त्याग दोगे तो शरीरादि में बन्धनवान होकर भी व्यवहार में आसक्त न रहोगे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति-प्रकरण का उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २९ ॥

:--::--::--:

तीसवाँ सर्ग

उपशमरूप वर्णन

वशिष्ठजी बोले,-हे रामजी! वही सच्चा सुखी है और वही सच्चा वीर है कि जिसने अविद्यासे संसार की ओर सन्मुख हुए मनको जीत लिया है। उसी की सच्ची विजय है क्योंकि संसार ही सब उपद्रवों का केन्द्र है। इसको शान्त करने के लिये अपने मनको वश करें और बार-बार विचारें कि, जगत क्या है? ऐसा विचार करते हुए सत् स्वरूप आत्मा का आभास करना चाहिये और यह समझना चाहिये कि, जीवोंकी इच्छाही बन्धन का कारण है और इस इच्छाको त्यागना ही मोक्ष है। अन्यथा विषय भोग तो विष अग्नि के समान नाश के कारण हैं यह जानकर बारम्बार विषयों से चित्त को हटाना चाहिए फिर तो उनको सेवते हुए भी वे दुःखदायक नहीं होते। जैसे मंत्र शक्ति,

नाम के वीताराग आत्म रूपी तीन श्रेष्ठवीरों को उत्पन्न किया। वह तीनों वीर परम पवित्र हृदय के थे और संसारको तृणके समान जानते थे। जन्मते ही उन्होंने ऐसी गर्जना की कि, आकाश परिपूर्ण हो गया और देवता लोग डर गये। किन्तु पुनः सचेष्ट होकर अपनी वृहद् सेना लेते हुए युद्ध करने को उपस्थित हुए फिर तो युद्ध आरम्भ हुआ। दोनों ओर से शस्त्र चलने लगे। किन्तु भीम, भास और दृढ़ अपने स्थान से तिल भर भी पीछे न हटे। वार-वार उन पर शस्त्रों का प्रहार होता, पर वे किंचित भी शरीर मोह में न पड़कर झट सोचते कि, हम तो शरीर रहित, चैतन्यमय, निराकार, अद्वैत, निर्विकार और अच्युत रूप हैं, हमारा शरीर का सम्बन्ध नहीं है। ऐसा सोचकर वह निर्भय हो सम दृष्टिवान् बने भीषण युद्ध करने लगे। उनके भीषण दृढ़ संग्राम से देवताओं की सारी सेना मारी गई, वचे हुए सैनिक भाग चले। तव देवता लोग अत्यन्त विकल होकर विष्णु भगवान्की शरण में गये। भगवान् ने उनको दुःखी देखकर कहा, अब आप लोग यहां रहिए और मैं जाकर उन तीनों को मार आता हूँ। तब सुदर्शन चक्रधारी भगवान, शम्बर के निकट पहुँचे। शम्बर ने उनके साथ बड़ा भीषण युद्ध किया। ऐसा ज्ञात हुआ मानों प्रलय उपस्थित होगया है। किन्तु भगवान् ने अपने सुदर्शन चक्रसे उनको मार दिया। वे शरीर छोड़कर विष्णुलोक में पहुँचे। तब भगवान् उनके (भीम-भास दृढ़) के अन्तः पुष्पक में प्रविष्ट कर चित्तकलासे मिश्रित उसके प्राण को असत् कर दिया। असत् करने से उनकी पुष्पटका फुरने से निर्वाण होगई। फिर तो वे जीवन्मुक्त से विदेह मुक्त हो गये। हे रामजी! भीम, भास और दृढ़ निर्वासनिक थे, इससे वे दीपक के समान निर्वाण होगये। क्योंकि वासना युक्त ही वन्ध है और निर्वासनिक ही मुक्तरूप है। इससे तुम निर्वासनिक वनो। इसके लिए आवश्यकता है कि जगत् को असत् रूप जानो, जिससे कि वासनायें न फुरें और जगत के पदार्थों में आसक्त बुद्धि न हो। जो वासना है

होने पर मन भी नष्ट हो जाता है। जीवों में तृष्णा रूपी मन का उदय होना ही दुःख और मन का नष्ट होना ही सुख का कारण है। ज्ञानियों का मन नष्ट होता रहता है। अज्ञानियों का बढ़ता रहता है। पर्वत स्थावर मंडल और जड़ स्वरूप जितना कुछ सम्पूर्ण जगत्-चक्र है, सब मनो मात्र है अर्थात् मनरूप है। हे रामजी। चिन्मात्र शुद्धकला में जो चित्तकला फुरी है, वही संवेदन के सङ्कल्प विकल्प से मलीन हो गई है, जिससे उसको स्वरूप का विस्मरण हो गया है और वही मन है। वही मन निज वासना से संसार का भागी हुआ है। जीव वह है कि जब चित्त कम्पित होकर दृश्य से मिलकर उसमें तन्मय हो जावे, तब उस चित् संवित का नाम जीव है। वही जीव जब सांसारिक दृश्यों एवं संसार की गति में मिलकर चलने लगता है, अनेक तब प्रकार का विस्तार पाता है। किन्तु वह आत्मा पुरुष परब्रह्म सांसारिक नहीं है। वह न तो रक्त है, न माँस है और न शरीर है। क्योंकि यह शरीरादिक तो जड़ हैं। आत्मा आकाशवत् निर्लेप और चैतन्य-स्वरूप है परीक्षा के लिए शरीर को काटकर अलग२ कर दिया जाय तो सिवा रक्त, माँस और हड्डियों के और कुछ नहीं मिलेगा। केले का वृक्ष खोलकर देखा जाय तो सिवा पत्र के और कुछ नहीं दीखता। वैसे ही मन जीव में कोई भेद नहीं है। दोनों ही एक हैं और सब विकार भाव को करने वाले हैं। क्योंकि यह जीव अपनी कल्पनाओं से बन्धन में पड़ा हुआ है। अतः मनुष्य अपनी बासना से ही संसार बन्धन में फँसता है। भोगों की वासना मन से दूर होती नहीं और वह फँसा पड़ा रहता है। स्वप्न क्या है ? वासना युक्त दिन में जैसा बिचरे वैसा ही स्वप्न दीखता है। जैसी बासना होती है, वैसा ही पुण्य पाप के अनुसार परलोक भासता है। अतः जगत का भासित होना अपनी वासना है। इसमें जैसा संसर्ग होता है, तदनुसार यह प्रखरित होती जाती है। उत्तम साथ से उत्तमता की ओर और निकृष्ट साथ से निकृष्टता की

वाले को सर्प दुःख नहीं देते, वैसे ही त्याग करने वाले को भोग दुःख नहीं दे सकते। क्योंकि वासनाही संसारको सत्य फुरती है। इसमें वासना ही दुःख का मूल है। पृथ्वी में जो बीज बोया जायगा वही उगेगा। कटु बीज से कटु और मिष्ट बीज से मिष्ट पदार्थ उत्पन्न होते हैं। जो वासना रूपी बीज से संसार के भोगों को भोगता है उसको तो दुःख की परम्परा उत्पन्न ही होगी। पर जिसकी बुद्धि में शान्ति की भावना गर्भित होगी वह शुभ गुण, वैराग्य, धैर्य, उदारता और शान्ति का रूप प्राप्त करेगा। ऐसी शुभ भावना की खोज होने पर मन और बुद्धि विमल हो जाती है और मन बुद्धि के विमल हो जाने से शनैः शनैः अज्ञान नष्ट होकर सज्जनता प्राप्त होती है। ऐसी सज्जनता के प्राप्त होने पर विवेक उत्पन्न होता है, और विवेक होने पर उदय का मोहरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है। अहङ्कार नष्ट होने पर धैर्य और उदारता की उन्नति होती है और तब सत्सङ्ग औरसच्छास्त्र के अभ्यास से शुभ गुण उदय होकर परमानन्द का कारण, शीतल, शांत स्वरूप प्रकट होता है। हे रामजी! जब उस सत्सङ्ग रूपी वृक्ष से विवेक रूपी फल उत्पन्न होता है, तब उस फल से समता रूपी अमृत स्रवता है। फिर तो निर्भय और सब कामनाओं से रहित होकर मन उपद्रव रहित हो जाता है। अन्यथा मनकी चंचलता तो महान शोकदायक है। मन अचल रहे तो सब शान्त हो जावे। शास्त्रों का अर्थ जान लेने से भ्रम नाश हो जाते हैं और अनेक प्रकार के सङ्कल्प विकल्प भी शान्त हो जाते हैं। ऐसा जीवन मुक्त प्राणी अलेप है, उसको संसार के मोक्ष स्पर्शित नहीं करते। वह इच्छा रहित, निरुपस्थित निर्लेप और दुःख रहित होता है। वह चिद्-ग्रन्थि से मुक्त परमानन्द रूप मग्न रहता है। इससे यह कहते हैं कि जो पुरुष तृष्णा रूपी सूत्रके जाल से निकल गया है वही सच्चा वीर है। पर जो तृष्णाओं को नहीं जला सकता है, वह जन्म मरण के चक्कर में भटकता है। तृष्णाओं के घटने से मन भी सूक्ष्म हो जाता है और तृष्णा नष्ट

हो जाता है। हे रामजी ! द्रष्टा और दृश्य जो स्पष्ट भासते हैं वह असत्य हैं और इस असत्य में तन्मय होना ही मनका रूप है। क्योंकि यह पदार्थों में भ्रमता रहता है और पदार्थ असत्य हैं जो आदि में न तो उत्पन्न हुए हैं और न अन्य में रहते हैं। उस से यह असत्य रूप हैं। अज्ञानता से जो इन्हें सत्य जानते हैं वे निःसन्देह दुःखको प्राप्त होते हैं। असत्य भावना के बिना इन दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता। भाग्यवश दृश्यों में भी आत्मा की भावना होने लगे तो दृश्य भी मोक्षप्रद हो जाँय। अन्यथा अज्ञानी को जल और उसकी तरंगें तो भिन्न ही प्रतीत होती हैं। पर ज्ञानी को एक ही रूप का निश्चय होता है। ऐसे ही अज्ञानी को यह जगत नाना रूप जान पड़ता है और वह ग्रहण त्यागकी अनिश्चयात्मक बुद्धि से भटकता हुआ दुःख पाया करता है। किन्तु ज्ञानीको सर्वात्मा का ही निश्चय रहता है। वह भेद भाव से रहित अन्तर्मुख हो सुखी रहता है। हे रामजी ! मन एक सङ्कल्पशक्ति और असत् रूप है। इसीसे यह विनाशी रूप से सत् जानकर क्लेशमात्र होता है। जैसे कोई अपना सम्बन्धी विदेश में जाकर रहने लगे और जब उसकी भावना की जाय तब दुःख और राग होता है, पर जब आत्मा में अहं प्रतीत होती है तब देहादिक सुख दुःख स्पर्श नहीं करते। हे रामजी ! शिव तत्व का ज्ञान होने पर किंचित भी दुःख नहीं रहता। क्योंकि शिव ही द्रष्टा और दृश्य के मध्य में व्यापक है, उसमें स्थित होकर मन शान्त हो जाता है। फिर जैसे वायु के बिना धूल नहीं उड़ती, वैसे ही मन के शान्त होने पर शरीर धूल रूप हो जाती है और संसार रूपी कुहरा नष्ट हो जाता है। वर्षा ऋतु रूपी वासना के नष्ट होने पर पता नहीं चलता कि जड़ता रूपी बेलि कहां गई। क्योंकि अज्ञानतारूपी मेघ शान्त होने पर तृष्णारूपी बेलि सूख जाती है और हृदयरूपी पवन मोह रूपी कुहिरा को नष्ट कर देता है। अज्ञानरूपी मेघ के नष्ट हुए देह अभिमान रूपी जड़ता का पता नहीं चलता कि कहाँ गई। पर

ओर अग्रसर होती है निर्मल भाव स्थित होने से मनकी कल्पना और पापवासना अवश्य मिट जाती है पर विपरीत होने से मलिनता की वृद्धि होकर मलिनरूप (फल) प्राप्त होता है। इस कारण तुम कलंकरूपी दुर्वासना को त्याग कर पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान विराजित हो जावो। क्योंकि संसार का कोई सच्चारूप नहीं है और सब भ्रममात्र है। अज्ञानता से भेद विकार भासते हैं—अन्यथा बन्ध और मोक्ष कुछ नहीं है। सब कुछ इन्द्रजालिक मिथ्या और भ्रम भास रहा है। अपनी अज्ञानता से जीवों को ऐसा निश्चय हो रहा कि मैं आत्मा नहीं, नीच हूँ। आत्मा का अभ्यास करे तो हृदय में स्थित होवे। ऐसे भाव की स्थिति से अनिकृष्ट निश्चय का अभाव हो जायगा और सब जगत आत्मामय प्रतीत होगा। पर जिसको शरीरादि की भासना दृढ़ हो रही है उसको बन्धन होता है। तपस्वी के समान अपने ही सफलता से बन्धन में आ जाता है। इसके विपरीत जिसे निज स्वरूप की भावना होती है उसको मोक्ष भासित होता है। पर आत्म-सत्ता बन्ध और मोक्ष से भी परे है। वह अद्वैत-ब्रह्म-सत्ता अपने आप में ही स्थित है। पर यह तब भासता है जब मन निर्मल हो जाय और किसी पदार्थ में न बँधे। ऐसा होने पर प्राणी को ब्रह्म सत्ता ही दीखती है और कुछ नहीं। किन्तु यह तभी सम्भव है जब मन वैराग्य और अभ्यासरूपी जल से निर्मल किया जाये। फिर तो ब्रह्मज्ञान का वह रङ्ग चढ़ता है कि, सर्वत्र आत्मा ही भासता है और ग्रहण त्याग की वृत्ति नष्ट होकर बन्धन मोक्ष भी कुछ नहीं रहता। भोग की वासनाओं से जब मुक्त हो जाता है तब सच्छास्त्र के विचार से क्रमशः बुद्धि में वैराग्य उत्पन्न होकर परम बोध प्राप्त होता है। परम बोध प्राप्त होने पर हृदय कमल के समान बुद्धि खिल जाती है। ज्ञान दो प्रकार का है, सम्यक और असम्यक। सम्यक ज्ञान से मन सत् की भावना में स्थित होकर परम पद को प्राप्त हुआ कहा जाता है। असम्यक ज्ञान मन का है और यही सब पदार्थों की रचना कर तन्मय

न पुतलियों को कल्पा हो। किन्तु वह कुछ नहीं, केवल शिल्पकार के मनका एक फुरना है। वैसे ही मनरूपी शिल्पकार ने आत्मा में ही इस जगत की कल्पना की है। वह आत्मा के आधार होकर आत्मा की छत्र छाया में रहकर आत्मा में ही स्थित है। पर आत्मा का और उसका स्पर्श नहीं है। जिस प्रकार बादल आकाश के आधीन रहकर आकाश में ही स्थित है परन्तु आकाश का और उसका स्पर्श नहीं है, वैसे ही आत्मा स्पर्शित होते हुए भी सर्वत्र पूर्ण होकर पुर्यष्टक रूप हृदय में भासित होता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सर्वत्र व्यापक है पर जलमें ही प्रतिबिम्बित होता हुआ काष्ठ और पृथ्वी आदि में प्रतिबिम्बित नहीं होता, वैसे ही आत्मा शरीर इन्द्रिय और प्राण में प्रतिबिम्बित न होता हुआ हृदय पुर्यष्टक में भासता है आत्मा का वह स्वरूप सब सङ्कल्पों और सङ्गों से रहित है। ज्ञानी पुरुष इसको चैतन्य अविनाशी और आत्मा तथा ब्रह्म आदि कहकर सम्बोधन करते हुए उपदेश करते हैं। पर वह आकाश से भी सूक्ष्म और निर्मल है। अतः आत्मा ही जगत का रूप है, जगत कोई अन्य वस्तु नहीं। जैसे जल द्रवने से तरङ्गरूप भासता है किन्तु तरङ्ग कोई भिन्न वस्तु नहीं है, वैसे ही आत्मा से पृथक जगत नहीं है, केवल चेतन सत्ता ही चैतन्य शक्तिसे जगत रूप भासती है, और यही अज्ञानी को नाना प्रकार का जगत हो भासता है। अन्यथा जगत कोई वस्तु नहीं, केवल आत्मा सत्ता ही अपने आप में स्थित है। वह अनुभव स्वभाव से प्रकाशित होता है। वही सूर्य आदिको भी प्रकाश देता है। वही सब स्वादों का स्वाद है और सब भावों से सिद्ध है। वह सत्ता उदय और अस्त, चलने और चलने से परे हैं। वह लेता देता कुछ नहीं। स्वतः स्थित है। जीव अनेक सङ्कल्पों से विपरीत स्वरूप देखता है और कहता है यह पदार्थ है और यह मैं हूँ, और यह दूसरे हैं। किन्तु तब वह आत्मा को जान लेता है तब भ्रम नष्ट हो जाता है। जैसे वृक्ष की

जब तक अज्ञानता का बादल गर्जता रहेगा तब सङ्कल्प रूपी मोर नाचते ही रहेंगे। अहङ्काररूपी मेघ के नष्ट होते ही परम निर्मल आत्मा रूपी सूर्य का प्रकाश हो जाता है। मोहरूपी वर्षाका अभाव होने पर ज्ञान रूपी शरद् ऋतु से दिशायें निर्मल होजाती हैं और आत्मारूपी चन्द्रमा शीतल चांदनी प्रकाशता हुआ सदैव सुख सम्पदाओं को प्रदान कर परमानन्द की प्राप्ति करता है इस प्रकार पूर्व शुभगुणों के संचित विवेक रूपी बीज से शुभ मन समस्त सम्पदाओं को देने वाला पूर्ण सफल भूमि को प्राप्त करता है। विचारशील पुरुष के लिये वन, पर्वत चतुर्दश भुवन सब आत्मा ही भासित होता है और वह निर्मल से भी निर्मल और शीतल से भी शीतल भावनामय भासित होता है। फिर तो उस स्वच्छ जल से पूर्ण हृदयरूपी तालाब में धैर्य और उदारता रूपी कमल विराजता है। तब उस कमल पर जो अहङ्काररूपी भँवरा नित्य विचरा करता है वह नष्ट हो जाता है फिर उत्पन्न नहीं होता। पश्चात् वह पुरुष वासना रहित होकर शान्त मन अपने शरीररूपी नगर में ईश्वर होकर विराजता है। ऐसा अज्ञानी पुरुष कि जिसको आत्मा का साक्षात्कार हो गया है उसका मन अत्यन्त नष्ट होजाता है और इसप्रकार उसके भय आदिकसभी विकार नष्ट होजाते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषास्थिति-प्रकरण का तीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३० ॥



इकत्तीसवां सर्ग

आत्म-स्वरूप वर्णन

रामजी ने प्रश्न किया,--हे भगवान्! आत्मा तो चैतन्य स्वरूप और विश्व से परे है, फिर उसमें विश्व कैसे उत्पन्न हुआ, कृपा कर मेरे बोध की वृद्धि के लिये इस विषय को फिर सुनाइये। वशिष्ठजी बोले,- हे रामजी! आत्मा अंश रहित निराकार-सर्वगत और सर्व व्यापक है पर दिखलाई नहीं पड़ता क्योंकि वह अव्यक्त और अच्युत रूप है। आत्मा में जगत ऐसे ही है जैसे मणि स्तम्भ में शिल्पी

उस ब्रह्म को जानो, जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध इत्यादि सबको जान लेता है। वह सब में पूर्ण स्थित स्वच्छ और निर्मल हैं। उस एक अद्वैत आत्मसत्ता में कोई कल्पना नहीं होती। उससे भिन्न जितनी वस्तुएँ जान पड़ती हैं, सब वासना हैं। हे रामजी! जब आत्मा के अतिरिक्त कुछ सिद्ध नहीं होता तब किसकी वाञ्छा करें और किसकी खोज करें। सर्वत्र इष्ट, अनिष्ट, विकार, विकल्प, आधार-आधेय, द्वैत कल्पना और अहं-त्वं इत्यादि से परे ब्रह्मसत्ता ही तो स्थित है। ऐसा जानकर तुम सदैव स्थित निर्द्वन्द होकर सब सन्तापों से रहित कार्य में लग जावो और अपने को हृदय से कर्ता भाव को त्याग कर बाहर से इन्द्रियों द्वारा जगत का कार्य करो जब स्थिरता के समुद्र में तुम्हारी वृत्ति धैर्यवान हो जायगी तब तुम शान्ति को प्राप्त करोगे। अन्यथा जब तक दृश्य जगत में पड़े रहोगे कहीं भी जावोगे हृदय में शान्ति न मिलेगी। जगत के दृश्यरूपी सब पदार्थों को त्यागने के बाद जो अपना स्वरूप शेष रहता है वही चिदात्मा है। उसमें स्थित होने ही पर शान्ति मिलती है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति-प्रकरण का बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३२ ॥

—:•:•:—

तैंतीसवाँ सर्ग

मोक्ष उपदेश

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी! मूढ़ पुरुष जैसा कर्म करते हैं वह वैसा ही फल भोगते हैं। पर जो ज्ञानी हैं और जिनको कर्तव्य भाव दृष्टि आता है वह स्वरूप को जानने से यदि तामसी कर्म (हिंसा आदिक कर्म) भी करें तो वे अकर्त्ता ही हैं। क्योंकि मनमें सत्य जानकर वह जिस पदार्थ की इच्छा करता है, वही वासना है और उसी सद्भाव के फुरने का नाम कर्तव्य है। उसी से फल प्राप्त होता है। शरीर करे अथवा न करे पर मनमें जैसी वासना दृढ़ होती है, चाहे वह शुभ हो अथवा अशुभ उसी के अनुसार भासित

बीज सत्ता वृक्षको आश्चर्य पूर्वक मात्रानुसार उसके आकार की वृद्धि करता है वैसे ही आत्मा की सत्ता में चित्त अपने संवेदन शक्ति द्वारा फुरता है। इस भांति आत्म-सत्ताके आश्रय में जो उसका स्फुरण है और वह विस्तार करता है वही सङ्कल्प का रूप है और वही जगत की दृढ़ता है। संवेदन के फुरनानुसार वह स्थित होता है। यह उसकी नीति है कि जो पदार्थ जैसे हों वह वैसा ही स्थित होता है। अन्न जल अग्नि सम्बन्धी जितने पदार्थ हैं महाप्रलय पर्यन्त भी यह ऐसेही स्थित रहते हैं। इनमें परिवर्तन नहीं होता। संसार में चौदह प्रकार की भूत जातियां है। पर उन्हींको शान्ति मिलती है जिनको आत्मा का साक्षात्कार होता है। वही आत्मा को पाकर आनन्दित होते हैं। शेष जिनको आलस्य है वे सदा भटकते हुए जन्म मरण के चक्कर में पड़े रहते हैं, और कर्मानुसार आवागमन में भटकते हुए यमके मुख में पड़ जाते हैं, अर्थात् बारम्बार जन्मते और मरते रहते हैं। ऐसे प्रमादी उन्मत्त के समान सर्वदा ही भ्रमा करते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति-प्रकरण का इकत्तीसवांसर्ग समाप्त ॥ ३१ ॥

--::❀::--

बत्तीसवां सर्ग

शान्ति कैसे प्राप्त हो ?

इस प्रकार जगतकी स्थिति को चंचल बतलाते हुए वशिष्ठजी ने कहा,—हे रामजी! जगत की उत्पत्ति किसी कारण से नहीं होती यह आत्मा से स्वतः उत्पन्न होता है। कारण और कार्य भाव तो पीछे होता है और वही चित्त में दृढ़ हो भासता है। किन्तु आत्मा से उसका कुछ सम्बन्ध नहीं। जिस प्रकार जल से तरंगें स्वभावतः उठकर स्वयम् ही लीन हो जाती हैं, वैसे ही आत्मा से स्वभावतः जगत उठकर लय होजाता है। हे रामजी! आत्मा में इस जगत की सत्यता और असत्यता कुछ नहीं है। मूढ़ जीव अपने स्वरूप मानते हैं। अतः तुम दृश्य को त्यागकर द्रष्टा में स्थित हो केवल

जानता है, उस ज्ञानी सुख को दुःख स्पर्श नहीं करते और द्रष्टा, दर्शन, दृश्य इच्छा इत्यादि भी आत्मा में भिन्न नहीं भासित होता। इससे यह निश्चय हुआ कि मैं शरीर नहीं हूं, सब पदार्थों से भिन्न और बालाग्र के सौवें भाग से भी सूक्ष्म हूँ और यह समस्त दृश्य-रूपी जगत भी मैं ही हूँ तथा सबका प्रकाशक और सर्वव्यापी मैं ही हूँ--इस निश्चय से उसे सुख दुःख का क्षोभ नहीं। यह भी मानना होगा कि ज्ञानी पुरुष को भी दुःख और सङ्कट काल प्राप्त होता है। पर वह उसमें सुखी भी रहता हुआ केवल यही समझता है कि सब कुछ भगवान् की लीला हो रही है। वह उसके लिये न तो चिन्तित होता है और न दुःखी होता है। शान्ति पूर्वक कर्म करता हुआ भी अकर्ता बन जाता है और मन से लिप्त नहीं रहता। हे रामजी ! हाथ पाँव इत्यादिक इन्द्रियों से करने का नाम कर्म नहीं, बल्कि मनके करने का नाम कर्म है। सब कर्मों का कर्ता मन है। जब मन नष्ट हो जाता है, तब कोई दुःख नहीं रहता। मन को नष्ट करने वाले जन परमार्थदर्शी हैं। उनको कर्म का स्पर्श नहीं होता। वह करते हुए भी कुछ नहीं करते। ऐसे ज्ञानी को बन्ध मोक्ष सुख दुःख कुछ नहीं भासता। कारण कि उनका मन असंशक्त है इस कारण तुम भी बन्ध मोक्ष इत्यादि की कल्पनाओं से रहित होकर आत्मा में निश्चित कर धीर-बुद्धि हो प्राकृत आचार मात्र करो। इस भांति तुम्हें कुछ भी स्पर्श न करेगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का तेंतीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३३ ॥

चौंतीसवां सर्ग

सर्व एकता प्रतिपादन

यह सुनकर रामजी ने प्रश्न किया,--हे महामुने ! जगत तो अविद्यमान और अविद्यारूप है। फिर यह उस सत्-चिद्-आनन्द अद्वैत और सब ऐश्वर्यों से सम्पन्न ब्रह्म में कैसे प्रकट हुआ ?

होता है। शुभ से स्वर्ग और अशुभ से नरक भासता है। अज्ञानी पुरुष चाहे वह प्रत्यक्ष में अकर्ता ही क्यों न हो, किन्तु वह अनेक कर्मों के फल को अनुभव करता है। पर जो ज्ञानी है उसके हृदय में पदार्थों का सद्भाव और वासना दोनों ही नहीं रहती। कारण कि उसमें कर्तव्य का अभाव है, वह निष्काम कर्म करते हैं। संसार उनके लिये असत्य है और केवल शरीर का हिलना मात्र ही उनका कर्म है। पूर्व कृत सुख-दुःख का फल उनको प्राप्त भी होता है तो भी वे सब ब्रह्म भाव ही देखते हैं। किन्तु अज्ञानी पुरुष शरीर को अपकर्ता मानकर उसके अनुसार सुख दुःख भोगते और मोह को प्राप्त होते हैं। किन्तु जो मनसे अनात्मभाव में मग्न हैं वह अकर्ता होते हुए भी कर्ता होते हैं और मन से रहित क्रिया कर्म भी न करने के समान है। इसमे शरीर कुछ नहीं करता मन ही करने वाला है। जगत की उत्पत्ति मनसे ही हुई और मनःरूप होकर मन ही में स्थित है। जो मन को मार चुके हैं उनको सब कुछ शान्तरूप ही दिखलाता है। ऐसे आत्म ज्ञानी को संहार का सुख दुःख स्पर्श नहीं करता। उसकी चंचलता हार जाती है, वह सत्यासत्य और सब विकारों से रहित होकर शान्तरूप हो जाता है। अज्ञानियों की भांति वह सांसारिक वासनाओं में नहीं डूबता। हे रामजी! ज्ञानी और अज्ञानी में यही भेद है कि ज्ञानी का कर्तव्य अकर्तव्य है और अज्ञानी को अकर्तव्य भी कर्तव्य होना है। जैसे चारपाई पर सोया हुआ व्यक्ति स्वप्न देखे कि मैं चारपाई से गिरगया और दुःख पा रहा हूँ तो अकर्तव्य में यही कर्तव्य हुआ। पर जैसे समाधिस्थ व्यक्ति गढ़ेमें गिर पड़े तो भी वह शान्तरूप है—कर्तव्य में अकर्तव्य कहने का यही आशय है शय्या। पर सोने वालेका मन चलता था जिससे अकर्तव्यमें भी उसको कर्तव्य हुआ और उसने दुःख का अनुभव किया। अस्तु निश्चय हुआ कि जैसा मन होता है वैसी ही सिद्धता प्राप्त होती है। इसलिये तुम भी असंशक्त होकर कर्म करो। जगत आत्मासे भिन्न नहीं है। जो ऐसा निश्चय

प्रबुद्ध है और इसकी बुद्धि चित्त के योग से विरक्त नहीं हुई है। अतः अब इसको ऐसा उपदेश करूँ कि विश्राम पावे। जब परम दृष्टि प्राप्त होगी तब भोग की इच्छा न उत्पन्न होगी और तब सर्व ब्रह्म का सिद्धान्त इसे रुचिकर प्रतीत होगा। पहले पहल शिष्य को सर्व ब्रह्म का उपदेश देना ठीक नहीं। जब पहले शमदम इत्यादिक गुणों से शिष्य को शुद्ध करे! फिर ब्रह्म का उपदेश करे। तब वह उससे जाग जाता है। यदि अज्ञानी और अर्द्ध--प्रबुद्ध गुरु ऐसा उपदेश करता तो वह उसे घोर नर्क में ले जाता है। किन्तु ज्ञानी को भोगों की इच्छा नहीं रहती वह निष्काम रहता है इससे उसको उपदेश करने की आवश्यकता नहीं रहती। ऐसा विचारकर अज्ञानान्धकार को नाश करने वाले ज्ञान के सूर्य भगवन् वशिष्ठजी ने राम जी से कहा--हे राघव! ब्रह्ममें कलङ्क है या नहीं, यह मैं तुम से फिर कहूँगा अथवा समय आने पर इसे तुम आप ही आप जान जाओगे। किन्तु ब्रह्मसत्ता सर्व शक्तिमान, सर्व व्यापक और सर्वगत व्यापक और उसी में सब कुछ रचा हुआ है। जिस प्रकार इन्द्रजालिक अपनी माया से अनेक प्रकार की रचनायें करता हुआ भी अपने ही स्थित रहता है उसी प्रकार यह जगत के विचित्ररूप दृश्य उस चेतन सत्ता ने अपने लक्षणों से रचा है, उसी के चित्त संवेदन से यह जगत रूप हो भासता है। उसमें सब प्रकार और सर्वरूप वही है जो अविद्यमान है। फिर हर्ष, शोक और आदर्श किसका माना जाय। सब कुछ तो एक रूपका है। यही कारण है कि, हमको सदैव सम भाव रहता है और हर्ष, शोक, मोह, कुछ नहीं होता। हे रामजी! यह जितना कुछ दृश्य प्रपंच है सब उसी सत्-चित्त के स्पन्दकला से फुरता हुआ नाना प्रकार से देश काल क्रिया और द्रव्य होकर भासता है। इन सबको रचने में आत्म सत्ता को कोई यत्न नहीं करना पड़ता वह स्वाभाविक फुरने से फुरता है। जिस प्रकार समुद्र की तरंगें स्वभावतः फुरती हैं, वैसे ही आत्मा में सृष्टि स्वभावतः फुरती और लय होती है।

वशिष्ठजी ने उत्तर दिया,-हे पुत्र! यह सारा जगत ब्रह्म का ही रूप है और ब्रह्म-सत्ता सर्व शक्तिवान् है इससे सत्य असत्य और एवं अद्वैत आदिक दृश्य विश्वरूप हो भास रहा है। पर जल तरङ्ग के बुदबुदों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। चिद्घन में चिद्घन की सर्वशक्ति सब रूप होकर फुर रही है वही कहीं कर्मरूप कहीं वाणी-रूप, कहीं गुङ्गरूप और कहीं भरण पोषण और नाश का कारण हो रही है। वही ब्रह्मसत्ता समस्त पदार्थों के उत्पन्न होनेमें बीजरूप है। किन्तु जिस प्रकार समुद्र की लहरें उठकर फिर समुद्र में लय हो जाती हैं उसी प्रकार ब्रह्म से उत्पन्न होकर सब पदार्थ उसी में लय हो जाते हैं। रामजी ने कहा कि हे भगवन्। यद्यपि आपने स्पष्ट रीति से कहा है तथापि यह विषय इतना गम्भीर है कि, इसकी यथार्थता मैं पा नहीं सकता। क्योंकि मन संयुक्त षटेन्द्रियों की वृत्तियों से समस्त पदार्थों की रचना से रहित स्वरूप और जगत में बड़ा अन्तर मालूम होता है। जब निर्विकार आत्मा ही से जगत उत्पन्न हुआ है तब वह भी तो निर्विकार होना चाहिये पर वह तो ऐसा नहीं है। वह तो (जगत) विकारमय और दुःखमय है। फिर यह आत्मा से कैसे उत्पन्न हुआ?

यह कहकर वाल्मीकिजी बोले कि, जब रामजी ने ऐसा कहा तब महर्षि वशिष्ठ कहने लगे कि,-हे रामजी! जगत तो ब्रह्म का ही रूप है। इसमें जो मलिनता जान पड़ती है वह मलिनता नहीं बल्कि समुद्र और तरङ्ग के समान उसी का रूप है। ऐसे ही आत्मा में जगत आत्मा का ही रूप है, कलङ्कता नहीं। रामजी ने कहा,—हे महान्! आपका वचन मुझे स्पष्ट नहीं भासता है और यही जान पड़ता है कि दुःख रहित और धर्म रहित जगत की उत्पत्ति कलङ्क-रूप ही है। आपका कथन आकाशवत है। मैं इसको नहीं मानता। रामजी के इन कथन को सुनकर वशिष्ठजी ने जान लिया कि अभी इनकी बुद्धि परम प्रकाश को नहीं प्राप्त हुई। अभी यह अद्द-

स्फुरित होती है तब अपनी कलना से घन भावको प्राप्त होती है। तब सङ्कल्प का रूप धारण कर तन्मय हो मनरूप हो जाती है। तब वह मन अपने सङ्कल्पों से जगतको रचकर विस्तार भाव प्राप्त करता है। इसको आत्मसत्ता का चमत्कार कहते हैं। पर हमको तो सब कुछ आकाशरूप ही भासता है। किन्तु दूरदर्शीको जगत भासता है। पहले पहल ब्रह्मा में सङ्कल्प फुरा जिससे उस चित्त शक्ति ने अपने को ब्रह्मरूप देखा जिससे वह ब्रह्मरूप होकर उसमें जगत की कल्पना की जिससे प्रजापति ने उत्पन्न होकर चौदह प्रकार के भूत जातियों को उत्पन्न किया। पर वास्तव में यह सब ज्ञातिरूप है। इसी से यह सर्व जगत भी चित्त मात्र शून्य और आकाशरूप ही है। इसका शरीर भी कुछ नहीं, यह सङ्कल्प मात्र है और स्वप्न नगर के समान भ्रान्ति से भासित है। इसमें जितने जीव हैं सब के प्रकार भिन्न हैं। कोई मोह युक्त है, कोई अज्ञान में है, कोई मध्य में है, और कोई ज्ञानी है—ऐसे ही सब भूतजातियां आधि-व्याधि दुःखों से दीन हैं। सात्विक राजस ज्ञान में सब पड़े हैं। शान्तात्मा पुरुष को संसार के यह दुःख स्पर्श नहीं करते। क्योंकि वह सदैव ब्रह्म में स्थित रहते हैं। हे रामजी ब्रह्म में यह जितनी भूत जातियां हैं, सब पर ब्रह्म सत्ता के किसी एक स्थान में प्रपंचवत जगत के रूप में फुरी हुई है।

यह सुनकर रामजी ने पूछा कि हे भगवन्! जब ब्रह्मतत्व निराकार रूप है, तब उसका एक अंश और एक स्थान कैसे हो सकता है? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया-हे रामजी! जो यह कहा जाता है कि, यह उससे उत्पन्न हुए हैं अथवा उसके द्वारा उत्पन्न हुए हैं यह शास्त्र रचना व्यवहार के लिये कही है। किन्तु परमार्थ में कुछ नहीं है। उदय और अस्त तक अवयव युक्त जो यह देशादिक की कल्पना दृष्टि में भी आ रही है, यह भी क्रम से नहीं उत्पन्न हुई है, केवल कल्पना मात्र है। वह कल्पना भी आत्मरूप ही है। आत्म्य से परे कल्पना न कोई वस्तु है, न हुई है, न कुछ होगी। आत्मा में शब्द

जैसे समुद्र और उसकी तरङ्गों में कोई भेद नहीं है, वैसे ही आत्मा और जगत में कोई भेद नहीं है। आत्मा ही जगत–रूप होकर भासता है। आत्मा में कारण और कार्य का भाव नहीं है। इसमें न कोई कर्त्ता है, न भोक्ता है और न किसी का विनाश होता है। केवल आत्मतत्व ही स्वयं अपने स्वभाव सत्ता में स्थित है। जैसे पुष्प में सुगन्ध स्वभावतः है, वैसे ही आत्मा में जगत भी स्वभावतः है। इसमें कोई कार्य और कारण नहीं है। जिस प्रकार वायु गमनता के स्वभाव से ही वायु है और गमन करने से नहीं है, ऐसे ही आत्मा में संवेदन के स्फुरण से ही जगत होकर भासता है अन्यथा नहीं भासता। इसी से जगत सत् और असत् कुछ नहीं है। प्रकट अप्रकट भासता हुआ विचित्ररूप से जान पड़ता है। वास्तव में इसकी कोई उत्पति नहीं है आत्मा ही स्वतः स्थित है। असम्यक ज्ञान वश भासता हुआ जगत अनेक शाखाओं युक्त विस्तार कर रहा है। इससे ज्ञान रूपी कुल्हाड़ी से इसको काटकर सुखी होवो। इस जगत रूपी वृक्ष का बीज असम्यक ज्ञान है। शुभ और अशुभ इस वृक्ष के फूल हैं। आकाशरूपी वल्लियों से वेष्टित हैं। दुःख इसकी शाखायें हैं। भोग और जरारूपी इसके फल हैं। तृष्णारूपी लताओं से यह घिरा है। तुम इस संसाररूपी वृक्ष को आत्मविवेक रूपी कुल्हाड़ी से यत्न पूर्वक काट डालो। फिर चिन्ता नहीं, चाहे जहाँ बन्धन रहित होकर विचर सकते हो।

श्री योगवशिष्ठ भाषा स्थिति–प्रकरण का चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३४ ॥

:--::--::--:

पैंतीसवाँ सर्ग

ब्रह्म–विवेचन

रामजी ने पूछा कि, हे भगवन्! अब कृपाकर मुझे यह विस्तार पूर्वक बतलाइये कि संसार में कितने जीव हैं? वशिष्ठजी बोले,–हे रामजी! शुद्ध चैतन्य ब्रह्म तत्व की दृष्टि बड़ी निर्मल है जब वह

असत्यभाव से परे है तब उसमें कल्पनायें कहां से उठती हैं। वशिष्ठजी ने उत्तर दिया—हे रामजी! इस सम्बन्ध में पहले मैं जो कुछ कह चुका हूँ और आगे भी जितना कुछ कहूँगा, सब सत्य समझो। विश्वास कर मेरे वचनों को हृदय में धारण करो। ज्ञान दृष्टि से जब तुम्हारा हृदय निर्मल होगा एवं जब तुमको बोध सत्ताका प्रकाश मिलेगा तब तुम आप ही मेरे कथन का आशय समझ जावोगे और वाच्यवाचक की शब्दार्थ रचना का परित्याग करोगे? हे रामजी! ज्ञानी को सदैव अद्वैत सत्ता ही भासित होती है। क्योंकि आत्मा में इच्छा कोई नहीं। वह निर्दुःख, निर्द्वन्द है। पर आत्म-बोध, बिना विस्तृत वाक्योपदेश के हो नहीं सकता। इससे मैं तुम्हें सिद्धान्तोपदेश देता हूँ, ध्यान देकर श्रवण करो। हे रामजी! शुद्ध आत्मसत्ता में दृश्य की ओर जो स्फुरण हुआ वह अविद्या है और जो स्फुरण आत्मा की ओर हुआ वह विद्या है। किन्तु यह दोनों ही स्पंदरूप हैं। इसलिये तुम अविद्या का ही नाश करो। क्योंकि यह अविद्या ही सारे दुःखों की जड़ है। इसको नाश कर तुम महान् सुख को प्राप्त होवोगे, जीव के ज्ञान को इस अविद्या ने ही ढाँक रखा है। अन्यथा आत्मसत्ता तो सदैव अनुभव और उदयरूप है। किन्तु अज्ञानी जीवों को ऐसा जान नहीं पड़ता। महान् आश्चर्य है कि माया ने संसार को बांध रक्खा है और असत्य होते हुए भी सत्य के समान प्राप्त हो रही है। साधारण जीव तो क्या, बड़े-बड़े बुद्धिमानों को भी इसने नाश कर दिया है पर जिस पुरुष ने इसकी विधियता को ठीक ठीक जाना है वह पुरुषों में श्रेष्ठ है महाज्ञानी है। उसीने जानने योग्य वस्तु को जाना है। हे रामजी! जब तक तुम्हें स्वरूप का ज्ञान न होजाये, तब तक तुम मेरे वचनों में ही निश्चय धारण करो और जानो कि अविद्या नाशरूप ही है। संसार के जितने भी दृश्य भास रहे हैं सब मन का मनन रूप है। जिस पुरुष को ऐसा निश्चय है वही पुरुष, मोक्ष का अधिकारी है। किन्तु

अर्थ एक युक्ति और व्यावहारिकता है, वह वस्तुतः कुछ है नहीं। सब कुछ शान्तरूप आत्मा ही है। जिस प्रकार अग्नि से अग्नि को लपटें फुरती हैं और वह अग्निरूप ही हैं और "उससे उत्पन्न हुई" और 'उसके द्वारा हुई' ऐसी कोई कल्पना अग्नि में नहीं है। अग्नि ही अग्नि है—उसी प्रकार जन और जन के कार्य और कारण का भेद आत्मा में कोई नहीं है। कार्य और कारण का भाव तो वहां होता है जहाँ अधिकता और न्यूनता होती है। पर जहाँ भिन्न २ कारण कार्य बनता भी है और भेद भी होता है वहाँ भेद कल्पना और एक अद्वैत में शब्द और शब्द का अर्थ भी कैसे हो सकता है? भला कहीं अग्नि और अग्नि शिखा में भेद होता है? यह शब्द और अर्थ दोनों ही कल्पना मात्र हैं। ऐसे ही आत्मा में जगत की भिन्न कल्पना असत् रूप है। अज्ञानी को दृष्टि दोष से सत्य जान पड़ता है। नहीं तो सब कुछ है, ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। सिद्धान्त काल में तुमको यही दृष्टि उत्पन्न होगी। इस सिद्धान्त पिञ्जर पर मैं तुमसे एक उदाहरण कहता हूँ। इसको जानकर तुम अविद्या से मुक्त हो जावोगे। अज्ञान के नाश होने पर तुम इसको अत्यन्त असत्य जानोगे। जैसे अँधेरेमें रस्सी सर्प जान पड़ती है और सूर्यका प्रकाश होने पर सर्प का भय जाता रहता है, वैसे ही अज्ञान के नष्ट होने और ज्ञान के उदय होने पर दृष्टि दोष वाला जगत नाश हो जायगा। फिर तुम्हें प्रकाश सत्ता ही भासित होगी। इसमें तनिक भी संशय नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा—उत्पत्ति-प्रकरण का पैंतीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३५ ॥



छत्तीसवाँ सर्ग

अविद्या वर्णन

रामजी बोले, हे मुनीश्वर। आपकी इस परम पवित्र वाणी को सुनकर मेरा हृदय निर्मल हो गया। अब कृपाकर आप मेरे इस संशय को निवारण कीजिये कि, जब आत्मसत्ता प्रकाशरूप और

समस्त आपदाओं की अधिष्ठात्री सखी है। यही समस्त अनर्थों की उत्पादिक और अज्ञानरूपी वृक्ष की बेलि है। हे रामजी! तुम ऐसी मोह, आपदा और भय प्रदान करने वाली अविद्यारूपी मलिनता को दूर करो। यह हृदय में मोह उत्पन्न कर जीवों को व्याकुल कर देती है। इस अविद्यारूपी संसार सागर से पार होने पर ही तुम्हें शान्ति प्राप्त होगी।

श्री योगवाशिष्ठ भाषास्थिति-प्रकरण का छत्तीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३६ ॥



सैंतीसवां सर्ग

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! सांसारिक जगजीव का विस्तार जिस प्रकार हो रहा है उस अविद्या रूप विस्तृत व्याधि की औषधि सुनो। सात्विक राजस आदिक मनकी वृत्तियां तत्वतः अमृत और ब्रह्मस्वरूप हैं। इनका आदि और अन्त कोई नहीं। सर्व व्यापी, चैतन्य प्रकाश और अनन्त है। वह जब चैतन्य प्रकाश वृत्तियाँ फुरती हैं तब उसके तेजका प्रकाश एवं वह चैतन्यरूप चित्तकला जगत को चेतता है। वह चित्तकला आत्मा से भिन्न नहीं है। उसका कोई रूप नहीं। जैसे आकाशमें आकाश स्थित है, वैसे ही आत्मा में चित्तकला (चित्तशक्ति) स्थित है। उस चित्तकलाका दृश्य ही जगत है। अथवा यों कहिये कि, आत्मा अद्वैत है, उसमें चित्तकला स्वतः हो आती है। जैसे वायु में सम्पदा और निस्पंदता स्वतः और स्वभावतः होती है और दोनों ही उसके रूप हैं, वैसे ही चित्तकला स्वतः फुरती है। वह शब्द की गति नहीं। वह स्पन्दतासे ही जगत भाव को प्राप्त होती है पर वास्तव में आत्मा में कुछ है नहीं, स्पंदाभाव से ही भूषित दूषित हो भासती है। आत्मा से कुछ भिन्न नहीं है और अभिन्न भी नहीं है और भिन्न की नाई भासित भी होती है। देश, काला-

वह पुरुष तो बन्ध का भागी है कि जिसको संसार के पदार्थों की भावना दृढ़ हो रही है। हे रामजी ! समस्त जीव इस संसार की मल दृष्टि से बँधे हुए हैं। पर यह संसार स्वप्नवत और भ्रान्तिरूप है। इसमें जो अशक्त है, एवं जिसकी बुद्धि सत् ब्रह्म में है वह संसार-दुःख में नहीं डूबता। किन्तु जो अनातमधर्मी है और देहादिक में जिसकी भावना है उसको स्वरूप में आतमबोध नहीं होता। वह हर्ष शोक और आपत्ति को प्राप्त होता है। किन्तु जिसको स्वरूप का बोध है और जिसने आनन्द धर्म का परित्याग कर दिया है, उसको संसार की अविद्या नहीं सताती, दुःख आदिक विकार उसे स्पर्श नहीं कर सकते। इस विद्या और अविद्या को जानने वाला व्यक्ति संसार में ज्ञान सहित सब कुछ वर्तता हुआ मानसिक दुःखों में नहीं पड़ता। किन्तु अज्ञान सहित जो संसार में भटकता है, वह आतमतत्व को नहीं प्राप्त कर सकता। विद्यमान भी उसके लिये अविद्यमान है। अविद्या नाश के लिये आत्मज्ञान की आवश्यकता है। आत्मज्ञान होने पर अविद्यारूपी नदी सहज ही में तरी जाती है। पर संसारिक पदार्थों की इच्छा करने वाले तो इस नदी की धार में बह जाते हैं। हे रामजी ! यह अविद्या महा मोह और भ्रम को उत्पन्न करने वाली है। इसके उत्पन्न होने पर तत्व पद ढँक जाता है, इससे अविद्या की उत्पत्ति और उसका कारण जानने का विचार तुम न करो। यह नाश कैसे होगी, यह भी विचार छोड़ दो और उद्योग करो। उद्योग करने पर जब यह नष्ट हो जायगी, तब तुम्हें स्वतः ही दूसरी उत्पत्ति कारण और कार्य का ज्ञान हो जायगा। तुम शक्ति लगाकर इसका नाश करो। बड़े बड़े वीरों को भी इस अविद्या पिशाचनी ने नाश कर डाला है। ऐसा कोई नहीं जिसको अविद्या ने व्याकुल न किया हो। अविद्या समस्त रोगों की जड़ है। इसलिये यत्न करके इसकी ऐसी औषधि करो कि जन्म-दुःखरूपी कुहिरा फिर न प्राप्त हो। यह

जिससे आपही दुःखी होकर तपता है और अपने को वन्ध्यायमान होकर संसार-बनमें आपदारूप आशाको लेकर फिरता है। स्वरूप एक ही है। अपने फुरने के वश से नानाभाव को प्राप्त हो कहीं मन बुद्धि अहङ्कार, कहीं ज्ञान और कहीं प्रकृति, माया, कर्म, विद्या अविद्या और कहीं इच्छा कहलाता है। हे रामजी ! इस भांति जीव अपने चित्त से भ्रम में पड़ा हुआ तृष्णा रूपी शोकसागर से दुःख पाता है। तुम यत्न करके इससे पार होवो। अन्यथा जरामरण आदिक विकार और संसार की भावना जीव को नष्ट कर देती है। भला और बुरा, ग्रहण और त्याग के सङ्कल्प को ग्रसित अविद्याके रङ्ग में रँगा हुआ इच्छा करने से,इसका रूप सकुच गया है और कर्मरूपी अंकुर से संसार रूपी वृक्ष बढ़कर वास्तविक रूप को विस्मरण कर कल नासे आपको मलिन जान अविद्या के संयोग से नरक भोगता हुआ संसार भावना रूपी पर्वत के नीचे दबकर आत्मपद की ओर नहीं आता। क्योंकि संसाररूपी विष-वृक्ष जरा-मरण रूपी शाखासे बढ़ा हुआ है और आशा रूपी फाँस से बँधे हुए जीव भटकते हुए चिन्ता रूपी अग्नि में जलते हैं और क्रोधरूपी सर्पने जीवों को चबा लिया है जिस कारण यह अपनी वास्तविकता को भूल गया है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति-प्रकरण का सैंतीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३७ ॥

--::❀::--

अड़तीसवां सर्ग

वशिष्ठजी कहने लगे,-हे रामजी! अण्डज, पिण्डज, स्वेदज, और उद्भिज जो चार प्रकार के जीव होते हैं उनमें जो भविष्य में उत्पन्न हो चुके हैं और जो भूतकाल में उत्पन्न होंगे तथा अब जो वर्तमान हैं वे सभी परमात्मा से फुरकर संसार की भावना करते हुए उत्पन्न होते हैं। सब अपनी वासना के अनुसार जन्म-मरण के चक्कर में पड़कर बाल युवा और मरणावस्था को प्राप्त होते रहते

दिक, क्रिया और द्रव्यको वह वैसे चेतती है, वैसे ही होकर भासती है। तब उसीका नाम संज्ञा होकर स्वस्वरूप को भूल दृश्य में तन्मय हो जाती है। किन्तु स्वरूप से व्यतिरेक नहीं होती और व्यतिरेक के समान भावना होती है जिस प्रकार समुद्र से तरङ्ग और सुवर्ण से भूषण भिन्न नहीं, उसी प्रकार आत्मा से चित्तशक्ति भिन्न नहीं, परन्तु अपने अनन्त स्वभाव को विस्मरण करके देना, काल, क्रिया और द्रव्यको नहीं मानती, सङ्कल्प धारणसे कल्पना भाव को प्राप्त हो विकल्प कलनासे क्षेत्रका रूप होजाती है। शरीर को क्षेत्र कहते हैं और शरीर के भीतर बाहर जानने से क्षेत्रज्ञ नाम होता है। जब वह क्षेत्रज्ञ (चित्तकला) अहंभाव की वासना करती है, तब उस अहङ्कार से आत्मा दूसरा रूप धारण करता है और जब उस अहङ्कार में संकल्प कलना दृढ़ होजाती है तब उसका नाम मन होता है .उस मनमें जब घन विकल्प उठते हैं, तब शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की भावना से इन्द्रियाँ फुर आती हैं। पश्चात् हाथ, पाँव, प्राण सहित देह भास आता है। इस भाँति जगत से शरीर को प्राप्त कर जीव जन्म मरण के चक्कर में पड़ता है और वासनाओं में भटकता हुआ दुःखसमुद्र को पा कर्म से चिन्ता में दीन रहता है फिर तो जैसा २ कर्म करता है, वैसा २ आकार धारण करता है। इस प्रकार स्वरूप के प्रमाद से जीव दृश्य भावको प्राप्त हो अपने को कार्य कारण मानकर अहंभाव को प्राप्त होता है और उसमें निश्चय वृत्ति हो बुद्धिभाव को प्राप्त होता है। फिर सङ्कल्पों से मन भाव को प्राप्त होता है। तब वही मन फिर इन्द्रिय रूप होकर स्थित होता है और अपना जो अनन्तरूप है उसको भूल जाता है। फिर परिच्छिन्नाभाव को ग्रहण कर प्रतियोग और व्यवच्छेद भाव से इच्छा और मोहादिक शक्ति को प्राप्त होता है। फिर तो जैसे समुद्र में सब नदियां आकर प्रवेश करती हैं, वैसेही सब आपदायें और दुःख आकर प्राप्त होते हैं। महान् खेद है कि मन अपने आप सङ्कल्प से दृश्य को रच उसी देह में विश्वास करता है

समय पाकर अपने-अपने पद में लय हो जाते हैं। किन्तु इनके उत्पन्न होने, स्थित होने, बन्ध और नष्ट होने का कोई स्वरूप नहीं है, जो है वह मिथ्या है। त्रैलोक्यरूप प्रबल माया मोह से उत्पन्न होते और समुद्र की तरङ्गों के समान लीन हो जाते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, स्थिति-प्रकरण का अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३८ ॥

—::-❀-::—

उनतालीसवाँ सर्ग

वशिष्ठजी के इस कथन को सुनकर रामजी ने प्रश्न किया कि-हे महामुनीश्वर ! जब जीव आत्मास्वरूप में स्थित है, तब उसको अस्थि माँस युक्त पूर्ण शरीर कैसे मिला। वशिष्ठजी ने उत्तर दिया-हे रामजी ! इस सम्बन्ध में मैं तुम्हें पहले ही बतला चुका हूँ, पर तुम नहीं समझे। पहले की तुम्हारी बुद्धि कहाँ गई। हे रामजी ! स्थावर जङ्गम रूपी जगत और उसमें जितने भी शरीर धारी दृष्टिगत होते हैं वे सब स्वप्नवत मिथ्या भ्रम से भासते हुए आभास मात्र हैं। जिस प्रकार भ्रमवश पर्वत घूमते हुए जान पड़ते हैं वैसे ही जगत भी अज्ञान वश जान पड़ता है। किन्तु जिन पुरुषों की आलस्य निद्रा टूट गई है और ज्ञानी हैं वे प्रबुद्धचित हैं। क्योंकि उनके निकट संसार के समस्त जीवों को वह सर्वदा सत्-स्वरूप देखते हैं। वह जगत के रूपको सदैव अपने भीतर कल्पना करते हैं। ऐसा करना कोई कठिन नहीं। क्योंकि कल्पना शक्ति तो मनके फुरने में ही है। चाहे कोई शरीर हो या न हो परन्तु, मन जहाँ चाहे वहीं शरीर रच लेता है। मनके फुरने से ही शरीर की रचना होती है। इससे जो कुछ भी जगत है सङ्कल्प मात्र और मृगतृष्णा के जलवत् असत्य है। भ्रमवश जीव को स्वस्फुरण द्वारा शरीरादिक भास रहा है। सृष्टि के आदि में भी शरीरादिक सङ्कल्प से उत्पन्न हुए हैं। आदिमें ब्रह्मा भी पद्ममें स्थित हुए और सङ्कल्प से अपना विस्तार किये। किन्तु

हैं। किन्नर, विद्याधर, सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र, वरुण, कुबेर, ब्रह्मा, रुद्र, विष्णु और बैताल तथा सर्प आदिक सब उसी ब्रह्म सत्ता से स्फुरित हुए हैं। उससे फुरकर ही कोई ब्राह्मण, कोई क्षत्रिय और कोई शूद्र कहला रहे हैं। खेद है कि, सर्वश्रेष्ठ नर-तनधारी चक्रवर्ती सम्राट से लेकर-कीट पतङ्ग और स्थावर जङ्गमरूपी प्राणियों तक जितने भी जीव हैं सब आपदा में पड़े हुए दुःख भोग रहे हैं। सब अपनी वासना से बँधे हुए नीचे ऊँचे गिरते हुए काम, क्रोधादिक दुःख को भोगते हैं। वह कर्म और आशा रूप फांसी से बँधे हुए अनेक शरीर को लिये फिरते हैं। आशय यह कि, कभी मनुष्य शरीर और कभी वृक्ष और कभी अल्प से भी अल्प शरीर धारण करते हैं। कारण कि वह आत्मस्वरूप को भूल गये हैं और शरीर सम्बन्धी वासनारूपी कर्म करके भ्रम रहे हैं। पर जिनकी आत्मा का ज्ञान होगया है वे पुरुष कल्याणरूप हैं, शेष सब मायारूपी संसार में मोह को प्राप्त हुए हैं। इस इन्द्रजालिक संसार में पड़कर जीव जब तक अपने स्वरूप का साक्षात् नहीं कर लेता, तब तक संसार भ्रम से मुक्त नहीं होता। किन्तु जिस पुरुष ने संसार के पदार्थों से रहित होकर आत्मा की ओर चलकर आत्मदर्शन किया है वह मुक्ति को पाता है। मुक्ति बड़ी कठिन है। बड़े तप और बड़े ज्ञान से प्राप्त होती है। जीव बारम्बार पुरुषार्थ करके तब कहीं वैसी वासना से मुक्ति पाता है। कई जन्मों तक पुरुषार्थ करने पर प्राप्त होती है। किन्तु आत्मदर्शन ही मुख्य है। हे रामजी! अनेक सृष्टि हैं और अनेक जगत हैं। वे जगत बड़े विस्तृत, समानरूप और विलक्षण आकार वाले हैं। यह विचित्र सृष्टि बार बार उत्पन्न और लय होती रहती है। उसमें गन्धर्व यक्ष और देवभाव के जीव प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार जीव इस जगत में अपनी अपनी चेष्टा करते हैं, उसी प्रकार उन-उन जगतों में चेष्टा करते हैं। किन्तु उनके आकार विलक्षण हैं और वह भी स्वभाव से जन्म मरण के चक्कर में भ्रमते हैं। यह सभी जीव

ब्रह्मा ने परमाकाश से उत्पन्न होकर सब जीवों का अधिपति बना हुआ अपना चरित्र करने के लिये अपने निवास का गृह रच लिया। वह ब्रह्मा कभी परमाकाश में, कभी कल्प के महातेजस्वी अग्नि में और कभी विष्णु भगवान् के नाभि-कमल में वास करता है। यही नहीं, वह अपना चरित्र करने के लिये अनेक आसनों को रचकर यत्र तत्र निवास करते हैं। इस प्रकार जब परमतत्त्व से फुरकर ब्रह्माजी ने शरीर के प्रत्येक अवयवों को देखा तब विचार किया कि, इसके पहले क्या हुआ और अब हमारा क्या कर्तव्य है। तब उन्हें पता चला कि ऐसे तो हमारे अनेक सर्ग व्यतीत हो चुके हैं। उन्होंने सब धर्मों का स्मरण कर जैसे योगेश्वर अपना और अन्य का अनुभव करता है ब्रह्माजी ने भी वेद का स्मरण किया और समस्त सृष्टि की उत्पत्ति परिणाम, चीण और नष्टता को अपनी स्मरण-शक्ति से देखा। अर्थात् अपने दिव्य नेत्रों से अनुभव किया। तब उन्हें विचित्र रूप प्रजाको उत्पन्न करने की इच्छा हुई। इच्छा होते ही, जैसे गन्धर्व नगर तत्काल ही तैयार हो जाता है, वैसे ही सृष्टि उत्पन्न हो गई। तब उन्होंने उस सृष्टि के साधन के लिये धर्म, अर्थ काम और मोक्ष चारों पदार्थों की रचना की और विधि, निषेध रचकर कर्ता का कर्तव्य के अनुसार उसके शुभाशुभ फल की विचित्रता की रचना करदी। फिर तीनकाल, क्रिया, कर्म और कर्म नीतिको रची। वह नीति जैसे रची गई, वैसे ही स्थित है। अस्तु, जिस प्रकार वसन्त ऋतु में पुष्प उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार ब्रह्मा के मन से सृष्टि उत्पन्न हुई। इस विचित्ररूपी रचना का विलास चित्ररूपी ब्रह्मा के चित्त में ही कल्पित हुई और काल में उत्पन्न हुई, इससे वह काल ही में स्थित भी है। न तो उसके उत्पन्न होने का कोई स्वरूप है और न नष्ट होने का ही। स्वप्न सृष्टि के समान ही इस संसार की रचना हुई है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषास्थिति-प्रकरण का उनतालीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३९ ॥



वह व्याख्या माया का जाल था। इसी प्रकार पर जगत भी मायाके जालसे भास रहा है, उसका कोई स्वरूप नहीं है।

इस पर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा कि,–भगवन् ! आदि में जो जीव ब्रह्मा हुआ उसका आख्यान क्या है, मन के फुरने से वह कैसे ब्रह्मभाव को स्थित हुआ कृपाकर मुझे क्रमपूर्वक बतलाइये। वशिष्ठजी कहने लगे,–हे रामजी ! आत्मसत्ता देश कालादिके परे और स्वतः स्थित है। देश, काल, और क्रिया का रूप उसकी कल्पना शक्ति है, उस शक्ति ने अपनी वासना के अनुसार क्रमशः भिन्न २ नामों को प्राप्त किया है। जब उस चित्तकला ने चंचलरूप मन होकर दृश्यकला का सामना किया, तब वही चित्तकला मानसी शक्ति होकर आकाश की भावनाकर बीज रूपी शब्द के सम्मुख हुई। तब उसको पोलरूपी आकाश फुर आया और उसका स्पर्श कर जब वह उसके (आकाश के) सामने हुई तब वायु फुर आया। फिर शब्द, स्पर्श आकाश और वायु का संघर्षण होने से जब मन उसमें तन्मय हो गया तब अग्नि उत्पन्न होकर उससे बड़ा प्रकाश हुआ। फिर जब रस तन्मात्रा की भावना की तब जल का स्फुरण हुआ। जलके फुरने पर गन्ध तन्मात्रा की भावना की वात उससे घ्राण इन्द्रिय निकली। फिर तो स्थूल का भावना से जल चक्र पृथ्वी होकर स्थित हुए। तब आकाश में फिर बड़ा प्रकाश हुआ और अहङ्कार की कलना से बुद्धिरूपी बीज संकुचित रूपहो अष्टम जीव सत्ता हुई। जीवसत्ता का नाम ही पुर्यष्ट हुआ और वही शरीर रूपी कमल का भ्रमर हुआ। तब उस आत्मसत्ता में भावना की तीव्रता से चित्तसत्ता ने बड़ा स्थूल शरीर देखा। फिर इससे नीचे, ऊपर, मध्य और चारों ओर को देखकर शिर, उदर, पाँव और हाथको देखा और यह भी देखा कि उदर में धर्म है। इस प्रकार वासना और कल्पित मनसे ब्रह्मा ने शरीर उत्पन्न कर लिया। इससे प्रकाश ही ब्रह्मका शरीर है और वह ज्ञान-स्वरूप ऐश्वर्य-शक्ति, तेज और उदारता से सर्वदा परिपूर्ण है। अतः उस

शक्ति से इसको सत्य कर रक्खा है। ब्रह्मसत्ता से रचित जगत में द्वैत कहाँ यह तो जैसा का तैसा ही स्थित है। इस नाना प्रकार की प्रपञ्च-रचना में कोई तत्व नहीं, यह महा तुच्छ है इससे तुम सुखी होने के लिये इसकी तृष्णा को त्याग दो। क्योंकि यह दीर्घ-काल का स्वप्न है। विचार करके ग्रहण किया जाय तो इससे कुछ हाथ नहीं लगने का। इससे इसका त्याग करना ही उचित है। एक बार जो इस जगत की असत्यता को जान लेता है, वह फिर इसकी भावना नहीं कर सकता। क्योंकि ज्ञानी को जगत के पदार्थों में राग नहीं रहता। राग में तो अज्ञानी ही बँधता है। स्वप्न की असत्य स्त्री के समान अज्ञानी इस जगत को सत्य जान कर चेष्टा करता है, ज्ञानी नहीं। जल के चञ्चल प्रतिबिम्ब को तो बालक ही पकड़ना चाहता है, किन्तु ज्ञानी नहीं। इसी प्रकार जो ज्ञानी हैं वे अज्ञानियों की भाँति जगत के पदार्थों की इच्छा नहीं करते। हे रामजी! मेरा यह उपदेश परम गुणकारी है। यदि तुम इसको भावना करोगे तो परम सुख को प्राप्त होगे। किन्तु जो मूर्ख इन वचनों का त्याग कर दृश्य-सुख में लगेंगे वे ऐसे ही दुःखी होंगे, जैसे सर्दी का लगा हुआ प्रत्यक्ष अग्नि का त्याग कर जल में अग्नि का प्रतिबिम्ब देखकर उसका आश्रय करे। भला आत्मविचार का परित्याग कर जगत के पदार्थों के सुखकी इच्छा करने वाला भी कभी बुद्धिमान कहा जायगा? वह तो महा मूढ़ है। क्योंकि जगत तो असत्यरूप और मनकी मनन शक्ति का रचा हुआ है। किन्तु आत्मा सत्य और अजर अमर है, इसका नाश कभी नहीं होता। कारण कि यह घटने बढ़ने से पृथक है। उत्पत्ति और लय में भी यह एक समान ही रहता है। पर जगत और उसके पदार्थ ऐसे नहीं हैं। आत्मा को हर्ष शोक भी कुछ नहीं होता? क्योंकि समस्त जगत ब्रह्मरूप है, इसमें दुःख और सुख कहाँ? अतएव ज्ञानी को इस असतरूप संसार में ग्रहण करने योग्य कोई वस्तु नहीं है। वह सब कुछ ब्रह्मतत्व ही जानता है।

चालीसवाँ सर्ग

यथार्थ--उपदेश

वशिष्ठजी ने कहा-हे रामजी इस प्रकार जगत के फुरने का कारण मन है और शरीरादिक भी मन से ही फुरा है किन्तु वास्तव में यह कुछ है नहीं। देश, काल, क्रिया सहित यह जो वृहद् ब्रह्माण्ड दृष्टिगोचर हो रहा है वह स्वप्नपुर के समान और सङ्कल्पमात्र विना आधार और विना चित्र के है। यह जगत मिथ्या, असत्य और तपरूप है। इसमें घट, पट गढ़ा आदि का क्रम है, वह सब भी असत्यरूप ही है। केवल अपने वास करने के लिये ही मन से इस शरीर को रचा है। इसने स्वयं ही शरीर को रचा है और स्वयं ही दुःखी होता है। किन्तु यह बड़ा शक्तिशाली है। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो इसके सङ्कल्प और यत्न से सिद्ध न हो। क्योंकि यह सर्व शक्तिमान मन उस परमात्मा की ही सर्व--शक्ति है जो देव कहा जाता है। अतः मन जो कुछ भी चाहता है बन जाता है, अर्थात् वैसा ही सिद्ध होजाता है। कारण कि समस्त पदार्थों में परमात्मा की ही सत्ता है अस्तु, उससे सब कुछ सम्भव है। देवता, दैत्य, मनुष्य और स्थावर जङ्गमरूपी यह जो कुछ जगत है, सब सङ्कल्प से स्थित है और जब तक सङ्कल्प है तब तक ऐसे ही स्थित रहेगा। जब सङ्कल्प मिट जायगा, तब सृष्टि भी मिट जायगी। जिस प्रकार दीपक में तेल न रहने से दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार जगत भी हो जायगा, कारण कि स्वप्नवत है। यों तो अज्ञान से सभी विकारयुक्त भासते हैं किन्तु परमार्थ कुछ नहीं है। सो परमार्थ से तो नष्टता और वृद्धि भी कुछ नहीं है। आत्मा को लाभ और हानि कैसा? हे रामजी! अज्ञानियों की भाँति विमोहित मन होवो। यह जगत मृगतृष्णा के जलवत मिथ्या और भ्रम-मात्र है इसको तुम इन्द्रजालि के समान ही समझो यह शरीर पिञ्जर असत्य होते हुए भी मनने अपनी मनन

भोग पदार्थ नाशवान् नहीं प्रतीत होते। वे उस दुःख रूप को सुख रूप ही समझते हैं, किन्तु ज्ञानी नहीं। इसलिये हे रामजी! तुम ज्ञानियों के समान आचरण करो। प्राप्ति और नष्टता में हर्ष, शोक न करो। शास्त्रानुसार हर्ष शोक से रहित होकर उसका भोग करो. जो न मिले उसके लिये तनिक भी चिन्ता न करो। पण्डितों का यही लक्षण है। अन्यथा संसार तो दुःखरूप योगके लिये ही कल्पित हैं। मूर्ख इस अज्ञान से चित्त संसार आडम्बर को आडम्बर न समझ कर दुःख पाते हैं और पदार्थों की इच्छा में बँधकर उसी में डूब जाते हैं। किन्तु बुद्धिमान जगत और उसके पदार्थों को असत्य जानकर उसमें प्रीति नहीं करते। इससे वह बन्धायमान भी नहीं होते। अविद्यारूप पदार्थ उनको पश्चाताप नहीं पहुँचाते। क्योंकि उनकी बुद्धि निश्चयात्मक हो गई है और वे जानते हैं कि, मैं ही सब कुछ हूँ। इससे वे किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करते। हे रामजी! तुम भी वैसे ही बनो। जगत के दृश्य अदृश्य पदार्थों के ग्रहण की इच्छा मत करो! इनकी आस्था त्यागकर अत्यन्त निर्मल आत्मा में स्थित हो राग-द्वेष से रहित हो सब कार्य करो। जगत के पदार्थों में इच्छा अनिच्छा न रखकर जो पुरुष निज कर्म में स्वाभाविक स्थित है उसे कर्म ऐसे ही स्पर्श नहीं करते जैसे कमल पत्र को जल स्पर्श नहीं कर सकता। इन्द्रियों से देखना सुनना आदिक व्यवहार करो या न करो अभिमान से रहित बिना इच्छा के आत्मतत्व में होवो। अहङ्कार ही इन्द्रियों का सार है। यदि हृदय में इसका स्फुरण न होवे तो तुम योग्यपद को अवश्य प्राप्त होवोगे और संसार सागर को पार कर जावोगे। अब तुम चाहे मुक्ति की इच्छा करो अथवा न करो, मुक्ति रूप ही रहोगे। हे रामजी! उस समय जब तुम आत्मपद में स्थित हो जावोगे, तब तुम्हारा ऐसा परम यश फैलेगा कि जैसे पुष्प से सुगन्धि फैलती है। यह संसार वासना रूपी जल है और आत्मा को जानने वाली बुद्धि रूपी इसमें

फिर भी जगत चाहे सत्य हो या असत्य, ज्ञानी के लिए सुख, दुःख तो है ही नहीं। हाँ, वालवुद्धि और मोह से घिरे रहने वाले जगत के पदार्थों की इच्छा करते हैं, पर ज्ञानी नहीं करते। जगतके पदार्थोंसे प्रयोजन सिद्ध करने वाले अज्ञानियों को सुख अवश्य मिलता है, पर दुःख भी महान् मिलता है, इससे तुम बाल बुद्धि मत बनो। जगतको असत्य जानकर इसका भरोसा छोड़ सत्य आत्मा में स्थित होवो। इस भांति यदि तुम जगत को मिथ्या जानोगे तो तुम्हें दुःख कदापि न होगा। वाल्मीकिजी ने कहा कि जब वशिष्ठजी ने रामजी से ऐसा कहा—तब सूर्य अस्त हो गये और समस्त श्रोता मण्डली अपने-अपने स्थान पर चली गयी। फिर दूसरे दिन सूर्य के उदय होने पर सब लोग अपने आसनों पर आ विराजे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा—उत्पत्ति—प्रकरण का इकतालीसवां सर्ग समाप्त ॥ ४१ ॥

-:-❀-:-

इकतालीसवाँ सर्ग

यथार्थ भूतार्थ—बोध वर्णन

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! स्त्री पुरुष और धन आदिक जो संसार के भोग पदार्थ हैं, सब माया अविद्या से रचे हुये हैं, इसमें हर्ष और शोक नहीं करना चाहिये। यह इन्द्रजाल की बाजी के समान ही अरण्य में दिखलाई पड़ते हैं और क्षण २ में नष्ट हो जाते हैं, फिर इनके लिये शोक कैसा? यदि पुत्र और धन आदि बढ़े तो हर्ष नहीं करना चाहिये। क्योंकि मृग तृष्णा का जल यदि बढ़ भी जाये तो उससे क्या अर्थ सिद्ध होगा। धन और स्त्री आदिक का बढ़ना तो दुःखप्रद ही है। पर खेद है कि मूर्ख ऐसे भोगों को देखकर प्रसन्न होते हैं और अधिक से अधिक की इच्छा करते जाते हैं किन्तु बुद्धिमान जन देखकर वैराग्य करते जाते हैं। उनका ऐसा करना उचित ही है। क्योंकि उन्होंने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है। जिसको आत्मा का समाधान नहीं हुआ है उसको

शास्त्र वेत्ता ! आपने ब्रह्माजी का जो आख्यान कहा है और उसके साथ ही जो राक्षस तामस जगत सम्बन्धी अमृत वचन कहे हैं उनको सुनकर मेरा हृदय गद्‌गद्‌ होगया। हे मुनीश्वर ! ब्रह्माजी की उत्पति के सम्बन्ध में शास्त्रों ने कहा है कि वे कभी कमल से और कभी आकाश से और कभी अण्ड से उत्पन्न होते हैं, सो यह कैसे ? आप मेरे संशयों के नाश करने वाले हैं कृपा कर इस संशय को भी दूर कीजिये।

वशिष्ठजी कहने लगे–हे रामजी ! ब्रह्मा कुछ एक ही नहीं हुए हैं। कई लाख ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र अनेक ब्रह्माण्डों में अपने व्यवहार सहित विद्यमान हैं। सब में कुछ न कुछ पृथक-पृथक विशेषतायें भी हैं। तुमने तो एक ब्रह्मा की उत्पत्ति पूछी है। सो वह भी कई प्रकार के होते हैं। यह न जानो कि सदैव ब्रह्मा से ही सृष्टि उत्पन्न होती है, बलिक कभी शिवजी से कभी विष्णुजी से कभी ब्रह्माजी से और कभी मुनीश्वरों से भी सृष्टि की उत्पत्ति होती है। वह सृष्टि में कभी पर्वत, मनुष्य और कभी वृक्षादि ही उत्पन्न होते हैं। अथवा कभी सृष्टि माँसमय और सुवर्ण मय भी होती है। किसी में अधिक से अधिक लोक और किसी सृष्टि में ब्रह्मा भी नहीं होते। ऐसी अनेक सृष्टियाँ चिदाकाश ब्रह्मसत्ता से स्वतः फुरती और नष्ट होती हैं। समुद्र की लहरों के समान आत्मा में अनेक सृष्टियाँ उत्पन्न होकर नष्ट होती रहती हैं। इनकी संख्या कही नहीं जा सकती। उस सृष्टि की संख्या कोई कर भी ले किन्तु ब्रह्मतत्व की सृष्टि संख्या करना असम्भव है। सृष्टि का वह समय जिसमें सृष्टि उत्पन्न होती है कोई नहीं जान सकता। क्योंकि आत्मसत्ता में तो प्रतिक्षण सृष्टि उत्पन्न और नष्ट होती ही रहती है। देव दानव मनुष्य कितने उत्पन्न हुए, कोई नहीं बतला सकता। किन्तु ब्रह्मा से रचे हुए अनेक ब्रह्माण्ड हो गये हैं और भविष्य में बहुत होंगे भी इससे सृष्टिका अन्त नहीं। कारण कि ब्रह्म चिदाकाश है।

उत्पन्न होते हैं। इस भांति यह रचना-वैचित्र्य ब्रह्मपद से उत्पन्न और लय होती है। किन्तु यह सब कुछ मन का स्फुरण मात्र है। तुम्हें समझाने के लिये मैंने अनेक प्रकार से सृष्टि की उत्पत्ति को क्रम पूर्वक वर्णन किया है। पर इसका बारम्बार उत्पन्न होकर लय होना केवल मनोमात्र है। दुःख, सुख, ज्ञान, अज्ञान, बन्ध और मोक्ष भी क्या है, केवल उत्पन्न होकर नष्ट होना ही इसके काल की महत्ता है। इसमें कोई अधिक दिन रहता है और किसी का शीघ्र ही पतन हो जाता है, पर सभी विनाश रूप हैं। ब्रह्मा से लेकर कीट पतङ्ग तक जितने जीवधारी हैं, काल का भेद त्यागकर देखो तो ज्ञात होगा कि सभी नाशवान हैं। सतयुग, द्वापर, त्रेता और कलियुग भी बराबर उत्पन्न होते जाते हैं। कालचक्र सदैव घूमता रहता है। एक प्रभात-काल जाता है तो दूसरा प्रभात आता है। अन्धकार से प्रकाश होना ही जगत की गति है। ऐसेही ब्रह्मतत्व से पुनः फुरकर उसी में लीन हो जाता है। जिस प्रकार लाल लोहे की चिनगारियाँ निकलती हैं और उसी में लीन होजाती हैं, उसी प्रकार समस्त भाव चिदाकाश से उत्पन्न होकर फिर उसीमें लीन हो जाते हैं। हाँ, कभी अप्रकट रूपमें होता है कभी प्रकटरूप में। इसी प्रकार सर्वशक्तिमान आत्मा में जगत उत्पन्न होकर फिर उसी में स्थित हो जाता है। किन्तु यह सब जगत असत्यरूप है। इसका आदि आरम्भ कुछ नहीं और स्वरूप में भी कुछ नहीं, केवल मन के फुरने से ही भासता है। जिस पुरुष को इसकी असत्यता का निश्चय है, वह फिर कभी संसार बन्धन में नहीं आता है, अपने स्वरूप मिलन में ही लगा रहता है। ऐसा ब्रह्मज्ञानी सब कुछ ब्रह्मस्वरूप ही देखता है। यह ऐसा ही निश्चय है कि, संसार संसार नहीं बल्कि सर्वदा ब्रह्मतत्व ही विद्यमान है, इसीसे वह बार-बार उत्पन्न होकर नष्ट होता है। क्योंकि वह जगत को असत्य नहीं जानता, वह जानता है कि यह सर्वदा स्थित रहेगा, इससे नष्ट होता है। पर हे रामजी! जगत के समस्त

अतएव यह त्रयलोकी जगत बार-बार उत्पन्न होकर नष्ट हो जावेगा। स्वरूप के प्रमाद वश यह विकार-जगत विस्तृत भास रहा है, अन्यथा आत्मा का लक्ष्य होने पर इसका उत्पन्न और नष्ट होना कुछ न भासेगा। क्योंकि ब्रह्म और जगत में कुछ अन्तर नहीं है। यह चराचर संसार जो अनेक चेष्टा करता हुआ आत्मा में फुरा करता है वह आत्मा से कुछ भिन्न नहीं है, आत्मस्वरूप ही है। हे रामजी! ऊपर मैंने चतुर्दश सृष्टि का नाम लिया है। वह सृष्टि कहीं छोटी और कहीं बड़े विस्तार वाली है, किन्तु वह भी परमाकाश से उत्पन्न हुई है और उसी का रूप है। उस ब्रह्म सत्ता से पहले कभी आकाश उत्पन्न होता है, तब उससे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं और उनका नाम आकाशज ब्रह्मा कहा जाता है। इसी प्रकार कभी पहले वायु उत्पन्न होकर उससे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं तो वह वायु ब्रह्म और जब ब्रह्मसत्ता से पहले जल उत्पन्न होता है तब उससे यदि ब्रह्म की उत्पत्ति होती है तो वह ब्रह्मा से सम्बोधित होते हैं। यदि पृथ्वी उत्पन्न हो तो उससे उत्पन्न हुए ब्रह्मा पार्थिव ब्रह्मा और अग्नि से अग्नि ब्रह्मा नाम पड़ता है। भौतिक ब्रह्मा के उत्पन्न होने का यही नाम है इसी भाँति जब चारों तत्व पूर्ण होकर पाँचवा तत्व बढ़ता है तब प्रजापति उत्पन्न होकर स्वयम् जगत को रच लेता है और उसका नाम स्वयम्भू होता है, अथवा ब्रह्मसत्ता से स्वयम् ही जगत फुर आता है। किन्तु वास्तव में यह जगत भ्रमरूप स्वप्न के समान मिथ्या है। समुद्र की तरङ्गों के समान ही आत्मा में जगत फुरता है, अन्य कुछ नहीं। जब शुद्धसत्ता की आत्मा संवेदनरूप होकर फुरती है तब वही जगत हो जाता है। पर वह बालक के मनोराज की सृष्टिके समान ही है, उसकी कोई वास्तविकता नहीं है। कभी चिदाकाश में मनकी कला का स्फुरण होता है तब उससे सुवर्ण का अण्डा उत्पन्न होता है और उस अण्डे से ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, कभी आदि पुरुष विष्णु ही जल में वीर्य डालकर पद्म उत्पन्न करते हैं और उससे ब्रह्मा

तैंतालीसवां सर्ग

दासूरोपाख्यान वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! जिसने अपने चित्त को भोग और ऐश्वर्यों की ओर लगा रक्खा है और जो हर प्रकार की राजस,तामस और सात्विक क्रियाओं को आरम्भ करता रहता है, किन्तु फिरभी उस मूढ़ात्माको शान्ति नहीं प्राप्त होती है और आत्माका साक्षात्कार होने ही पर प्राप्त होती है और आत्मा का साक्षात्कार तब होता है जब भोगों की तृष्णा से रहित होवे। जिन विज्ञ पुरुषों ने अहङ्काररूपी मलिनता को त्याग दिया है, उनका शरीरही जगतरूप है। क्योंकि उन्होंने तो मिथ्या अहङ्कार वाले शरीरको त्याग दिया है, उनका शरीरही जगत रूप है। क्योंकि उन्होंने तो मिथ्या अहङ्कार वाले शरीर को त्याग विचार से आत्म शरीर को प्राप्त किया है। ऐसे आत्मदर्शी पुरुष जगत के सब पदार्थों में आसक्त होते हुए भी जन्म मरण के चक्करमें नहीं पड़ते। क्योंकि उनकी बासनायें जल भुन गई हैं, पर अज्ञानी तो भोगों में आसक्त हैं। इससे वे मन और शरीर के दुःखसे दुःखी हो बार बार मरण के चक्कर में पड़ते हैं। इससे तुम अज्ञानी मत बनना। व्यवहार में भले ही अज्ञानियों के समान भोग आदि की चेष्टा करो पर अन्दर से उसकी ओर चित्त न लगाओ। सर्वदा आत्म—परायणता रखो।

इतनी कथा सुनकर रामजी ने वशिष्ठजी से कहा—हे भगवन् ! उधर आपने दासूर के आख्यान का नाम लिया था, सो दासूर आख्यान क्या है, कृपाकर बतलाइये। वशिष्ठजी ने कहा-हे रामजी ! मगधदेश में दासूर नामक एक परम तपस्वी, धर्मात्मा पुरुष रहता था। वह विषयों से मुख मोड़ करके वृक्ष पर बैठकर घोर तपस्या करता था। उसके पिताका नाम शरलोमा ऋषि था। वह ब्रह्मके समान ही प्रतापशाली बनकर पर्वत पर निवास करता था। पिता पुत्र दोनों ही बड़े तपस्वी थे। उनमें शरलोमा तो उच्च कोटिका योगी था जो

पदार्थ नाशवान् हैं किन्तु इसमें ऐसे दृश्य लगे हुए हैं कि देखनेमें मिथ्या नहीं भासता। पर समस्त पदार्थों सहित यह जगत महाप्रलय आने पर नष्ट हो जाता है और फिर उत्पन्न होता है तब जन्म, मरण, सुख, दुःख, दिशा, आकाश, मेघ, पृथ्वी और पर्वत फिर उत्पन्न हो जाते हैं। सूर्योदय और अस्त के समान यह सृष्टि उत्पन्न और नष्ट होती रहती है। देव, दानव, लोक लोकान्तर, स्वर्ग, मोक्ष, इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, नारायण, पर्वत, वरुण और अग्नि आदिक लोकपाल बार बार होते हैं। शुभ कर्म करने वाले स्वर्ग में वास करते हैं और पुण्य क्षीण वाले मृत्युलोक में गिरा दिये जाते हैं। जैसे कुम्हार के चक्र से बासन बनता है वैसे ही चित्तकला की स्फुरण शक्ति से जगत के अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं, और फिर नष्ट हो जाते हैं। नष्ट होने पर जगत का सारा आडम्बर जीव से रहित शून्य श्मशान सा होजाता है, तब बड़े-बड़े पर्वत के समान शरीर वाले मेघ जल बरसाते हैं और उसमें जीव बुद्ध-बुद्ध के रूप में होकर स्थित होते हैं। तब बारहों सूर्य और अग्नि उदय होते हैं, और शेषनाग के मुख से अग्नि निकल कर सब जगत को दग्ध कर देती है। जब जगत दग्ध हो जाता है तब अग्नि शान्त होजाती है और रात्रि होकर केवल एक शून्य आकाश ही शेष रहता है। उस रात्रि का जब भोग समाप्त होजाता है तब जीव अपनी जीर्ण शरीर से मनरूप ब्रह्मा रच लेता है। अथवा यों कहिये कि तब उस शून्य आकाश में मन जगत को रच लेता है। इस प्रकार बार बार यह जगत उत्पन्न और नष्ट होता रहा है। ऐसे अनेक जगत महाप्रलय होकर बीत गये हैं, तब उसमें मैं तुमसे सत्य, असत्य क्या कहूँ। सब दासूर की कथा के समान ही शान्तिस्वरूप है। केवल मूर्खों को यह सत्य भासता है। किन्तु तुम मूर्ख न होना, ज्ञानियों के समान विचार कर जगत को मिथ्या ही समझना।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, स्थिति-प्रकरण का बयालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४२ ॥

—::-❀-::—

से तप करने का निश्चय किया है, सो मैं चाहता हूँ कि इस वृत्त की शिखाके अग्रभाग में बैठने की मुझ में शक्ति आजावे। जिस प्रकार वहाँ बैठकर मैं तप कर सकूँ, वही वर मुझे दीजिये। तब एवमस्तु कहकर अग्निदेव अन्तर्ध्यान होगये। वर पाकर ब्राह्मण पुत्र को बड़ी प्रसन्नता हुई। अब वह (दासूर) उस महा सुन्दर विशाल और अद्भुत वृत्त पर चढ़ने की इच्छा करने लगा। इच्छा करते ही उसने अपनी भावना के अनुसार नाना प्रकार की सुविधाओं युक्त एक त्रिलोकी रूपी पुतली रचली।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति-प्रकरण का तैंतालीसवां सर्ग समाप्त ॥ ४३ ॥

—:-:-:—

चौवालीसवां सर्ग

दासू--पुत्र--परिचय

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! अब वह दासूर उस पुतली पर बैठकर तप करने लगा और उसका नाम कदंब दासूर पड़ा। तब उसने पद्मासन लगाकर मनको एकाग्र किया और एक क्षण दिशाको देखकर वहाँ से मनकी वृत्तियों को खींचकर मनकी ओर लगा दिया। तब उस कर्म से जिस वृत्तका पत्र आकाशको लगता, वह उस पत्र पर स्थित हो मनसे मानसिक पूजन सामग्रियों द्वारा यथा शास्त्र मन-यज्ञ करने लगा। तब निरन्तर दश वर्ष तक मनमें स्थित रहा, सब देवताओं का पूजन कर उसने मेध अश्वमेध, नरमेधादिक यज्ञ कर ब्राह्मणों को बहुत दक्षिणा दी तब बहुत दिनके बाद इतना कर लेने पर उसका अंतःकरण शुद्ध हुआ और विस्तीर्ण निर्मल चित्त में स्थित हुआ। फिर तो बलात्कार से उसके हृदय में ज्ञान प्रकाशित हुआ और वासना का मलिन आवरण जो आत्मा पर लगा था, नष्ट हुआ तब अज्ञान के नष्ट होने पर तपस्वी दासूर ने देखा कि एक महा-सुन्दरी, दिव्य अंगा विशाल नेत्र और मनको हरने वाला बन देवी सामने खड़ी है। उसको देखकर दासूर ने नम्रता पूर्वक कहा, हे

कुछ काल पश्चात् पुत्र दासूरको अकेले छोड़कर आत्मचिंतन करते २ आकाश को उड़ गये। तब दासूर अकेला हो जाने और पिता के वियोग से महाविलाप करने लगा। उसके करुण-रुदन से वन के जीव जन्तु दुःखी होगये। तब उस वनके देवी ने यह आकाशवाणी की कि, हे ऋषि पुत्र! तू बुद्धिमान होकर अज्ञानी के समान क्यों रो रहा है? देखता नहीं कि, यह समस्त संसार मिथ्या नाश रूप और महा क्षणभंगुर है। क्षण-क्षण में उत्पन्न और नष्ट होता रहता है। इसका कोई पदार्थ स्थिर नहीं रहने का। ब्रह्मा से लेकर कीट पतङ्ग तक जगत में जो कुछ तू देख रहा है, सब नश्वर है। इसलिये तू पिता के कारण रुदन क्यों करता है? यह निश्चय है कि, जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य नष्ट होगा।

हे रामजी! देवी की ऐसी आकाशवाणी को सुनकर महा दुःखी दासूर को बड़ी शान्ति मिली और वह चुप होकर शास्त्र विधि से पिता की क्रिया आदि करने में लगा। उससे छुटकारा पा वह सिद्धता प्राप्त करने के लिये उद्योग में तत्पर हुआ। तब ब्राह्मणोचित्त कर्मों को (तप, विद्या) सीख उसका अध्ययन कर श्रोत्रिय हुआ। किन्तु हृदय से अज्ञानी ही बना रहा, ज्ञानी नहीं हुआ। तब केवल श्रोत्रिय होने ही से उसने तप करने का विचार किया और सुन्दर स्थान खोजने लगा पर समस्त भू मण्डल में खोजने पर भी उसे कहीं पवित्र भूमि न मिली। तब सर्वत्र अशुद्ध जानकर उसने विचार किया कि वृक्ष की शाखा पर बैठकर तप करूँ। फिर शाखा भी उसे अपवित्र ही प्रतीत हुई और उसने शाखाके अग्रभाग में बैठने का विचार किया। तब यह विचार कैसे ठीक हो, वह अग्नि जलाकर अपने मुख का माँस काटकर आहुति देने लगा। तब ब्राह्मण का मुख मेरे मुखमें न गिरे अग्निदेव ने ब्राह्मण का वेश धारण कर उसके निकट पहुँच कर कहा—हे कुमार! तेरी क्या वांछा है, वह माँग, मैं तुझे सब कुछ देने को प्रसन्न हूँ। दासूर ने अग्निदेव का विधि पूर्वक पूजन कर कहा,—हे भगवन्! प्राण आहुति के लिये मैंने सूक्ष्म शरीर

इसको सब विद्यायें पढ़ा दी हैं। किन्तु अब आप इसको ज्ञान का उपदेश कीजिये। दासूर मुनिने कहा, अच्छा तुम इसे यहाँ छोड़ जावो। देवी उसे छोड़कर चली गई। तब मुनि के पास रहकर उस पुत्र ने बड़ा ज्ञान प्राप्त किया।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति—प्रकरण का चौंवालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४४ ॥

:--::--::--:

पैंतालीसवाँ सर्ग

दासूर-सुत-बोध वर्णन

हे रामजी! उस समय मैं कैलाशनन्दिनी गङ्गाजी के तट को प्रणाम करता जाता था कि, अदृश्य शरीर सहित आकाश मार्ग में सप्तऋषियों के मण्डल को जाते हुए देखा। वहाँ मुझे दिखाई पड़ा कि जिस वृक्ष पर दासूरमुनि बैठे हे वहाँ से कुछ शब्द हो रहा है। मैं धीरे-धीरे उस वृक्ष के निकट चला गया। वहाँ मैंने क्या सुना कि मुनि कहते हैं कि, हे पुत्र! वस्तु निरूपण के लिये मैं तुझे एक आश्चर्य जनक आख्यान सुनाता हूँ, तू ध्यान देकर सुन। त्रिलोकीमें खोत्थ नामका एक बड़ा प्रतापशाली राजा है जो लक्ष्मीवान जगत की रचना करता है संसार में जितने बड़े-बड़े ऋषि मुनि हैं सब उसको मस्तक झुकाते हैं। उसके कर्म असंख्य हैं और वह नाना प्रकार का आश्चर्यमयी कर्म करता है और बड़े २ महात्मा भी उसे प्रणाम करते हैं। वह सहस्रारंभी और सर्व सुख दुःख का देने वाला है। उसका ऐसा दृढ़ पराक्रम है कि वह किसी अस्त्र शस्त्र से छेदा नहीं जा सकता। उसकी बड़ी विशाल भुजा है। उसके लीलारम्भ को कोई मिटा नहीं सकता। ब्रह्मा, विष्णु महेश भी उससे कांपते हैं। उत्तम, मध्यम और अधम नाम के उसके तीन शरीर हैं। इन्हीं तीनों शरीरों से वह जगत में विस्तार किये हुए हैं। उसकी उत्पत्ति बड़े विस्तार वाले आकाश से हुई है और वह आकाश ही में स्थित है। उस परमाकाश में उस महापुरुष ने अपने लिये एक सुन्दर वाटिका

सुनेत्री ! आप कौन हैं और यहाँ पुष्पों के मध्यमें कैसे आ विराजी हैं ? वनदेवी ने कहा—हे मुने ! भू मण्डल के जो पदार्थ अत्यन्त कष्ट उठाने पर मिलते हैं, वह महापुरुष को बड़ी सुगमता से ही प्राप्त होते हैं। मैं इस वन की देवी हूँ, यत्र तत्र अपनी लीलाकर रही हूँ। आपके निकट इसलिये आई हूँ कि, विगत चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के दिन इन्द्रके नन्दन वनमें एक उत्सव हुआ था जिसमें सब वन देवियाँ एकत्रित हुई थीं और वे सभी वहां से त्रिलोकी में आईं। यहां आकर सबने पुष्प क्रीड़ा किया और सबको पुत्र उत्पन्न हुआ, किन्तु मैं एक ऐसी हूँ कि निःपुत्री ही रह गई। इससे मैं बहुत दुःखी हूँ, और उस दुःखको दूर करने के लिये ही आपके पास आई हूँ। आप सिद्ध पुरुष हैं और बड़े वृक्ष पर स्थित हैं, मैं पुत्र की इच्छा करके आपके पास आई हूँ, कृपाकर मेरी इच्छा पूर्ण कीजिये और मुझे पुत्र दीजिये। यदि मुझे पुत्र न दीजियेगा तो मैं अग्नि जलाकर भस्म हो जाऊंगी और पुत्र के दाह-दुःख को शान्त करूँगी। देवी की ऐसी बात सुनकर दासूर मुनिने उसके हाथ में एक पुष्प देकर कहा-हे सुन्दरि ! अब तू जा। एक मास पश्चात् तुझे परम सुन्दर पुत्र उत्पन्न होगा। पर ऐसा होने पर तूने जो आग में जल जाने का निश्चय किया था उसके कारण पुत्र अज्ञानी होगा। किन्तु यदि यत्न करेगा तो उसे ज्ञान भी हो जायगा। ऐसा वर पाकर वन-देवी बहुत प्रसन्न हुई, किन्तु उसने अपने स्थान पर जाना अच्छा न समझ कर कहा, महाराज ! अब तो मैं आपकी ही सेवा में रहना चाहती हूँ। कृपाकर मुझे अपनाइये। मुनिने कहा, ऐसा नहीं हो सकता। तब लाचार हो वनदेवी अपने स्थानको चली गई और समय पर उसके पुत्र उत्पन्न हुआ। जब उसका दश वर्ष व्यतीत हुआ तब वह उसे मुनिजी के पास लेकर पहुँची। निकट पहुँच कर दोनों ने मुनिजी को प्रणाम किया। प्रणाम कर, पुत्रको मुनिके आगे खड़ा कर बोली-हे भगवन् ! आपके आशीर्वाद से यह मेरे पुत्र उत्पन्न हुआ है। मैंने

में रहते हैं। वायु के प्रभाव से यह सभी मंत्र चलते हैं। उसकी अस्थि-रूपी लड़कियाँ रक्त मांस से रङ्गी हुई हैं। उनमें कुछ अधिक समय चलने वाली हैं और कुछ अल्प समय ही चलती हैं। उनका श्याम वस्त्र शिर के केश हैं। आँख, कान, जिह्वा और मूत्र पुरीष के स्थान, लिंगेन्द्रिय और गुदा यह उसके नव द्वार हैं। इन द्वारों से निरन्तर वायु चला करती है। सर्दी गर्मी उसका प्राण अपना है, नाक इत्यादिक उसकी खिड़कियां हैं, भुजायें गलियाँ और पंचेन्द्रियाँ पंचदीपक हैं किन्तु यह सब कुछ माया से रचित हैं। अहङ्कार रूपी यक्ष उसमें वास करता है। वह अहङ्कार महाभय का स्थान है। देह रूपी विवर में अहङ्कार रूपी यक्ष विचरता है। यद्यपि वह असत्यरूप है तो भी सत्य के समान दुःख देता है। यह अहङ्कार क्षण भर में उत्पन्न होता है और क्षण ही में नष्ट हो जाता है। उसका ही नाम सङ्कल्प है जब जैसा सङ्कल्प करता है, तब वैसा भासने लगता है वह सङ्कल्प इतना प्रबल है कि अनुपस्थित को भी उपस्थित कर देता है। पर सङ्कल्प रहित होने से यह शीघ्र ही नाश हो जाता है। इसी भांति जब तू सङ्कल्प का नाश करेगा तो शीघ्रही तेरा कल्याण होगा। अपना सङ्कल्प उठकर अपने ही को दुःख देता है। इससे सुख किसी को नहीं मिल सकता। समस्त जगत सङ्कल्प से ही है। आत्म-सत्ता से बढ़ता है और उसीसे नष्ट भी होता है। जब मन में विचार होता है, तब यह स्वयम् ही नष्ट हो जाता है। मन स्वयं ही क्रिया करता है और स्वयं ही दुःख पाता है तब रोने लगता है। बन्दर के समान जाल में फँसा हुआ यह कभी हर्षित होता है, कभी दुःखी होता है। जब इसको कल्पित विषय का आनन्द मिलता है तब तो गाल फुलाकर हँसता है और नहीं तो रोता है। पर इसके पीछे जो चलते हैं वे मूढ़ हैं क्योंकि यह सङ्कल्प से भरा हुआ वस्तु और गुण के पीछे पड़ा रहता है। शुभाशुभ से निर्मल और मलिन होता रहता है। हे पुत्र! ऊपर जो

क्रीड़ा के लिये रचा है। उसमें वह अपनी नाना प्रकार की रचना कर विचित्र लीला करता रहता है। उस राजाने महामाया से अपने नगर को खूब रच लिया है और उसमें अनेक प्रकार की माया और व्यवहार करता हुआ उत्पन्न और लीन होता रहता है। उस महीपति की रचना बड़ी विचित्र है और वह उचित रूप से उस नगर में स्थित है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति-प्रकरणका पैंतालीसवां सर्ग समाप्त ॥ ४५ ॥

छियालीसवां सर्ग

खोत्थ-वैभव

हे रामजी। तपस्वी दासूर के ऐसा कहने पर देवी-पुत्र ने पूछा कि हे भगवन्। वह खोत्थ राजा कौन है, और किस नगर में रहता है। यदि भविष्यत नगर में रहता तो भविष्य नगर कैसा होता है, वर्तमान नगर की बात तो ठीक है, पर भविष्य नगर का कैसा उलटा अर्थ है? आपके इस वचन से मेरा बुद्धि भ्रम में पड़ गई है। दासूर ने कहा—हे वत्स मेरी बात ध्यान पूर्वक सुन। अचैत्य शुद्ध चिन्मात्र चिदाकाश में जो सङ्कल्प उठता है उसे खोत्थ कहते हैं। वह खोत्थ स्वयं ही उत्पन्न होता है। ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, सब उसके अवयव हैं। उसने शून्य आकाश में जगत् रूप नगर रचा है, और वही चित्त शक्ति ब्रह्मा के पद को प्राप्त हुई है। चौदह स्थान, चौदह लोक हैं, वन उपवन सहित मन्दराचल और सुमेरु आदिक पर्वत उसकी क्रीड़ा-भूमि है। सूर्य, चन्द्रमा ही उसके बिना तेल और बत्ती के दीपक हैं। उसके सूर्य की किरणों का प्रकाश मोती के तरङ्गके सदृश फुरते हैं, और इस समुद्र के आगे क्षीर सागर आदिक जो सातों समुद्र हैं वह बावड़ियां हैं, उसमें जीवरूपी किरात लेते देते और व्यवहार करते नीचे ऊपर को जाते हैं। पुण्यशील स्वर्ग को और पापी नर्कको जाते हैं। जो देव कर्म करते हैं, ये स्वर्गको और जो मानव धर्मका आचरण करते हैं वह मध्य लोक में तथा दैत्य और नाग आदिक पाताल

अन्यथा नहीं। जो बुद्धिमान हैं, उनको कुछ दुःख नहीं प्रतीत होता। इससे तुम सत् सत्ता के रूप में स्थित हो जाओ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, स्थिति-प्रकरण का छियालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४६ ॥

—::-❀-::—

सैंतालीसवाँ सर्ग

जगत-चिकित्सा

मुनि दासूर के ऐसा करने पर देवी पुत्रने पूछा कि वह सङ्कल्प कैसा है और कैसे उत्पन्न होता तथा कैसे नाश होता है। तब दासूर मुनि ने कहा कि आत्मसत्ता जो चेतनाशक्ति है जब द्वैत के समक्ष होती है तब चेतना लक्षण सङ्कल्प अथवा ज्ञानांकुर जिसका बीज संवित में उल्लाससत्ता को पाकर घनभाव को प्राप्त होता है, तब वही फुरने से आकाश को चेतता है। तब आकाश पूर्ण होता है। और इसको अपना स्वरूप आत्मसत्ता से पृथक प्रतीत होता है। वह बीजांपुर जिस भाव को ग्रहण करता है, चितसंवित वैसे ही सङ्कल्प भाव को प्राप्त होता है। सङ्कल्प का उठना संङ्कल्प से ही होता है और यह स्वतः उठकर सुख दुःख को प्राप्त होते हैं। सङ्कल्प की परिभाषा एक यह भी है कि जब दृढ़ता से चित्तशक्ति दृश्य की ओर फ़ुरती है, तब उस फुरने को सङ्कल्प कहते हैं, और वही संकल्प जब स्वरूप को भूलकर दृश्य की ओर फ़ुरता है, तब वृद्ध होकर जगत जाल की रचना करता है। इससे जगत का जो कुछ भी प्रपंच है सब संकल्प मात्र है, और आकाश से भ्रमरूप जगत फुर आया है। हे ब्रह्मन्! तेरा उत्पन्न होना और बढ़ना भी असत्य है। यह जानकर तेरा यह भाव नष्ट हो जायगा कि अमुक पुरुष है अमुक स्त्री है और मैं हूँ और तू है। क्योंकि ऐसे दुःख सुख सहित पदार्थ तो अज्ञानता से ही जान पड़ते हैं। इस पर विश्वास करना महादुःखदायी है। क्योंकि मैं तुम इत्यादि सभी दृश्य मिथ्या रूप हैं। हे पुत्र! यदि तू ऐसी भावना करेगा तो पृथ्वी में कल्याण

खोतथ का मैने उत्तम मध्यम और अधम तीन शरीर कहा था, वह राजस तामस और सात्विक यह तीन गुण वाले तीन शरीर हैं। यही तीनों सबका कारण रूप होकर जगत में स्थित हैं। तामसी गुण से पापाचरण में लगता है और राजसी सङ्कल्प से लौकिक व्यवहार करता हुआ स्त्री पुत्र के राग में रँगता है, पाप नहीं करता जिससे मरने पर फिर नर देह पाता है और सात्वकी भाव से धर्म ज्ञान परायण होकर मोक्ष की भावना करता हुआ धर्मज्ञान पाकर चक्रवर्ती सम्राट के समान स्थित होता है। पर यदि इन तीनों भावों का त्याग कर देता है तब संकल्प स्फुरण नष्ट हो जाता है और अक्षय पद जो शेष रहता है उससे संसार दृष्टिको त्याग कर, मन को वश कर अन्तर बाहर के दृश्य में स्थित चित्त अंकुर को तोड़कर शान्तात्मा हो जाता है। हे पुत्र! चाहे तू हजारों वर्ष दारुण तपस्या क्यों न करे, पर इसके बिना और कोई यत्न नहीं है। चाहे अपने को पाषाण शिला के समान चूर्ण कर डाले या समुद्र में घुस जाये, चाहे बड़वानल में भस्म हो, चाहे कृपाण की धारके घाट ही क्यों न उतर जाये, चाहे ब्रह्मा, विष्णु महादेव और स्वयम् बृहस्पति ही क्यों न उपदेश करें अथवा चाहे पाताल में, चाहे पृथ्वी में, चाहे स्वर्ग में, चाहे और कोई भी स्थान में क्यों न चला जाये, कल्याण के लिये दूसरा कोई उपाय नहीं है। केवल संकल्पों को मिटाना ही एक उत्तम उपाय है। संकल्प मिटने ही पर अनादि, अविकारी और परम पावन का सुख प्राप्त होता है अन्यथा नहीं। इससे जब यत्न पूर्वक सङ्कल्पों की लड़ी टूट जाय तब पता नहीं चलता कि सङ्कल्प कहाँ गये। सत्य असत्य पदार्थ सब सङ्कल्प ही हैं। सङ्कल्प वश जैसा २ चिन्तन करता है उसी क्षण में वैसा प्रतीत होता है। अस्तु संसार का भ्रम तो सङ्कल्प से ही उदय हुआ है। सङ्कल्पों का नाश होने पर यह चित्त अद्वैत सत्ता के समक्ष होता है और दुःख के बन्धन कट जाते हैं। जब तक जगत को सत्य जानता है तभी तक यह दुःख वेदनादि रहते हैं।

क्षण भंगुर और सारहीन है। बासना से जगत भासित होता है। और वासना क्षय से शान्त होता है। तुमको जब इसकी बासना फुरे तब उसी क्षण त्याग करने का यह भाव लावो कि, यह प्रपंच कुछ नहीं और असत्यरूप है तो वह वासना नष्ट हो जावेगी, इसमें तनिक संशय नहीं। क्योंकि यह तो स्वयं ही असत्य है फिर इसकी उल्टी चिकित्सा करने से तुमको क्या दुःख होगा और त्याग करने में भी तुम्हें क्या यत्न करना पड़ेगा? यदि वास्तव में यह सत्य होता तो इसको नाश समझने के लिये कोई क्यों यत्न करता। भला कोयले से भी धोने का कोई यत्न करता है। उससे सब जगत असत्य रूपी है विचार करने से कुछ नहीं मिलता। इस कारण मिथ्या अहंकाररूप दृश्य को त्यागकर सत्यात्मा को अङ्गीकृत करो—अर्थात् दृश्य को त्याग आत्मपद में स्थित होवो, यही उच्च कोटि का पुरुषार्थ है। हे पुत्र! यह संसार संकल्प विकल्प से उत्पन्न हुआ है, विचार कर थोड़े ही उपाय से मुक्त होवो। अन्यथा सभी पदार्थ असत्य हैं और देखते २ नष्ट होने वाले हैं। पर विचार करके जगत्-भ्रम नष्ट हो जाता है। वह जगत् न तेरा है न मेरा है और न तू इसका है। यह केवल भ्रम से भासता है। जब तू इसको भ्रम छोड़कर देखेगा तो आत्म-तत्त्व से दूसरा कुछ न प्रतीत होगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा-उत्पत्ति-प्रकरण का सैंतालीसवां सर्ग समाप्त ॥ ४७ ॥

-:-❀-:-

अड़तालीसवाँ सर्ग

दासूरोपाख्यान समाप्ति

वशिष्ठजी बोले—हे रघुवर शिरोमणि रामचन्द्र! इस प्रकार जब पुत्र को उपदेश देकर दासूर चुप होगया तब मैं उसके आगे जाकर खड़ा होगया। मुझे देखकर दासूर ने उठकर मेरा पूजन किया और फिर मुझे ले जाकर कदम्ब वृक्ष की शाखा के अग्र भाग में बैठा दिया। तब वहाँ बैठकर हम दोनों कथा-प्रसङ्ग की चर्चा करने लगे। वहाँ बैठे २ मैंने देखा कि, कितने ही मृग और पक्षी

रूप होकर विचरेगा और संसार को न प्राप्त होगा। फल को तोड़कर खींचने में तो कुछ उपाय करना भी पड़ता है, किन्तु अपने से सिद्धि होने वाले भावमात्र सङ्कल्प का त्याग करने में कोई उपाय करने की आवश्यकता नहीं है। केवल इसी भाव को दृढ़ करना है कि न मैं हूँ, न यह जगत है। जो प्राणी इस दृश्य जगत के सद्भाव सङ्कल्प का नाश करता है, वह शान्त स्वरूप हो जाता है। भावरूप आत्मसत्ता में जब अपने मन को लगावे तब वास्तविक होवे और वही स्वस्तिक अथवा आत्मस्थित होवेगा कि जो अपने मन के सङ्कल्पों को छेदेगा। यह कौनसा बड़ा यत्न है? सङ्कल्पों का नाश होते ही जगत भी नाश हो जाता है। और संसार के सब दुःख जड़ मूल से नाश हो जाते हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार का नाम भी कहने मात्र के लिये एक सङ्कल्प का नाम है अर्थ में कुछ भेद नहीं। जितना कुछ दृश्य प्रपंच-जाल है सब सङ्कल्प मात्र है। सङ्कल्प के अभाव से ही सबका अभाव हो जाता है इससे सङ्कल्प को ही जड़ मूल से नाश करना चाहिये। जगत सङ्कल्प दोनों ही मिथ्या हैं। मिथ्यारूप सङ्कल्प ने ही जगत को सिद्ध किया है, इससे इसकी भावना में विश्वास करना भी मिथ्या ही है। ऐसा जान लेने पर वासनाओं का भी नाश हो जाता है और वासना नाश से सिद्धता प्राप्त हो जाती है। अन्यथा जगत तो असत्यरूप ही है। बुद्धि की चपलता से भास रहा है। किन्तु जिस प्राणी को इसकी भावना नहीं है, उसको जगत के सुख दुःख स्पर्श नहीं करते और आस्था भी नष्ट हो जाती है। आस्था नष्ट होने से अभाव बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। संसार के सुख दुःख ही मन के स्फुरण की एक रचना हैं और भूत, भविष्य, वर्तमान काल भी मनरूपी जगत की वासना से फुरकर मानसिक शक्ति में स्थित है। वह मन क्षणमात्र में ऐसा अत्यन्त दीर्घ और सूक्ष्मस्वरूप को धारण करता है कि पकड़ना चाहे तो नहीं पकड़ता। फिर भी यह कोई वस्तु नहीं

वह प्रति विश्वस्वरूप ही है। जब इसकी उत्पत्ति आकस्मिक ही है तब इसमें कोई क्यों आसक्त हो। इसकी आस्था करना तो बुद्धिमत्ता नहीं, मूर्खता है। क्योंकि इस जगत का न तो कोई स्वरूप है और न बास है, बारम्बार की अज्ञान भावना से निरन्तर दृष्टिगत होता है। फिर भी यह मिथ्या है और प्रतिक्षण नष्ट होता रहता है। देखो न ! आयु और स्थान कहाँ के कहाँ चले जाते हैं- इसलिये तुम उस आत्मसत्ता में स्थित होकर व्याधि रहित होवो जो सब इन्द्रियों से परे और अकर्तारूप है। भावभाव तो एक दुःख का दृश्य मात्र है। दृश्य वस्तुओं का अन्त नहीं होता पर आत्म-चिन्तन करके देखा जाय तो यह स्वप्नवत ही है। फिर इसमें विश्वास करके यत्न करना क्या मिथ्या नहीं है ? संसार के समस्त पदार्थ नाशवान् हैं फिर इसमें आस्था करना कैसा ? यह तो सदैव ही असत्य है, पर आत्मा सत्य है। भला कहीं जड़ और चेतन का भी संयोग होता है ? संसार की वस्तुयें तो सर्वथा ही चलायमान हैं, इसलिये इसमें विश्वास करना शोभा नहीं। क्या कोई जल का आश्रय लेकर भी पार पा सकता है ? इसमे तो दुःख ही प्राप्त होता है। यह संसार ही तो बन्धन है। पर तुम स्थिर रूप हो। इससे आस्था करना शोभनीय नहीं। भला कहीं जलके तरङ्ग और पर्वत का भी सम्बन्ध होता है? जब तुम द्वैत भाव से रहित एक हो तब तुम्हें वांछा किसकी ? तुम्हारे लिये किसी वस्तु की इच्छा और अनिच्छा भी कुछ नहीं। तुम इससे रहित होकर दृढ़ता पूर्वक अपने आपमें स्थित होवो। वह आत्म सत्ता सबका कर्ता होते हुए भी सदैव ऐसा अकर्ता है मानो उसने कुछ किया ही नहीं, तटस्थ स्थित है किन्तु समस्त पदार्थों में उसीका प्रकाश है। वह सबका कर्ता है, उसका कर्ता कोई नहीं। क्योंकि वह स्वयं ही प्रकाश रूप है चलता भी है पर चलायमान नहीं होता। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब मात्र चलता है और सब को प्रकाश देता है सूर्य नहीं चलता वैसे ही तुम्हारा स्वरूप आत्मा सदैव अचल और

दासूर के आश्रम में विचर रहे हैं। और अनेक फल फूलोंसे लदे वृक्ष चारों ओर शोभायमान हैं। उनको देखकर मैं बड़ा प्रसन्न हुआ और फिर इन दोनों से मिलकर उस पुत्र को अनेक युक्ति पूर्ण इतिहास सुनाने लगे। उस आनन्द में हमारे लिये रात्रि एक क्षण के समान व्यतीत हुई। प्रातःकाल होते ही मैं चलने को उठा तब पुत्र सहित दासूर मुझे कदम्ब की जड़ तक पहुँचाने आया। बीच में मैंने उसे बार २ आग्रह पूर्वक ठहराया पर वह पहुँचाकर ही लौटा। हे रामजी! दासूर की इस कथा को सुनकर मैंने तुम्हें यह बतलाया है कि यद्यपि यह जगत प्रतिबिम्ब की छाया के समान प्रत्यक्ष भास रहा है तथापि मिथ्या है।। इसमें कोई वास्तविकता नहीं है। बुद्धिसे तुम इसमें राग न करो। यदि तुम इस कथा के सिद्धान्त को हृदय में रखकर विचार करोगे तो संसार के मल से स्पर्शित न होवोगे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, स्थिति-प्रकरण का अड़तालीसवां सर्ग समाप्त ॥ ४८ ॥

उनचासवां सर्ग

कर्तव्य-विचार वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस जगत के प्रपंच हैं भी और नहीं भी हैं, ऐसा जानकर तुम सब पदार्थों से विरागी बनो। इनके भासने और न भासने से तुमको क्या है। तुम बाधा रहित होकर आत्मतत्व में स्थित होवो और इस चलाचल के विषय में रंचमात्र भी दुःखी मत होवो। हे रामजी! इस जगत का कोई आदि अन्त नहीं है, केवल स्वच्छ चित्तशक्ति कामना रूप है और उसके स्फुरण से ही ऐसा भासता है, अन्यथा कुछ नहीं। इस जगत का कर्ता अकर्ता कोई नहीं है, केवल प्रति विश्वस्वरूप है और उसी में कर्ता अकर्ता पद को प्राप्त हुआ है। अकृत्रिम है, किसी ने किया नहीं है। अतः इसका साथ तुम कदापि न करो। इसके न होने की ही भावना तुम हर समय हृदय में दृढ़ रखो। क्योंकि यह अकर्तारूप और जड़ के समान है। आकस्मिक ही यह जगज्जाल फुरा है और

ही सबका कर्ता और महान् कर्ता सबमें अन्तर में स्थित होकर सब कार्य करता हूँ इन दो निश्चयों में से तुम जिसमें चाहो स्थिर होओ। ऐसे निश्चय से और यह विचार रखने से कि सबका कर्ता मैं हूँ, जगत का सब कुछ भ्रम भी मैं ही हूँ—पदार्थों के भावाभाव के सम्बन्ध में राग-द्वेष न होगा। जब सब स्वयं ही है तब राग-द्वेष किससे। इस प्रकार जब आत्मा और कर्तव्यकी एकता होती है तब खेद और प्रसन्नता स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं और सत्ता की समानता ही शेष रहती है। हे रामजी! सबका कर्त्ता तुम अपने ही को जानो और यह भी जानो कि मैं कुछ करने वाला भी नहीं अथवा इन दोनों सङ्कल्पों को भी त्याग कर निर्विकल्प और निःमन हो जावो तब वही सत्ता शेष रहेगी कि जो तुम्हारा स्वरूप है। यह मैं हूँ, यह मेरा है और यह जगत है। तुम ऐसी तुच्छ भावना को सर्वथा त्याग दो और व्यर्थके लिये इस अभिमान में मत स्थित होवो। काल सूत्रका भी अहङ्कार इस शरीर में नरक का कारण और नरक का जाल है। शास्त्रों की घोर वर्षा से पीड़ित होने के कठिन दुःख से भी अधिक दुःख शरीर का अभिमान देता है। अतः पुरुषार्थ द्वारा तुम इसका परित्याग करो। क्योंकि यह महा नीच है। इस अहङ्काररूपी बादल का ही पर्दा नेत्रों पर पड़ा हुआ है कि आत्मा नहीं भासित होता। जब विचार पूर्वक इस पर्दे को दूर करोगे तब आत्म सत्ता का उदय होगा और सर्व दुःखों से रहित तुम शान्त पद को प्राप्त होवोगे। यह निर्णय सब से उत्तम है और इसी निश्चय में उत्तम पुरुष सदैव स्थित रहते हैं। तुम भी विधि निषेध ध्यान रख कर कोई निश्चय धारण करो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति—प्रकरण का उनचासवां सर्ग समाप्त ॥ ४६ ॥



अकर्ता है तुम उसी में स्थित होवो। जितना भी जगत भासता है तुम उसमें विचरो, पर भावना से इसमें बँधो मत क्योंकि यह असत्य है। प्रत्यक्षादिक प्रमाणों से यह जगत सत्य जान पड़ता है, पर यह कुछ है नहीं। इससे स्वयं विचार कर तुम अपने आप में ही स्थित होवो। फिर यह कुछ न जान पड़ेगा। हे रामजी! यह मिथ्या जगतके सम्बन्ध में तुमको सत्य की भावना करनी सर्वथा अयोग्य है। क्योंकि यह संकल्पपुर और स्वप्न नगर के ही समान असत्य है। भ्रमवश सत्य भासता है। इससे तुम धन आदिक भाव पदार्थोंकी आस्था त्यागकर केवल बाहरी लीला समझकर ही विचरो और अभ्यान्तर से अकर्तापन में स्थित होवो। इस प्रकार सब भाववस्तुओं में स्थित भी रहो और पृथक भी रहो। जैसे आत्मा सब पदार्थों में सब काल स्थित भी है और सबसे पृथक भी है। उसी की नीति सत्ता में जगत् स्थित है। जिस प्रकार दीपक और सूर्य तथा रत्न इच्छा रहित ही सर्वत्र प्रकाशित होते हैं उसी प्रकार आत्मदेवकी सत्ता से ही सांसारिक प्राणी प्रकाशते हैं इससे वह कर्ता है पर समस्त इन्द्रियों के विषयों से पृथक है इस कारण अकर्ता और अभोक्ता है। किन्तु वह सब इन्द्रियों के अन्तर्गत ही स्थित है। इसलिये कर्ता और भोक्ता भी वही है। दोनों प्रकार में वह आत्मा ही है तुम जिसमें अपना कल्याण समझो उसी में स्थित होवो। हे रामजी! अकर्ता अभोक्ता सब में ही हूँ ऐसा समझकर और ऐसी दृढ़ भावना से सांसारिक कार्यों को करते हुए भी तुम्हें कुछ बन्धन न होगा और तुमसे भोग की सब वासनायें भी निवृत्त हो जावेंगी और सब तुम चेतन भोग की ओर न जाओगे। मैंने कुछ किया नहीं, सदैव अक्रियरूप हूँ ऐसा जिसको निश्चय है, वह भोग समूहोंकी कामना किसलिये करेगा और त्यागभी किसका करेगा अतएव मैं नित्य और अकर्तारूप हूँ ऐसा निश्चय करने से जब उसमें बुद्धि दृढ़ हो जायगी तब केवल परम अमृतरूप समानसत्ता ही तुम्हारे लिये शेष रहेगी। चाहे तुम यही भाव धारण करो कि, मैं

कर वासनाओं का त्याग करोगे तब मुक्त पद को प्राप्त होवोगे और तब तुम्हें सुख मिलेगा। उसमें सबसे पहले तामसी वासनाओं का जो कि शास्त्र के विरुद्ध हैं उनका त्याग करो। पश्चात् विषयों की वासना त्याग कर मयत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चार सिद्धान्तों को ग्रहण करो। सब कुछ में ब्रह्म की भावना करते हुए किसी से द्रोह न करना यह मैत्री भावना है। जैसे लक्ष्मीवान पुरुषों से मित्र भाव रखना। दुखियों पर दया करने को करुणा भाव कहते हैं। मुदिता भाव उसे कहते हैं कि जो धर्माचरण करने वालोंको देखकर प्रसन्न हुआ जाय। चौथी उपेक्षा नामक वह भावना है जिसमें पापी को देखकर भी उदासीन रह कर उसकी निन्दा न की जाय। यही चारों प्रकार की वासनायें बाहर भीतर सर्वत्र व्यवहार में लाई जानी चाहिये किन्तु उनको वर्तते हुए अभिमान रहित रहना चाहिए। दृश्य पदार्थों में चिन्मात्र की वासना रखनी आवश्यक है। आगे चलकर यह वासना भी त्याज्य है और उससे भी जो शेष रहे वह भी त्याग करनी चाहिये। क्योंकि चिन्मात्र सत्ता से ही कल्पना द्वारा देहादिक प्राणेन्द्रियाँ तम व प्रकाश आदिक वासनायें सममात्र भासित हुए हैं इससे चिन्मात्र सत्तादिक का त्याग भी आवश्यक है। इस त्याग के पश्चात् तुम आकाश के समान स्वच्छ हो जाओगे और उसके पश्चात् तुम्हारा जो स्वरूप होगा वही तुम हो। इस प्रकार का त्याग पुरुष ही परमात्मा के समान है। क्योंकि कर्म अकर्म और अर्थादि कोई भावना हृदय में नहीं है। उसको हानि लाभ कुछ नहीं। उसके लिये समाधि और त्यागी कैसा ? उसका मन तो बासनाओं से रहित है।

हे रामजी ! आध्यात्मिक शास्त्राध्ययन और सत्संगादि करने के पश्चात् मेरा निश्चय है कि पूर्ण रूप से वासनाओं का त्याग करने से उत्तम मौन है। इसके बिना उत्तम पद की प्राप्ति होना कठिन है। मैंने बड़े तपस्वियों और कर्मकाण्डियों को देखा है। सब ग्रहण और कोई त्याग की इच्छा में पड़े हुए नाना प्रकार की क्रियाओं को

—❀—

पचासवाँ सर्ग

पूर्ण स्वरूप वर्णन

वशिष्ठजी की अमृतमय वाणी सुनकर रघुकुल शिरोमणि रामचन्द्रजी बोले कि हे मुनिनाथ ! आपका यह कथन तो मुझे हृदयङ्गम होगया कि आत्मा ही सबका, कर्ता, अकर्ता, भोक्ता, अभोक्ता व सब प्राणियों का आश्रय मूल और सर्व व्यापक है। वही मेरे हृदय में भी रम रहा है और आपके अमृतोपदेश से अब उसी का प्रकाश भी हो रहा है। वही समस्त संसार को प्रकाश रहा है और उसी से सब क्रियायें भी सिद्ध होती हैं, इससे कर्ता और भोक्ता भी वही है। पर इस सम्बन्ध में मुझे कुछ संशय उत्पन्न हुआ है, सो आप कृपा कर अपनी वाणी से उसे शान्त कीजिये। मैं, यह, वह, सत्य और असत्य सम्बन्धी जितनी द्वैत कल्पनायें उस एक के सम्बन्ध में उठती हैं वह कैसे ? क्योंकि वह तो निर्मल है। उसमें मल कहाँ ? वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! मोक्ष का उपाय शास्त्र है। जब तुम भली भाँति इसमें स्थित होवोगे तब उस समय स्वयम् ही इसका उत्तर तुम्हें मिल जायगा। हे रामजी ! सुहावना गीत सुन्दर स्त्रियों की वाणी में होता है और उसका अधिकार कामी युवा पुरुषों का है अन्य का नहीं। उसी प्रकार बिना ज्ञान के हुए इस उदार कथा के तुम अधिकारी नहीं हो। उपदेश तब दृढ़ लगता है जब बुद्धि शुद्ध होती है। मलिन बुद्धि में उपदेश की दृढ़ता नहीं होती। फिर ऐसे प्रश्न का उत्तर तो सिद्धान्त अवस्था वाले को ही समझाया जा सकता है कि जिसने प्राप्तरूप आत्मा एवं बोध सत्ता को प्राप्त कर लिया है अतएव जब तुम अपने आपको प्राप्त कर लेवोगे तब स्वयं ही इस प्रश्न का उत्तर जान जाओगे इसमें कुछ सन्देह नहीं है। तब मैं भी तुम्हें उसका उपदेश करूँगा। हे रामचन्द्रजी ! अभी मैंने जो कर्ता और कर्म के सम्बन्ध में कहा है पहले उस पर विचार

सकता है। क्योंकि यह जो सूर्य चन्द्रमादिक हैं वह भी जड़रूप हैं और उनको प्रकाशित करने वाली वस्तु आत्मसत्ता ही है। रक्त और अस्थियाँ सहित बनी हुई जो देह है, वह भी इन्द्रियों से आवेष्ठित-होकर एक गोलक के समान जगत रूप है उसी में यह चैतन्य जीव रूपी रत्न विराजमान है। हे रामजी! स्त्री का शरीर भी क्या है, केवल चमड़े की एक पुतली है, उसको देखकर मूर्ख बालक प्रसन्न होते हैं। किन्तु जो बुद्धिमान् हैं वह नहीं प्रसन्न होते। वह तो उस उत्तम पदमें विराजते हैं, जिसकी अपेक्षा से सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश भी तुच्छसा प्रतीत होता है। किन्तु इस संसार सागर में सर्प के समान बहे जाते हैं। जहाँ तक मैं जानता हूँ कि संसार का कोई भी भावुक पदार्थ ज्ञानी को अपनी राग में नहीं रंग सकता। जैसे राजा के घर की सुन्दर स्त्रियों को ग्राम का मूर्ख और नीच स्त्रिया नहीं प्रसन्न कर सकतीं वैसे ही जगत के पदार्थ तत्ववेत्ता के हृदय को नहीं प्रसन्न कर सकते। क्योंकि यह संसार चक्र जो देखने में बड़ा विस्तृत है किन्तु है यह असत्य स्वरूप। तब इसको देखकर ज्ञानी प्रसन्न कैसे हो सकता है। यह तो चन्द्रमा की छाया के ही समान है। यह देह भी मिथ्या है। इसकी इच्छा तो मूर्ख करते हैं! जैसे सेवार को हंस नहीं भक्षण करते, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष संसार के विषयों की इच्छा नहीं करते।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति-प्रकरण का पचासवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५० ॥

—:-:-:-:—

इक्यावनवाँ सर्ग

कमलज-व्यवहार वर्णन

वशिष्ठजी बोले--हे रामजी! शरीरादिक भोग वस्तुओं के अतिरिक्त संसार में कोई अन्य सुख तो नहीं है और इन्हीं वस्तुओं को ज्ञानी तुच्छ समझते हैं और इनमें आस्था नहीं करते फिर वे इच्छा किस वस्तु की करें। इन भोग पदार्थों से तो मूर्ख सन्तुष्ट होते

करते हैं पर शरीर के लिये, आत्मा के लिये नहीं। साथ ही मैंने ऐसे भी बहुत लोगों को स्वर्ग पाताल और ब्रह्मलोक में देखा है जिनमें कितने सन्तों ने आत्मा का साक्षात्कार किया है। चाहे समस्त ब्रह्माण्ड का राजा होजावे, अग्नि और जल में भी प्रवेश कर जावे और चाहे सारी ऐश्वर्य शक्तियों को भी प्राप्त कर लेवे किन्तु आत्म-दर्शन विना जीव को शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। उच्च कोटि के सन्त और सूरमा तथा उपासना करने के भी वही योग्य हैं जिन्होंने अपनी इन्द्रिय रूपी शत्रु को जीत लिये हैं। हे रामजी! ज्ञानी पुरुष दृश्य-पदार्थों में प्रीति नहीं करते। क्योंकि पृथि व्यादिक पञ्चभूत तो सर्वत्र हैं। फिर प्रीति किससे हो। वह (ज्ञानी) सम्पूर्ण जगत को बेल फल के समान गोल समझते हैं। तब वह उसमें किसका त्याग और किसका भोग करें। यही कारण है कि वह संसार के पदार्थों के लिये यत्न नहीं करते। किन्तु मूर्खजन उसी के लिये मोह जाल में पड़कर अनेक जीवों का घात करते हुये पृथ्वी पर युद्ध करते हैं। वह नहीं जानते कि यह जगत सङ्कल्प मात्र में ही नष्ट हो जाता है इसलिये एक क्षण भी इसकी आस्था करनी मूर्खता है। आत्म वेत्ता इस त्रिलोकी रूप जगत को हेय समझ कर किसी वस्तु के हर्ष और शोक में नहीं बँधते। वह सदैव ग्रहण और त्याग से रहित होते हैं। कारण कि वह केवल एक अद्वैत आत्मभाव को प्राप्त हो चुके हैं। उनकी बुद्धि व्यापक और आकाशवत होती है वह अपने आप में स्थित मिथ्या दृश्य से परे चिन्मात्र सत्ता में सदैव स्थित रहते हैं। उनको शरीरादिक अन्य वस्तु का सर्वदा ही अभाव रहता है। हे रामजी! ब्रह्मरूपी एक बड़ा समुद्र है उसमें झाग के समान पर्वत हैं, चेतनारूपी सूर्य है उसमें मृग तृष्णा नदी रूप जगत की लक्ष्मी है और ब्रह्मरूपी समुद्र में जगत रूपी तरङ्ग उठते और लय होते हैं ऐसा जानने वाला जो ज्ञानी पुरुष है उसको यह संसार आनन्द प्रद कैसे हो

निर्वाण होता है तब जगत भी लय हो जाता है। एक बार पद्मासन बांधकर ब्रह्माजी बैठे हुए यह चिन्तन कर रहे थे कि यह संसार जो मन के सङ्कल्प स्फुरण से महान् विस्तृत रूप अनेक प्रकार के व्यवहार एवं विकार संयुक्त मनुष्य आकाश, पाताल और पर्वतादिक पृथ्वी सहित प्रसरित हो रहा है अब मैं इसमें निवृत्त हो जाऊँ तो अच्छा है। ऐसा चिन्तवन कर ब्रह्माजी ने मनके सङ्कल्पों से निवृत्त होकर परब्रह्म आत्मरूप आत्मतत्व में अपने आप को स्थित किया। कुछ काल पश्चात् उस स्थिति से स्फुरित होकर ब्रह्माजी ने फिर जगत को देखकर चिन्तन किया कि संसार दुःख सुख से संयुक्त अनेक बन्धनों से बँधा हुआ राग-द्वेषादिक भयों से दूषित हो रहा है। तब जीव को ऐसे दुःख में देखकर ब्रह्माजी को दया उत्पन्न हुई उन्होंने अध्यात्म ज्ञान से परिपूर्ण वेद उपनिषद् को प्रकट कर महान् अर्थोंयुक्त अनेक शास्त्रों की रचना की। फिर पुराण रचकर जीव की मुक्ति हेतु आपदा से रहित परमपद में स्थित हो शान्तरूप से स्थित हुए। तब कुछ काल पश्चात् उसी प्रकार जागकर फिर जगत को देख मर्यादा में जोड़ दिया और स्वयं कमल-पृष्ठ में स्थित हो आत्मतत्व में ध्यान परायण हो गये। इस प्रकार ब्रह्माजी ने अपने शरीर को जिस मर्यादा में बाँध रखा है, उसी प्रकार की नीति में संसार क्रीड़ा कर रहा है। इसके जन्म का कोई कारण नहीं है। ग्रहण और त्याग की इसको कोई भावना नहीं है। समस्त पदार्थ सम भाव में परिपूर्ण समुद्रवत स्थित हैं। कभी संकल्प रहित शान्त रूप से रहता है। कभी अपनी इच्छा से जगत की रचना करता है। जगत रचना में इसको कोई भेद नहीं है। यही ब्रह्माजी की स्थिति है। यदि ऐसी अवस्था किसी अन्य देवता में भी हो तो वह भी ब्रह्मा के ही समान शुद्ध और सात्विक रूप है, और सृष्टि के आदि में जो शुद्ध ब्रह्मतत्व में चित्तकला का स्फुरण हुआ है, वही स्फुरण ब्रह्मा रूप होकर स्थित हुई है। फिर जब जगत के स्थिति क्रम में

हैं, ज्ञानवान और साधुजन तो इसमें प्रीति नहीं करते। प्रीति तो कृपण और अज्ञानियों को होती है कि जिनको भोग ही सरस है और भोग का आदि अन्त और मध्य भी दुःख रूप है। इनकी आस्था करने वाले पुरुष गर्दभ के समान हैं। स्त्री को पाकर ऐसे पुरुष बड़े प्रसन्न होते हैं किन्तु वह रक्त मांस और अस्थियों से पूर्ण के अतिरिक्त और क्या है, सो उसको पाकर प्रसन्न होने वाले पुरुष, पुरुष नहीं गीदड़ हैं। पर ज्ञानी पुरुष जगत के किसी भी पदार्थ से प्रीति नहीं करते। वह जानते हैं कि सब पृथ्वी मिट्टी ही है और वृक्ष सब काष्ठ तथा पर्वत, पाषाण पाताल अधः और आकाश उर्द्ध हैं और सब दिशायें चारों ओर व्याप्त हैं। समस्त विश्व पंच-भौतिक इन्द्रियाँ मोहको देने वाली और विवेक मार्ग की बाधक हैं। जितने कुछ संसार के सम्पूर्ण ऐश्वर्य पदार्थ हैं सब दुःख के ही रूप हैं। पहले इनमें प्रकाश तो जान पड़ता है किन्तु पीछे कालिमा ही होती है और इनसे शान्ति नहीं प्राप्ति होती। इससे ज्ञानी पुरुष स्त्री आदिक रमणीय पदार्थों की ओर अपनी वृति को नहीं लगाते। इस के विपरीत अज्ञानी उनको स्थिर समझ कर स्वाद लेते और सन्तुष्ट होते हैं पर ज्ञानी के लिये यह तुष्टता का कारण नहीं है। क्योंकि विषय भोग तो विषके समान हैं और स्मरण मात्र से विषवत् मूर्छित कर देते हैं, और सत्य विचार का लोप हो जाता है। इससे इनको त्यागकर स्वस्वभाव में स्थित होवो और ज्ञानी के समान विचरो। अनात्मा में आत्माभिमान का होना ही तो जञ्जाल की सत्यता है। वासना के वश से ही तो ब्रह्मा को भी शरीरादि का संयोग हुआ। पर वास्तव में शरीर के साथ ब्रह्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, केवल कल्पना मात्र है।

हे रामजी! इस जगत का क्रम जैसे-जैसे हुआ है, अगले दिनों में बतला आया हूँ कि सङ्कल्पवश यह दैवनीति स्थित हुई है और समस्त जगत ब्रह्मा के ही सङ्कल्प में स्थित है जब इसके सङ्कल्प का

औषधियों में रस रूप होकर जा स्थित होते हैं। उसको जो लोग भोजन करते हैं वह उसी में वीर्य रूप से स्थित होते हैं। कुछ प्राण वायु द्वारा प्रकट हो स्थावर हो जाते हैं और कुछ वायु मार्ग से धान्य क्षेत्र में चावल के रूप में स्थित हो जाते हैं और जीव उसीको भोजन करते हैं, उससे वीर्य बनता है और उसी वीर्य से अनेक रूप रङ्ग के भेद से प्राण-धर्म की उत्पत्ति होती है। कुछ चन्द्रमा और सूर्य की किरणों द्वारा पत्र और औषधियों में स्थित होते हैं। और कुछ फलों में स्वाद रूप से स्थित हो जाते हैं। तब समय पर वह फल पकते हैं और शरीर धारी उसको खाते हैं। उससे जड़रूपी वीर्य उनमें स्थित होता है और वह सुषुप्ति वासना से वेष्ठित गर्भ पिञ्जर में जा पड़ते हैं। वीर्य में सदैव वही जीव वास करते हैं और वह वीर्य वायु, धूम्र और कभी मेघ मार्ग से कभी औषधि मार्ग कभी प्राण मार्ग और कभी चन्द्रकिरण के मार्ग से अनेक प्रकार के जीव उत्पन्न होते हैं। उनमें जो उत्पन्न होकर आत्मसत्ता का विस्मरण नहीं करते वह शुद्ध और सात्विकी हैं। उनका व्यवहार अत्यन्त उदार होता है, और जिनको उत्पन्न होने से भूल जाता है और उसी शरीर से उनको आत्म दर्शन होता है वह सात्विक वृत्ति वाले हैं। किन्तु जो उत्पन्न होकर अनेक प्रकार के व्यवहार को करते हैं और स्वरूप को भूल जाते हैं फिर पूर्व संसार को प्राप्त कर स्वरूप को लखते हैं वह राजस वृत्ति वाले कहाते हैं। पर जिनको अन्तिम जन्म का स्मरण रहता है और जिसे मोक्ष मिलता है अब वह क्रम सुनो। हे रामजी! उत्पन्न होने में जिनको प्रगट नहीं है वह शुद्ध और सात्विक वृत्ति वाले हैं अथवा जो मूर्ख जन्म का बोध रखते हैं वह सात्विक वृत्ति वाले दुर्लभ हैं। राजस वृत्तिवाले वह हैं जो किसी जन्म में मोक्ष पद को प्राप्त करेंगे। परन्तु इनमे जो दूसरे हैं वह नाना प्रकार के मूक जड़ समान हैं। ऐसे पुरुष यह

कलना (शक्ति) उत्पन्न होती है, तब वही ब्रह्मारूप आकाश और वायु के सहारे औषधि और पत्रों में आकर प्रविष्ट होती है। वही यत्र-तत्र देवता, मनुष्य और पशु पक्षियों में आकर प्राप्त होती है और वही चन्द्रकिरण के द्वारा अन्नादि में भी प्रविष्ट हो जाती है। चित्तकला में जैसी भावना उठती है वह ठीक वैसे ही भाव उत्पन्न कर देती है। बन्ध और मोक्ष भी उसी के संसर्ग से होता है। अतः संसार बन्ध और मोक्ष से परिपूर्ण है। कलना मल नष्ट होने से संसार भासित होता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति-प्रकरणका इक्यावनवां सर्ग समाप्त ॥ ५१ ॥

--::❀::--

बावनवां सर्ग

विचार-पुरुष निर्वाण

वशिष्ठजी बोले- हे रामजी! संसार रूपी कुएँ में तृष्णा की रस्सी से बँधे हुए जीव कभी नीचे जाते हैं और कभी ऊपर आते रहते हैं। किन्तु जब बासना रूपी रस्सी टूट जाती है तब सब ब्रह्म-तत्व में एकत्र होजाते हैं। जिस प्रकार समुद्र के जल से भाप उठ कर बादल बनकर वर्षा होती है और बादल उसी में प्रविष्ट हो जाता है उसी प्रकार जब चित्तकला अपनी मात्रा मण्डल से मिल जाती है तब जीव उसमें मिल जाता है। जैसे मन्दर पुष्पकी सुगन्धि वायु में मिलकर एक रूप में हो जाती है, ऐसे ही चित्तकला जीवकारी तन्मात्रा से मिलकर प्राण नामको प्राप्त करती है। फिर प्राण वायु से आदि तन्मात्रा जीव कला को खींचने लगती है। फिर तो जैसे बड़े २ दैत्यों का समूह देवताओं का खींच लेता है, ऐसे ही खींचा हुआ जीव तन्मात्रा के साथ मिलकर एक रूप होजाता है। फिर वही प्राण तन्मात्रा जीव के देह में वीर्य स्थान को प्राप्त होकर जगत में उत्पन्न होकर प्रत्यक्ष प्राण हो जाते हैं। उसमें कुछ धूम्र मार्ग से शरीर वान के शरीर में प्रविष्ट हो मेघ में प्रवेश कर बुन्द मार्ग से

स्मरण रखकर सद्मार्ग के पद में स्थित होवो कि जिस पद में ज्ञानी एवं उदार शीलात्मा जन स्थित हैं। तुम उसी मार्ग और पदके लिये सदैव इच्छुक रहो। हे रामजी! शरीर में यह जो अहङ्कार स्थित है और जो संसार में देह उत्पन्न हुई है, इन दोनों को भली भांति विचार करके इनका नाश करो क्योंकि मांस मज्जा और रक्त से तो देह बनी है और चेतन रूपी भूत जातियों से यह संसार बना हुआ है पर यह जैसे बना है वैसे ही है भी। पर चैतन्य सत्ता सत्य नित्य, विस्तृत रूप, शुद्ध, सर्वगत और सब भावों में विधान है। किन्तु चेतन और देह में कुछ अन्तर नहीं है। उस चिन्मात्र सत्ता में जन्म मरण आदिक भाव जो जान पड़ता है, वह अपने अज्ञान से जान पड़ता है अन्यथा न कोई उत्पन्न होता है और न कोई मरता है आत्मसत्ता ज्यों का त्यों स्थित है उसमें संसार के विकार केवल प्रतिबिम्ब स्वरूप हैं, सत्य असत्य कुछ नहीं है। इसका भासित होना और शान्त होना चित्त पर निर्भर है। संसार को यदि सत्य माना जाय तो भी शोक नहीं और असत्य माना जाय तो भी कुछ शोक की बात नहीं है। इससे तुम स्थित होकर शोक का परित्याग करो। तुम्हारे लिये जन्म मरण कुछ नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, स्थिति-प्रकरण का तिरेपनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५३ ॥

—::-❀-::—

चौवनवां सर्ग

मोक्षोपाय-वर्णन

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! जो बुद्धिमान पुरुष हैं उनको चाहिये कि सदैव सत्सङ्ग और सतशास्त्र चिन्तन में निमग्न रहें। इससे सज्जनता प्राप्त होती है। और सन्तों से मिलकर सत्शास्त्र चिन्तन से वह पुरुष परमपद को भी पा लेता है। इस प्रकार जो पुरुष सत-सङ्गत करके वैराग्य और अभ्यास में प्रेम पूर्वक तत्पर रहता है वह विज्ञान का पात्र है। हे रामजी! तुम तो धैर्यवान और

विचारते रहते हैं कि मैं कौन हूँ और यह जगत क्या है। इस विचार से वह मोक्ष के अधिकारी हैं और राजसी वृत्ति वाले हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति-प्रकरण का बावनवां सर्ग समाप्त ॥ ५२ ॥

--::❀::--

तिरेपनवाँ सर्ग

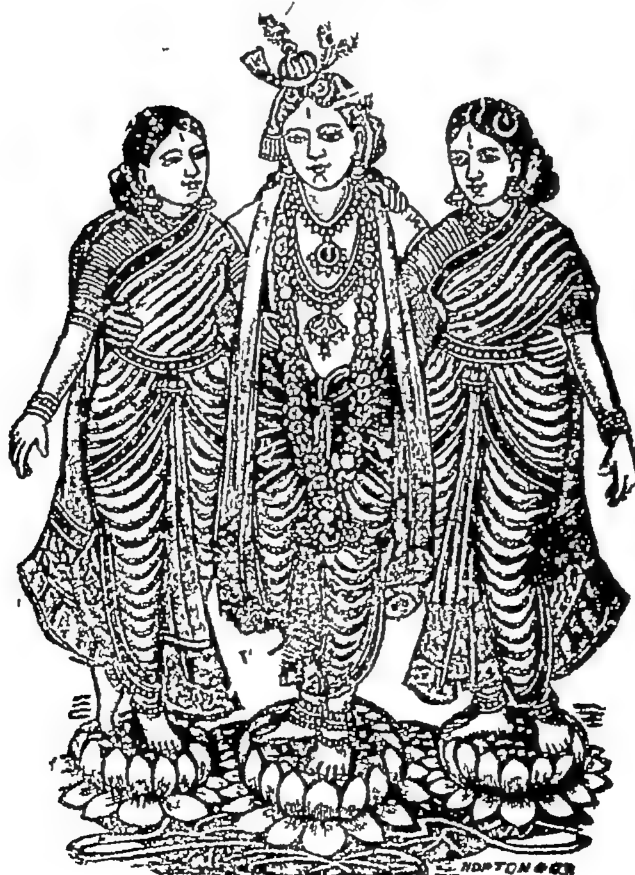
मोक्ष-विचार

वशिष्ठजी बोले,-हे रामजी! इस प्रकार जो राजसी प्रकृति से सात्विक होकर भूमण्डलमें सुशोभित होते हैं वह चन्द्रमा के समान सर्वदा प्रकाशित रहते हैं। उनको खेद और आपदा ऐसे नहीं प्राप्त होता जैसे आकाश को मलिनता नहीं स्पर्श करती और जैसे रात्रि के आने पर स्वर्ण-कमल नहीं बन्द होते। वे साधु पुरुष सदैव प्रकृति के अनुसार चेष्टा करते हुए सत्मार्ग से विचरते और अन्तर से ऐसे शान्त रहते हैं कि महान् आपदा आने पर भी शांति नहीं भङ्ग करते मैत्री आदिक गुणों से वह सदैव सम्पन्न रहते हैं। हे रामजी! तुमको भी ऐसे ही महापुरुषों के मार्ग का अनुसरण करना चाहिये क्योंकि उनके पवन मार्ग आपदा रहित और सात्विक हैं। उसके अनुसार आचरण करने से तुम आपदा के समुद्र में न गिरोगे हे रामजी! राजस से सात्विकी होकर मोक्ष का अधिकारी बनने के लिये पहले शास्त्रानुसार व्यवहार करने से अन्तःकरण निर्मल होता है उसके लिये बारम्बार शास्त्र चिंतन और सन्त मिलन की आवश्यकता है। संसार के अनित्य पदार्थों में प्रीति न कर वैराग्य उत्पन्न करना और सबको निष्फल, व्यर्थ और नश्वर समझ कर उसकी भावना से रहित होना, सम्यकदर्शी बनना, संतक सच्छास्त्र सङ्गम करके अपने व जगत के सम्बन्ध का विचार करना और विवेक युक्त सदैव अध्यात्म शास्त्र का विचार करते हुए सद्व्यवहार व तात्विक कर्म करते हुए प्रतिक्षण मृत्यु का स्मरण रखना चाहिये। हे रामजी! मृत्यु को भूल कर संसार के कार्यों में जो लग जाते हैं वह अवश्य डूबते हैं। इससे

से ही तो राजसी और तामसी वृत्तियां प्राप्त होती हैं। पर वे अपने विचार द्वारा सात्वकी वृत्ति को प्राप्त कर लेते हैं। प्रत्येक पुरुष के अन्दर अनुभव रूपी चिन्तामणि है, उससे जो कुछ माँगा जाय वह अवश्य प्राप्त होता है। उससे पुरुषार्थ करके अपना उद्धार करो। पुरुषार्थ से पुरुष महान् गुण वाला हो जाता है और मोक्ष को भी पा जाता है। अर्थात् जन्म मरण से मुक्त हो जाता है। उसके समस्त अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। आकाश और देवलोक में भी ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो शास्त्रानुसार यत्न करने पर न प्राप्त हो। हे रामजी! तुम्हारी तो बात ही क्या है। तुम में तो वैराग्य, धैर्य और बुद्धि की स्थिरता आदि सब कुछ विद्यमान है। तुम्हारे आचरण को जो कोई ग्रहण करेगा वह मूर्खता से रहित होकर चिन्ता रहित पद को प्राप्त करेगा। इससे अब तुम अपने स्वस्थ स्वरूप में स्थित होवो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति-प्रकरण का चौवनवां सर्ग समाप्त ॥ ५४ ॥





उदारात्मा हो। इससे तुम दुःख रहित होकर स्थित होवो। अब तुम राजस वृत्ति से सात्विक और चिन्तन शील वृत्ति के होगये हो, इससे अब तुम दुग्धारखण्ड संसार में दुःख के पाप न बुनो। यह तुम्हारे उस जन्म का पराग उदय हुआ है कि तुम अपने स्वभाव की ओर अग्रसर हुए हो और अन्तमुर्ख होकर यत्न करते हो अब तुम्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त होगई है और तुम वशीभूत संसार की वस्तुओं को जानने लगे हो। तिस पर मेरी वाणी के प्रभाव से तुम्हारे सब मल नष्ट हो जाँयगे और तुम निर्मल होकर शोभायमान होवोगे। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। हे रामजी। यदि तुम अपने इस उत्तम व्यवहार के अनुसार विचार करोगे तो शोक रहित पद को प्राप्त होवोगे, और यदि कोई दूसरा भी इस विचार से आचरण करेगा तो वह भी संसार-सागर को अनुभव रूपी नौका से पार पा जावेगा। फिर तुम तो शोक रहित पद को प्राप्त ही हो गये हो। अब तुम शास्त्रानुसार उचित आचारों को बाहर से करो और अन्तर से समस्त सङ्कल्पों से रहित पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान शीतल चित्त रहो। हे रामजी। राजसी और सात्वकी वृत्ति के अलावा जो तामसी प्रकृति वाले हैं उनकी ओर तुम तनिक भी न देखना, वह मूढ़ स्याह के समान मादक वस्तु के सेवन करने वाले हैं, तुम्हारा उनका क्या साथ। तुम तो मेरे बतलाये हुए सार की पुरुषों का साथ करके अपनी बुद्धि को निर्मल करो। वे सात्वकी पुरुष बड़े ही श्रेष्ठ हैं कैसा ही तामसी क्यों न हो उनका साथ करके वह भी उदार बुद्धि वाला हो जाता है। ऐसा नियम है कि चाहे जिस जाति में जन्मा हो यदि वह उसके जीतने का पुरुषार्थ करे तो वह वैसा यत्न करके पूर्व संस्कारों पर विजय प्राप्त कर लेता है। इसके लिये धैर्य की बड़ी आवश्यकता होती है। कितना भी मलिन संस्कार क्यों न हो यदि धैर्य से उस मलिन बुद्धि का उद्धार करे उसकी मलिनता अवश्य दूर हो जाती है। हे रामजी। जन्म और कर्म के संस्कार

श्रीगणेशायनमः

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा

उपशम प्रकरण

पहला सर्ग

(श्रीरामचन्द्र का पूर्व उपदेश पर विचार)

वाल्मीकिजी कहते हैंकि स्थिति प्रकरण को समाप्त कर वशिष्ठ जी ने रामजी से कहा,–हे रामजी! अब उपशम प्रकरण की कथा कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो। इसको जान लेने से तुम निर्वाणपद को प्राप्त हो जावोगे! वशिष्ठजी के ऐसे परमानन्द वचन को सुनकर समस्त सभा मंडली में शांति का साम्राज्य स्थापित होगया। झरोखे में बैठी हुई स्त्रियां चंचलता और विलासता को त्यागकर चुप हो गईं। घड़ी घण्टे का शब्द बन्द होगया और चमर डुलाने वाले भी मूर्तिवत शान्त होगये। महाराज दशरथ भी ऐसे प्रसन्न हो गये, जैसे मेघ वर्षा से मोरगण प्रसन्न हो जाते हैं। राजा के मन्त्री आदि अपने स्वरूप में स्थित हो शान्त होगये। रामचन्द्रजी को बड़ा विकास प्राप्त हुआ। और लक्ष्मणजी अपने लक्षस्वरूप को देखकर वशिष्ठ जी के उपदेश पर तीव्र बुद्धि से विचार करने लगे। शत्रुओंके नाशकर्ता शत्रुघ्नजी का चित्त आनन्द से पूर्ण होगया। सभा में जितने राजा मुनि और ब्राह्मण उपस्थित थे इनका रत्नरूपी हृदय स्वच्छ और निर्मल होगया। इसके पश्चात् दोपहर का समय होने पर बड़े २ बाजे बजे जिनके

* व्रज विहार *

श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् सुख निधान की बाल लीलाएं भगवद्भक्तों के लिये बड़ी आनन्द कारिणी हैं। जिस समय रासधारी श्रीकृष्ण राधा और ललतादि सखियों के वेष में भगवान् की बाल लीलाओं को करते हैं उनकी वह अनुपम छटा राग-रागनियों का गान, उनकी घूमन और थिरकन आदि भाव दर्शकों के चित्त पर ऐसा अद्भुत प्रभाव उत्पन्न करते हैं कि उनके प्रेम रस से प्यासे नेत्र उस प्रेमामृतको पीते २ नहीं अघाते हैं परन्तु यह सुख उन्हीं बड़भागियों के भाग्य में है जो सांसारिक कार्य भारों को थोड़े दिन के लिये त्याग व्रजमें मथुरा, वृन्दावन, गोकुल आदि स्थानों में निवास करते हैं। यह आवश्यकता देख हमने अपने मित्र पण्डित रङ्गीलालजी से इस ग्रन्थ के बनाने की प्रार्थना की तब उन्होंने बड़े परिश्रम से यह ग्रन्थ तैयार किया है इसमें भगवान् की ५० लीलाओं का वर्णन है। पृष्ठ संख्या ३२० है मोटे अक्षर मोटे कागज पर छपा है, मूल्य केवल ४) रु० है।

हस्त सामद्रिक शास्त्र बड़ा

यह अलभ्य पुस्तक बड़े परिश्रम से तैयार की गई है। इसको मनन करने से आप किसी स्त्री पुरुष का हाथ देखकर उसके भूत वर्तमान और भविष्य का सब हाल बता सकते हैं। हाथ की सम्पूर्ण रेखाओं का भली भाँति चित्र देखकर समझाया गया है। इस पुस्तक को पढ़कर सामुद्रिक शास्त्र के पण्डित बनिये और मित्रों के हाथ देख कर मनोरञ्जन कीजिये तथा रुपया कमाइये. मूल्य केवल २)५०

हर प्रकार की पुस्तकें मिलने का पता

लाला श्यामलाल हीरालाल

श्यामकाशी प्रेस, मथुरा।

दूसरा सर्ग

—:•:-:•:—

सभास्थल में रामचन्द्र का वचन

वाल्मीकिजी ने कहा—हे भारद्वाज ! इस प्रकार विचार करते हुए रामजी ने समस्त रात्रि को व्यतीत कर दिया। फिर प्रातःकाल होने पर नगारों के शब्द को सुनकर रामजी उठे और भाइयों के साथ प्रातःकाल का सन्ध्यादिक कर्म कर कुछ मनुष्यों के साथ वशिष्ठजीके आश्रममें गये। वहाँ देखा तो वशिष्ठजी समाधि लगाये बैठे हैं। तब रामजी दूर ही से नमस्कार कर तथा हाथ जोड़कर चुपचाप खड़े होगये। इतने में सूर्यदेव का प्रकाश होगया। तब तक राजा दशरथ भी अपने पुत्रों को साथ लिये हाथी घोड़े रथ और प्यादों के सहित वशिष्ठजी के आश्रम पर पहुँचे। जन समुदाय और हाथी घोड़ोंके समागमसे वशिष्ठजी का आश्रम अत्यन्त शोभायमान होगया। उसी समय समाधिसे जागकर वशिष्ठ जी भी उठ खड़े होगये। उनको देखकर समस्त लोगों ने झुककर प्रणाम किया। वशिष्ठजी ने आशीर्वाद दिया। फिर विश्वामित्र को साथ लेकर वशिष्ठजी आश्रम के बाहर आये और रथ पर संवार होकर महाराज दशरथ के घर चले। राज द्वार पर आकर रथ खड़ा हुआ। वशिष्ठजी रथसे उतरकर सभा भवन में पधारे। दशरथजीने मुनि की चरणवन्दना की और कथा मञ्च पर आदर सहित बैठ गये। तब अनेक ऋषि मुनि और ब्राह्मण तथा राजपुत्र, लोकपाल, भृत्य और टहलुये इत्यादि श्रोतागण आकर यथायोग्य अपने अपने २ आसनों पर वशिष्ठ जीकी ओर मुँह करके विराजमान हुए। तब स्तुति करने वाले बन्दी जन चुप होगये। सूर्य भगवान का उदय हुआ। रनिवास की स्त्रियाँ चंचलता त्यागकर झरोखे में आ बैठीं सब वशिष्ठजी की मधुर वाणी का स्मरण करने लगे। आकाश से सिद्ध चारण और गन्धर्वों सहित बहुत से मुनि भी कथा सुनने आये और वशिष्ठजी को प्रणाम कर अपने २ आसनों पर बैठ गये। राजा की ओर अगर आदि चन्दन

मेघ गर्जना शब्द से मुनीश्वरों का शब्द लुप्त होगया। एक घड़ी तक वाजों का शब्द होता रहा। तब तक वशिष्ठजी भी चुप रहे। वाजों का शब्द शान्त होने पर महामुनि वशिष्ठजी ने रामजी से यह कहकर कि आज मुझे जो कुछ कहना था कह चुका, अब कल कहूँगा-कथा विसर्जन की। तब श्रोतागण उठ २ कर अपने २ स्थान को गये। रामजी भी मुनि की चरणवन्दना करके अपने स्थान पर पहुँचे और देव पूजन एवं दानादि क्रियायें करने लगे। सायंकाल होने पर सन्ध्या वन्दनादि करते हुए गायत्री जप किया और फिर कुछ समय तक मुनियों से सत्सङ्ग कर कथा कही पश्चात् रात्रि होने पर परिचारिकाओं ने शय्या बिछाई और उस पर स्थित होकर रामजी वशिष्ठजी के कथित वचनों पर विचारकरने लगे। तब संसार में कौन भ्रम रहा है नाना प्रकार की भूत जातियां कहां से आती हैं, मन का क्या स्वरूप है, शान्ति कैसे मिलती है, माया का उद्गम क्या है, निवृत्ति कैसे होती है और निवृत्ति होने से विशेषता क्या है। आत्मा में अहङ्कार कैसे उत्पन्न होता है। मन नाश और इन्द्रियजित होने के लिये मुनीश्वरों का क्या उपदेश है और आत्मा को प्राप्त करने में क्या उपाय किया जाय इत्यादि प्रश्नों पर विचार करने लगे।

इस प्रकार परमार्थ चिन्तन सम्बन्धी अनेक प्रश्नों पर विचार करते हुए रामजी ने अपनी बुद्धि से कहा—हे बुद्धि! तू मेरी बहिन है, इससे तू मेरे अर्थों को शीघ्र पूर्ण कर जिससे मैं और तुम दोनों दुःख से छुटकारा पा जाऊँ। हे मेरी बुद्धि! वशिष्ठजी ने क्या कहा है, तू उसको ठीक २ स्मरण कर। मुनि के वचनों से हमारी आपदा अवश्य नाश होगी। उन्होंने पहले वैराग्य तब मुमुक्षु तब उत्पत्ति और उसके बाद स्थित प्रकरण ज्ञान विज्ञान सहित कहा है। हे बुद्धि! वशिष्ठजी ने जैसे कहा है ठीक वैसे ही तू बारबार स्मरण और विचार कर। क्योंकि जो क्रिया बुद्धि से निश्चय न हो वह निष्फल है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरणका पहला सर्ग समाप्त ॥ १ ॥

असम्यक्दर्शी और जीव रहित है। क्या तुमने रात्रि समय हमारे इन सब प्रश्नों पर विचार किया है? जब किसी बात पर बार-बार विचार कर उस हृदय में धारण किया जाता है तब उसका बड़ा फल होता है और अर्थ को भूल जाने से फल नहीं प्राप्त होता। वाल्मीकिजी कहते हैं कि जब ब्राह्मण के पुत्र वशिष्ठजी ने ऐसा कहा तब समय पाकर रामजी ने कहा–हे भगवन्! आपने जो कुछ कहा है सत्य है, और आपके उन वचनों से मुझे बड़ा बोध हुआ है। हे भगवन्! सारी रात मैंने आपके वचनों पर विचार किया है और उनको अच्छी तरह हृदय में धारण कर लिया है। आपका उपदेश परम कल्याण करने वाला, सर्व सहायक और हृदय गम्य आनन्द का कारण है। भला ऐसा कौन है जो आपकी आज्ञा को शिरोधार्य न करे? हे महामुनि! आपके उपदेश से मेरा सब संशय निवृत्त होगया। नहीं तो यह संसार अत्यन्त रमणीय ज्ञान पड़ता था। पर यह तभी तक सुख देता है, जब तक पदार्थों की कमी नहीं होती किन्तु जब भोग पदार्थ इन्द्रियों को नहीं मिलते तब यही महान् दुःखद मालूम होता है। किन्तु आपके पुण्यरूपी वचनों के फल से अब मुझे महान् आनन्द प्राप्त हुआ है, कृपाकर अब मुझको कुछ उपदेश कीजिये।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पति–प्रकरण का दूसरा सर्ग समाप्त ॥ २ ॥

—:-:-:-—

तीसरा सर्ग

प्रथम उपदेश वर्णन

वशिष्ठजी ने कहा–हे रामजी! अब तुम्हारे कल्याण के लिये उत्तम सिद्धान्त युक्त उपशम प्रकरण की कथा कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो यह संसार महादीर्घ और राजसी जीवों का आश्रय और मायारूप है। इसमें जो तुम्हारे समान सात्विक भाव से स्थित हैं वे शूरमा हैं और जो ज्ञान वैराग्य से पूर्ण हैं वे बिना यत्नही संसारकी माया को त्याग देते हैं। किन्तु जो बुद्धिमान् सात्विक में जागे हुए

छिड़का जाने लगा। पुष्पों की सुगन्धित वायु चलने लगी। भँवरे शब्द करने लगे सूर्यकी किरणों के पड़ने से राजपुत्रों की मणिजड़ित मालाओं से बड़ा प्रकाश हुआ। तब महाराज दशरजी ने वशिष्ठजी से कहा-हे मुनिश्वर! आपकी अमृत मय वाणी से हमको बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। हमारे हृदय का अन्धकार दूर होगया और चित्त ऐसा शीतल होगया, जैसे चन्द्रमा की किरणों से तम दूर हो जाता है। आपकी वाणी अमृत के रस के समान अपूर्व आनन्द प्रदान करती हैं। आपके वचन शोकरूपी तापको बुझाने वाले और अमृत की वर्षा के समान हैं। हे मुने! आपकी वाणी से तृष्णा और लोभ आदिक विकार ऐसे नष्ट हो गये हैं. जैसे शरदऋतु की वायु से बादल नष्ट हो जाते हैं। आपके वचनों से हम पाप रहित होगये। अब हम आत्मदर्शन के लिये व्यग्ररहित होते हैं। आपने हमको ऐसा अञ्जन दिया है जिसको लगाने से हमारे नेत्रों के समक्ष से संसाररूपी कुहिरा का नाश होगया है।

वाल्मीकिजी कहते हैं कि वशिष्ठजी से ऐसा कहकर दशरथजी रामजीकी ओर मुँह करके बोले कि, हे राघव! जितना समय सन्तोंके साथ में व्यतीत होता है वही सफल है, शेष व्यर्थ है। हे कमल नेत्र रामजी! अब तुम फिर वशिष्ठजी से कुछ पूछो तो वे हमारे कल्याण के लिये फिर कुछ कहें वाल्मीकिजी कहते हैं फिर राजा दशरथ की ऐसी वाणी सुनकर उदार आत्मा वशिष्ठजी रामजी की ओर मुँह करके बोले-हे रामजी! आगे मैं जो कुछ कह चुका हूँ वह तुमको स्मरण है? हे महा ज्ञानिन, हे महाबाहो! मैंने सात्विक राजस और तामस गुणों के भेदकी उत्पत्ति सम्बन्धी कथा कही थी क्या वह तुम्हारे चित्त में है? वही सब कुछ है और नहीं भी है वही सत्य है, वही असत्य है और वही सदा शान्त और अद्वैत रूप है। यह परमात्माका विस्मृत रूप स्मरण है। पर इस देववाणो का पात्र शुद्ध चित्त है। हे रामजी! विस्मृत रूप अविद्या का रूप स्मरण है और वह अर्थशून्य, क्षण भंगुर

नहीं हो सकते। अज्ञान से जीवों को मोह उत्पन्न होता है और देहादिक इन्द्रियों से मिला हुआ वह सदा संशय में ही पड़ा रहता है। संशय से रहित हुए बिना आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता। संशय निवृत्ति से ज्ञान प्राप्त होता है और वह अपने आपको भी जान लेता है। अपने आपको जान लेने पर उसको शुद्ध शान्ति प्राप्त होती है। हे रामजी! आत्मा शरीर से मिला हुआ जान पड़ता है पर मिला हुआ नहीं है। इसलिये तुम अपने स्वरूप में शीघ्र स्थित होजावो। निर्मल रूप आत्मा का शरीर से तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है। इसको मैं भुजा उठाकर कहता हूँ कि सङ्कल्प से रहित होना ही परम कल्याण रूप है। यही भावना तुम हृदय में क्यों नहीं करते? विषय भोगों में आस्था करके आत्मा से तुम सर्वदा शून्य रहोगे और बिना स्वरूप का ज्ञान हुए संसार का तम किसी प्रकार भी दूर नहीं हो सकता। चाहे द्वादश सूर्य भी एकत्रित हो जाँय पर स्वरूप को जाने बिना हृदय का तनिक भी अन्धकार दूर नहीं हो सकता। जब स्वरूप को जानकर आत्मा में स्थिर होवोगे तब हृदय का तम स्वयं ही नष्ट हो जायगा। किन्तु आत्मबोध हुये बिना और जब तक भोगों से मन लगा हुआ है तब तक समुद्र में गोते खाते रहोगे और दुःख कदापि दूर न होंगे। जिस प्रकार जल में रहते हुए भी कमल का जल से कोई सम्बन्ध नहीं निर्लिप्त है वैसे ही आत्मा शरीर से लगा हुआ भी है पर शरीर और आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। पर आत्मा में जो सुख दुःख का अभिमान भासता है वह भ्रम मात्र और मिथ्या रूप ही है। आत्म को न कोई सुख है न दुःख है। सुख दुःख तो शरीर को होता है। शरीर नाश हो जायगा पर आत्मा का नाश न होगा। यह जो आत्मारूपी जगत भासता है वह आत्मा ही है उसमें एक दो कुछ नहीं। आकार प्रकार मिथ्या दृष्टि से भासते हैं। पर आत्म-प्रकाश रूपी सम्पूर्ण जगत तो ब्रह्मरूप ही है। मुझसे और जगत में भेद

हैं और जो राजस सात्विक हैं वह भी उत्तम पुरुष हैं। ऐसे पुरुष जगतके पूर्वा पूर्व पर विचार करते हैं और सत्सङ्ग एवं सत्शास्त्रानुकूल आचरण करते हुए परमात्मा को देखने की बुद्धि उत्पन्न कर ज्ञान प्रकाश को पाते हैं। हे रामजी ! विचार पूर्वक स्वरूप की पहिचान हुए विना ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती और विचार उन्हीं को उत्पन्न होता है जो श्रेष्ठ कुल वाले पाप रहित सात्विकी-राजसी हैं। ऐसे पुरुष अपने आपसे ही आपको पा जाते हैं और वे ही दीर्घ विचार करके आत्मपद पाते हुए अक्षय सुखको प्राप्त होते हैं। अतएव तुम विचार करो कि संसार में सत्य और असत्य क्या है। जो सत्य हो उसको ग्रहण करो और जो असत्य हो उसको त्याग करो। जिस पदार्थ का आदि-अन्त न हो, जानो कि उसका मध्य भी नहीं है और वही असत्य है, और जिस पदार्थ का आदि अन्त एकरस हो उसे सत्य जानो ! उपरोक्त असत्य पदार्थों में जो प्रीति करते हैं वे मूढ़ हैं। उन पर विवेक का रङ्ग नहीं चढ़ सकता। उनका मन उपजा और चढ़ा करता है। इसका निर्वाण तभी होता है जब सम्यक ज्ञान का उदय हो। अन्यथा मन तो संसार रूप है पर आत्मा ज्यों का त्यों है।

इतनी कथा सुनकर रामजी बोले-हे महा मुनिश्वर ! यह मैंने जाना कि संसार सब भावनाओं में मनका ही रस है और जरा मरण आदिक विकार का पात्र नहीं है। पर उसके तरनेका उपाय क्या है कृपाकर मुझसे कहिये। वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! जीवको पहले विचार पूर्वक वैराग्य सत्सङ्ग और सत्शास्त्र से मन को मल रहित करना चाहिये। मनके निर्मल होने से सज्जनता प्राप्त होगी और वैराग्य उत्पन्न होगा। वैराग्य होने से वह ज्ञानी गुरुके समीप पहुँच सकेगा। और उनके उपदेशानुसार ध्यान और अर्चनादिक क्रियाओं से परम पदको प्राप्त होगा। इस प्रकार निर्मल विचार उत्पन्न होने से पुरुष अपने आपको ऐसे ही देख लेता है जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा अपने बिम्ब को स्वयं देख लेता है। विचार दृष्टि से देखे बिना सुख दुःख नष्ट

को त्याग कर दुःख और नरक भोगते हैं। वासना के पीछे भटकने वाले ऐसे ही जीव पशु आदिक स्थावर योनिको पाते हैं। आत्म वेत्ता पुरुष मनकी दशा को विचारते रहते हैं। जिससे तृष्णारूपी बन्धन को काटकर आत्मपद को प्राप्त होते हैं। हे रामजी! पूर्व जन्म को भोगकर इस जन्म में मुक्त होने वाले पुरुष राजस-सात्विकी कहलाते हैं, और जिनका यह अन्तिम जन्म होता है वह क्रमशः पूर्ण पदको प्राप्त कर लेते हैं। हे रामजी! जिसका अन्तिम जन्म होता है उनमें मैत्री, सौम्यता, मुक्तता, ज्ञातव्यता और आर्यता आदिक वेदोक्त निर्मल गुण प्रवेश करते हैं। सब जीवों पर दया रखना मयत्री है और सवदा समभाव से रहना मुक्तता व प्रसन्न रहना सौम्यता और शास्त्रानुसार आचरण करना आर्यता और ज्ञान को ज्ञातव्यता कहते हैं। राजस--सात्विकी पुरुष के हृदय में मयत्री आदिक सब गुण आजाते हैं। वह संसार के सब कार्यों को करता हुआ भी उसके लाभ और हानि में रागद्वेष नहीं करता और सदा समभाव में रहता है। वह न सन्तुष्ट होता और न शङ्कित होता है। आत्मा की भावना से उसके राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं और सभी गुण भी सिद्ध हो जाते हैं। जिससे सब लोग उसको देखकर मोहित होते हैं। तब वह सब गुणों से सम्पन्न होकर अकस्मात गुरु की शरण में पहुँच जाता है और वह उसको ज्ञानका उपदेश करते हैं जिससे वह परमपद में स्थित हो जाता है। ऐसा वैराग्य और विचार वाला पुरुष आत्मदेव का अवश्य दर्शन पाता है। उसको दुःख लेशमात्र भी स्पर्श नहीं करता और वह यथार्थदर्शी हो जाता है। इससे तुम विचाराश्रय से मनको जागृत करो। पहले गुण ज्ञान से जगावो और फिर बड़े गुणों से जगाकर उसे जानकर उसके सेवन का यत्न करो। इससे वह जाग जायगा। तब उसकी बुद्धि निर्मल हो जायगी और वह चित्तरूपी रत्नों पर विचार करेगा जिससे वह जगत को आत्मरूप देखेगा। इस प्रकार आत्म प्रकाश और विचार से अविद्या नष्ट हो जाती है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा–उपशम–प्रकरण का चौथा सर्ग समाप्त ॥ ४ ॥

है ऐसा भ्रम न करो। क्योंकि विस्तृत ब्रह्मघन सत्ता में कोई कल्पना नहीं है। भला कहीं अग्निमें बरफ का कण भी रहता है। हे रामजी! मैं चिन्मात्र रूप और विस्तृत रूप हूँ, संसार जाल मेरा ही स्वरूप है। तुम अपने स्वरूप की ऐसी ही भावना करो। क्योंकि शोक, मोह, जन्म और शरीर कुछ है नहीं, सब कुछ ब्रह्म ही है। तुम स्थिर बुद्धि हो और तुम्हारा स्वरूप शान्त और मणि के समान निर्मल है, यह जानकर विगत ज्वर रहो। क्योंकि तुम वीतराग, मलरहित और यत्न रहित हो, न कुछ देते हो और न लेते हो, ग्रहण और त्याग से रहित सदा शान्त स्वरूप हो। इसमें विश्व से अतीत प्राप्त करने योग्य परम पद को पाकर सदा आपदा रहित विचरण करो। आत्मवेत्ता का शरीर अनन्त है। इससे तुम विगत--ज्वर और उदार होकर अपने आपसे आनन्दवान होवो। जगत की प्रपञ्च रचना तो असत्य है। इसीसे ज्ञानी जन इसकी ओर नहीं जाते। तुम भी ज्ञानी हो, इससे असत्य कल्पना त्यागकर दुःख से रहित हो नित्य उदित, शान्तरूप और शुभ गुणों सहित उपदेश द्वारा चक्रवर्ती बनकर भूमण्डल का राज्य करते हुए प्रजा पालन कर समान दृष्टि से विचरो। अन्दर से निर्लिप्त रहकर शास्त्रानुसार आचरण करते हुए राज्य की मर्यादा का पालन करो। ग्रहण और त्याग से तुम्हारा कोई प्रयोजन नहीं है। सम बुद्धि और समभाव से राज्य करो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥

चौथा सर्ग

क्रमोपदेश--वर्णन

वशिष्ठजी बोले,--हे रामजी! वासना ही बन्धन का कारण है। जिसको हृदय से कोई वासना नहीं है वह सब व्यवहारों को करता हुआ भी मुक्त है किन्तु जिसकी वासना पदार्थों में सत्य है वह बन्धन में है। कुछ लोग पुरुषार्थ भी करते हैं और पदार्थों में प्रीति भी करते हैं वे अपनी वासना से स्वर्ग में जाते हैं और फिर स्वर्ग

आत्मतत्व से यह तीनों प्रकाशते हैं मैं उस तत्व की उपासना करता हूँ। तीसरे सिद्ध ने कहा कि जो भासरहित निर्मल और आभासरूप है और जिसमें मनभाव नहीं है, द्वितीय कल्पना का भी अभाव है और जो अद्वैत है, मैं उसकी उपासना करता हूँ। चौथे सिद्ध ने कहा कि जो दोनों के मध्य में है और अस्ति नास्ति के पक्षों से रहित प्रकाश सत्ता है और जिससे सूर्य आदि प्रकाशते हैं, मैं उस आत्मा की उपासना करता हूँ। पाँचवें सिद्ध ने कहा कि ईश्वर सकार और हकार दोनों है। सकार जिसके आदि में और हकार उसके अंतमें है और वही अन्तसे रहित अनन्त, आनन्द शिव परमात्मा समस्त जीवधारियों में स्थित है और निरन्तर अहंरूप होकर उच्चारता है, मैं उस आत्मा की उपासना करता हूँ। छठवें सिद्ध ने कहा कि हृदय स्थित देवको त्यागकर जो अन्यदेव को पाने का यत्न करते हैं वे पुरुष हाथ में कौस्तुभ मणि को त्यागकर अन्य रत्नों की वांछा करते हैं। सातवें सिद्ध ने कहा कि निष्काम कर्म करने से आवागमन से मुक्ति प्राप्त होती है परन्तु कर्म करके जो फल की आशा करते हैं अर्थात् पदार्थों को जो अत्यन्त विरसरूप जानकर उनमें आशावान होते हैं वे मनुष्य नहीं दुर्बुद्धि गर्दभ हैं। इसलिये जब-जब विषयों की ओर दृष्टि उठे तब-तब उसको विवेक से नष्ट करो। ऐसा शुद्ध आचरण करने से समभाव प्राप्त होगा। और उससे मन उपशम हो आत्मपद को प्राप्त होकर अक्षय एवं अविनाशी पद को प्राप्त होगा।

श्रीयोगवशिष्ठभाषा उपशम–प्रकरण का पाँचवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५ ॥

:–::–::–:

छठवाँ सर्ग

जगत-निश्चय

वशिष्ठजी ने कहा–हे रामजी ! इस प्रकार सिद्ध-गीत सुनकर राजा जनक को बड़ा विषाद हुआ। वे मन ही मन विचार करते हुए घर आये और संसार की चंचल दशा पर विचार करते हुए

पाचवाँ सर्ग



सिद्ध-गीता-वर्णन

हे रामजी ! उपरोक्त क्रम सब जीवों के लिये समान है । जो विशेष हैं वह सब सुनो । यों तो समस्त जीवधारियों को प्रकाश से ही मोक्ष होता है । पर उसमें भी दो क्रम हैं । एक उत्तम और एक समान । गुरुके उपदेशानुसार जो शनैः शनैः चलकर एक जन्म में अथवा अनेक जन्म में सिद्धता प्राप्त करे वह पहला क्रम है और जो अपने आपसे उत्पन्न हो और स्वयं ही समझ लें वह दूसरा क्रम है। यह दूसरा क्रम अर्थात् स्वयं ज्ञान प्राप्त कर लेना बड़े भाग्यवान् पुरुषों का काम है । इस सम्बन्ध की एक पूर्व कथा में तुम्हें सुनाता हूँ, ध्यान देकर सुनो। हे रामजी ! पहले विदेह नगर में जनक नाम के एक राजा थे। वे बड़े धैर्यवान, परमार्थी, मित्र और बान्धव-प्रिय तथा स्त्रियों को कामदेव के समान प्रिय थे। एक दिन राजा अपने बाग की ओर वायु सेवन करने निकला बाग में बड़े २ सुन्दर फल फूल लगे हुए थे और जिसमें नाना प्रकार के पक्षी गण आनन्द कर रहे थे । तब जैसे नन्दन वनमें प्रवेश करे वैसे ही राजा अपने अनुचरों को बाहर छोड़कर बाग के भीतर अकेले जाकर विचरने लगा । बाग में शाल्मली का एक वृक्ष था, उसके निकट पहुँच कर राजा ने यह सुना कि अदृष्टमुनि जो सिद्ध पुरुष हैं, इस समय आत्मगीता का उपदेश कर रहे हैं जिससे आत्मबोध प्राप्त होता है। तब राजा ने जाकर अदृष्टमुनि से उस गीता को सुना वहां तीन मुनि परस्पर सत्सङ्ग कर रहे थे । पहले मुनिने कहा कि द्रष्टा (पुरुष) दृश्य (जगत) के मिलाप से जो निश्चत आनन्द बुद्धिको प्राप्त होता है और इष्ट,अनिष्टके संयोग वियोगसे चित्तमें जो आनन्द दृढ़ होते हैं, वे आनन्द आत्मतत्व से ही प्रकाशते हैं। दूसरे सिद्धने कहा कि द्रष्टा, दर्शन और दृश्य का वासना सहित त्याग करो और जिस

तो क्षोभ देने वाले और जैसे के तैसे रहने वाले हैं। इससे इनमें मेरी न तो ममता है और न सङ्ग है, सब मिथ्या है क्योंकि सांसारिक सुख विष के समान है और इनमें आस्था करना मिथ्या है। बड़े २ ऐश्वर्यमान और पराक्रमी राजा हुए पर मृत्यु ने किसी को न छोड़ा तो अब धैर्य भी क्यों धारण करूँ। अब कहाँ वह धन है, कहाँ वह राजा और कहाँ उस ब्रह्मा का जगत है इत्यादि।

इस प्रकार अनेक प्रश्नों पर सङ्कल्प विकल्प करते हुए राजा जनक विषाद कर रहे थे कि उसी समय राजा के निकट एक दासी ने जाकर कहा—हे देव! अब उठिये और स्नान ध्यान कीजिये। स्नानागार में पुष्प, केशर और गङ्गाजल आदि के कलश लिये स्त्रियाँ खड़ी हैं। पूजा की सब सामग्री एकत्रित हो गई है। वहाँ विप्रवृन्द हाथों में पवित्री लिये बैठे जाप कर रहे हैं और आपके आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। उधर भोजनागार में भोजन भी तैयार हो रहा है। उससे शीघ्र उठिये और यथाविधि सब कार्य समाप्त कीजिये। काल न व्यतीत कीजिये।

हे रामजी! दासी के ऐसा कहने पर राजा जनक ने संसार की विचित्रता पर फिर विचार किया। तब विचार करते हुए वह राज सुखों से अपने को पृथक करने लगे। वह मन ही मन कहते कि अनेक राज भोग और क्रिया कर्मों से अब मैं तृप्त होगया हूँ। सब कर्मों को त्याग कर केवल सुख में होऊँगा। क्योंकि भोग तो चंचल करने वाले भ्रमरूप हैं, इनमें शान्ति कहाँ। उनसे तृष्णा बढ़ती ही जाती है। उनसे अब मैं इसको त्याग करूँगा। हे चित्त! जिन-जिन दशाओं में तुझे गिराया है और तूने जैसे २ भोग भोगे हैं, सब मिथ्या है। इससे भ्रमरूप भोगों को त्याग कर तू परम सुखी हो। उचित अनुचित भोगों को तूने अनेक बार भोग किया है पर तृप्त कभी न हुआ, इससे तू इनका त्याग कर परमपद के आश्रित क्यों नहीं होता? जब तक इन तुच्छ भोगों को त्याग न करेगा

अपने को अनेक प्रकार से धिक्कार कर कहने लगे कि, महान् दुःख की बात है जो समस्त जीव जड़रूप हैं चेतन कोई नहीं है। इन्हीं पाषाण वत् जीवों के समान मैं भी पाषाण हो रहा हूँ। मेरे ये मन्त्री और मेरा सारा राज्य भी क्षण भंगुर है। इसमें जो सुख है वह दुःख रूप है। फिर मैं इसमें क्या आस्था करूँ। यह समस्त प्रपंच रचना तो इन्द्र-जालिक है, मैं इसमें क्यों मोहित हो रहा हूँ। हाय मेरी बुद्धि कितनी निकृष्ट हो रही है कि संसार की रमणीय वस्तुओं में मैं भूला रहता हूँ और यह नहीं जानता कि संसार की सब वस्तुयें आगमापायी अर्थात् उदय होती और मिटती रहती हैं। संसार के सब पदार्थ पानी के बुलबुले के समान क्षणभंगुर हैं। इसमें जितना भी सुख है सब दुःख से मिश्रित है, फिर मैं इसमें आस्था करूँ। सुख तो दिन, पक्ष, मास और वर्षों में भी कदाचित ही आते हैं पर दुःख तो बार-बार आते रहते हैं। फिर मैं जीवित रहकर किस सुख की आस्था करता हूँ। कितने ही बड़े २ लोग हुए सब नाश हो गये, फिर कोई नहीं रहा। मैं बार २ विचार कर देखता हूँ तो इस जगत में कोई पदार्थ सत्य नहीं, सब नाशरूप है। फिर मैं किस पदार्थ में आस्था बाँधू। आज जो ऐश्वर्य वाले हैं वही कल नीचे गिरेंगे। हे चित्त ! बड़ा खेद है कि तू किस बड़ाई में आस्था बाँध रहा है आयुर्बल से बँधा हुआ तू किस २ के लिये कलङ्कित हो रहा है। उच्चपद में स्थित होकर तू अब नीचे क्यों गिरता है। महान् खेद है कि मैं आत्मा होकर भी नाश को प्राप्त होता हूँ। ज्ञात नहीं कि मुझे अकस्मात् मोह क्यों आया और आत्मा क्यों नहीं भासित होता। भोगों और बान्धवों से मुझे क्या प्रयोजन है इनमें क्यों मोहित हो रहा हूँ। देहाभिमान से जीव स्वयं ही बन्धायमान होता है। शरीरमें अहङ्कार ही जरा मरण आदिक विकार के कारण हैं। फिर मेरा इनसे क्या प्रयोजन। इन अर्थों में मेरी क्या प्रशंसा है और इस राज्य में भी मैं क्यों धैर्य धारण करके बैठा हूँ। यह सब पदार्थ

सातवां सर्ग

बुद्धि की महिमा।

हे रामजी ! इस प्रकार अनेक प्रश्नों पर विचार कर राजा जनक अपने स्वरूप में स्थित हुए और जगत का यथोचित व्यवहार करने लगे। ग्रहण और त्याग सम्बन्धी उनकी सारी कल्पनायें जाती रहीं। उनका मन मलिनता से रहित और सम्यक ज्ञान से निश्चय भावको प्राप्त हुआ। उस महा प्रकाश रूप चैतन्य आत्मा का प्रकाश होने पर उनमें अनन्त आत्मा प्रकट हुआ जिससे उन्होंने अपने ही स्वरूप में सब पदार्थों और समस्त आत्म भूतों का दिग्दर्शन किया। इन्द्रियों के इष्टानिष्ट में उन्हें कुछ भी खेद न होता था प्राकृतिक व्यवहारानुकूल आचरण करने लगे और जीवन्मुक्त हो गये। यद्यपि विदेह नगर के वृहद्राज्य का उत्तरदायित्व उन पर था, तथापि पूर्णज्ञान की दृढ़ता से उन्हें कुछ हर्ष और विषाद न हुआ, यह भली भांति राज्य सञ्चालित कर प्रजा को प्रसन्न करते रहे। कैसा भी अर्थ सिद्ध हो और कैसा भी असिद्ध हो, उनको कदाचित हर्ष और शोक न होता था। हे रामजी! उसी भांति तुम भी निरन्तर आत्म स्वरूपमें स्थित रहकर सारे कार्यको करो। अब तुम जीवन्मुक्त हो गये हो। देखो, राजा जनक को पदार्थों की कोई भावना न थी। वह सुषुप्ति वृत्ति वाले होगये और उन्हें न कुछ भविष्य की इच्छा रही और न भूत की चिन्ता। जो कार्य वर्तमान होता था उसी को यथाशास्त्र करते थे। इस विचार से उन्होंने प्राप्त करने योग्य पद को पा लिया और कभी कुछ इच्छा न की। हे रामजी ! वह जीव आत्मपद को तब तक नहीं पाता जब तक उसके हृदय में पुरुषार्थ बीज नहीं उत्पन्न होता। पुरुषार्थ बीज उदय होने पर सभी प्रकार के दुःख मिट जाते हैं और परम संपदा प्राप्त होती है। पर ऐसा पद शास्त्र युक्त होने और पुण्य क्रियासे नहीं प्राप्त होता, यह अनेक हृदय में विचार करने से ही होता है। वह पद मल रहित है।

तब तक परमपद का आनन्द कदापि न होगा । हे रामजी ! इस भांति चिन्तवन कर जनक चुप हो रहे और मन की चञ्चलता त्यागकर स्थित हो मूर्ति के समान चित्रित रह गये । उनकी इस दशा को देखकर दासी को फिर कुछ कहने का साहस न पड़ा । उसी क्षण मन की, समता के लिये चिन्तवन करत हुए राजा ने मन ही मन कहा कि, मेरे लिये ग्रहण और त्याग कुछ नहीं, मैं क्या साधन करूँ, सभी पदार्थ तो नाशवान् हैं । कुछ करूँ तो भी क्या और न करूँ तो भी क्या ? कर्तव्य तो शरीर करता है । निर्मल अचल रूप चेतन न कर्ता है और न भोक्ता है । फिर मेरे लिये क्या कर्तव्य है ? करने न करने में मुझे कोई हानि नहीं, प्राप्त वस्तु में विचरता हूँ और अप्राप्त की इच्छा नहीं करता । इससे प्राप्त का त्याग न करते हुए अब मैं अपने स्वरूपमें स्थित होकर स्वस्थ होऊँगा । क्योंकि प्राप्त कर्म को ही कर रहा हूँ । फिर इसके करने में मुझको अर्थ और दोष क्या हैं ? क्रिया करने और न करने तथा युक्त अयुक्त, ग्रहण और त्याग करने योग्य मुझे कुछ नहीं है । अतः जो प्राप्त कर योग्य कर्म हैं मैं वही करूँगा । क्योंकि कर्म का सम्बन्ध शरीर है, आत्मा से नहीं । इससे मैं सङ्ग रहित होऊँगा । मन कामना रहित स्थित होगया तब शरीर से कर्म हो भी तो इष्ट अनिष्ट उसके लिये समान है । यह कर्ता भोक्ता तो तब है, जब शरीर से मिलकर मन कर्म करे और इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में राग-द्वेष करे । पर जब मन उपशम हो गया तब उसके लिये कर्तव्य और अकर्तव्य भी क्या है ? हृदय में जैसा दृढ़ निश्चय होता है, वही पुरुष का रूप होता है ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरणका छठा सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥



आठवाँ सर्ग

मन,निर्वाण-वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! वेद विदित भूत कालीन महा पुरुषों ने और राजा जनक आदि ने जैसा आचरण किया है वैसा ही आचार कर तुम भी निर्वाण पद को प्राप्त करो बुद्धिमान जन का यह कार्य है कि वे स्वयं ही परमपद को प्राप्त होते हैं। जब तक आतमदेव न प्रसन्न हों तब तक इन्द्रिय रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करते रहो। जब वह आतमदेव सर्वगत परमात्मा और ईश्वरों का भी ईश्वर प्रसन्न हो जायगा, तब स्वयं ही प्रकाश देख पड़ेगा और सारे दृष्टि दोष क्षीण हो जाँयगे। उसका साक्षात्कार होने पर भ्रान्ति—दृष्टि कदापि नहीं रह सकती। इससे राजा जनक आदि ने जैसे २ आचरण किये हैं वैसा ही आचरण कर तुम भी ब्रह्मलक्ष्मी ही आत्मपद स्थित हो जगत में विचरो इसमे तुमको रञ्चमात्र भी खेद न होगा। वे परमदेव अहर्निश आत्मचिन्तन से स्वयं ही प्रसन्न हो जाते हैं। तब संसार के चंचल प्राणियों को देखकर हँसी ही हँसी आती है। अतएव संसार भय से भयभीत प्राणी स्वयं ही अपने प्रयत्न द्वारा अपनी रक्षा कर सकते हैं अन्यथा धन और बन्धुजनों से रक्षा नहीं हो सकती। एक पुरुष वह जो देवाधिदेव करते हैं। वे और शास्त्र विरुद्ध कर्म भी करते हैं। मध्यम बुद्धि के हैं, तुम उनके मार्ग का अनुसरण न करना। उनकी बुद्धि नष्ट करने वाली है। इससे तुम परम विवेक का आश्रय करो और स्वयं ही स्वयम् को जानो। उधर राजा जनक के वृतान्त में मैंने तुमको बतलाया है कि वैराग्य और शुद्धि बुद्धि द्वारा ही संसार सागर पार हो सकता है। सिद्धों के विचार में पहुँचने पर जनक को इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त हुआ था। फिर तुमको क्यों न प्राप्त होगा। इस विचार से तुम्हारे मनका मनन भाव अब वैसे ही नष्ट हो जायगा जैसे सूर्य की किरणों से बरफ का टुकड़ा गल

और हृदय की दावाग्नि को शान्त करने वाला है। बड़ा से बड़ा दुःख अपनी बुद्धि के विचार रूपी प्रकाश से ही तरा जा सकता है। इसलिये जिसको आपदाओंसे बचने की इच्छा हो, उसे चाहिये कि पहले संतोंका सङ्ग और सत्शास्त्रों का विचार करे और अपनी बुद्धि को बढ़ावे। बुद्धि के बढ़ने से ज्ञान होगा और परम आनन्द प्राप्त होगा। अन्यथा संसाररूपी वृक्ष-बीज ने तो बुद्धि मूढ़ बना ही दिया है इससे मूढ़ता से युक्त होने की परम आवश्यकता है। विना बुद्धिरूपी जहाज के संसार सागर नहीं पार हो सकता, और इस संसार सागर का बुद्धिरूपी जहाज तप और तीर्थ आदिक शुभ आचारों के विना नहीं चल सकता। यद्यपि ज्ञान रहित बल ऐश्वर्य से भी बड़ा है किन्तु तुच्छ अज्ञान उसे क्षण भर में नाश कर डालता है। अस्तु सर्वार्थ सिद्धियां अपने ही में स्थित हैं कि उससे जो माँगा जाय वह अवश्य प्राप्त होगा। यदि अल्प मात्रा में भी बुद्धि सद्‌मार्ग की ओर प्रवृत्त होवे तो बड़े से बड़े सङ्कट सहज ही में दूर हो जाते हैं। हे रामजी! बुद्धिमानजनों को सांसारिक दुःख नहीं कष्ट दे सकते हैं, क्योंकि जिस बुद्धि से मनुष्य सर्वात्मपद को भी पालेता है तो हर्ष, शोक, सम्पदा और आपदा उसका क्या कर सकते हैं। पर नहीं, जब आत्मरूपी सूर्य के आगे अहङ्कार रूपी मेघ आजाते हैं, तब वह आत्मरूपी सूर्य नहीं भासित होता। जब बोधरूपी वायु चले तब वे मेघ विलान हों और आत्मरूपी सूर्य ज्यों का त्यों भासने लगता है। आशय यह कि अभ्यास और वैराग्य द्वारा ही परमपद की प्राप्ति होती है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम-प्रकरण का सातवां सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥

कर मन को आत्मपद में लीन किया जाय। ऐसा करने से आत्म-पद स्वयं ही प्रकाशित होता है। इसलिये हृदय से भारी बास-नाओं को त्याग कर विचाररूपी शिला से बुद्धि को तीक्ष्ण कर इस जाल को बेधो तब संसार से मुक्त होवोगे। क्योंकि संसार रूपी वृक्ष का मूल-बीज मन है। इस कारण मन से ही मन को छेदो इससे यह होगा कि संसार भूल जायगा और फिर मनमें न स्फुरित होगा। इस संसार में चलो, बैठो, सोवो और श्वास लो, पर सबको असत्य जानो, तब तुम्हारे मनमें कदापि चिन्ता न होगी। इष्ट अनिष्ट की चिन्ता न करके जो प्राप्त हो उसी में विचरो; आस्था न करो। देखो, आकाश सर्वत्र है, पर किसी से स्पर्श नहीं करता। इसी प्रकार तुम भी मनसे किसी में आस्था न करो, क्योंकि तुम स्वयम् ही चैतन्य रूप हो और सर्वत्र तुम्हीं हो। फिर तुमको संसार के पदार्थ क्या चलायमान करेंगे। तुमको तो अपने स्वरूप का भी ज्ञान हो गया है। सांसारिक पदार्थों में तो वे भूलते हैं जिनको स्वरूप का परिचय नहीं हुआ है। ज्ञानी पुरुष राग द्वेष से विमुक्त रहते हैं। उनके लिए पाषाण और लोह तथा सुवर्ण समान है। सांसारिक वासनाओं का परित्याग ही मुक्ति है?

हे रामजी! मन जड़ है और आत्मा चैतन्य है। चेतन शक्ति द्वारा ही जीव पदार्थों को ग्रहण करता है, पर आत्मा का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। उस चैतन्य-शक्ति को पाकर मन दृश्यों का आश्रय करता है अन्यथा वह स्वयं हो असद्रूप है। चेतन-सत्ता ही उसे जीवित रखती है। जब तक वह सत्ता उसे न प्राप्त हो तब तक और कुछ करने को कौन कहे, वह उठ भी नहीं सकता। वह शक्ति पाकर और सद्आत्म सत्ता को भूलकर वह जो कुछ करता है उसका नाम कलना है। यह कलना ही सब कुछ है। जब इस कलना को अपना ज्ञान हो तभी आत्मभाव प्राप्त होता है और तभी प्रमाद रहित यह आत्मरूप भी हो जाता है। पर ज्ञान कैसे हो?

कर नष्ट हो जाता है। फिर तो परमात्मा के प्रकाश का साक्षात् अवश्य होगा और सारी भेद कल्पनायें नष्ट हो अनन्त ब्रह्माण्ड के व्यापक तत्व का भी प्रकाश अवश्य होगा। इससे राजा जनक के समान तुम भी विचार करके अहङ्कार की वासनाओं को परित्याग करो। अहङ्कार रूपी मेघ नष्ट होने पर चित्ताकाश निर्मल हो आत्म-रूपी सूर्य अवश्य प्रकाशित होगा। पर बिना मेघवरण के हटे कदापि न भासित होगा। हे रामजी ! मन बड़ा चंचल है। इसको शान्त करने के लिये तुम यह समझो कि न मैं हूँ, न कोई है और इष्ट अनिष्ट पदार्थ भी कुछ नहीं है। इससे यह शान्त होगा। इष्टा-निष्ट का ग्रहण और त्याग की भावना तो मन का रूप है और यही बन्धन का भी कारण है अतएव तुम इष्ट अनिष्ट में न फँसकर जो शेष प्राप्त हो उसी में स्थित रहो। क्योंकि जब तक हेयोपादेय बुद्धि का नाश नहीं हो जाता तब तक समभाव आ नहीं सकता और जब तक पदार्थों के इष्टानिष्ट की बुद्धि वर्तमान है, मन चंचल है तब तक समत्व भाव नहीं प्राप्त हो सकता। ब्रह्मसत्ता निराभय रूप और ननात्वभाव से पृथक है। फिर इसमें इष्ट अनिष्ट क्या है। उसमें इच्छा अनिच्छा को स्थान नहीं है। जब तक उसमें यह दोनों प्रकार स्थित हैं अर्थात् जब तक स्फुरण है तब तक समभाव कदापि नहीं आ सकता। किन्तु जिन २ पुरुषों को हेयोपादेय बुद्धि नहीं है, उनको यह भाव अवश्य प्राप्त होता है। उस भाव में उस एक ममत्व के प्राप्त हो जाने से भोग स्पृहा और देहाभिमान नष्ट हो जाता है और निर्भीकता, नित्यता, समता आत्मदृष्टि ज्ञान-निष्ठा, निरिच्छता, निरहङ्कारता, अकर्तापन का भाव, इष्ट अनिष्टमें समचित्तता, निर्विकल्पता, आनन्दता, धैर्यता, एकरसता, स्वरूपता, मैत्री, सद्बुद्धिता, तुष्टता, निश्चयता, मुदिता, मृदुता आदिक शक्तियाँ हेयोपादेय से रहित पुरुष में स्वतः ही आ प्राप्त होती हैं। पर वह सारी शक्तियाँ अथवा भाव तब आते हैं जब संसार से पृथक

पटादि के समान परिछिन्न भेद को प्राप्त होता है, तब क्रिया शक्ति अर्थात् प्राण और ज्ञान शक्ति से जा मिलता है, उस संयोग का नाम सङ्कल्प का करने वाला मन होता है। बस, यही मन जगत का बीज है। उसको च्चीण करने के दो उपाय हैं। एक ज्ञान तत्व को जानना और दूसरा प्राण रोकना ? प्राण शक्ति का निरोध होने से मन अवश्य लीन होता है। दूसरा शत्शास्त्र द्वारा ज्ञान तत्व से भी मन लीन हो जाता है और हृदय कोष से जो श्वांस बाहर आवे जावे उसे प्राण कहते हैं। मन की सीधी व्याख्या यह है कि शरीर बैठा है और मन देश देशान्तरों में भ्रम रहा है। वह मन वैराग्य और योगाभ्यास से बासना रहित होने एवं प्राण वायु को स्थिर करने से च्चीण होता है। प्राण करने से चित्तकला का उससे वियोग होता है और तत्वज्ञान होने से भी वह मन स्थिर होता है। इस प्रकार प्राण स्थिर होने से मन स्थिर हो जाता है। प्राण की स्थिरता से चित्त कला उससे नहीं मिल सकती इससे वह स्थिर हो जाता है और नहीं रहता। यह जो फ़ुरता है, वह प्राण की शक्ति से ही फुरता है और वह स्पन्दरूप प्राणशक्ति चलरूप जड़ है। किन्तु आत्मसत्ता चैतन्यरूप स्वतः स्थित है। मन का ज्ञान मिथ्या है। क्योंकि वह सङ्कल्प ही से उत्पन्न हुआ है। यदि संकल्प न उठे तो मन कहाँ ? इसलिये तुम सांसारिक भय से भयभीत न होवो। यह मन कुछ नहीं कर सकता। परन्तु आवश्यकता है इसको नष्ट करने की। क्योंकि यह बड़ा दुष्ट है। इसके समान तीनों लोकों में भी कोई दुष्ट नहीं है। सम्यक ज्ञान होने से यह मृतक हो जाता है। अन्यथा यह चित्त तो मिथ्या और अनर्थ का कारण है। इसलिये तुम इसको मत धारण करो, अथवा संकल्प मत उठावो। संकल्प का ही नाम तो मन है, अन्यथा यह कुछ नहीं है। मृगतृष्णा की नदी के समान ही यह मिथ्या है। पर बिना सम्यक ज्ञान के इसका अभाव नहीं हो सकता और इस मृतक का जब

ज्ञान के लिये शत्शास्त्र निरूपण और इन्द्रिय निग्रह की आवश्यकता होती है। कलना को जगाने की यही युक्ति है। इस उपाय से सर्व जीवों की कलना जाग जाती है और ब्रह्म तत्व को पाती है। किन्तु जिन पुरुषों ने मोह रूपी सुरा का पान किया है वे उन्मत्त होकर विषय रूपी गढ़े में गिरते हैं। क्योंकि वे सोई हुई शक्ति को न जगाकर अप्रवुद्ध ही रहते हैं। अस्तु कलना तो जड़ है ही, इसका क्या, वह विकास तो तब करती है जब परमार्थ सत्ता से जगाई जाय। भला कहीं पाषाण की मूर्ति भी नृत्य कर सकती है? वह तो जड़ है। ऐसे ही शरीर में कलना (मन) भी जड़ है, वह चेतन का कार्य करना क्या जाने पर इसको जो कुछ भासता है वह ऐसा ही है जैसे मृग तृष्णा का जल। शरीर में जो प्राणशक्ति है, वही सब कुछ करती है। उसी के सहारे हम चलते बोलते उठते बैठते हैं। पर ज्ञानदात्री की शक्ति भी क्या है। आत्मा और प्राण का जब समागम होता है तब प्राण से मिलकर चेतन संवित का नाम जीव होता है। बुद्धि, चित्त और मन उसी को कहते हैं। पर इस नाम संज्ञा की कल्पना अज्ञान से है और अज्ञानी को जैसा भास आवे उसके लिये वैसा ही है। परमार्थतः न तो कुछ हुआ है, और न मन, बुद्धि और न शरीर ही कुछ है, अद्वैत आत्माही स्थित है। सारा संसार और काल तथा क्रिया आत्मा का ही रूप है। वह आत्मा अस्ति नास्ति सब कुछ है और आकाश से भी निर्मल है। उसमें और कोई फुरना नहीं है। वह सब सत्यरूप है। उसका कोई पद नहीं इससे असत्य है और अनुभव से जाना जा सकता है, इससे सत्य भी है। पर वह सर्व कलनाओं से परे है। जब ऐसे अनुभव का ज्ञान हो तब मन नष्ट होजाता है। हे रामजी! इस मनने ही सारे संसार को फैला रखा है। चेतना शक्ति जब सङ्कल्प के समक्ष होती है तब उसी को मन कहते हैं। इस प्रकार जब वह निर्विकल्प चित्तसत्ता सङ्कल्पवश मलिन होता तब उसका नाम कलना है। वह मन जब घट

नवां सर्ग

चित्त-चैत्यरूप वर्णन

हे रामजी ! इस संसार सागर में राग-द्वेष की अनेक तरंगें उठा करती हैं। उनसे जो मनको मूढ़ और जड़रूप नहीं जानते वे बहा करते हैं। उनको आत्मपद का दर्शन नहीं होता। क्योंकि यह विवेक वाणी मैंने जो अभी तुमसे कही है, वे इसके योग्य नहीं हैं और इसी से वे मूढ़जन इस मन पर विजय नहीं पाते। जिनका मन पर अधिकार नहीं है, उनको मेरी यह वाणी शोभा नहीं देती। फिर उनको उपदेश करने से क्या लाभ। जो प्राणी इन्द्रिय लोलुप हैं और मन उनके अधिकार में नहीं है उनको आत्म ज्ञान का उपदेश करना व्यर्थ है। जिसके शरीर को कुष्ट ने जला दिया है उसे कैसी भी औषधि हो तो क्या लाभ देगी और जो इन्द्रियों के पीछे मदिरा पीने वाले की भांति पागल हो रहा है उसके निकट धर्माधर्म का निर्णय क्या है? भला ऐसा बुद्धिहीन कौन होगा जो श्मशान के शवसे प्रश्नोत्तर करे ? हे रामजी ! वही पुरुष हैं जो हृदय की बाँबी में बैठे हुए मूक जड़रूप सर्प को निकाल कर बाहर कर दें। किन्तु जो बुद्धिहीन उसे जान नहीं सकता उसको उपदेश करना व्यर्थ है। ऐसा पुरुष अमृत को त्याग कर विष पान करता है और मर जाता है। किन्तु ज्ञानी पुरुष सदैव आत्मा ही को देखते हैं। वे जानते हैं कि इन्द्रियाँ अपना-अपना कर्म कर रही हैं और जीवको उससे कोई बन्धन नहीं है, और सर्वशक्तिमान सर्वात्मा से कुछ भिन्न नहीं है और मन कुछ नहीं है। हे रामजी ! मूर्खों को देखकर मुझे दया आती है और मैं विचारता हूँ कि यह विचारे इतना खेदवान् क्यों रहते हैं और वह दुःख देने वाली वस्तु क्या है कि जिससे वे इतना तप्त होते हैं, तब मुझे पता लगता है कि ये मूर्ख प्रमाद वश दुःखों की परम्परा को प्राप्त होते हैं और बुद्धिहीन शरीर पाकर समुद्र के बुदबुदे के समान

तक अभाव न होगा तब तक यह सब मृतक ही बनाये रहेगा। पर है बड़ा आश्चर्य कि शरीरहीन और आधाराधेय रहित होते हुए भी यह जगत को भक्षण किया करता है। इसके पास कोई जाल नहीं पर सबको जाल में फँसा रक्खा है। सामग्री, बल, तेज, विभूति और हाथ पाँव से रहित होते हुए भी यह लोगों को मार रहा है। परन्तु केवल मूर्ख ही ऐसे हैं जो समझते हैं कि हमइसमें बांधे हुए हैं। शूरमा तो इसका हनन ही करते हैं। क्योंहि वह जानते हैं कि यह मिथ्या सङ्कल्प से उदय हुआ है। यह इतना दुष्ट है कि किसी को लख नहीं पड़ता। मैं स्वयम् इसकी विस्तृतता और चञ्चलता को देखकर आश्चर्य चकित होता हूँ। फिर मूर्ख तो अनेक आपदाओं का ही पात्र है। बड़े दुःखकी बात है कि सृष्टि इस मूर्खता में पड़ी हुई चल रही है और मन सब को तप्त कर रहा है। पर वास्तव में यह कुछ है नहीं। केवल मिथ्या कल्पना ही निकृष्ट और कृपण करके लोगों का हनन कर रही है। इससे वे लोग मूर्ख हैं और मेरा उपदेश उनके लिये नहीं है। मेरे उपदेश के अधिकारी तो वे जिज्ञासुजन हैं जो संसार से मुख मोड़कर आत्मा का साक्षात्कार करने की चिन्ता और इच्छा रखते हैं। ऐसे ही जनों को उपदेश करना भी चाहिये। हे रामजी! यह मन अज्ञानियों को अपने वशमें करके भोगों के तुच्छ क्षणिक सुख के लिये यत्न करता है और न मिलने पर प्राणी महान् दुःख को प्राप्त होते हैं और हृदय में स्थित अपने स्वरूप को प्रमाद वश नहीं देख पाते और जिससे सदैव कष्ट में ही रहते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का आठवां सर्ग समाप्त ॥ ८॥



चित्त जीतने से सुख न प्राप्त होता तो बुद्धिमान जन इसमें प्रवृत्त ही क्यों होते ? जब बुद्धिमान जन इसके लिये प्रवर्तते हैं तब निश्चय जानो कि चित्त भी वश होता है और मनरूपी भ्रम का नाश होने पर आत्म सुख अवश्य प्राप्त होता है। हे रामजी ! मन कुछ है नहीं केवल मिथ्या भ्रम से कल्पित है। आत्मसत्ता का विस्मरण होनेसे ही मूढ़ता है और इसी विस्मरण से हृदय में मनरूप सर्प बिराजता है। और विवेक रूपी गरुड़ के उदय होने से नष्ट हो जाते हैं। पर अब तुम जागे हो और सब कुछ जानने लगे हो। हे रामजी ! अपने ही सङ्कल्प से चित्त बढ़ता है, इससे सङ्कल्प का शीघ्र त्याग करो। तब चित्त शान्त होगा। पर यदि तुम हृदय का आश्रय करोगे तो बन्धन होगा और अहङ्कार आदिक दृश्य का त्याग करोगे तो मोक्षभागी होवोगे। आशय यह कि दृश्य का आश्रय बन्धन है और दृश्य से रहित होना मोक्ष है। फिर तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसे करो। ऐसा ध्यान करो कि न मैं हूँ और न यह जगत है, मैं केवल अचलरूप हूँ। ऐसा संकल्प रहित होने से आनन्द चिदाकाश हृदय में आ प्रकाशेगा। वही सब कुछ है, तुम उसी में स्थित होवो। आत्मा और जगत अथवा दृष्ट्वा और दृश्य से जो दर्शन और अनुभव सत्ता है, तुम सदैव उसी की भावना करो। वही आत्मतत्व है तुम उसी में तन्मय हो जाओ ! दृष्ट्वा और दृश्य के मध्य में अवलम्ब रहित साक्षीरूप आत्मा है तुम उसी में स्थित होवो। हे रामजी ! संसार भाव और अभावरूप दोनों ही है, इसलिये तुम इसकी भावना को त्यागकर जो भाव रूप आत्मा है उसी की भावना करो, वही तुम्हारा स्वरूप है। फिर दृश्यों के प्रपञ्च के परे जो वस्तु शेष हो, वही अपना स्वरूप है। वही अन्त तक रहने वाला है और वही परमानन्द स्वरूप भी है। परन्तु चित्त भावको ग्रहण करना अपार दुःख है और चित्त रूपी सङ्कल्प ही बन्धन है। मुक्ति पाने के लिये स्वरूप के ज्ञानयुक्त बल से उस बन्धन को काटना चाहिये। अन्यथा आत्मा को त्याग

संसार में उत्पन्न होकर मर जाते और नष्ट हो जाते हैं, फिर उनके लिये करना क्या है। वे तो महान् तुच्छ और पशुओं से भी नीच हैं। भला कोई पशुओं, मच्छरों और जलचर जीवों के मृतक होने पर भी शोक और विलाप करता है? ऐसे ही अनेक जीव नाश होते हैं, उनका विलाप नहीं होता। इसलिये अब जो वर्तमान हैं उनके लिये तुम विलाप न करना क्योंकि सब नाश रूप और तुच्छ हैं। समय पर काल सबको भक्षण करता है। जगतमें जितनी भूत जातियाँ हैं काल निरन्तर सब को जीर्ण करता है और परस्पर एक जीव दूसरे को खाते रहते हैं और दूसरी ओर अनेक जीव उत्पन्न भी होते रहते हैं और कोई रुदन करते तथा कोई सुख और दुःख दोनों ही भोगते रहते हैं। तिसमें पापी तो पापों के दुःख से निरन्तर ही मरते और सृष्टि में उत्पन्न और नाश होते रहते हैं। उनकी कोई संख्या नहीं। इसलिये ज्ञानीजन अपने आप पर दया कर अपने को संसार सागर से पार करते हैं। किन्तु मूढ़ और पशुओं में कोई भेद नहीं। हमारी कथा का उपदेश उनके लिये नहीं है। क्योंकि वे केवल देखने मात्र को मनुष्य हैं अन्यथा वे पशुधर्मा हैं। उनसे मनुष्योचित धर्म का अर्थ कुछ सिद्ध नहीं होने का। इससे वे मेरी वाणी के योग्य नहीं हैं। ठूँठे वृक्ष के समान उन मूर्खों से कुछ भी अर्थ सिद्ध होने का नहीं, वे चित्त के खींचने पर वैसे ही उस ओर चले जाते हैं जैसे पशु के गले में रस्सी बांधकर जिस ओर खैंचे वह उस ओर चला जाता है। ऐसे ही मूढ़ जीव पशुओं के समान विषयरूपी कीच में फँस कर महान् आपदा को प्राप्त होते हैं। उन मूर्खों को आपदा में फँसा देखकर पत्थर भी रो पड़ता है। कारण कि उन मूर्खों ने अपने चित्त को न जीतकर दुःखों के समूह को प्राप्त किया है। परन्तु जिसने चित्त को बन्धन से निकाल लिया है वे बड़े भाग्यशाली हैं उनके समस्त दुःखों का नाश हो जाता है और संसार में नहीं उत्पन्न होते। इससे बिना चित्त पर विजय पाये दुःखों का नाश नहीं हो सकता। यदि

यह तृष्णा-खड्ग देखने में तो शीतल कोमल, और सुन्दर है, पर स्पर्श करते ही नाश कर डालती है। जो दुःख बड़े २ पापों से प्राप्त होता है,वह तृष्णारूपी फूल का ही फल है। यह तृष्णारूपी कुतिया चित्तरूपी गृह में बैठी हुई कभी छोटी और कभी बड़ी हो जाती है। इसके उत्पन्न होने से मनुष्य महादीन हो जाता है। कोई कैसा भी दरिद्र और कृपण क्यों न हो, यदि वह तृष्णा से रहित है तो उसे बड़ा ऐश्वर्यवान समझो। क्योंकि जिसको इस सर्पिणी ने नहीं खाया है वास्तव में उसी के प्राण और शरीर स्थित हैं और उसी का हृदय शान्त है—अन्यथा जिस शरीररूप वृक्षमें तृष्णारूपी घुन लग गया है उसकी पुण्य रूपी हरियाली नष्ट हो जाती है और वह कभी प्रफुल्लित नहीं होता। हे रामजी ! यह तृष्णारूपी डाकिनी कलेजे को काटकर निकाल देती है जिससे प्राणी उत्साह और बल रहित हो महादीन हो जाता है। यही अमङ्गलमयी तृष्णा, जीवों के हृदय में प्रवेश कर कृतघ्नता को प्राप्त करती है। हा, उस तृष्णा ने ही तो विष्णु भगवान् को इन्द्र के लिए वामनरूप धराकर बलि के द्वारे भेजा था। यह तृष्णारूपी सांपिन महाविष से पूर्ण होकर समस्त जीवों को दुःख दे रही है। इसलिये तुम इसको शीघ्र त्याग दो। ये पवन; पर्वत और पृथ्वी आदिक सब तृष्णा से ही तो गमन करते और स्थित रहते हैं। यहाँ तक कि समस्त लोक तृष्णा से ही बँधे हुए हैं। तृष्णासे कदापि मुक्ति नहीं मिल सकती। जेवरी का बाँधा हुआ भले ही टूट जाये, पर तृष्णा का बँधा हुआ कदापि नहीं छूटता। इसलिये हे रामचन्द्र ! तुम तृष्णा को ही त्यागो। यह सारा संसार मन के ही सङ्कल्प में है, इससे तुम सङ्कल्प रहित होवो। फिर युक्ति पूर्वक देखो कि सङ्कल्प प्रमाद को ही मन कहते हैं। मन नाश हो जावे तो तृष्णा का भी नाश हो जाय। यह मैं, तुम और वह इत्यादि का चिन्तन न करो क्योंकि यह दृष्टि महामोह को देने वाली है। तुम इसका परित्याग कर केवल अद्वैत की भावना करो।

श्रीयोगवशिष्ठ भाषा उपशम—प्रकरण का दसवाँ सर्ग समाप्त ॥ १० ॥

कर संसार में सङ्कल्प विकल्पों को लेकर कोई सुखी नहीं हो सकता। किन्तु आत्मा ही है-ऐसा ज्ञान उत्पन्न होने से चैत्य चित्त और चेतना का सर्वदा अभाव हो जाता है। मैं आत्मा नहीं, जीव हूँ ऐसी कल्पना का नाम चित्त है। चित्त से अनेक दुःख प्राप्त होते हैं। पर उपशम होने से चित्त शान्त होता है। मैं आत्मा हूँ, जीव नहीं यही सत्य है और उससे कुछ भिन्न नहीं है, इसका नाम है चित्त उपशम इसमें संशय नहीं कि उपशम होने से चित्त अवश्य शान्त हो जाता है। यह मन सब शरीर के भीतर स्थित है और यह जब तक रहता है तब तक जीव को बड़ा भय देता है। इससे परमार्थयोग द्वारा इसको काट डालो। मन न रहेगा तब भय भी न रहेगा। क्योंकि यही भ्रम मात्र उत्पन्न हुआ है। हे रामजी! जब यह चित्त रूपी वैताल निकल भागेगा तब तुमको भय कुछ न व्यापेगा। अब मेरी वाणी को सुनते सुनते तुम मन पर विजय पा चुके हो, इसलिये अब सब तृष्णा को त्यागकर शान्तरूप में स्थित होवो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम-प्रकरण का नवां सर्ग समाप्त ॥ ९ ॥

::❀::

दशवां सर्ग

तृष्णा-विवेचन

वशिष्ठजी ने कहा,-हे रामजी! यह चित्त बड़ा विचित्र है। इसी बीज से संसार उत्पन्न हुआ है। जब चित्त शक्ति आत्मसत्ता को त्यागती है, तब यह चित्त उत्पन्न होता है और तब कलना रूप यत्न धारण कर मोह उत्पन्न करता है। वह मोह संसार का कारण होता है और तब तृष्णारूपी विष बेलि फूलती है। उसको देखकर वह मूर्छित हो जाता है और आत्मपद की ओर नहीं चलता। फिर तो क्रमशः तृष्णा उत्पन्न होकर मोह को बढ़ा देती है, जिससे तृष्णारूपी श्यामरात्रि से परमार्थसत्ता ढँक जाती है और प्रलयकाल की अग्नि प्रखरित होकर सबका संहार करती है। उसको कोई बुझा नहीं सकता

उपराम हुआ है वह विदेह-मुक्त होकर परमतत्व में स्थित है। हे रामजी! इन दोनों पदों का त्यागी ब्रह्मपद को प्राप्त होता है। एक का शरीर स्फुरण रूप होता है और दूसरे का अस्फुर होता है। वह विदेह मुक्त रूप शरीर में स्थित हो सर्व व्यवहार करता हुआ भी, सन्ताप रहित जीवन्मुक्त ज्ञानको धारण कर फिर अन्य शरीर त्यागकर विदेह पदमें स्थित हो जाता है। उसको वासना और शरीर नहीं रहता। इसीसे वह विदेह मुक्त कहा जाता है। पर जीवन्मुक्त पुरुष वासना को त्याग कर बाहरी कर्म करते हैं और सुख दुःख रागद्वेष से रहित वर्तते हैं। उनको सुखमें हर्ष नहीं, दुःखमें शोक नहीं। इससे वे जीवन्मुक्त कहलाते हैं।

यह कह कर वाल्मीकि जी बोले कि जब वशिष्ठ जी ने ऐसा कहा तब सूर्य अस्त हो गये और सभा के सब लोग स्नान करने उठे। फिर रात्रि व्यतीत कर सूर्य के उदय होते ही कथा सुनने अपने अपने आसनों पर आ विराजे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम—प्रकरण का ग्यारहवां सर्ग समाप्त ॥ ११ ॥

--::⊛::--

बारहवाँ सर्ग

पुनः तृष्णा चिकित्सोपदेश

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! विदेहमुक्त पुरुष हमारी वाणी के विषय नहीं है, इसलिये मैं जीवन्मुक्त का ही लक्षण कहता हूँ। सुनो, प्राकृतिक कर्मों को करते हुए तृष्णा और अहङ्कार से जो रहित हैं वही जीवमुक्त हैं, अन्यथा जो दृश्य पदार्थों में रमण कर रहे हैं वे तृष्णा से सर्वदा कष्ट पाते रहते हैं उनको सांसारिक बन्धन कभी नहीं छोड़ सकता। पर जो हृदय के सङ्कल्पों का त्याग कर बाहर से सब व्यवहार करते हैं वे जीवन्मुक्त कहाते हैं। पुनः जीवन्मुक्त वे हैं जो बाहरी जगत में बड़े से बड़ा कार्य तो करते हैं पर हृदय में वासना और तृष्णा से रहित रहते हैं। उन पुरुषों को भोगों की

ग्यारहवाँ सर्ग

तृष्णा चिकित्सोपदेश

इतनी कथा सुनकर रामजी ने वशिष्ठजीसे पूछा कि हे मुनिवर! आप अहङ्कार और तृष्णा को त्यागने को कहते हैं, पर अहङ्कार त्याग देंगे तो चेष्टा कैसे होगी? तब शरीर भी तो नहीं रह सकता। शरीर को अहङ्कार ही धारण कर रहा है। अहङ्कार त्याग देंगे तो शरीर गिर जावेगा; फिर अहङ्कार त्याग कर मैं किस प्रकार जीवित रहूँगा। आप श्रेष्ठ वक्ता हैं, कृपाकर इसको निश्चय मुझे समझाइए।

वशिष्ठजी कहने लगे--हे रामजी! सभी ज्ञानियों ने वासना का परित्याग किया है और वासना का त्याग दो प्रकार का है। एक ध्येय त्याग और दूसरा न्येय त्याग। ध्येय त्यागी वह हैं जो किसी पदार्थ में भावना न रखते हों और जिनका अन्तःकरण आत्म-प्रकाश से शीतल हो और लीलामात्र किया करते हों। अथवा जिस पुरुष ने निश्चय पूर्वक वासना का त्याग किया हो और जो सारे कर्मों में आत्मा का ही प्रकाश लखते हों ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष इन्द्रियों से चेष्टा करते हुए वासना का त्याग किये रहते हैं। इसी का नाम ध्येयत्याग है। न्येय त्यागी वे हैं जो मन सहित शरीर की वासना का त्याग कर उस वासना को भी त्याग देते हैं। ऐसे न्येय वासना के त्यागी विदेह मुक्त कहलाते हैं।

किन्तु जिन पुरुषों ने देहाभिमान परित्याग कर दिया है और सांसारिक वासना एवं लीलाओं का त्याग कर दिया है और स्वरूप में स्थित होकर क्रिया भी करते हैं वे जीवन्मुक्त कहलाते हैं। पर जिसको वासना कोई नहीं और जो भीतर बाहर की चेष्टाओं से रहित हुआ है उसका नाम न्येय त्याग है। वही विदेह है। किन्तु जो ध्येय वासना का त्याग कर कर्मों को करते हुये स्थित हैं वे जीवन्मुक्त महात्मा पुरुष जनक के समान हैं। फिर जो न्येय वासना का त्यागकर

व्याप्त है और सब में ही हूँ, मुझसे पृथक् कुछ नहीं है–वह संसार के पदार्थों में नहीं बँधता। वह आत्मा विज्ञान स्वरूप है और ब्रह्मा, शिव, पुरुष, ईश्वर और शून्य, प्रकृति और माया उसका नाम है। उसी से संसार का जाल परिपूर्ण हो रहा है। उसका सत्य–स्वरूप आत्मा से द्वैत वस्तु कोई नहीं है। जिस प्रकार सुवर्ण और भूषण में कोई भेद नहीं होता उसी प्रकार आत्मा और पदार्थों में कोई भेद नहीं है। इस जगतकी रचना में जो द्वैत और अद्वैत का भेद है, वह परमात्मा पुरुष की स्फुर–शक्ति है। अपने और पराये का भेद भी जो सबमें सदा रहता है और पदार्थों के उत्पन्न होने और नष्ट होने में जो सुख दुःख प्रतीत होता है उसको तुम मत ग्रहण करो। तुम केवल अद्वैत आत्मसत्ता का आश्रय करो। इससे तुम अद्वैत पूर्णसत्ता हो जावोगे। फिर अन्ध हस्ती के समान पदार्थ सरिता में गिरकर क्यों उछलते हो? तुम तो राग-द्वेष से विमुक्त पूर्ण–स्वरूप और महात्मा पुरुष हो। फिर तुम्हें अविद्यारूप का आश्रय करने की क्या आवश्यकता? तुम तो ऐसा निश्चय करो कि मैं एक आत्मा, अद्वैत, निरन्तर सबका प्रकाश, अजर, अमर, विकार रहित, निश्चय, निराकार, अमृतरूप, कलङ्क रहित, जीवशक्ति का जीवनरूप और सब कलनाओं से परे, कारण का भी कारण हूँ। ऐसा समझ कर अहं और इदं कलना को त्यागकर अपने हृदय में धारण करो और यथा प्राप्त कर्म किया करो। तुम शान्त स्वरूप हो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरणका बारहवां सर्ग समाप्त ॥ १२ ॥



तेरहवां सर्ग

जीवन्मुक्तावस्था

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! मुक्तात्मा पुरुषों का यह स्वभाव है कि वह देहाभिमान त्याग कर सम्यकदृष्टि से जगत के कार्यों में लीलावत् विचरते हैं। वह जगत की गति को आदि, अन्त और मध्य

तृष्णा नहीं रहती और वे सदैव दुःख और कलङ्क रहित रहते हैं। किन्तु जिनके हृदय में अहङ्कार ने डेरा जमा लिया है, वे संसार की भावना धारण कर तृष्णा रूप जंजीर से बँधे हुए कलना से कलङ्कित रहते हैं। उस कारण तुम, मैं और मेरा, सत्य और असत्य बुद्धि के सांसारिक पदार्थों का त्यागकर परम उदार पद में स्थित होवो। बन्ध, मोक्ष, सत्य और असत्य की कल्पना क्या करते हो? तुम न तो पदार्थ हो और न यह पदार्थ तुम्हारे हैं। फिर तुम इष्टकी कल्पना त्यागकर अक्षोभ चित्त में क्यों नहीं स्थित होते? जब यह संसार ही भ्रान्ति मात्र है, तब इसकी तृष्णा भी तो भ्रान्तिमात्र ही होगी। पर तुम आकाश के समान निर्मल और सत्य-स्वरूप हो। फिर तुम्हारा और इस पिशाचिनी तृष्णा का क्या सम्बन्ध? हे रामजी! यह जीव चार प्रकार के निश्चयों से बड़े आकार को प्राप्त होता है। पहला निश्चय यह है कि, मैं माता पिता से उत्पन्न हुआ हूँ और चरण से लेकर मस्तक पर्यन्त शरीर ही आत्म-बुद्धि हैं। यह असम्यक दर्शन भ्रान्ति से होता है। दूसरा निश्चय यह होता है और इस निश्चय से शान्ति रूप मोक्ष प्राप्त होता है, कि मैं समस्त भावों और वस्तुओं से परे बालके अग्रभाग से भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म हूँ। तीसरा निश्चय है कि, संसार के समग्त पदार्थों में मैं ही हूँ और मैं आत्मा हूँ मेरा नाश नहीं होगा इत्यादि। यह तीसरा निश्चय भी मोक्षदायक है। चौथा निश्चय यह है कि मैं भी असत्य हूँ और जगत भी असत्य है। ऐसा निश्चय भी मोक्ष का कारण है। हे रामजी! उपरोक्त चारों निश्चय में पहला निश्चय बन्धन का और शेष तीन मोक्ष के कारण हैं। पहले निश्चय वाला तृष्णा सुगन्ध से संसार में भ्रमता रहता है और शेप तीनों भावना वाले जीवन्मुक्त पुरुष हैं किन्तु सर्व जगत में आत्मस्वरूप मैं ही हूँ जिसको ऐसा निश्चय है उसको तृष्णा और राग-द्वेप दुःख नहीं देते और जिनके हृदय में ऐसा निश्चय है कि, अद्ध, ऊर्द्ध और मध्य में आत्मा ही

जीवन्मुक्त हो संसार में विचरो। हे रामजी! अब तुम ज्ञानवान् हुये हो इससे अब आकाश के सदृश निर्मल और स्थित रहो। यदि तुम असत्यहो तो तुम्हारे समस्त मित्र और बन्धुभी असत्य हैं फिरउनकी ममता क्या है, जब स्वयं ही कुछ नहीं हो तब भावना किसकी? पर यदि तुम सत्य-स्वरूप हो तो सत्य आत्मा की भावना द्वारा असत्य जगत की भावना से रहित होओ। क्योंकि अहं, मम और बन्धुजनों का शुभाशुभ कर्म इत्यादि संयुक्त जो जगज्जाल भासता है, उससे आत्मा का कुछ संयोग नहीं है। फिर तुम क्यों शोक करते हो? तुम्हारा किसी से सम्बन्ध नहीं है इस लिये तुम केवल आत्मतत्वकी भावना करो। जो स्वयं ही अजन्मा और निराकार है, उसको तुम और बन्धु का दुःख कैसा? दुःख का स्थान तो वह होता है जो नाशवान हो। यहाँ न तो कोई जन्म लेता है और न मरता है। यदि जन्म मरण माना भी जाय तो वह भी आत्मा की सत्ता से ही है। फिर शोक किसका? यदि शोक करना ही है तो पूर्व में जो तुम्हारे अनेक गुणवान बान्धव व्यतीत हुये हैं उनके लिये भी शोक करो। जब उनके लिये शोक नहीं करते हो अब इनके लिये शोक क्या? जो पूर्वमें थे वे अब भी हैं। हे रामजी! तुम शान्त और सत्यरूप हो। मोह को मत प्राप्त होओ। उस सत्य-स्वरूप का न कोई शत्रु है और न कभी उसका नाश होता है। यदि तुम ऐसा जानो कि मैं आज हूँ आगे न रहूँगा तो भी शोक करना वृथा है। क्योंकि परमात्मा व्यापक रूप में सर्वत्र स्थित है, उससे कुछ भिन्न नहीं है। तब तुम सांसारिक पदार्थों के लिये शरीर को क्यों सुखाते हो? ज्ञानीजन ऐसा नहीं करते। यह कार्य तो अज्ञानियों का है। संसार की सरिता तो प्रमाद वश है पर तुम तो ज्ञानी और शान्त बुद्धि हो, फिर इस भ्रम मात्र संसार के रूप में क्यों भूलते हो? उस सर्व शक्तिमान सर्वगत आत्मा की भ्रममात्र शक्ति से ही यह संसार जाग्रत हुआ है। तब भ्रम-शक्ति से उत्पन्न होने के नाते यह सत्य नहीं हो सकता। यदि सच

में विरस और नाशरूप जानकर शान्तरूप हो अपने सब प्रकार के कार्यों को करते हैं और सब वृत्तियों में स्थित होकर उन्होंने ध्येय वासना का त्याग किया है जिससे वह निरावलम्ब तत्व का आश्रय ले सब अर्थों में सन्तुष्ट रह सदैव विवेक वाटिका में विचरते रहते हैं। इससे उनका अन्तःकरण अत्यन्त शीतल रहता है और उन्हें सांसारिक पदार्थ उद्वेगित नहीं कर पाते। उनको संसार का दुःख कभी नहीं व्यापता। वह चाहे कैसी भी दया और बड़े भयानक कर्म करें, शत्रुओं के मध्य में युद्ध करें तो भी जीवन्मुक्त ही रहते हैं। वे संसार के किसी भी पदार्थ में न तो कभी सुखी रहते हैं और न कभी दुखी होते हैं किन्तु मौन भाव से यथाप्राप्त क्रिया करते रहते हैं। जब उनसे किसी ने किसी बातको पूछा तब यथावत कहते हैं, अन्यथा बिना पूछे मौन जड़वत बने रहते हैं। जब वे बोलते हैं तब कोमल और उचित वाणी बोलते हैं। वे यज्ञादिक कर्म करते भी हैं तो संसारी कार्य में नहीं छूते। हे रामजी! जो पुरुष जीवन्मुक्त हैं वे संसार के युक्त अयुक्त अनेक उग्रदशा वाली वृत्तियों को हाथमें बेल फलके समान मानते हैं और परमपद में दृढ़ निश्चयी हो संसार की गति विगतिको देखते हुए अपने अन्तःकरण से शीतल रहते हैं और अन्य जीवों को तपायमान देखते हैं। हे रामजी! उधर मैंने उन महात्माओं का वर्णन किया है कि जिन्होंने चित्त को वश कर दर्शन किया है। उन मूढ़ोंकी बातको मैं क्या कहूँ कि जो अहर्निश भोगरूपी कीच में मग्न हैं और जो अपने चित्त को नहीं जीत पाये, ऐसे गदहों का लक्षण मुझसे नहीं कहते बनता। वे उन्मत्त महा नरक की ज्वाला स्त्री में दग्ध होते हुये अनेक अर्थों के लिये अनर्थ करते हैं। उनके चित्त को भोगों की अनर्थ रूप दीनता हत डालती है, जिससे शुभाशुभ कर्मों के अनुसार वे सुख दुःख भोगा करते हैं। ऐसे विषयी लम्पटों का लक्षण मुझसे नहीं कहा जाता। इस लिये मैंने जो ज्ञानियों की दृष्टि पहले कही है, तुम उसी का आश्रय करो और ध्येयवासना का त्याग कर

बाद जब तपस्वी का शरीर जर्जर हो गया और कालचक्र का फेरा निकट आगया तब शरीर की क्षणभंगुरता को देख तपस्वी ने पुर्यष्टका कल्पनारूप शरीर को पर्वत की कन्दरा में जाकर उतार दिया और स्वयं राग-द्वेष से विमुक्त होकर चिन्मात्र सत्त-स्वरूप स्थित हुआ अर्थात् तपस्वी ने शरीर छोड़ दिया और चिदाकाश सत्ता में जा स्थित हुआ। तब मुनीश्वर के शरीर को प्राण रहित देख उनकी स्त्री ने भी योग कर्म द्वारा प्राण और पवन को वश कर अपना शरीर त्याग दिया। शरीर त्यागने पर वह अपने पतिदेव के लोक को प्राप्त हुई। इस प्रकार तपस्विनी सहित तपस्वी के विदेह मुक्त होने पर उनके ज्येष्ठ पुत्र पुण्य को बड़ा खेद हुआ। वह माता-पिताका दैहिक कर्म कर वनके सघन कुञ्जों में विचरने लगा और उसका छोटा भाई जिसका नाम 'पवन' था वह पिता के ही आश्रम में रहा वह पिता माता के वियोग से सर्वदा दुखी रहता था। कुछ दिन के बाद जब पुण्य वन-यात्रा समाप्त और ज्ञान प्राप्त कर आश्रम पर पहुँचा तब देखा कि छोटा भाई माता पिता के शोक से बहुत व्याकुल है। उसको व्याकुल देखकर पुण्य ने कहा,—भाई! वर्षा काल के प्रवाहके समान अश्रु धारा बहाकर ऐसा कठिन शोक क्यों कर रहे हो? तुम्हारे माता पिता आत्मपद मोक्षपद को प्राप्त हुए हैं। फिर उनके लिये शोक क्यों करते हो? मोक्षपद ही तो समस्त जीवों का स्थान और ज्ञानियों का स्वरूप है! हमारे पिता और माताजी ज्ञानी थे इसलिये वह अपने स्व-स्वरूप को प्राप्त हुए, तब किसलिये तुम शोक करते हो? शोक तो अज्ञानी करते हैं। पर तुम तो अज्ञानी नहीं हो। तुमने यह क्या भावना की है? जिस मोक्ष के लिये शोक करना चाहिये वह तो तुम करते नहीं और जिसके लिये शोक नहीं करना चाहिये, उसके लिये शोकित होते हो। कौन किसकी माता है और कौन किस का पिता? तुम्हारे जैसे कितने पुत्र और कितने माता पिता असंख्य बार उत्पन्न और नष्ट हो चुके हैं। तब

पूछा तो केवल एक ज्ञान स्वरूप आत्मसत्ता ही स्थित है। वही सर्वरूप सर्वदा सर्वत्र और सबका ईश्वर है। जो उस आत्मसत्ता में स्थित हैं उनको रंचमात्र भी दुःख और क्लेश नहीं होता। आत्मसत्ता की श्रेष्ठता से तुम्हारा हृदय सदैव शीतल रहता है। अन्यथा बड़े से बड़े ऐश्वर्य इस संसार में नष्ट होगये। फिर मैं और तुम इत्यादि की भावना को नष्ट होते क्या बिलम्ब है। यह मैं और तुम बन्धु और बान्धव की भावना ऐसी ही है जैसे आकाश का दूसरा चन्द्रमा। ऐसी मिथ्या विचार दृष्टि से ही जीव नष्ट हो रहे हैं। इस लिये तुम उसे जड़ मूल से नष्ट कर जगत का व्यवहार करो। जब तुम्हें नाश करने वाली भावना उठे तब ऐसा विचार करो कि यह वासना मिथ्या है और उस ओर मत चलो तब यह आपही शान्त हो जायगी। अन्यथा बन्ध और मोक्ष, नित्य और अनित्य की अनेक लघु भावनायें उठा करती हैं। जहाँ तक हो इनको नष्ट करने का भरपूर प्रयत्न करना चाहिये। इसलिये ज्ञानी पुरुष संसार के किसी पदार्थ से उद्वेलित और आतुर नहीं होते और वे सदैव आत्मा को ही व्यापक रूप से देखते हैं। उनके लिए भाई बन्धु आदिक असत्य दिखलाई पड़ते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम-प्रकरण का तेरहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १३ ॥

—::-❀-::—

चौदहवां सर्ग

एक पवित्र ज्ञान

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! इस प्रसङ्ग पर मैं एक पुरातन इतिहास सुना रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो। इस इतिहास में एक तपस्वी के दो भाइयों का वृतान्त है। जम्बूदीप में जहाँ महेन्द्र पर्वत है और जहाँ कल्पवृक्ष के नीचे देवता और मुनिजन विश्राम करते हैं उसके निकट गङ्गाजी की पवित्र धारा के किनारे एक तपस्वी अपनी स्त्री सहित तपस्या कर रहे थे। उनके दो पुत्र थे। कुछ काल

ज्ञान का ऐसा सुन्दर उपदेश दिया था कि उसी क्षण उसकी समस्त अज्ञान वृत्तियां ध्वंस होगईं और उस प्रकार ज्ञानचक्षु के उदय होने से वह महाज्ञानी और बोधवान होगया। फिर तो कहना ही क्या था, 'पुण्य' तो पहले से ज्ञानी था और अब 'पावन' भी वैसा ही विशेषज्ञ होगया। तब इस प्रकार वे दोनों भाई ज्ञान में पारङ्गत हो विदेह मुक्त एवं निर्वाणपद को प्राप्त हुए। हे रामजी! वैसा ही तुम भी जानो। मित्र, बान्धव और धनादिक किसी के नहीं होते। इनमे स्नेह करना व्यर्थ है। क्योंकि यह सारा संसार मिथ्यारूप और मन के स्फुरण मात्र से उत्पन्न हुआ सर्वथा ही अस्थिर और नश्वर है। इसलिये हे रामजी! तुम इससे सर्वथा ही उपशम हो जावो। इसमें ग्रहण और त्याग कुछ नहीं। समस्त इच्छाओं को ध्वंस कर देना ही उचित है। क्योंकि इस पिशाचनीने ही सारा प्रपंच फैला रक्खा है। यह न हो तो कुछ भी कष्ट न होवे। परन्तु यह इतनी प्रबल और ऐसी अनन्त शाखा उत्पन्न करने वाली है कि जिसके आगे कोई वश नहीं चलता, और प्रशंसा तो यह कि इसको जितना ही पालते चलिये यह उतनी ही बढ़ती जाती है और कभी पूर्ण नहीं होती। इसलिये 'त्याग' ही इसकी औषधि है, पालना नहीं। पालन करने से तो यह उत्तरोत्तर बढ़ती है। वस्तुतः जो यह जगत है वह इच्छा से ही उत्पन्न हुआ है। तब जैसे चित्त ने ही इसे उत्पन्न किया है, वैसे ही यह चित्त द्वारा ही नष्ट भी होवेगा। जैसे चित्तको चिन्तन से ही इस जगतने विस्तार पाया है, वैसेही चित्त की चिन्तना ही इसे नष्ट करेगी। जैसे लोहे को लोहा ही काटता है, वैसे ही चित्त द्वारा उत्पन्न हुआ जगत चित्तसे ही लीन होजाता है। इसलिये हे रामजी! तुम ऐसे व्यर्थ और आडम्बरी संसार के पीछे न पड़ो और वासना युक्त समस्त इच्छाओं का दमन कर त्यागरूपी रथ पर आरूढ़ हो, करुणा, दया और उदारता सहित इष्टानिष्ट से रहित हो, संसार में विचरण करो। मोह से रहित होने के लिये यह बहुत उत्तम युक्ति है

उन सबके लिये भी शोक करना चाहिए। क्या तुम यह नहीं जानते कि यह सारा प्रपञ्च-जगत् भ्रम है? परमार्थ में कोई किसी का नहीं है। हे भ्रातृवर! परमार्थ दृष्टिसे विचर कर देखो कि न मैं हूँ, न तुम हो, सब कुछ भ्रम मात्र है, इसलिये तुम इसको हृदय से त्याग करो। यह वारम्बार की उत्पत्ति और नष्टता, मायाको एक भ्रम दृष्टि मात्र है। इसमें कोई वास्तविकता नहीं है। समुद्र की तरङ्गों के समान ही जगत बार-म्बार उत्पन्न और नष्ट होता रहता है। अब तक अनेक माता और पिता हुए और मिटे, इसलिये बन्धु-बान्धव, मित्र और शत्रु आदि का जो भी सम्बन्ध है सब भावना मात्र है और सब की कल्पना मोह से है। जगत का प्रपंच ही ऐसा है कि जिस संज्ञा की भावना कल्पित की जाय वह वैसा ही भासित होती है भावना वश अमृत में भी विष हो जाता है। यद्यपि अमृत में विष नहीं है तथापि वह भावना से वैसा ही भासता है। ऐसे ही बन्धु-बान्धव शत्रु, मित्र, भी भावना वश भासते हैं। अन्यथा कोई किसी का शत्रु है और न कोई किसी का मित्र। केवल सर्वात्म पुरुष ही सर्वगत सर्वत्र स्थित है। उसमें अपने और पराये की कोई कल्पना नहीं। वह इतना निर्मल और निरअवयव है कि मन बुद्धि, चित्त और अहङ्कार भी उसका कोई नहीं। केवल विचार की अज्ञानता से ही मैं तुम आदिक मिथ्या ज्ञान भास रहे हैं। अन्यथा केवल चिदाकाश आत्मसत्ता ही सदैव विद्यमान है माता और पिता आदि तो भ्रम से भासते हैं। शरीर भी पंचतत्वों से रचा हुआ जड़रूप है। इसलिये तुम भ्रम-दृष्टि को त्याग तत्वों का विचार करो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का चौदहवां सर्ग समाप्त ॥ १४ ॥

—:-:-:-—

पन्द्रहवां सर्ग

इच्छा चिकित्सा

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! पुण्यके ऐसा कहने पर उसका छोटा भाई 'पवन' परम प्रसन्न होगया। क्योंकि पुण्य ने उसे परम पावन

हे रामजी ! जिस प्रकार चित्त बढ़ने न पावे—तुम उसी आत्म धैर्य को धारण करो। जब इस प्रकार के धैर्य धारण करोगे, तब निश्चय ही अविनाशी पदको प्राप्त होवोगे। हे रामजी ! जब इस उत्तम हृदय क्षेत्र में एक बार चित्त स्थित हो जाता है, तब वह आकाशरूपी दृश्य को नहीं उत्पन्न होने देता और तब केवल ब्रह्मरूप ही शेष रहता है। सो, जब तुम इस चित्त से अचित्त हो जाओगे तब निश्चय ही अक्षय पद की प्राप्ति होवेगी, अन्यथा यह चित रूपी उलूक पक्षी है और तृष्णारूपी स्त्री हैं। ऐसा पक्षी जहाँ विचरण करता है, वहाँ अमङ्गल ही का विस्तार होता है। सो, तुम उस वृत्तिको सर्वथा ही त्याग दो। जब ऐसा हो जावेगा तब अचिन्य पद प्राप्त हो जायेगा। क्योंकि वृत्तियों के अनुसार ही स्वरूप की रचना होती है। जैसे वृत्ति का सञ्चार होगा—इस जीव का वैसा ही रूप हो जावेगा। हे महामते ! यह निश्चित सिद्धान्त है कि जो संसार के पदार्थों और उसकी यह समस्त ईषणाओं और भावाभाव से मुक्त हुआ है वह उत्तम पद पाता है किन्तु जिसका चित्त भोगों में पड़ा हुआ है वह मुक्त नहीं होता।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम—प्रकरण का पन्द्रहवां सर्ग समाप्त ॥ १५ ॥

::※::

सोलहवां सर्ग

बलि आख्यान

इस प्रकार वशिष्ठजी के कहे हुए इच्छा-चिकित्सा सम्बन्धी उपदेश को सुनकर रामजी प्रसन्न होगये। वे बारम्बार वशिष्ठजी की प्रशंसा करते हुए बोले—हे भगवन् ! आपके उपदेशों से अब मेरा मन सर्वथा ही विमल और हृदय शीतल होगया है अब मुझे कुछ शङ्का नहीं करनी है। किन्तु हे मुनि ! आप ज्ञानियों में महाज्ञानी और सर्व धर्मवेत्ता हैं, आपके अमृत रूपी वचन को पान करता हुआ मैं तृप्त नहीं होता। सो, हे मुनीश्वर ! अब कृपा कर मेरे बोध की वृद्धि के लिये

कि सर्वसे निष्काम और निर्दोष भावनामें स्थित रहे । इसी अवस्था का नाम 'ब्रह्म स्थिति' अवस्था है। इस अवस्थामें विवेक और बुद्धि ही उसका सहायक होती हैं ! जो ऐसा ज्ञान और बुद्धिकी सहायता से संसार में विचरते हैं उनको दुःख और कष्ट नहीं होता। कैसा भी महान् सङ्कट, कैसा भी दुःख और स्नेह क्यों न उपस्थित हो जावे वह किसी भी विकार से दुःखी नहीं होता। वह अपने धैर्यरूपी बेड़े से महान् दुःखरूपी समुद्र को पार कर जाता है। अच्छा तो, धैर्य क्या है ? देखो, जगतके दृश्यों से सर्वथा ही वैराग्य और नित्य ही सत्शास्त्रों का विचार करना ही धैर्य है। जो ऐसा आचरण करता है अथवा इन श्रेष्ठगुणों का अभ्यास करता है, वह आत्मपद को प्राप्त करता है। आत्मपद त्रिलोकी के ऐश्वर्य रूपी स्तोत्र का भण्डार है। उसके आगे त्रैलोक्य की सम्पदा भी व्यर्थ है। सो वैराग्य विचार और अभ्यास द्वारा चित्त को स्थिर करने से ही प्राप्त होता है। जब तक तृष्णारूपी पाप नहीं होता, कष्टसे छुटकारा नहीं मिलता और आत्म-विवेक हुआ नहीं उसको संसार अमृतरूप भासने लगता है। जैसे शरद ऋतुका आकाश मेघ रहित और निर्मल होता है, वैसेही इच्छा रहित पुरुष निर्मल होजाता है। परन्तु जिन पुरुषों के हृदयमें आशाका सञ्चार होता रहता है, वे उसके वशीभूत रहते हैं और इनका हृदय ज्ञानसे शून्य रहता है। तृष्णारूपी राक्षसी उनके हृदयको स्थिर नहीं होने देती। किन्तु इच्छा रहित पुरुष वैसा ही निर्लेप और सुन्दर हो जाता है जैसे कमलपत्र निर्लेप और केलेका स्तम्भ सुन्दर होता है। हे रामजी ! हिमालय पर्वत भी वैसा शीतल नहीं होता, जैसा इच्छा रहित पुरुष शीतल होजाता है पूर्णिमा का चन्द्रमा और लक्ष्मी भी वैसी सुन्दर नहीं होती जैसा इच्छा रहित मन सुन्दर हो जाता है। क्योंकि चन्द्रमा की प्रभा को तो मेघ भी ढँक लेता है और लक्ष्मी भी परम चञ्चल है। किन्तु इच्छा रहित और ब्रह्म-स्थिति वाले मन पर कोई आवरण नहीं आने पाता। इसलिए

बन जाते थे। उसकी दृढ़ दृष्टि से बड़े २ पर्वत भी झुक जाते थे। कहाँ तक कहूँ उस अवधिमें उसने सभी प्रकारके भोग भोगे और उससे त्रैलोक्य बारम्बार कम्पित हुआ। जब इस प्रकार उसने दश करोड़ वर्ष तक शासन कर लिया तब एक दिन उद्वेगित होकर वह सुमेरु पर्वत पर जाकर यह विचारने लगा कि इतने बड़े राज्य से मुझे क्या प्रयोजन है? यदि कहूँ कि त्रिलोकी का राज्य है, इतना सुख है, इतना बिलास है और उसमें ऐसे ऐसे शासन विधान हैं तो इसमें भी क्या लाभ और यह सब कुछ प्राप्त होना कौन से आश्चर्य का विषय है। जब शान्ति नहीं तो कुछ नहीं। शान्ति से यह सब राज्य और सुख ऐश्वर्य क्या बढ़कर हैं? नहीं, कदापि नहीं। किन्तु मैं कितना धृष्ट हूँ कि चिरकाल से भोगों के लिये प्रयत्नवान हो उन्हें भोगता रहा और नाम मात्र को भी शान्तिमान् न हुआ। इससे निश्चय होता है कि भोगों से कभी शान्ति नहीं मिलती और ये बारम्बार उपजते और नष्ट हो जाते हैं। पर खेद है कि बारम्बार वही कर्म करते हुए मुझे लज्जा नहीं आती। हा, मैं कितना मूर्ख हूँ कि जब देखो, वही भोजन, वही विश्राम और वही बारम्बार स्त्री का आलिंगन और बारम्बार उसी सुख शैया का वाय ग्रहण करता हूँ। निश्चय ही मेरा यह कर्म श्रेष्ठजनों की लज्जा का कारण है। अन्यथा ऐसे नीरस कार्यों में कोई बुद्धिमान नहीं पड़ता। जब जिस कार्य से तृप्त और शान्ति न हुई तब उसके करने से क्या लाभ? इसमें मैं स्वीकार करता हूँ कि मेरे समस्त राग भोग बुद्धिमानों के हँसने ही योग्य हैं। अब मैं यह स्वीकार करता हूँ कि चित्त में सङ्कल्प विकल्प का उठना व्यर्थ और मूर्खता का द्योतक है। विचारवान् तो विचारवान् ही हैं, चित्त में सङ्कल्प विकल्पों से बड़े २ अनर्थ उठ खड़े होते हैं। मैं नहीं कह सकता कि इसके द्वारा भोगों की प्राप्ति के सिवा और क्या लाभ है? किन्तु भोग? भोग तो सर्वथा ही अहितकर और अनर्थ कारक हैं। यह उत्पन्न भी होते हैं और नष्ट भी होजाते हैं। इनकी

वह प्रसङ्ग सुनाइये कि, जिस प्रकार राजा बलि को 'विज्ञान'-बुद्धि-भेद, की प्राप्ति हुई थी। श्रेष्ठ जन नम्र शिष्य के कहे हुए शब्दों से खेदवान नहीं होते। वशिष्ठजी ने कहा-हे रामजी! सुनो. इस जगतके नीचे एक पाताल लोक है। वह लोक क्षीर-समुद्र के समान उज्ज्वल और बहुत ही सुन्दर है। उसका राजा वह शेष नाग है-कि जिसके हजारों शिर हैं और जो बड़ा विषधर है। उसमें कहीं दैत्यों के पुत्र बास करते हैं और कहीं २ बहुत सुन्दर नाग-कन्यायें विराजती हैं। कहीं बहुत सुन्दर सुगन्धिमय सुख का स्थान है तो कहीं नर्क और विष्टा से भरा हुआ दुर्गन्ध का स्थान है। उस पाताल में सात पाताल हैं कि जिनमें सब प्रकार के जीव स्थित रहते हैं। उसका कोई भाग रत्न-खचित है और किसी भागमें कपिलदेवजी के चरण कमलों पर देवता और दैत्य शिर धरे विराजते हैं। कहीं नन्दन बन से भी सुन्दर रत्नों के ऐसे ऐसे बाग लगे हुए हैं कि जिनकी सुगन्धि अपूर्व और अमृत तुल्य उपकारी है। विरोचनि पुत्र बलि पुत्र लोक में रहता था। वह इतना प्रतापी था कि उसके आगे समस्त विद्याधर किन्नर और देवता भी शिर झुकाते थे। सभी उसके वशवर्ती थे और सभी को उसने वश कर लिया था। आकाश, पाताल और मृत्यु लोक इन तीनों लोकों को उसने वश कर रक्खा था। उसका समस्त जीवन लीलामय और सुख आनन्द की राशि था। देवराज इन्द्र भी उसके चरण रज को वांछा करते थे और त्रिलोकी के जितने रत्न हैं सब उसके समक्ष विद्यमान रहते थे। यही नहीं, जो विष्णु भगवान् समस्त शरीरों की रक्षा करने वाले और जो सर्व भावना धर्मों के पालक हैं उसको उसने अपना द्वारपाल बना रखा था। उसके प्रताप के आगे तीनों लोक काँपते रहते थे। उनकी वाणी मात्र से लोग भयभीत हो जाते थे। वह ऐरावत हाथी कि जिसके गण्डस्थल से सर्वदा ही मद झरा करता था, उसके प्रतिक्षण राजद्वार की शोभा बढ़ाता था उसके यज्ञ से उठे हुए धूम्र तुरत ही आकाश में बादल

वह केवल अपने राजा को प्रसन्न करने का ही कार्य करता है। यद्यपि वह अज्ञानी है तथापि राजा की शक्तियों ने उसे ज्ञानी बना दिया है और वही सारा कार्य करता है। वह जैसा चाहे, वैसा कर सकता है। उसके समान बलशाली कोई नहीं वह जिसको चाहे नचा डाले। उस पर विजय करने वाला कोई नहीं दिखलाई पड़ता। देवता और दैत्य, उसने सबको अपने वशमें कर रखा है। बड़े से बड़े शास्त्र और भयानक से भयानक युद्धों में भी उसका कोई बाल बाँका नहीं कर सकता। देवताओं सहित विष्णु और दैत्यों सहित हिरण्यकशिपु को भी उसने बिलबिला और रुला दिया है। वह जब चाहे स्वर्ग को नरक और नरक को स्वर्ग बना देता है। प्राणियों का परिवर्तन और सृष्टि का प्रलय और उत्पत्ति भी उसके लिये संकेत-मात्र है उसके आक्रमण से यह समस्त त्रिलोकी सहित कल्पवृक्ष भी डगमगा जाता है। यद्यपि वह सर्व गुणहीन और सर्व शक्तिहीन है तो भी अपने आत्म-भगवान की दी हुई शक्ति से इतना सब कुछ कर डालता है। वह वारम्बार देवता और दैत्यों के समूह को उत्पन्न करता रहता है। जब ऐसे बलशील मन्त्री को वश कर लेवे, तब राजा का दर्शन हो जावे। परन्तु वह मन्त्री भी, तब तक वशमें कैसे होगा, जब तक कि उसका राजा वशमें न होवे। राजा वशमें होवे तो मन्त्री आपही आप वश में हो जाता है। इसी प्रकार जब तक मन्त्री वश में न होवे, राजाको वश करना कठिन होता है। क्योंकि मन्त्री ही भीतर बाहर करने वाला है। अतः उसको पहले जीतना चाहिये। हे पुत्र! यदि उसको जीतने की शक्ति तुझमें है तो तू पराक्रमशाली है और नहीं है तो तेरा सारा पराक्रम व्यर्थ और निष्प्रयोजन है पर यदि तुमने उसे जीत लिया तो जानो कि अब कुछ जीतना नहीं रहा। अस्तु, यदि तुझे अनन्त सुख की इच्छा है और यदि तू निश्चय ही अविनाशी पद को प्राप्त करना चाहता है तो उस 'मन' नामक मन्त्री को वश में करने का यत्न कर।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा—उपशम—प्रकरण का सत्रहवां सर्ग समाप्त ॥ १७ ॥

समस्त रमणीयता व्यर्थ और निःसार हैं। तब किस वस्तु में सार है और क्या अविनाशी है यह जानना चाहिये।

ऐसा विचार कर वह मौन होकर सोचने लगा। कुछ क्षण के पश्चात् उसे अपने पिता विरोचन का वह उपदेश स्मरण आया कि जो उसने किसी समय उन महात्मा से पूछा था।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का सोलहवां सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

❀—❀—❀

सत्रहवां सर्ग

बलि--विरोचन कथा

हे रामजी! विरोचन बड़े ज्ञानी और परम तपस्वी थे। एक समय बलिने उनसे प्रश्न किया था, कि "हे पिताजी! वह कौन सा स्थान है कि जहां पहुँचने पर सभी भ्रम शान्त होजाते हैं और समस्त दुःखों और सुखों का अन्त हो जाता है फिर वह कौनसा पद है कि जिसमें पहुँचने से मनको मोह नष्ट होकर सारी इच्छायें लय होजाती हैं। जहां कुछ क्षोभ नहीं रहता और जिसे प्राप्त कर लेने पर रागद्वेष का सर्वथा अन्त हो जाता है। हे पिताजी! वह कौनसा पद है कि जिसको पाकर फिर कुछ प्राप्त करना नहीं रहता। अथवा जिसे देखने पर फिर कुछ देखने की इच्छा नहीं होती। ऐसा जो आनन्ददायक पद हो मुझे बतलाइये।" इस पर विरोचन ने कहा--हे पुत्र! सुनो, उपदेश की कथा बड़ी विचित्र है उस स्थान का दृश्य बड़ा ही सुन्दर और शान्त रूप है।। देखो, तुम्हारी इन सारी शङ्काओं को मैं एक ही उपदेश में दूर कर देता हूँ, खूब ध्यान देकर श्रवण करो हे पुत्र। जिस देश, जिस स्थान और जिस पद को तुम पूछते हो उसका नाम है 'मोक्ष'। उस 'मोक्ष' देश में पहुँचने पर प्राणी के समस्त दुखों का अन्त हो जाता है। उस देश के राजा का नाम ईश्वर, भगवान्, आत्मा परमात्मा चाहे जो कुछ भी कहो सबका अर्थ एकही है। उस राजा के मन्त्री का नाम है 'मन'

जब पुरुष आत्मा को ध्येय बनाकर नित्य ही अभ्यास करता है तब वृत्तियां विषयोंसे विरक्त हो जाती हैं और वह आत्मोन्नतिमें वैसे ही वृद्धि पाता है जैसे लता–बेलों को सींचने से लतायें वृद्धि पाती हैं। इसी प्रकार पुरुषार्थ से समस्त कार्यों की सिद्धि हो जाती है। हे पुत्र! क्या तुम जानते हो कि 'देव' और, नीति' क्या है? जो क्रिया निश्चय करके की जाती है और उससे जो फल प्राप्त होता है वही 'देव' है। ऐसाही पुरुष 'देव' कहलाता है ऐसे ही पुरुषों के जो निश्चित एवं अटल व्यवहार हैं उसी का नाम नीति है। बस. इस 'देव और नीति' को जिसने अपने पुरुषार्थ से वश कर लिया है, वही सर्व–विजयी है। हे पुत्र! सुख, दुःख का देने वाला और कोई नहीं है–अपना सङ्कल्प ही, सब कुछ करता है। अनीति की दोनों सीढ़ियाँ मनमें विद्यमान हैं। जब मन पर अधिकार हो जावे तब संसार रञ्चमात्र भी दुःखदायक नहीं होता। परन्तु वह पुरुषार्थ के बिना नहीं हो सकता। पुरुषार्थ से ही विषयों से वैराग्य होता है, अन्यथा नहीं। बिना वैराग्य के मोक्ष दुर्लभ है। जब तक विषयों में प्रीति बनी है तब तक संसार-दशा इधर-उधर अस्थिर बनाये रहती और दुःख दिया करती है। यह सुनकर बलि ने पूछा–हे पिताजी! तब विरक्तता हृदय में कैसे स्थित होगी? विरोचन ने कहा–आत्मा के देखने से जब अभ्यास पूर्वक आत्मदेव का दर्शन हो जाता है, तब आपही आप समस्त बीजलक्ष्मी स्थित हो जाती है। हे पुत्र! इसके लिये सर्व प्रथम यह करना चाहिये कि अपने प्रतिदिन के कार्यों का नियम बना लेवे। वह इस प्रकार कि, दिन के दो भाग तो शरीर के भोगों की प्राप्ति में लगावे और एक भाग शास्त्रों का श्रवण और विचार करे तथा एक भाग में गुरु की सेवा और टहल करे। जब ऐसा करते २ मन कुछ विचारवान हो जावे तब शास्त्राभ्यास को और बढ़ा देवे अर्थात् उसमें पहले दूना (दो भाग का) समय लगावे। इस क्रम से जीव ज्ञान–कथा के योग्य हो जावेगा और तब धीरे २ उत्तम

अठारहवाँ सर्ग

-:❀:-

चित्त--चिकित्सा

बलिने पूछा--हे पिताजी ! वह किस प्रकार वश में हो सकता है और ऐसा महावीर्यवान मन्त्री और ऐसा राजा कौन है--कृपाकर यह वृत्तान्त मुझसे कहिये । फिर मैं उसे प्राप्त करने का यत्न करूँगा। विरोचन ने कहा--हे पुत्र ! सुनो, राजा से मिलने के पूर्व उसके मन्त्री से मिलना चाहिये । जब मन्त्री वश में हो जाता है तब राजा का दर्शन सहज ही में हो जाता है । और इसी प्रकार जब तक राजा को न देखा जाय अर्थात् जब तक राजा वश में न होवे मन्त्री को वश करना कठिन होता है । इसलिए राजा और मन्त्री दोनों का वश करना आवश्यक है, तभी इष्ट की प्राप्ति होती है । जैसे बालक को युक्ति से वश में किया जाता है, उसी प्रकार मन्त्री और राजा को वश में करना चाहिये । अभ्यास से सब कुछ हो जाता है। ऐसा कोई कार्य नहीं है जो शनैःशनैः के अभ्यास से न होवे । देखो मोक्ष नामक देश में आत्म-भगवान् नाम का राजा वास करता है । उसके मन्त्री का नाम है, मन । वह मन परिणाम को पाकर सब ओर से विश्वरूप हुआ है । जब उस मन पर विजय प्राप्त हो जावे तो जानो कि विश्वके सारे सुखों पर विजय मिल गई उस मनका जीतना यद्यपि कठिन है तथापि युक्तियों से वह वश में हो जाता है । बलिने पूछा--वह कौनसी युक्ति है। विरोचन ने कहा--शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध आदिक जितने रस हैं,सबकी आस्था त्याग देवे अर्थात् सबको नाशवान और भ्रमरूपजाने। मनरूपी हस्ती विषरूपी मदसे मस्त रहता है किन्तु अभ्यास और वैराग्यरूपी युक्तियों से वश में हो जाता है। इससे तुम अभ्यास सहित उन युक्तियों का आश्रय करो कि जिससे वह वश में हो जावे । बिना वैराग्य के संसार रूपी बनमें दुखों का नाश नहीं होता वह वैराग्य भी बिना अभ्यास के नहीं प्राप्त होता

जब इस प्रकार कितना ही समय व्यतीत हुआ और वह समाधि से न जागा तब उसके मन्त्री, टहलुये एवं रानियाँ व्याकुल हो गईं और उसके अभाव में सबके सब रुदन करने लगे। कोई कुछ कहता कोई कुछ, किसी का निश्चय दृढ़ नहीं रहा, चारों ओर सन्नाटा छा गया। समस्त राज्यमें हलचल मच गई। तब क्या होवे इस पर विचार करते हुये बुद्धिमान मन्त्रियों ने गुरु शुक्र का स्मरण किया। गुरु शुक्रने ध्यान से देखा तो उन्हें बलिकी सारी व्यवस्था ज्ञात हो गई। वे प्रसन्न चित्त आकाश से उड़कर बलि के पास आये। मन्त्रियों ने बड़ी धूम से उनका स्वागत किया। शुक्रजी ने कहा, घबड़ाओ नहीं, सब कुछ ठीक हो जायगा। यह आश्वासन दे, शुक्रजी बलि के पास गये। देखा तो उनका मन शान्त हो जीव की चेतन-कला के मध्यमें स्थित हो आनन्द ले रहा है। उन्होंने मन्त्रियों से कहा- देखो, इसको मत जगाओ। अब यह आत्मज्ञान को प्राप्त हुआ है। इसको अब कोई क्लेश नहीं है। बड़ा आश्चर्य है कि अब इसको आत्म-प्रकाश की प्राप्ति हुई है। जैसे सूर्य के प्रकाश से अन्धकार नष्ट हो जाता है वैसे ही अब इसके दुःखों का अन्त हो गया है। अतः मैं इसको जगाना उचित नहीं समझता। यह आपही आप दिव्य समय पाकर-जागेगा और उठकर अपना राज्य-कार्य करेगा, कोई चिन्ता नहीं है, तब तक तुम लोग जाकर कार्य सँभालो। यह कहकर शुक्रजी आकाश मार्ग से फिर उड़ गये। दैत्यों की दशा शोचनीय हो गई।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम-प्रकरण का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ १९ ॥

—::-❀-::—

बीसवां सर्ग

बलि उपाख्यान समाप्ति वर्णन

हे रामजी! जब एक हजार वर्ष बीत गये, तब दिव्य मुहूर्त पाकर राजा बलि समाधि से उतरे। नौबत नगारे बजने लगे। दैत्यों में जीवन का संचार हुआ। राज--महल एवं नगर में नाना

पदकी भावना हृदयङ्गम हो जावेगा । जब इस प्रकार शास्त्रों के अर्थ विचार में चित्तरूप बालक को परचा लोगे तब आप ही आप परमात्मा में ज्ञान प्राप्त हो जायेगा और कर्मबन्धन से मुक्त हो जावोगे। फिर तो जैसे चन्द्रमा के उदय होने से चन्द्रकान्तमणि द्रवीभूत होता है वैसे ही तुम्हें शीतलता प्राप्त हो जायेगी। परमात्मा के देखने से तृष्णा दूर हो जाती है और तृष्णा दूर हुई नहीं कि उसी क्षण आत्मा का दर्शन हो जाता है। इस प्रकार जो सुख आत्म-विश्रान्ति से प्राप्त होता है, वह जप तप, और दानादिक किसी प्रकार से भी नहीं प्राप्त होता। ब्रह्मा से लेकर काष्ठ पर्यन्त इस जगत में ऐसा कोई भी आनन्द नहीं है, जैसा परमात्मा में स्थित होने से मिलता है। परन्तु वह बिना पुरुष प्रयत्न के नहीं प्राप्त होता। इससे तुम उस यत्न का ही आश्रय करो और अन्य देवों को दूर से ही त्याग दो। इस मार्ग में भोग परम बाधक हैं। अतः जिस प्रकार भी होवे दाँतों पर दाँत पीसकर तुम इनकी प्रीति को त्यागो और निन्दा करो, तभी सुन्दर शुभप्रद विचार उत्पन्न होंगे। फिर शास्त्रों का संग्रह कर परम-पद को प्राप्त करो। यह कहकर शुक्रजी चले गये।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम-प्रकरण का अठारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १८ ॥

उन्नीसवां सर्ग

बलि-समाधि

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! दैत्य-गुरु महर्षि शुक्र के चले जाने पर योद्धाओं में श्रेष्ठ राजा बलि अपने रत्न जटित महल के एक कोने में जा बैठा और जो शुक्रजी ने कहा था उस पर दत्तचित्त हो मौन भाव से संसार का सार। सम्पदाओं को तुच्छ जानते हुये अपना अस्तित्व विचारने लगा। तब विचारते विचारते उसे अपना आप फुर आया और उसका मन परमतत्व में जा स्थित हुआ। फिर तो अक्षय-समाधि लग गई और शरीर पाषाणवत् हो गिर पड़ा।

ब्राह्मणों की पूजा की। फिर जो अर्थी, मित्र, बान्धव और टहलुये थे, उनका अर्थ पूर्ण किया, स्त्रियों को नाना प्रकार के वस्त्र और आभूषण दिये। अपराधियों को दण्ड और निरपराधियों को मुक्त किया। फिर उसने यज्ञ का आरम्भ करके देवताओं का पूजन किया और शुक्रजी से लेकर जितने भी देवता थे, सबको अपनी यज्ञ शालामें प्रेम पूर्वक बैठाया। उसी समय विष्णु भगवान ने इन्द्र के अर्थ सिद्धि के लिये छल करके बलिको छल लिया। यज्ञ भङ्ग होगया। विष्णु ने बलि को बाँधकर पाताल में स्थित किया। अब आगे वही इन्द्र होगा। क्योंकि वह जीवन्मुक्त हो गया है और उसे किसी प्रकार का हर्ष शोक नहीं है। उसने अनेक जीवों का उपजन और नष्ट होना देखा है और इस प्रकार दस करोड़ वर्ष तक उसने तीनों लोक का कार्य कर बड़े २ ऐश्वर्य भोग लिये हैं। इससे अब उसे कोई कामना नहीं है, भोगों को विरस जानकर उसका मन उपराम हो चुका है। उसकी तृष्णा नष्ट हो गई है और मन हेयोपादेश की वासना एवं सर्व चेष्टाओं से शान्त हो चुका है। हे रामजी! वही बलि आगे चलकर इस जगत का इन्द्र होगा और सारा कार्य करेगा। परन्तु सब कुछ करते हुये भी यह किसी कार्य से प्रसन्न और खेदवान न होगा। क्योंकि अब वह महान विज्ञान--वेत्ता हो चुका है। हे रामजी! तुम भी उसी दृष्टिका आश्रय करो। निश्चय से तुम सर्वदा के लिये निदु:ख और परमपद के भागी बन जाओगे। हे रामजी! यह जो नाना प्रकार के दृश्यों संयुक्त जगत दिखलाई पड़ता है, निःस्सार और सङ्कल्प मात्र है। इसमें उत्पन्न हुये भोग तुच्छ और निन्दनीय हैं। इस जगत में न कोई तुम्हारा है और न तुम किसी के हो। तुम अपने आप आत्म--स्वरूप हो, तुम्हारे लिये अपना और पराया क्या है यह सारी कल्पना मिथ्या और भ्रमपूर्ण है। तुम सर्व के आदि पुरुष, साकार--रूप, सर्व-पूर्ण और इस जगत में चैतन्यरूप हो। यह जितना भी स्थावर--जङ्गम रूपी जगत

प्रकार के उत्सव की तैयारियां हुईं। किन्तु बलिको इसका कुछ भी ध्यान नहीं। वह समाधि से जागते ही फिर अपनी परिस्थिति पर विचार करने लगा। तब उसे भासित हुआ कि राज्य मे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। जिस आनन्द में मैंने विश्राम पाया है वही स्मरणीय, शान्तरूप और शीतल एवं परमपद है। अतः मुझे फिर उसी परमपद का आश्रय करना चाहिये मन को बढ़ाना श्रेय नहीं है। इसको गलित करना ही अभीष्ट है। यह विचार कर उसने फिर समाधि में बैठना ही उत्तम समझा। किन्तु ज्योंही वह उस विचार में बैठा कि राजसदन के मन्त्री आदि स्वागत सत्कार के लिये आ पहुँचे। नगर-वासियों ने राजद्वार को घेर लिया। चारों ओर से 'राजा बलि की जय हो, जय हो'-ऐसा शब्द होने लगा। तब बलि ने विचारा कि अच्छा, अब मुझको ग्रहण और त्याग भी क्या है, मोक्ष की इच्छा भी मैं क्या करूँ। जो बन्ध होवे वह मोक्ष की इच्छा करे, पर जब मैं बन्ध नहीं हूँ तो मेरे लिये मोक्ष की इच्छा भी नहीं है। न बन्ध है, न मोक्ष। बन्ध और मोक्ष की कल्पना तो मूर्खता है। अतः,अब मुझे ध्यान विलास की आवश्यकता नहीं है'। क्योंकि न मैं मरता हूँ, न जीता हूँ न सत्य हूँ, न असत्य हूँ, मुझमें सम विषम भी कुछ नहीं है, न कोई मेरा है और न मैं किसी का हूँ, मेरा अपना आप अद्वैत रूप है, मैं आत्मा हूँ, मेरा मुझको नमस्कार है। यह राज्यक्रिया मेरा क्या करती है-इसे करते हुये भी मैं अपनी आत्मा में स्थित हूँ। तब मेरा जो कुछ प्रकृत आचार है उसे क्यों छोड़ूं। हे रामजी ! ऐसा विचार कर राजा बलि ने दैत्यों की ओर देखा दैत्यों की सेना, मन्त्री,भृत्य और बान्धवों ने आकर उसे घेर लिया। फिर तो जैसे चन्द्रमा को मेघ घेर लेता है, वैसे ही समस्त दैत्य राजा बलिको घेरकर प्रणाम करने लगे। राजा ने उनकी प्रणाम और बन्दना स्वीकार की। पुनः वासना को मनसे त्याग राज्य का कार्य करने पर उद्यत हुआ और पूजा की सामिग्री मंगाकर देवता, गुरु और

इक्कीसवां सर्ग

हिरण्यकशिपु-बध

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी! अब तुम एक और उपाख्यान सुनो। इसको सुनने से तुम्हें विशेष लाभ होगा। यह असुर प्रह्लाद का आख्यान है। देखो, पाताल में हिरण्यकशिपु नाम का एक महाबली दैत्य उत्पन्न हुआ था जिसने कई बार इन्द्र को भगाया और ऐसे कई महान् पराक्रम किये थे। उसने देवता और दैत्यों सहित समस्त पृथ्वी को वश कर लिया था। समस्त भूमण्डल में उसका एक छत्र राज्य था। समय पर उसने कई पुत्र उत्पन्न किये। उसके बड़े पुत्र का नाम प्रह्लाद था जो विष्णु का भक्त और बड़ा ही प्रकाशमान था। प्रह्लाद को पाकर हिरण्यकशिपु ऐसा शोभायमान हुआ जैसे सुन्दर लताओं को पाकर वसन्त ऋतु शोभायमान होती है। किन्तु उसका दैत्य स्वभाव न बदला और वह क्रमशः सब को तपाने लगा। उसका दुष्ट-क्रीड़ा से देवताओं को बड़ा कष्ट मिला। वे बहुत प्रयत्न करके भी दैत्यराज को रोक न सके। वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और सारे भूमण्डल में उसके आतङ्क से लोग त्राहि २ करने लगे। यज्ञ, जप आदिक शुभ कर्मों को उसने नष्ट कर दिया। वह कहता कि मेरे सिवा दूसरा ईश्वर कौन है, मैं ही सबका ईश्वर हूँ। सब लोग मेरी ही भक्ति करें। पुत्र प्रह्लाद को भी वह यही शिक्षा देता। किन्तु प्रह्लाद न मानता। विद्यालय में भेजा तो प्रह्लाद वहाँ भी अपने इष्टदेव विष्णु को ही स्मरण करता, और उसके इस ध्येय को देख हिरण्यकशिपु बड़ा दुखी रहता पर कोई वश नहीं, लाख समझाने पर भी प्रह्लाद नहीं मानता। तब एक दिन हिरण्यकशिपु ने तलवार हाथ में लेकर प्रह्लाद से पूछा—तू जिस ईश्वर को भजता है, वह कहाँ है प्रह्लाद ने कहा—मेरा ईश्वर सर्वत्र और सर्व में व्यापक है। हिरण्यकशिपु ने कहा—क्या

प्रतीत होता है, सब तुममें वैसे ही पिरोया हुआ है कि जैसे सूत में मोती के दाने पिरोये होते । अतः तुम जन्म आदि से परे सर्व रोगों के नाश-कर्त्ता, नित्य, शुद्ध, उदित बोध-स्वरूप और भ्रम आदि से परे हो। हे रामजी ! तुम्हीं कैवल्यरूप और जगत के नाथ तथा सर्व के प्रकाश-स्वरूप हो। यह सारा जगत तुम्हारे ही प्रकाश से प्रकाशमान है। तुम में सुख दुःख की कल्पना कुछ नहीं है। तुम सबके प्रकाशक और शुद्ध सर्वात्मा हो। अतः सर्व अनिष्टों को त्याग कर तुम अपने स्वरूप में स्थित होवो। इस सत्यता को धारण करने से फिर जन्म मरण नहीं होता। मन का क्या कहा जाय। यह तो वह मतवाला हस्ती है, जो हर समय विषयों के लिये ही उन्मत्त बना रहता है। जब इसको बारम्बार वैराग्य रूपी अंकुश दिया जाता है। तब यह वश में रहता है। हे रामजी ! तुम मूढ़ मत बनो। मूर्खों की बात क्या है ? उनकी बुद्धि नष्ट हो गई है, वे अविद्यारूपी धूर्त के हाथ बिक चुके हैं, पर तुम उनके समान न होना। यह जगत रञ्चमात्र भी नहीं है मूढ़तासे ही प्रतीत होता है। किन्तु मूर्खता परम दुःखका रूप है, इससे बढ़कर दुःख कोई नहीं। इसके रहते आत्म-विचार नहीं होता। यह आत्म-विचार का परम शत्रु है। आत्म विचार के लिये तो अभ्यास और वैराग्य ही आवश्यक हैं। बिना विषयों से वैराग्य हुये आत्म-साक्षात्कार नहीं होता। पुरुषार्थ से ही आत्मदेव प्रसन्न होते हैं। पुरुषार्थ ही बुद्धि को निर्मल करता है। अतः समस्त सङ्कल्पों को त्यागकर तुम वचनों को ग्रहण करो। इससे तुम्हारा संसार--कौतुकरूपी कुहिरा नष्ट हो जायगा और तुम सर्वदा के लिये शान्तरूप हो जाओगे।

श्रीयोगवशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का बीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २० ॥



दैत्य बढ़ते हैं, तब विष्णु आकर उन्हें नाश कर देते हैं। यद्यपि दैत्योंकी उपज इतनी अधिक है तो भी उनको नष्ट होते देर नहीं लगती। भीतर बाहर से हमको बड़ा कष्ट है देखिए न, जिन देवताओं को हमारे पिता ने चूर्ण कर दिया था, अब उनका बल हमसे भी अधिक हो गया है। हमारी जो स्त्रियाँ देवताओं का शिरमौर रहती थीं, वही अब उनके वशमें हैं। जैसे मृगको व्याध हर ले जाता है, वैसेही वे हमारी स्त्रियों को हर ले गये हैं देवताओं ने हमारा धन जन सब कुछ नष्ट कर दिया है। जैसे जल बिना कमल मुर्झा जाता है, वैसे ही हम भी अपने बान्धवों के विना कुम्हिला गये हैं। हमारे जिन घरोंमें रत्न जड़े थे, वहाँ अब धूल उड़ रही है। हमारे जिन घरोंमें कल्प-वृक्ष लगे थे, उन्हें देवताओं ने उखाड़ कर नन्दन बनमें ले जाकर लगा दिया है। देवताओं को यह सारी सहायता विष्णुजी से मिली है। हमारे घर और हमारी वाटिका को नृसिंहजी ने जला दिया है। जहाँ कभी देवताओं की स्त्रियां दैत्यों का मुख जोहती थीं, वहाँ अब दैत्यों की स्त्रियाँ ही देवताओं की स्त्रियों का चौर करती हैं। अब देवतागण दैत्यों की स्त्रियों से हास विलास करते हैं। जहाँ सुमेरु और मन्दराचल पर्वत पर कल्पवृक्ष और नन्दन वन शोभायमान था, वहाँ अब धूल उड़ रही है। शोक, यह महान् कष्ट दैत्यों पर आ गया है। घोर आपदा है। इसलिये हे भाइयो! अब हम को सिवा विष्णु की शरण में जाने के और कोई उपाय सूझ नहीं पड़ता। भला, वह विष्णु कैसा है कि जिसकी दो भुजा रूपी वृक्षों की छाया में देवताओं को विश्राम मिलता है। मेरे विचार से तो विष्णु की शरणमें जायगा वह कभी दुखी न होवेगा। देखो न, जो देवाङ्गनायें कभी असुरों की स्त्रियों का पूजन करती थीं वे अब अपने को पुजाने लगी हैं और हम दैत्यों की स्त्रियों के मुख कुम्हिला गये हैं। जैसे ओलों के पड़ने से कमल सूख जाते हैं, वैसे ही हमारे मंडप टूट गये हैं। हमारे महल में जो नीलमणि के खम्भे लगे थे वे छिन्न

इस खम्भे में भी है? यदि है तो दिखा। न दिखावेगा तो आज इसी तलवार से तेरा शिर काट लूँगा। प्रह्लाद ने कहा--हां, इस खम्भे में भी है। प्रह्लाद के-हां, कहते ही सर्व-व्यापक विष्णु उस खम्भे में भी भासने लगे और बड़े शब्द होने लगे। फिर तो उसी क्षण उस खम्भे को फोड़कर विशाल भुजा और तीक्ष्ण नखों युक्त महा भयानक रूप से भगवान् विष्णु ने अपना नृसिंह रूप प्रगट कर हिरण्यकशिपु का हृदय अपने नखों से विदीर्ण कर दिया और उन्होंने ऐसा रूप धारण किया कि दैत्यों के स्थान जलने लगे। कितने ही पर्वत चूर्ण-विचूर्ण हो गये। दैत्यों के कितने ही समूह मारे गये, कितने ही भयभीत हो दिशा विदिशाओं को भाग गये और कितने ही पाताल-छिद्र में नाश होगये। नृसिंह की माया से मानों प्रलयकाल उपस्थित हो गया और सभी स्थान शून्य हो गये। इस प्रकार दैत्यों को नाश कर विष्णुदेव अन्तर्ध्यान हो गये। तब जो बचे बचाये दैत्य वहाँ रह गये थे वे कुम्हिलाये हुए हाथ जोड़े प्रह्लाद के पास आये और उसे समझाने लगे। पश्चात् सब से मिलकर प्रह्लाद ने पिता का शोक किया और पुनः जो कुछ उसके सम्बन्ध में शास्त्रोचित कर्म था, किया। दैत्यराज की अनुपस्थिति में दैत्य महादुखी और शोकान्वित हो गये।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम-प्रकरण का इक्कीसवां सर्गसमाप्त ॥ २१ ॥

-※:※-

बाईसवां सर्ग

प्रह्लाद-विज्ञान-वर्णन

हे रामजी! हिरण्यकशिपु के मारे जाने से दैत्यों में शोक की काली घटा छा गई। समस्त दैत्य दुखी हो गये। तब प्रह्लाद ने दैत्यों से मिलकर कहा--अब अपनी रक्षाके लिये क्या उपाय कीजियेगा। दैत्यों के नाशकर्ता भगवान् विष्णु बड़े बली है। इनके नख खड्ग की धार से तीक्ष्ण हैं। उनकी मार के आगे दैत्य नहीं ठहरते। जब

मैंने ही क्षीर समुद्र का मथन किया था और मैंने ही अमृत, चन्दन लक्ष्मी और विष को समुद्र से निकाला है। मेरे ही पार्षदों में सब प्रकार की माया विद्यमान है, और वही इस अनन्त जगज्जाल की क्रियाओं को लय और प्रलय करता है। मेरे ही पार्षदों ने अपनी लीलावश इस त्रिलोकी को वश में कर रखा है। जैसे कल्पवृक्ष-लता सर्वदा ही फूलती और फलती है, वैसे ही मेरे पार्षद सदैव फूलते और फलते हैं। शीत, उष्ण मेरे दो नेत्र हैं जो जगतको प्रकाशते हैं उनका ही नाम सूर्य और चन्द्रमा है! देखो, मेरा भी शरीर नील कमल के समान महासुन्दर और श्याममेघ के समान महा प्रकाश रूप है। मेरे ही हाथ है पाञ्चजन्य शंख है कि जिससे स्फुरण रूप ध्वनि से समुद्र प्रकट हुआ है। मेरी यही नाभि कमल है कि जिससे ब्रह्मा उत्पन्न हुए और इसी में सर्वदा निवास करते हैं। मेरे साथ में यह गदा है जो रत्नों की बनी है और जिससे दैत्यों का नाश होता रहता है। मेरे ही हाथ में वह सुदर्शन चक्र है कि जो समस्त जगत को प्रकाश देता और साधुओं को सुख पहुँचाता है। मेरे ही हाथों में अग्नि समूह का वह कुठार है कि जो दैत्यों का नाश करता है। मेरे ही हाथों में वह शार्ङ्ग धनुष है कि जिसकी ध्वनि महा प्रकाश युक्त है। यह मेरा पीताम्बर है और यह मेरी वैजयन्ती माला है। इस प्रकार मैं विष्णु हूँ, और इस समस्त जगत को धारण करने वाला भी मैं ही हूँ पृथ्वी मेरा ही चरण है तथा आकाश ही मेरा शीश है और तीनों लोक मेरा ही शरीर हैं। इसमें दिशायें ही मेरा वक्षस्थल है और मैं ही साक्षात् विष्णु रूप हूँ। मुझे ही देखकर दुष्ट चित्त वाले भागते हैं और सन्तजन सुखी होते हैं। इस प्रकार मैं विष्णु हूँ, ईश्वर हूँ और मुझे ही इन्द्र और यम आदिक समस्त देवता नमस्कार करते हैं। उसी मेरे ऐसे स्वरूप को मेरा नमस्कार है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरणका बाईसवां सर्ग समाप्त ॥ २२ ॥

-:-❀-:-

भिन्न हो इधर उधर गिर पड़े हैं। मुझे स्मरण आता है कि जब कभी दैत्य सेना आपदा के समुद्र में डूबने लगती थी तब हमारे समर्थ पितादिक उसे डूबने न देते थे और बचा लेते थे, वे बड़े समर्थ थे। परन्तु अब वही सेना विष्णुजी की मार से चूर्णित हो रही है। जैसे बालक को वानर मारें अब वैसे ही इन्द्रादिक देवता हमारी दैत्य सेना को मारते हैं। इससे ज्ञात होता है कि उस पुण्डरीकाक्ष भगवान् विष्णु को जीतना कठिन है। वे महा पराक्रमी हैं। वे शास्त्र रहित होवें, तौ भी उन्हें कोई शास्त्र छेद नहीं सकता। उनको युद्ध का बड़ा अभ्यास है। वे पर्वतों के साथ भी युद्ध करते हैं। हमारे जो पिता बड़े बली थे और जिन्होंने त्रिलोकी के राजा इन्द्र को वश में कर लिया था, जब विष्णु ने उन्हें भी मार डाला, तब उनके लिए हमारा मारना क्या कठिन है। वह बड़े बली हैं, हम उनको नहीं जीत सकते। अस्तु, उनको वश करने का यही एक उपाय है कि हम सब उनकी शरण में होवें। इससे अतिरिक्त हमारी और कोई गति नहीं। वही इस जगत की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय कर्त्ता तथा वही देवता हैं। हे भाइयों! उन्हीं के ध्यान में लगो। उनके ध्यान से एक पल भी न उतरो। मैं स्वयम् उन्हीं के ध्यान में लगा रहता हूँ। वे सर्वके सर्व प्रकार नारायण और अजन्मा हैं मैं स्वयम् उन्हीं की शरण रहता हूँ। उनका यह 'ओं नमो नारायण' मन्त्र समस्त अर्थों का देने वाला और सिद्ध कर्ता है,। बस, इसी मन्त्र का जाप करो। इस जाप से तुम्हारे हृदय में स्फुरण होगा। क्योंकि वह विष्णु सर्व की आत्मा है और समस्त भूमण्डल उसीमें रमा हुआ है। आकाश पाताल सब उसीका है और वह सबका आत्मा है! वही सबको उत्तम फल देता है। मैं, तुम, यह सब विष्णु का रूप हैं। इससे मैं ही विष्णु रूप होकर गरुड़ पर सवार हूँ और मेरेही गले में सुवर्ण के भूषण पड़े हैं मेरे हाथ रूपी वृक्ष पर समस्त पक्षी विश्राम पाते हैं। देखो, यह मेरी चतुर्भुजा हैं, यह मेरे पार्षद हैं।

निश्चय ही आप उचित कहते हैं, किन्तु इसके लिये हम विवश हैं, आप लोग विष्णुजी के पास जाइए। यह माया उन्हीं ने फैलाई है। देवतागण विष्णुजी के पास पहुँचे। सारा दुःख कह सुनाया। विष्णुजी ने कहा--आप लोग चिन्ता न करें। प्रह्लाद मेरा भक्त है और यह उसका अन्तिम जन्म है। अब वह मोक्ष को प्राप्त होगा और फिर जन्म न पावेगा। हे देवताओ! इसमें आपको द्वेष न करना चाहिए। गुणज्ञ के गुणों की उपेक्षा करके उससे ईर्ष्या करना अनर्थ रूप है प्रह्लाद की यह विचित्र चेष्टा है। आप लोग अपने स्थान पर जायें। प्रह्लाद मेरा भक्त है। यह कहकर विष्णुजी समुद्र में चले गए। देवता भी उन्हें नमस्कार कर अपने २ स्थान पर चले आए और प्रह्लाद से द्वेष भाव त्याग दिया। उधर प्रह्लाद प्रति दिन अपने घर में जनार्दन विष्णु की मनसा, वाचा और कर्मणा से भक्ति करने लगे उनके योग से दैत्यों में महान् भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। फिर तो ऐसे ज्ञान का प्रसार हुआ कि समस्त दैत्य-वंश भोगसे वैराग्य वान् होगए। किसी को विषयों से प्रीति न रही। सब निरस और दृश्य भाव से उपशम हो विश्रान्त हुए। यह सब कुछ हुआ किन्तु उन्हें परम समाधि की अवस्था न प्राप्त हुई। चित्त स्थिर होकर भी चञ्चल हो जाता था। तब भक्त की यह अवस्था ठीक नहीं--ऐसा विचार कर विष्णुजी अपने शंख, चक्र, गदा और पद्म युक्त महा मोहनी रूप से प्रकट हो प्रह्लाद के पास पहुँचे। विष्णुजी को देख प्रह्लाद ने उनका सप्रेम पूजन किया और गद्गद् वाणी में कहा--हे सर्व-कलङ्क-नाशक भगवान्, हे नीलोत्पल श्याम शरीर युक्त पीताम्बर धारी, हे अच्युत, हे अशरण शरण दीनबन्धो! हैं आपकी शरण हूँ। हे निर्मल रूप केवल शरीर वाले ईश्वर! हे अच्युत! आपकी नाभि कमलसे ब्रह्माउत्पन्न हुए हैं। हे यमलोकरूपी कमलिनियोंके प्रकाशक रूप चन्द्रमा! हे मोहान्धकारको नाश करने वाले सूर्य! हे समस्त जगत के कष्टहर्ता! मैं आपकी शरण हूँ। हे दीनबन्धो! हे जनार्दन! हे

तेइसवाँ सर्ग

--::❀::--

विष्णु-दर्शन

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी जब इस प्रकार भक्त प्रह्लाद ने अपना नारायण रूप प्रकट कर ध्यान किया तो उसे वह अभूत पूर्व शान्ति और प्रकाश मिला कि जिससे समस्त दैत्य प्रभावित होगये। पश्चात् उसने (प्रह्लाद ने) विष्णु की पूजा का फिर प्रबन्ध किया और चन्दन, धूप, दीप तथा नाना प्रकार के भूषणों युक्त पिस्ता, खजूर, बादाम, अंगूर आदिक मेवों सहित भक्ष्य, भोज्य, चोष्य और लेह्य के जितने भी पदार्थ मिले सबको संग्रह कर अपने शरीरान्तर्गत उसी शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी गरुड़ासीन विष्णु का ध्यान कर सामग्रियों सहित मानसिक पूजन किया। इस प्रकार अपने को विष्णु रूप समझ अथवा हृदय में विष्णु के उसी रूप का ध्यान और पूजन कर उसने परम भक्ति का लाभ किया। इसी प्रकार वह प्रति दिन विष्णु का मानसिक पूजन और सन्त वैष्णवों का सत्कार करता था। उसकी इस पूजा को देख दैत्य चकित हो गये। प्रह्लादने कहा भाइयो! इसमें आश्चर्य क्या है। तुम लोग भी ऐसी ही पूजा करो। इसी से विष्णु भगवान् प्रसन्न होंगे और तुम्हारा कल्याण करेंगे। दैत्यों ने कहा-ठीक है। किन्तु हमें यह पूजा आती नहीं। प्रह्लाद ने सबको सिखा दिया, तब से समस्त दैत्य विष्णु भगवान् का मानसिक पूजन करने लगे। इस प्रकार समस्त दैत्य विष्णु के भक्त हो गये। उससे देवताओं को चिन्ता हुई। वे ब्रह्माजी के पास जाकर बोले-भगवान्! आप की सृष्टि में यह कैसी विचित्रता है कि, समस्त दैत्य विष्णु भक्त हो गये। अब हमें कौन पूछेगा। इस प्रकार तो जगत का महा अकल्याण होगा-इसका कोई प्रबन्ध कीजिये भक्त प्रह्लाद ने तो आप का विधान ही परिवर्तन कर दिया है। समस्त दैत्य कल्याण मूर्ति हो गये। ब्रह्माजी ने कहा--

यह कैसे होऊँ। यह शरीर तो महा क्षणभंगुर है और यह प्रतिक्षण काल के गाल में विलीन होता रहता है। इसमें जो शब्द श्रवणगोचर होता है, वह भी तो शून्य से उपजा है। फिर मैं त्वचा और इन्द्रिय भी तो नहीं हूँ। क्योंकि इसका क्षण २ में नाश-स्वभाव है और यह प्राप्त-अप्राप्त, इष्ट और अनिष्ट वाली इंद्रियां स्वयम् ही जड़ हैं। इसको जानने वाला चेतन है और उसी तत्व के प्रभाव वश ये विषय उपलब्ध होते हैं। इससे न मैं त्वचा इन्द्रिय हूँ और न स्पर्श करने वाला हूँ। यह चञ्चलरूपी तुच्छ जिह्वा भी एक इन्द्रिय है और उसके अग्रभाग में जलका एक अल्प अणु स्थित है जो रसको ग्रहण करता है और वह रस भी आत्मसत्ता से ही उपलब्ध होता है किन्तु वह स्वयम् जड़ है। अतः यह जड़रूप जिह्वा और रस मैं नहीं हूँ। मैं कोई और ही सत्ता हूँ। यह दृश्यरूप नेत्र भी मैं नहीं हूँ। क्योंकि यह नेत्र भी विनाशरूप हैं। इससे मैं इनका विषय रूप नहीं हूँ और ये सर्वथा ही जड़ हैं। फिर यह नासिका भी जड़रूप है क्योंकि यह पृथ्वी का अंश है और केवल आत्मा के आधार पर स्थित है। इससे यह स्वयं ही जड़ है और इसका जानने वाला चेतन है। अतः न मैं नासिक हूँ, न गन्ध हूँ। मैं अहं, मन से रहित मन के मनन से रहित शान्त रूप हूँ। यह त्वचेन्द्रियां भी मुझमें नहीं हैं। मैं शुद्ध चैतन्य रूप कलना कलङ्क और चित्त से रहित चिन्मात्र, सबका प्रकाश और सर्व के भीतर बाहर व्यापक, निःसङ्कल्प, निर्मल और शान्तरूप हूँ। हा, यह परम आश्चर्य है कि अब मुझको अपने स्वरूप का स्मरण हुआ है और अब मुझे ज्ञात हुआ है कि मैं ही सबका प्रकाश रूप चेतन, अनुभव और अद्वैत रूप हूँ। मैं ही सूर्य और चन्द्र को प्रकाश देता हूँ और इन घट और पटादिक समस्त पदार्थों को मैं ही प्रकाशता हूँ। जैसे दीपक से उत्तम तेज का प्रकाश होता है, वैसे ही चेतन अनुभव से इन्द्रियों की वृत्तियां स्फुरण रूप होती हैं। जैसे तेज से चिनगारियों

आरति हरण। हे ईश्वर। आप अपनी लीला से ही समस्त जगत का पालन पोषण और नाश करते हैं। सारा जगत आपमें ही विद्यमान है। हे प्रभो! मैं आपकी शरण हूँ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का तेईसवाँ सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

❀—❀—❀

चौबीसवां सर्ग

प्रह्लादोपदेश वर्णन

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! जब भक्त प्रह्लाद ने इस प्रकार के आठ श्लोकों में भगवान् विष्णु की प्रार्थना की तब विष्णु जी ने प्रह्लाद से कहा—हे दैत्यकुल के शिरोमणि, गुणों के समूह! तुम क्या चाहते हो, मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, वर माँगो। प्रह्लाद ने कहा—हे सर्व लोकों के व्यापकरूप, सर्व सङ्कल्पों के फलदाता! आप को पाकर मुझे किसी वस्तु की इच्छा नहीं है फिर भी जो वस्तु अप्राप्य हो वही मुझे दीजिये। विष्णुजी ने कहा—"हे वत्स! इस संसार में सबसे श्रेष्ठ शान्ति का प्राप्त होना है। जिसको शान्ति प्राप्त होगई है, जानो उसे सब कुछ प्राप्त हो गया। शान्ति ही सब भ्रमों को नाश करती है और वही ब्रह्ममय भी है। उसी से आत्म विवेक होता है और उसी से समता प्राप्त होती है।" हे राम जी! प्रह्लाद से ऐसा कहकर विष्णुजी अन्तर्ध्यान होगये। तब प्रह्लाद अपने आसन से उठे और पुष्पाञ्जलि दे और पूजा करके श्रेष्ठ आसन विछा पद्म आसन से जा बैठे। फिर विधि संयुक्त उत्तम शास्त्रों का पाठ करने लगे। जब पाठ समाप्त हुआ तब विचारने लगे कि मुझसे विष्णुजी ने क्या कहा है? उन्होंने यही कहा था कि तुझको ज्ञान होगा। सो अब मेरा कर्तव्य है कि मैं इस संसार सागर को पार करने के लिये शीघ्र ही विचार करूँ। यह संसार क्या है, मैं क्या हूँ। न तो मैं यह जगत हूँ, न देह हूँ। यह तो मिथ्या ही उत्पन्न हुआ है। जड़रूप पवन से स्फुरण रूप होता है। सो, मैं

सृष्टि संहार करने वाला तथा सर्व का पालन कर्ता मैं ही हूँ। मैं ही सबको कर्मानुसार फलका देने वाला और मैं ही सबका उत्पत्तिकर्ता और चेतन रूप हूँ। मैं ही इन्द्र होकर सबका पालन करता हूँ और मेरी ही लीला से यह संसार-चक्र चल रहा है। मुझमें ही सर्व कर्मों को अर्पण करने से शान्ति प्राप्त होती है। और मुझमें ही सब कुछ सन्निहित है। मुझसे पृथक कुछ नहीं है। मैं ही सत्तास्वरूप सर्व का आदर्श हूँ और यह समस्त पदार्थ मुझसे ही प्रतिबिम्बित होते हैं। पुष्पों में गन्ध, पत्रों में सौन्दर्य, पुरुषों में अनुभव और यह स्थावर जङ्गम रूप जगत जो दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सब कुछ मैं ही हूँ। मुझमें सङ्कल्प कोई नहीं, मैं परम-चैतन्य और अहं त्वं आदि सर्व से परे जलमें रसशक्ति, अग्नि में उष्णता और बरफ में शीतलता भी मैं ही हूँ। जैसे काष्ठ में ही अग्नि विद्यमान रहती है, वैसे ही सर्व पदार्थ में परमात्मा एवम् व्यापक रूप मे मैं स्थित हूँ। मैं ही सबको अपनी इच्छा से उत्पन्न करता हूँ और जैसे तिलों में तेल, दूध में घृत सूर्यमें प्रकाश और जलमें रसशक्ति विद्यमान रहती है, वैसेही मैं चेतन स्वरूप सर्व पदार्थों में स्थित हूँ। इस प्रकार यह समग्र त्रिलोकी मुझमें स्थित है और मैं ही सबका भरण पोषण एवम् सबका नाश करने वाला विराटरूप होकर स्थित हुआ हूँ। किन्तु महान आश्चर्य है कि मैं इतना विशाल और विस्तृत होते हुये भी अपने आप में नहीं समा रहा हूँ। परन्तु मैं अनन्त रूप आत्मा अपनी इच्छासे स्वयं ही प्रकाशता और उज्वलता से वैसा ही शोभता हूँ कि जैसे क्षीर समुद्र अपनी उज्वलता से शोभता है। मैं कोटि २ ब्रह्माण्डों में व्यापक हूँ और मैं ही अनन्तरूप हूँ, तब मैं हूँ, नहीं हूँ यह मेरी एक तुच्छ निर्बलता है क्योंकि मैं तो आदि अन्त से परे चेतन किन्तु आकाश रूप हूँ। इस मुझमें मैं, तू, यह, वह आदि २ कल्पनायें मिथ्या एवं भ्रमरूप हैं। यह शरीर क्या अपना और क्या पराया, मैं तो चैतन्य तत्व एवम् सर्व व्यापक हूँ। भला, मेरे वह पितामह कैसी तुच्छ बुद्धि के

का स्फुरण होता है, वैसे ही सर्वज्ञ अनुभव सत्ता से मन की मनन रूप शक्ति फुरती है। जैसे सूर्य की किरणों में मृग-तृष्णा का जल भासता है, वैसे ही अनुभव सत्ता से सर्व पदार्थ भासते हैं। जैसे दीपक में अनेक रङ्ग भासते हैं, वैसे ही इन पदार्थों में अहं आदिक पदार्थ भासते हैं। अतः वही समस्त पदार्थों का प्रकाशक है और वही सबको अनुभव से भासता है तथा वही सर्व के भीतर आत्म भाव से स्थिर रहता है। जैसे बीज में अंकुर स्थिर रहता है, वैसे ही चैतन्य-प्रकाश से विकल्प पदार्थों की शक्ति भासित होती है? सूर्य चन्द्रमा, पर्वत और जल आदिक सभी पदार्थ उस अनुभव सत्ता से ही प्रकट होते हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश से घट-पटादिक होते हैं, वैसे ही ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र ये सभी उस अनुभव सत्ता से ही जन्मते और उदय होते हैं। अतः ऐसे चित्त, चैत्य, दृश्य दर्शन-कलनासे रहित जो मेरा आत्मा है, उसको नमस्कार है। उसी से सर्वभूत उत्पन्न और स्थिर होकर फिर उसी में लीन हो जाते हैं। उस आत्मा से रहित सत्य भी असत्य है। वह चेतन संवित इतना गुणागार है कि उसमें जो कल्पना उठती है वही पदार्थ अपने स्वरूप को पाता है यह जो घट, पटादिक पदार्थों के समूह भासते हैं वे सभी उस विस्तृतरूप चिदाकाश दर्पण में प्रतिविम्बित हैं और वही अनुभव सत्ता सर्व भूत-प्राणियों का आदर्श है और वह सर्वरूप आत्मा मैं ही हूँ। मेरे ही सहस्रों नेत्र और हाथ हैं। मैं ही चिदाकाश रूप हूँ और सूर्य शरीर से मैं ही प्रकाश में विचरता हूँ। मैं ही वायु-वाहन पर आरूढ़ पवन रूप हूँ और मैं ही विष्णुरूप शंख, चक्र, गदा और पद्म का धारण करने वाला, समस्त मङ्गलों का द्रष्टा और सबका नाशकर्ता तथा समस्त दैत्यों को भगाने वाला भी मैं हूँ। मैं ही नाभि कमल से उत्पन्न हो ब्रह्मारूप हूँ और मैं ही निर्विकल्प समाधि में स्थित मनवृत्तिरूप को प्राप्त हुआ हूँ। मैं ही त्रिनेत्र युक्त महादेव रूप हूँ और गौरी मेरी अर्द्धाङ्गिनी हैं। मैं ही प्रलय के समय समस्त

महामूर्ख है। इसी कारण पण्डित और ज्ञानी जन परिछिन्नता से प्रेम नहीं करते। मूर्ख ही आत्मसुख का त्याग करते हैं। मेरे पिता मह आदिक बड़े ही मूर्ख थे जो इस अमृतरूप दृष्टि को त्याग कर राज्य-कण्टक में लगे हुये थे। कहाँ फूल और फलादिकों से युक्त नन्दन वन की भूमि और कहाँ इस जले हुए मरुस्थल की भूमि। इसी प्रकार कहाँ शान्तरूप ज्ञानदृष्टि और कहाँ यह भोगदृष्टि। भला इसकी कहीं समता हो सकती है? मेरे विचार से तो समग्र त्रिलोकीमें ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है कि जिसकी मुझे वांछा हो। क्योंकि सर्वमें चैतन्यस्वरूप, अनुभवकर्ता, निर्विकार, सर्वदा और सर्व ओर से सबमें मैं ही स्थित हूँ। यह जैसा है, वैसा ही पाया जाता है। ज्ञानियों को सब कुछ प्रत्यक्ष है। सूर्य में प्रकाश, चन्द्रमा में अमृत, अग्नि में दाहकता, जलमें द्रवता, मौन में महातप की सिद्धता, पर्वतोंमें स्थिरता वसन्त ऋतु में पुष्प, बरफ में शीतलता, ग्रीष्म में उष्णता, और देश, काल, क्रिया एवं नाना प्रकार के जो आकार विकार तीनों लोकों में भास रहे हैं-उन सबमें वही आत्मतत्व जो समपदार्थ ही है-व्याप रहा है। वही सर्व देशों एवम् सर्व पदार्थों का भण्डार और वही सबका आश्रय भूत है। उसी में त्रिकाल कल्पित है। तब उसमें जैसा अनुभव होता है तत्काल वैसा ही हो जाता है। उस चेतन तत्व में देश, काल और क्रिया एवम् द्रव्य का जब जैसा स्फुरण होता है तब वैसा ही हो जाता है। वही सूक्ष्म चेतन सत्ता सब पदार्थों का अधिष्ठान है और अनागत होकर जगत के रूप में भास रहा है। किन्तु यह नाना प्रकार की जो पदार्थ लक्ष्मी है वह अत्यन्त दुःखको देने वाली है। इससे उसकी ओर भूल कर भी नहीं देखना चाहिये। क्योंकि वह बन्धन रूप है। किन्तु जो त्रिकाल से रहित चेतनतत्व है उसके देखने से सङ्कल्पों का अभाव हो जाता है और केवल एक शुभ आत्मा ही शेष रहता है कि जिसे वाणी वश नहीं कर सकती और असत्य की नाईं निरन्तर स्थित है, प्राप्त हो जाता है। तब वही आत्मा ब्रह्ममय

थे जो ऐसे ऐश्वर्य को त्यागकर इस राज्य आदिक तुच्छ ऐश्वर्य में लग गये थे। भला यह सर्वका कर्ता ब्रह्म वपु फिर कहाँ प्राप्त होता है। किन्तु अब मुझमें उपशम स्वभाव और शुद्ध चेतन दृष्टि प्राप्त हुई है। ऐसा मुझको मेरा नमस्कार है। अब निश्चय ही मेरी जय हुई है और अब मैं इस अजीर्ण शीर्ण संसार से पृथक हुआ हूँ। इससे मेरी पूर्ण विजय हुई और निश्चय ही अब मैंने पाने योग्य आत्मपद को पाकर जीवन सार्थक किया है। किन्तु खेद है कि ऐसे उत्तम साम्राज्य को पाकर भी मनुष्य-प्राणी दुःखरूपी कार्यों में रमण करते हैं। हा, उनको धिक्कार है कि जो ऐसे अक्षय चक्रवर्ती सम्राट को पाकर भी काष्ठ, जल और मृतिका से युक्त राज्य पर मुग्ध होते हैं। वे निश्चय ही कीड़े के समान हैं। क्योंकि आज वे जिस राज्य के लिए शिर पीट रहे हैं, वह द्रव्य और ऐश्वर्य तो अविद्यारूप है। अविद्या से ही उसकी उत्पत्ति हुई है और अविद्या से ही वह बढ़ती है तब भला उसमें क्या गुण है, कुछ ज्ञात नहीं होता। किन्तु यह तो निश्चय ही है कि ऐसे व्यर्थ राज्यादिक से शान्ति नहीं मिलती। यदि शान्ति प्राप्त होती तो क्या कारण था कि जगतरूपी मढ़ी में कितने ही वर्षों तक हिरण्यकशिपु ने राज्य का सुख भोगा पर उपशम जैसे शान्ति-सुख को न प्राप्त हुआ। प्राप्त होता तो कैसे? उसने तो एक ही जगत का राज्य किया था। आत्मा-सुख के आगे तो सौ जगतों का भी सुख स्वाद रहित है। भला, कहीं ऐसे राज्य से भी सुख मिलता है? नहीं बिना उस आत्मानन्द से सुख का स्वाद नहीं मिलता। इन्द्रियों के सुख नहीं कहलाते। सच्चा सुख तो समता से प्राप्त होता है। जिसको यह सुख प्राप्त हो गया, जानों उसे समस्त सुखों का साथ हो गया। जिसने उस परम सुख को प्राप्त किया है, वह परम अमृत से सर्वदा सम्पन्न और अखण्डित है। उसके आनन्द का अन्त नहीं, उसे परम सुख प्राप्त हो गया। किन्तु जो अखण्ड पदको त्यागकर परिच्छिन्नता को प्राप्त हुआ है वह

प्रकाश है, अग्नि है वही उष्णता है तथा चन्द्रमा में शीतलता भी वही है। उठते, बैठते, चलते और समस्त व्यवहारों को करते हुये भी वही दृष्टि आता है। अतः यह सब कुछ मैं ही हूँ। मुझमें कुछ कोपायमान नहीं होता। मैं सबका कर्ता और शान्तरूप हूँ मैं ही त्रिकालों में समरूप और सर्वदा सर्व अवस्थाओं एवं सर्व पदार्थों को उत्पन्न करने एवं उन्हें नष्ट करने में सर्वदा स्वतः स्थित हूँ। ब्रह्मा से तृण पर्यन्त सारा जगत मेरे उसी आत्म-तत्व में स्थित है। वायु की स्पन्दता और निस्पन्दता में भी मैं ही विद्यमान हूँ। पर्वतों में अचल भाव और आकाश में शून्यता भी मैं ही हूँ। इन्द्रियाँ क्या हैं? इन्द्रियों को तो आत्मा ही चलाता है जैसे घोड़े को सवार चलाता है, वैसे इन्द्रियों को आत्मा ही फेरता है। मैं ही भोक्ता और मैं ही सर्व में शोभता हूँ। इस प्रकार इस जरा मरणरूपी संसार सागर को पार करने वाला केवल आत्मा है जो सबसे सुलभ और अपने आप से ही जाना जाता है। यह जीव को अपने बान्धव की नाईं ही प्राप्त होती है। जहाँ स्मरण किया नहीं कि यह आत्मदेव-उसी क्षण उसके निकट पहुँच जाता है, इसमें तनिक भी शंका नहीं है। यह सर्वदा निष्कलङ्क और परम सम्पदावान तथा सर्वदा स्वस्थरूप है। रसों में रस, पुष्पों में सुगन्ध और तिलों में तेल के समान ही वह सर्व पदार्थों में विद्यमान है। अविचार के वश होने से प्राणी उसे नहीं जानते। किन्तु विचार होने से वह झट पहचान लिया जाता है। जब विचार उदय होता है तब आत्मा परमेश्वर को जान लेता है और उस प्रियतम के पाने पर वैसा ही आनन्द उदय होता है जैसे कोई अपने अनन्य बान्धव को पाकर सुखी होवे। उस परमदेव परम बान्धवको पाजानेपर अन्य बान्धव नष्टहो जाते हैं। और इस प्रकार जितनी दुष्ट चेष्टायें हैं सब नष्ट हो जाती हैं। तब समस्त बंधन टूट जाते हैं अज्ञान नष्ट हो जाता है, आपदायें और कष्ट दूर हो जाते हैं और आत्मा के प्राप्त होने पर प्राणी आत्ममय हो जाता है।

हो जाता है अथवा तब वही सवरूप उपशम में लीन हो जाता है। किन्तु जो मलिन अन्तःकरण वाला है और जिसके हृदय में सङ्कल्प विकल्प उठा करते हैं उसे उस परम पुरुष का दर्शन नहीं होता। परन्तु जिसकी इच्छा नष्ट होगई है और जो परमपद का अभ्यास करता है उसको आत्मतत्व ही भासता है और जो जगत के पदार्थों की इच्छा करता है और जो ग्रहण एवं त्याग की फांसी में अपने को फँसाये रहता है, वह परम पद का भागी नहीं होता क्योंकि उसका चित्त सर्वदा ही सङ्कल्प कलना जाल से वेष्टित रहता है। उसे विषय रूपी गढ़े से निकलने की शक्ति नहीं रहती। तभी तो मेरे पितामह कई बार पृथ्वी में फुर २ कर लीन हो गये। वह बालकों के समान नीच थे और अज्ञानी थे। उन्हें परम तत्व का ज्ञान नहीं था। भोगों की इच्छा ही दुःखरूप है। उसे अज्ञानी ही अपनाते हैं। किन्तु जो ज्ञानी हैं, जिनको इस मृग तृष्णारूप जगत के पदार्थों में ग्रहण-त्याग की बुद्धि नहीं है, वे पुरुष जीवित हैं और शेष मृतकरूप हैं। कहाँ निर्मल और अविछिन्न रूप चेतन चन्द्रमावत शीतल आत्मदर्शन और कहाँ उष्ण काल कलङ्क युक्त इस क्रूर चित्त की अवस्था? मुझे ऐसा चित्त नहीं चाहिये। अतः मुझे मेरे आत्मदेव को नमस्कार है। हे चिदात्मदेव! मुझे तू ही परमानन्द रूप है। तूने ही इस विकल्प रूप समुद्र से मेरा उद्धार किया है। जो तू है, वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही तू है। अतः तुझको मेरा बारम्बार नमस्कार है।

श्रीयोगवशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का चौबीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २४ ॥

पच्चीसवाँ सर्ग

प्रह्लाद का आत्म-लाभ-चिन्तन

प्रह्लाद बोले—जिसका नाम 'ॐ' है वह विकारों से रहित ब्रह्म में हूँ। यह सारा जगत मेरा ही आत्मस्वरूप है। वही सत्य, असत्य से परे चेतनस्वरूप और जीवों में विद्यमान है। सूर्यादिक में वही

इच्छा नहीं है। मैं एक रस चिदानन्दस्वरूप हूँ। अब मुझे कोई बासना नहीं फुरती। अब तक मुझे भले ही अज्ञान ने कष्ट दिया है किन्तु अब मैंने अपने आप को जाना है और अब मैं इसको चूर्ण विचूर्ण किये देता हूँ। अब तक जो इस शरीररूपी वृक्षमें अहङ्काररूपी पिशाच था, उसे मैंने परम बोध रूपी मन्त्र से दूर किया है, इससे अब मैं पवित्र हुआ हूँ। अब मेरा मोह शान्त हुआ है और अब मेरे सर्व दुःख नष्ट होगये हैं। अब मुझे विवेकरूपी धन प्राप्त हुआ है। अब मैं परम ईश्वररूप होकर स्थित हुआ हूँ। मुझे जो जानना था, वह जान गया। जो देखना था, देख लिया। इस प्रकार अब मैं उस पद को प्राप्त हुआ हूँ कि जिसके पाने से कुछ पाना शेष नहीं रहता। अब मुझे आत्म--तत्व मिल गया है। अब मैंने उस परमात्मदेव को पा लिया है कि जिसका रूप सर्व ओर व्याप्त है। अब मैंने उस दुष्ट अहङ्कार को त्याग दिया है कि जिससे वे आत्म भगवान सनातन ब्रह्म सर्वथा ही दूर रहते हैं। हा, इस अहङ्कार के कारण मुझे क्या नहीं करना पड़ा। इसने मुझे इन्द्रियरूपी गढ़े में गिराया था, रागद्वेष रूपी सर्प से कटाया, करंजुये के कुञ्जों में भ्रमाया, कामरूपी कोयल के शब्दों को सुनकर जन्मरूपी कूप गिराया और इस प्रकार दुःखरूपी दावाग्नि में जलाकर आशारूपी फाँसी में बाँध कर क्या नहीं कराया। हा, मैं इसके हाथों पड़कर अनेक जन्मों को भ्रमता ही रहा और अंत में विष्णु भगवान की दया ने ही मेरा उद्धार किया। सो हे देव! हे ईश्वर! तुम्हारे ज्ञान से अब मेरा अहङ्कार नष्ट हुआ है। हे प्रभो! अब मैं उस दुष्ट को नहीं देखना चाहता। हे विभो! अब तुम्हारे दर्शन से मेरा अहं भाव नष्ट हुआ है। अब मैं परम स्वस्थ हूँ। अब मुझे सम और शान्त ज्ञान में जागृति प्राप्त हुई है। अन्यथा अब तक मुझे चोरों ने घेर रखा था। सो आप की कृपा से अब उनसे छूटा हूँ। अब मेरी आशारूपी तृष्णा शान्त हो गई है और अब निश्चय ही मेरा

फिर तो वह विस्तृत रूप आत्मा ही दीपक के समान साक्षीभूत होता हैं। तब जगत की स्थिति में भोगों से राग उठ जाता है और सर्व ओर से आत्मतत्व ही प्रकाशता है। तब ऐसा ही ज्ञान होता है कि जैसे मिर्च में तीक्ष्णता स्थित है, वैसा ही मैं जगत के सर्व पदार्थों में भीतर बाहर स्थित हूँ। तब ज्ञान होता है कि आकाश में शून्यता वायु में स्पन्दता, जल में रस, पृथ्वी में कठोरता, चन्द्रमा में शीतलता और इस प्रकार जगत के सर्व पदार्थों में ईश्वर रूप मैं ही स्थित हूँ। अथवा सब आत्मतत्व ही व्याप रहा है। जैसे काल सर्वगत है, आकाश सर्वत्र व्याप्त है, वैसे ही आत्मा सर्व व्यापक है। जैसे राजा का प्रभुत्व सर्व पर व्याप्त है वैसे ही मुझसे भिन्न और कोई कल्पना नहीं है जैसे कमल पत्र पर जल नहीं ठहर सकता, आकाश को कोई स्पर्श नहीं कर सकता, वैसे मेरा किसी से स्पर्श नहीं है। सुख-दुःख का सम्बन्ध तो देह को होता है। देह चाहे चिरकाल पर्यन्त बनी रहे अथवा इसी क्षण नष्ट हो जावे, मेरा उससे कुछ हानि और लाभ नहीं है। जैसे दीपक का प्रकाश किसी रस्सी से बांधा नहीं जा सकता है वैसे ही आत्मा किसीसे बन्धायमान नहीं होता। वह सबसे अबन्धरूप है। जैसे आकाश को कोई बांध नहीं सकता वैसे ही आत्मा अबन्ध है। शरीर के खण्ड २ हो जाने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता शरीर के नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता। शरीर के नाश होने पर प्राण निकल जाता है, मन नष्ट हो जाता है। परन्तु उससे हमारा क्या बिगड़ता है मन तो दुःख सुख को उत्पन्न करने वाला है। उसका जाना ही अच्छा है। इन्द्रियों के अज्ञान से ही मूर्ख दुःख पाते हैं। आत्मा के अज्ञान से ही मूढ़ दुःखी होते हैं। किन्तु अब मैंने आत्मतत्व को देख लिया है, अब मेरा भ्रम शान्त हो गया है और अब इस प्रकार मुझको कुछ भी क्षोभ नहीं है। अब न तो मुझे भोगों के ग्रहण की इच्छा है और न त्याग की चाहे कोई रहे या जावे, मुझे इस शरीर के सुख दुःख की तनिक भी

को बड़े लूटने मारने और खाने चबाने लगे। सारी मर्यादा नष्ट होगई। जिसे जो मिला वह वहीं जा बैठा। चारों ओर हाहाकार मच गई। अनेक उपद्रव हुए। दैत्यवंश निर्लंदमी और उजाड़ हो गया। चारों ओर अनीति और अकाण्ड उपद्रव होने लगे। किन्तु प्रह्लाद की दशा परम शोभा को प्राप्त हुई। वह परमानन्द आत्माको प्राप्त हो गया। उसकी सारी कल्पनायें शान्त होगई, केवल प्रकाश मात्र शेष रहा।

उधर तो यह अवस्था रही, इधर दैत्यवंश के नष्ट भ्रष्ट होने से विष्णु भगवान को बड़ी चिन्ता हुई। वे चातुर्मास वर्षा काल से जागृत होकर सोचने लगे कि दैत्य वंश के न रहने से अब समस्त देवता निर्भय होकर परमपद मोक्ष के भागी हो जायेंगे तो सृष्टि का कार्यक्रम कैसे चलेगा, अतः वह युक्ति करनी चाहिये कि जिससे दैत्य कुल का नाश न होवे। यह विचार कर वे पाताल लोक में जाकर प्रह्लाद से मिले और बोले--देखो, वत्स ? यह तुम्हारा अन्त का जन्म है और इसके पश्चात् तुम मोक्ष को प्राप्त हो जाओगे, परन्तु जब तक तुम्हारा यह शरीर विद्यमान है तब तक तुम मेरा यह आदेश पालन करो कि सृष्टि रचा के लिये अब तुम फिर से राज्य-शासन को अपनाओ शरीर रहते हुये भी जीवन्मुक्त प्राणियों को राज्य करना चाहिये। अन्यथा तुम्हारे इस त्याग से सृष्टि का विधान व्यर्थ हो जायगा और हमारा सारा प्रयत्न निष्फल होगा। यद्यपि सृष्टि का होना न होना मेरे लिये कुछ नहीं है, तथापि जो नीति जैसी है, वह वैसी ही स्थित रहे-यह मैं अवश्य चाहता हूँ। क्योंकि जो वस्तु भाव में समान होवे उसका नाश करना दुर्बुद्धि है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा—उपशम—प्रकरण का छब्बीसवां सर्ग समाप्त ॥ २६ ॥



हृदय शीतल होगया है। अब मुझे मोह नहीं है। कोई दुःख भी नहीं है। अब मेरे लिये स्वर्ग और नरक दोनों ही बराबर हैं। बन्ध और मोक्ष भी कोई नहीं है। ये सब तो अहङ्कार के कारण ही भास रहे थे। परन्तु अब इनका सर्वथा ही अभाव हो गया। सो हे आत्मदेव! तुमको नमस्कार है। क्योंकि तुम्हें प्राप्त करने पर ही मेरा अहङ्कार मेघ दूर हुआ है। इससे तुमको मेरा बारम्बार नमस्कार है। हा, तुमको पाने पर ही मेरा मन शान्त हुआ है और निश्चय ही अब मेरी विजय है। तुम्हारी कृपा से ही अथवा पुरुषार्थ द्वारा तुमको पाकर ही अब मैं निर्भय, निरहङ्कार, निष्पद और शुद्ध हुआ हूँ। अब निश्चय ही मेरा शरीर जीव के सदृश स्थित हुआ है। और लीला करके मनने अहङ्कार पर विजय पायी है। हा, अब तक घोर कष्ट पाने के पश्चात् ही अब मैं निर्भय होकर स्वस्वरूप को प्राप्त हुआ हूँ। सो सत्य ही है कि प्रभुता के समूह के समक्ष अज्ञान नहीं ठहरता।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम-प्रकरण का पचीसवां सर्गसमाप्त॥ २५॥

-*:*-

छब्बीसवां सर्ग

विष्णु-आदेश

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रकार आत्म चिन्तन करते हुये परम-भक्त-प्रह्लाद उस अचल समाधि में स्थित हो गया कि जो समाधि सर्व विकारों से निरानन्द तथा पाषाणवत् है। उसकी इस दशा से दैत्यों में घोर निराशा फैल गई। यत्र-तत्र उपद्रव होने लगे। तब कुछ विचारक दैत्यों ने प्रह्लाद को अनेक प्रकार से जगाने की चेष्टा की। परन्तु जैसे बिना बीज के अंकुर नहीं निकलता वैसे ही उनका श्रम व्यर्थ हुआ और प्रह्लाद ज्यों का त्यों पाँच हजार वर्ष तक उसी अवस्था में पाषाण मूर्ति के समान बैठा ही रह गया। अचल समाधि के कारण शरीर भी वैसा पुष्ट बना रहा। परन्तु दैत्यों की विपर्यय दशा हो गई। छोटों

करता हूँ, वह आत्मा से करता हूँ। वशिष्ठजी ने कहा--हे राम जी! इस प्रकार प्रह्लाद ने कहकर-क्षीरशायी विष्णु भगवान की श्रेष्ठ सुमेरु की मणि से पूजा की और फिर शंख, चक्र, गदा, पद्म आदिक शस्त्रों का पूजन कर उनके वाहन गरुड़ की पूजा की और फिर देवता और विद्याधरों का पूजन किया, तब कमलापति बोले-हे दैत्येन्द्र! अब तू यहाँ से उठकर अपने राज्य सिंहासन पर बैठ, मैं तुझको अपने हाथ से राज्याभिषेक करके पाञ्चजन्य शंख बजाता हूँ कि जिसका शब्द सुनकर सब सिद्ध और देवता आकर तेरा यशोगान करेंगे। फिर तो वैसा ही हुआ। प्रह्लाद अपने पिता के राज्य सिंहासन पर जा बैठा और भगवान विष्णु ने गङ्गादिक तीर्थों का जल मँगवाकर उसे राजतिलक कर अपना पाञ्चजन्य शंख बजाया कि जिसके शब्द को सुनते ही सब सिद्धगण, ऋषि ब्राह्मण, विद्याधर, देवताओं मुनियों के समूह एकत्रित होकर प्रह्लाद की स्तुति करने लगे। तब मधुसूदन भगवान विष्णु बोले-हे निष्पाप! जब तक यह सुमेरु को धारण करने वाली पृथ्वी और सूर्य चन्द्रमा का मण्डल स्थित है तब तक तू इष्ट अनिष्ट में सम बुद्धि रख वीतराग रह, भय और क्रोध से रहित होकर इस राज्य का उपभोग करते हुये प्रजा का पालन कर। तुमको ज्ञानकी पूर्ण भूमिका प्राप्त हो चुकी है तू उसमें स्थित रह कर जैसे कुछ प्राप्त हो वैसे ही हर्ष, शोक और भय से रहित होकर निर्भय विचर, अब तेरे लिये हेयोपादेय कुछ नहीं है। अब मुझे किसी प्रकार का बन्धन नहीं है। क्योंकि तूने संसार की सर्व स्थितियों को जान लिया है। इससे अब मैं तुझे अधिक क्या उपदेश करूँ। अब तू राग-द्वेष से रहित होकर राज्यका उपभोगकर। अबसे तेरे दैत्योंका रक्त पृथ्वी पर न पड़ेगा अब देवताओं का उनसे विरोध न होगा। अब आजसे देवता और दैत्य मिल गये। अब उनका भय जाता रहा और अब सारा जगत स्वस्थ रहेगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का सत्ताइसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २७ ॥

सत्ताईसवां सर्ग

प्रह्लाद का राज्याभिषेक

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! भगवान् विष्णु के ऐसा कहते ही प्रह्लाद ने नेत्र खोलकर देखा तो उसे प्रतीत हुआ कि मेरा परम कल्याण हुआ है । अपना आप स्वरूप ही अनन्त आत्मा और परमेश्वर है । उसमें किसी प्रकार का सङ्कल्प नहीं, वह सर्वदा सर्व-काल में आकाशवत् निर्मल है । तब मुझको शोक क्या, मोह क्या ? वैराग्य भी क्या है ? भला उस आत्मदेव के रहते शोक मोह और इस देह रूपी संसार की नश्वरता कहाँ । यह संसार न तो कहीं स्थित है, न इसमें भय है, न अभय । मैं यथेस्थित सर्वदा अपने आप में स्थित हूँ । मेरी निर्मलता तो ऐसी है कि मैं स्वयम् ही संसार बन्धन को त्यागकर सर्व से विरक्त हुआ हूँ । तब मुझे हर्ष शोक चिन्ता, और विकार क्या ? यह सब तो अज्ञानियों को होना है । ऐसी दुःख रूप चिन्ता उन्हें ही शोभा देती है, उन्हें ही विचलित करती है । किन्तु ऐसी निकृष्ट चिन्ता पण्डितों को नहीं होती । 'मैं, तुम' की वासना तो अज्ञानियों की है, शुद्धि-बुद्धि के निकट नहीं । यह ग्रहण करने योग्य है, यह त्यागनीय है, यह ऐसी है, यह अमुक की है इत्यादि वासनायें मिथ्या चित्त का भ्रम हैं और ऐसा भ्रम उन्मत्त अज्ञानी के हृदय में होता है, ज्ञानी के नहीं । हे राम जी ! सब कुछ तुम्हीं हो । तुम्हारा ही यह सारा विस्तार है । तुममें ग्रहण त्याग और भाव की कल्पना नहीं है । यह सारा जगत तुम्हारे उस विज्ञान रूप सत्ता की ही माया मात्र है । तब भला इस सत्य-असत्य रूप जगत में ग्रहण और त्याग किसका कीजिये । केवल अपने स्वभाव से ही द्रष्टा और दृश्य का विचार कर लेना चाहिये । फिर तो इस भावाभाव जगत से मुक्त हुआ ही समझो । ऐसे ही विचारों से मुझे आत्मतत्व का भान हुआ है और मैं समभाव को प्राप्त हुआ हूँ । अब मुझको संशय कुछ नहीं रहा । अब जो कुछ

को प्राप्त करती है। परन्तु ज्ञानी की वासना भुने हुये बीज के समान है और वह जन्मरूपी अंकुर से पृथक है। उसकी आत्मा जीवन धारण करने से मुक्त है और उसके हृदय में शुद्ध वासना होती है। वह सर्वदा ही पावनरूप परम उदारता को प्राप्त रहता है और सत्तामात्र आत्मध्यान में नित्य लगा रहता है। परन्तु संसार की ओर से सुषुप्ति की नाईं सर्वदा ही शान्तरूप है। चाहे हजारों वर्ष बीत जावें पर शुद्ध वासना का बीज हृदय में होने से उस पुरुष को समाधि से जागना पड़ता है और वह जीवन्मुक्त ही रहता है। इसी प्रकार प्रह्लाद के हृदय में जो शुद्ध वासना थी, उसे विष्णुजी ने पांच-जन्य शंख से जगाया। विष्णुजी सर्व-भूत-प्राणियों के आत्मा हैं, जिसकी जैसी इच्छा फुरती है, उसके लिये तत्काल ही वैसा कर देते हैं। वे सर्वज्ञ और सबके कारण हैं। जब विष्णुजी ने चितनाकी तब वह जागा। विष्णुजी अकारण हैं, उनका कोई कारण नहीं और वही सर्वभूत के कारण हैं। सृष्टि की स्थिति के निमित्त ही उस आत्मा-पुरुष ने विष्णुवपु धारण किया है। आत्माके देखने से ही विष्णुजी का दर्शन होता है और विष्णुजी की आराधना से शीघ्र ही आत्मा का दर्शन होजाता है। अस्तु आत्म दर्शन के लिये तुम इसी दृष्टि का आश्रय करो। हे रामजी! तुम विराट रूप हो, इसी दृष्टि से तुम्हें शीघ्र ही आत्मपदकी प्राप्ति होगी। इस संसार का क्या है? यह तो वर्षाकाल की नदी के समान असार और मेघवत् है, अविचार के कारण ही जड़वत दिखाई पड़ रहा है, सो विष्णुरूप आत्मा की प्रसन्नता से बुद्धि उज्वल हो जाती है और फिर इस संसार की भार स्वरूप माया उसे नहीं बेधती।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम—प्रकरण का अट्ठाइसवां सर्ग समाप्त ॥ २८ ॥

—:-:-:—

अट्ठाईसवाँ सर्ग

-:❀:-

प्रह्लाद-व्यवस्था

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! ऐसा कहकर पुण्डरीकाक्ष भगवान विष्णु अपने कुटुम्ब सहित ऐसे चले मानों संसार की दूसरी रचना दैत्य-मन्दिर से चली हो। तत्पश्चात् प्रह्लाद ने उनको अर्घ्य दिया और क्रमशः विष्णुजी अपने विश्राम सागर में पहुँचे। फिर वे देवताओं को विदा कर स्वयं शेषनागकी शैया पर वैसे ही जा विराजे जैसे श्वेत कमल पर मधुकर स्वस्थ होकर बैठा हो। हे माधव! यह दृष्टि अज्ञान के समस्त मलों का नाश कर देती है। प्रह्लाद को ज्ञान प्राप्त होने की जो अवस्था मैंने तुम से कही है वह चन्द्रमण्डल के समान शीतल है। यदि कोई मनुष्य कैसा भी पापी हो और इसको विचारे तो वह शीघ्रही परमपदको प्राप्त हो जायगा और जो पाप रहित है उसकी तो बातही क्या है वह केवल सम्यक विचार मात्रसे ही परमपदका भागी हो जायगा। भला ऐसा कौन है जो इस दृष्टिको विचारने एवं धारण करने से मोक्ष को प्राप्त होगा। हे रामजी! इसके विचार करने से अज्ञान रूप पाप अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं। इससे विचार का त्याग कदापि न करो। रामजी ने पूछा-हे भगवान्! प्रह्लाद का मन तो पहले ही परमपद में लग गया था। फिर विष्णु भगवान् ने उसे पाञ्चजन्य शंख से कैसे और क्योंकर जगाया। वशिष्ठजी ने उत्तर दिया-हे रामजी! जगत में दो प्रकार की मुक्ति कही हैं। एक सदेह दूसरी विदेह। सदेह मुक्ति वह कि जिस पुरुष की बुद्धि देहादि से असंशक्त है और उसे ग्रहण, त्याग की इच्छा नहीं रहती, और उसकी सारी चेष्टायें अहङ्कार रहित होती हैं। दूसरी विदेह--मुक्ति वह है कि जिसके देहादिक सब नष्ट हो जावें और फिर जन्म न लेवे। विदेह-मुक्ति पुरुष अदृश्यरूप है। किन्तु अज्ञानी की वासना कच्चे बीज के समान है कि जो समय पाकर फिर जन्मरूपी अंकुर

तो अज्ञानी, अविचारी ऊँट और वृषभ आदिक पशुओं को मुक्त क्यों नहीं कर देते। इससे बुद्धिमानजनों को विष्णु और गुरु आदि किसी का भरोसा न करके अपने पुरुषार्थ का ही भरोसा करना चाहिये। अपने मन को स्वस्थ किए बिना परम सिद्धता की प्राप्ति दुर्लभ है। महात्मा पुरुषों का यही सिद्धान्त है। अस्तु, आत्म लाभ के लिये वैराग्य और अभ्यास ही परम आवश्यक है। हे रामजी! अपने आपसे ही अपनी आराधना और अर्चना करो। आपसे ही आप को देखो और आपसे ही आपको विचारो और सर्वदा ही अपने आप में स्थिर रहो। आत्म-पूजन का यही नियम है। शेष वैष्णव-भक्ति आदि का क्रम गौण है। इन्द्रियों को वश किये बिना, पूजा अर्चना व्यर्थ है। बिना विचार उपशम के विष्णु-भक्ति सिद्ध नहीं होती। विचार उपशम हो जाने पर कमल और पाषाण में अन्तर नहीं रहता। अस्तु, विचार युक्त होकर आत्मा की आराधना करो। उसकी सिद्धता से ही तुम सिद्ध हो जाओगे। जिसने उसको सिद्ध नहीं किया वह गर्दभ है। जो विष्णु के आगे प्रार्थना करते हैं वे अपने चित्त के आगे क्यों नहीं करते? सर्व जीवों के भीतर विष्णु स्थित हैं। उनको त्यागकर जो बाह्य विष्णु की आराधना करते हैं वे मूर्ख हैं। जब हृदय गुफा में ही वह चेतन तत्व, ईश्वर का मुख्य सनातन वपु स्थित है, तब उसे छोड़ कर हम बाहर क्यों जाते हैं। आत्मा का वह विष्णु वपु तो सर्वथा ही अपने शंख, चक्र, गदा और पद्मादिक चिह्नों युक्त हमारे हृदय में स्थित है, तब उसे त्याग कर बाहर दौड़ना क्या? ऐसे साधन से सिद्ध होने वाले विद्यमान अमृत को त्यागकर बाह्य में यत्न करना मूर्खता नहीं तो क्या है? हे रामजी! यह मनरूपी हाथी है। जिस पुरुष ने आत्म विवेक द्वारा इसको वश नहीं किया है उस अविवेकी चित्त को राग-द्वेष की कल्पनायें ठहरने नहीं देतीं। हे रामजी! वैष्णव-भक्ति के क्रम से जो विष्णु पूजा होती है, वह मिथ्या तो नहीं पर कनिष्ट

उन्तीसवां सर्ग

प्रह्लाद-विभक्ति

यह सुनकर रामजी ने पूछा-हे भगवान्! आपने ऊपर कहा है कि सर्व काम अपने पुरुष-प्रयत्न से ही सिद्ध होते हैं तब प्रह्लाद को विष्णुजी के वर की क्या आवश्यकता पड़ी और वह माधव के वर बिना ही क्यों नहीं जाग गया। जब विष्णुजी ने वर दिया तब उसको ज्ञान प्राप्त हुआ। फिर पुरुष-प्रयत्न का क्या मूल्य रहा? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया--हे रामजी! यह क्या, प्रह्लाद को जो कुछ प्राप्त हुआ वह पुरुषार्थ से ही प्राप्त हुआ है। पुरुषार्थ के बिना कुछ प्राप्त नहीं होता। विष्णु भगवान और आत्मा में कुछ भेद नहीं है। जो आत्मा है, वही विष्णु है और जो विष्णु है वही आत्मा है। प्रह्लाद ने जो सर्व प्रथम अपनी प्रेम शक्ति विष्णु भगवान् की भक्ति में लगाई वह आत्मशक्ति से लगाई, और आप ही आप आत्मा से वर प्राप्त किया और आप ही आप विचार कर अपने से अपने मनको वश में किया। जब इस प्रकार के चिर-पर्यन्त अभ्यास से वह प्रतापवान हुआ तब उसे सब कुछ प्राप्त हुआ अन्यथा अविचारी को कौन पूछता है। आत्म साक्षात्कार के लिये अपना पुरुषार्थ ही मुख्य है। पुरुषार्थी को विष्णु आदिक सब प्राप्त हो जाते हैं। पुरुषार्थ से उपजा हुआ विचार क्या नहीं प्रकाश करता, वर आदिक तो उसके लिये गौण कारण मात्र हैं। मुख्य कारण पुरुषार्थ है। इससे तुम पुरुषार्थ का ही आश्रय करो। पहले पाँचों इन्द्रियों को वश कर चित्त को आत्म-विचार में लगाओ? पुरुषार्थ से इन्द्रिय रूपी पर्वत को लाँघो, फिर तो अनायास ही संसार सागर को पार कर जाओगे। यदि बिना पुरुष-प्रयत्न के ही विष्णु भगवान मुक्ति देते तो मृग और पक्षियों को दर्शन दे क्यों नहीं मुक्त कर देते इसी प्रकार यदि गुरुजन जिज्ञासु के पुरुषार्थ किये बिना ही उद्धार कर देते

अभीष्ट है, जलसे बाहर निकलकर वर माँगा। गाधि ने कहा-भगवन्! आप चराचर जीवों के स्वामी और इस जगत के रचने वाले हैं, आपको मेरा कोटिशः नमस्कार है। प्रभो! मेरी यही इच्छा है कि आपकी आश्चर्यरूप माया को देखूँ। विष्णुजी ने कहा--एवमस्तु! तुम मेरी माया को देखोगे और देखकर त्याग भी दोगे। यह कहकर विष्णुजी अन्तर्ध्यान हो गये। ब्राह्मण वर पाकर प्रसन्न हुआ। फिर वहां से चला और यही विचारता रहा कि भगवान् की माया को कब देखूँगा। कुछ काल पश्चात् वह फिर उसी तालाब पर स्नान करने गया तो जल में गोता लगाकर सब पाप--नाशक अघमर्षण मन्त्र जपने लगा। तब उसने देखा कि मन्त्र जपते २ ही उसके प्राण विपर्यय होकर निकल गये और अपने आप फिर अपने गृह में स्थित होगया। पश्चात् उसने अपने को मृतक देखा और यह देखा कि कुटुम्ब के लोग रुदन कर रहे हैं और शरीर की शोभा ऐसे ही क्षीण हो गई है जैसे टूटे हुए कमलों की शोभा क्षीण हो जाती है। शरीर शिथिल हो गया, मुँह खुल गया, माता पुत्र गाधि को पकड़े बैठी रही और समस्त परिवार के लोग इकट्ठे होकर रुदन कर रहे हैं। फिर लोगों ने कहा--अब यह शरीर कलङ्क रूप है, इसको जला देना चाहिये। ऐसा कहकर सब लोग उसे जलाने को ले चले और चिता लगाकर भस्म कर दिया। फिर गृह पर आकर जो कुछ क्रियाकर्म था, किया। हे रामजी! इधर तो यह हुआ, उधर वह गाधि ब्राह्मण एक देश में चांडाल के गृह में बहुत सुन्दर बालक होकर चांडाली के गर्भ से उत्पन्न हुआ। बालक की सुन्दरता से मुग्ध होकर चांडाली उससे अधिक प्रीति करने लगी। जब वह बालक बढ़कर १२, १६ वर्ष का हुआ तब शिकारी कुत्तों को साथ लेकर बन में मृगादिकों का शिकार करने जाने लगा। पश्चात् उसका विवाह हुआ और उस क्रम से वह एक वृहद कुटुम्ब वाला हो गया। वृद्ध होने पर वह

अवश्य है। ऐसी पूजा उस जिज्ञासु के लिए है कि जिसकी बुद्धि मन्द है। वह उस प्रकार के बाह्य पूजन अर्चन द्वारा चिरकाल में ही आत्म-दर्शन के योग्य होता है। उस प्रकार के बाह्य पूजन एवं नित्य अभ्यास से चित्त तो अवश्य निर्मल हो जाता है पर तत्काल ही आत्मा फल को नहीं पाता। हाँ, जब वह अपने उस निर्मल चित्त के द्वारा फिर अभ्यास वैराग्य में लगता है तभी आत्मफल का भागी होता है। हे रामजी! आत्म-दर्शन के लिये अपने मन के निग्रह की आवश्यकता है। जब तक मन और इन्द्रियों का निग्रह नहीं हुआ तब तक आवागमन से मुक्त होना कठिन है। हे राम जी! कोई ब्रह्मा, विष्णु और महेश को जीवन पर्यन्त क्यों न पूजता रहे पर यदि मन उपशम विचार को न प्राप्त हुआ तो देवताओं की कोटि- कृपा पर भी वह संसार सागर को पार नहीं कर सकता।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम–प्रकरण का उनतीसवां सर्ग समाप्त ॥ २६ ॥

–:-:-:–

तीसवाँ सर्ग

गाधि–उपाख्यान

हे रामजी! इस संसाररूपी माया का अन्त नहीं है और यह बड़ी प्रबला है। इससे मुक्त होना महान् कठिन है। जब चित्त वश में होवे तभी यह निवृत्त होती है--अन्यथा नहीं। हे राघव! सुनो इस पर एक पूर्व आख्यान है। इस भूमण्डल में कोशल नाम का एक देश है जो धन धान्य सम्पन्न और रत्नों से पूर्ण है। उस देश में गाधि नाम के एक वेदपाठी ब्राह्मण रहते थे वे ब्राह्मण बाल्य--काल में ही महा वैराग्यवान शोभित हुए। एक समय वे कुछ कार्य विचार कर वन में तप करने गये तो एक सरोवर देखकर उसमें उतर पड़े और कंठवत जल में खड़े होकर तप करने लगे। जब आठ मास दिन रात उसी प्रकार वे जल में खड़े रहे तब उनके तप को देखकर विष्णुजी वहाँ पहुँचे और बोले--हे ब्रह्मन्! तेरा क्या

उतार दिये और नग्न होकर राजमहल से निकलकर राजद्वार पर जा खड़ा हुआ। फिर तो इस प्रकार वस्त्राभूषण रहित होने से उसका वह श्याम शरीर उस सुन्दर राज्य सदन में वैसा ही शोभायमान हुआ जैसे तारागणों से रहित श्याम आकाश शोभायमान होता है। तब उस प्रकार नग्न शरीर हो वह ज्यों राजद्वार पर जाकर खड़ा हुआ था दैवयोग से उसी क्षण उसके वे श्रेष्ठ बान्धव जिन्हें वह दुर्भिक्ष पीड़ित देश में छोड़कर आया था, झुण्ड के झुण्ड सामने आ निकले। गावल नग्न तो था ही, उसे चाण्डाल पहचान गये और देखते ही भुजायें फैलाकर बोले—अहो, भाई! तुम तो बड़े मजे में पहले ही निकल आये। कहो अब तो राजा के यहाँ पहुँच गये हो। राजा लोगों को सङ्गीत बड़ा प्रिय है, और तुम्हारा कण्ठ भी कोकिलासे कम नहीं है। तब तो राजा ने तुम पर प्रसन्न होकर बहुत कुछ पुरस्कार दिया होगा। अथवा धन, रत्न और गांव, मन्दिर पुरस्कार में पाये होंगे। कहो, कैसे हो? हमारा भी प्रबन्ध कराओ। चाण्डाल ऐसा कहते और बारम्बार उससे मिलने के लिये भुजायें फैलाते पर वह 'गावल' पीछे हटता जाता और उँगलियों से उन्हें ऐसा न करने का संकेत भी करता, किन्तु वे चाण्डाल उसके संकेत को न समझते। वे सबके सब हाथ में चर्म की तन्त्री लिए हुए, ऐसा कहते ही गये। इस दृश्य को राज सदन की स्त्रियों ने देख लिया। द्वारपाल और नगर के अन्य कितने ही लोगों ने भी यह वार्ता सुनी। अब तो मानों सब पर वज्रपात हुआ। लोग चाण्डाल को राजा बनाने का पश्चा-ताप करने लगे। मन्त्री और नगर के ब्राह्मण, क्षत्रिय हाय हाय धर्म गया, हम भ्रष्ट हो गये, पतित हो गये—ऐसा कहकर-प्रायश्चित करने का विचार करने लगे। राज-सदन की स्त्रियाँ भी कलेजे पर हाथ मार-मारकर कहने लगीं--महान् शोक! यह राजा तो चाण्डाल है। हाय, इसके हाथों पड़कर हम भ्रष्ट होगईं। इसने हमें भ्रष्ट किया, स्पर्श किया। अब तो न जीना ही अच्छा है। निदान

कुटुम्ब को त्यागकर बाहर एक कुटी बनाकर रहने लगा । दैव योग से वहां दुर्भिक्ष पड़ा और उसके बान्धव क्षुधा से मरने लगे । तब वह वहाँ निकला और कान्त देश में जा पहुँचा । उस देश का राजा मर गया था और उसके मन्त्रियों ने एक हाथी को इसलिये छोड़ दिया था कि हाथी जिस मनुष्य को पकड़कर लावेगा उसे ही राजा बनावेंगे । तब राज सदन से चलकर वह हाथी ज्यों ही नगर के बाहर हो रहा था कि उसके सामने यह चाण्डाल जा पड़ा । फिर तो योग वश हाथी ने इसे ही अपने मस्तक पर चढ़ा लिया । तब उसके हाथी पर आरूढ़ होते ही नगाड़े और तूरियाँ बजने लगीं, बड़े शब्द होने लगे । भाट और वन्दीजन आकर उसकी स्तुति करने लगे । फिर तो उस प्रकार के आनन्द में इसके मुख की शोभा और ही होगई और सेना सहित यह राजा होकर ऐसा शोभायमान हुआ जैसे तारागणों में चन्द्रमा शोभायमान होता है । पश्चात् वह अन्तःपुर में जाकर रानियों के पास बैठा और सब रानियाँ और उसकी सब सखियाँ उसके निकट आकर उससे मिलने लगीं । पश्चात् उसने स्नान कर नाना प्रकार के हीरे, मोती, भूषण और सुन्दर २ वस्त्र धारण किये । इस प्रकार सब अलङ्कारों से युक्त होकर वह शोभित हुआ और बड़ी तेजस्विता से राज्य करने लगा । लोगों ने उसको 'गावल' नामसे विख्यात किया ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का तीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३० ॥



इकतीसवां सर्ग

गावल का राज्यध्वंस वर्णन

हे रामजी ! इस प्रकार सर्व लक्ष्मीको पाकर वह महा आनन्दित हुआ । और आठ वर्ष तक उसने बड़े उत्साह से राज्य किया । एक दिन उसके मनमें यह सङ्कल्प फुरा कि मुझको इतने वर्ष और आभूषणों के धारण से क्या प्रयोजन है, मैं तो यों ही राजाधिराज हूँ और सब मेरी आज्ञा के वशवर्ती हैं । ऐसा सोचकर उसने अपने शरीर के सभी वस्त्राभूषण

यह है कि एक समय देशाटन करता हुआ जब मैं उत्तर दिशा की ओर गया तो क्रान्त देश में जा पहुँचा। वहां के गृहस्थ मेरी भली-भांति सेवा करते थे जिससे मैं भोजन वस्त्र से प्रसन्न होकर वहां कुछ कालके लिये स्थिर हो गया। पश्चात् उन गृहस्थों की सेवा टहल को देखकर एक दिन मैंने कहा–यह देश तो बड़ा सुन्दर है और यहां के प्राणी गुरु, ब्राह्मण और ईश्वर के परम भक्त एवम् दया धर्म वाले हैं। तब मैंने ज्योंही ऐसा कहा था कि मेरे समीप में बैठे हुए गृहस्थ कहने लगे--महाराज! यह क्या है, इससे भी अधिक धर्म पहले इस देश में था। परन्तु अब उसका षोडांश भी नहीं है। नहीं तो यहां आकर सन्त महात्मा प्रसन्न हो जाते थे। तब मैंने पूछा--हे सज्जनो! ऐसा क्यों हुआ। पहले क्या था और अब क्या होगया है? गृहस्थों ने कहा- इसका प्रसङ्ग यह है कि पहले जो इस देश का राजा था वह बड़ा दयालु और धर्मात्मा था उसके कारण सारी प्रजा सन्तुष्ट और धर्मपथ का अनुसरण करने वाली थी। परन्तु जब वह मरा तब यहाँ पर एक चांडाल राजा हुआ। उसके अधर्म से प्रजा को महान् कष्ट हुआ और अधिकांश तो क्या सारी प्रजा शोकान्वित और चिंतितहो अग्निचितामें भस्म होगई। और चांडाल राजा भी अग्नि में प्रवेश कर गया। राज महल की रानियां भी चांडाल से अपने को अपवित्र समझ चिता की शरण गई। बस, तबसे इस राज्य की प्रथा बिगड़ गई है और देश नष्ट हो गया है। हे गाधि! मैंने गृहस्थों से यह वार्ता सुनी तो मुझे बड़ा खेद हुआ कि--हाय, हाय, मैं ऐसे पापी देश में आ गया। ऐसा विचार कर मैं, प्रयाग, नैमिषारण्य आदि तीर्थों में भ्रमण करके कृच्छ्र और चान्द्रायणव्रत करने लगा। तीन बार ऐसा कठिन व्रत मैंने धारण किया। अब आश्रम पर आकर--मैंने व्रत खोला है। हे साधो! यही कारण है कि मेरा शरीर ऐसा कृशित हो गया है। हे रामजी! जब दुर्वासा ने ऐसा कहा, तब गाधि को बड़ा आश्चर्य हुआ और

राज--सदन से लेकर सारे नगर में हलचल मच गई । धर्मधारी ब्राह्मण क्षत्रिय चिता लगाकर भस्म होने लगे । आकाश--मण्डल धूम्राच्छन्न हो गया । मांस मज्जा से महा दुर्गन्धि फैल गई । रानियों ने भी महल में काष्ठ की चिता लगाकर अग्नि के साथ प्राण विसर्जन किया । तब यह तो महान् अनर्थ हुआ, एक पापीके लिये इतने धर्मात्माओं का प्राण त्याग सर्वथा ही नाशमूलक है—ऐसा विचार कर उस 'गावल' ने भी चिता में प्रवेश कर अपना प्राण त्याग दिया। जब अग्नि का तेज उसके शरीर में लगा तब उसका 'गाधि--शरीर' जो तालाब में डुबकी लगाये था कम्पायमान होकर जल के बाहर शीश निकाल कर सावधान हुआ ।

इतना कहकर बाल्मीकिजो बोले कि, जब इस प्रकार वशिष्ठ जी ने कहा, तब सूर्य अस्त हो गये और समस्त सभा के लोग एक दूसरे को नमस्कार करते चले गये ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम—प्रकरण का इकत्तीसवां सर्गसमाप्त ॥ ३१ ॥

-❀:❀-

बत्तीसवां सर्ग

गाधि ब्राह्मण को ज्ञानप्राप्ति वर्णन

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! ऐसा भ्रम उसने केवल दो घड़ी में देखा और यह न समझ सका कि वास्तविकता क्या है । पश्चात् उसे बोध हुआ और उठकर सन्ध्यादिक कर्म किये । फिर अपनी उस दशा का स्मरण करके आश्चर्यवान हुआ कि यह सब माया भगवान् का वर पाकर ही मैंने देखी है । जब कुछ समय व्यतीत हुआ तब एक दिन उसके आश्रम पर दुर्वासा ऋषि अत्यन्त भूख से पीड़ित आये । गाधिने उनकी पूजा की और फिर भली भांति उनका आतिथ्य सत्कार कर कई दिन तक इन्हें अपने आश्रम में रखा । उसी अवधि में दुर्वासा के साथ सत्सङ्ग करते हुए गाधि ने उनसे पूछा--हे ब्रह्मन् ! तेरा शरीर जो ऐसा कृश और थका हुआ है इसका क्या कारण है । दुर्वासा ने कहा--हे साधो ! इसका कारण

लगा कि भगवान् की माया बड़ी विचित्र है। वह जो कुछ कर जाये, आश्चर्य नहीं। यह जो मैंने वर माँगा था, उसी कारण इतना भ्रम देखा है। पर यह उतना आश्चर्य है कि यहां दो मुहूर्त व्यतीत हुये हैं और वहां स्वप्न के समान मुझको इतना काल प्रतीत हुआ। यह कुछ समझ में नहीं आता। अतः इसके स्पष्टीकरण के लिये मुझे फिर उन्हीं विष्णुजी का ही ध्यान करना चाहिये। दूसरा ऐसा देव कोई नहीं है जो इस भ्रम को दूर कर सके। हे रामजी! ऐसा विचार कर वह फिर पर्वत की गुफा में जाकर तप करने लगा। दो वर्ष तक उसने घोर तप किया। तब त्रिलोकी भगवान् प्रसन्न होकर उसके निकट आये और बोले—हे ब्राह्मण! उठ, उठ, अब किस लिए ऐसा तप कर रहा है, क्या इच्छा है, वर माँग। मेरी माया बड़ी दुस्तर है। गाधि ने हाथ जोड़कर कहा-हे भगवान्! निश्चय ही आपकी माया बड़ी प्रबल है। किन्तु हे लोकों के नाथ! यह जो स्वप्न भ्रम की नाईं देखा इसमें काल की यह विषमता कैसे हुई कि यहाँ दो घड़ी ही व्यतीत हुए और वहाँ मैं चिरकाल तक भ्रमता रहा, और उन सब भ्रमों को मैंने प्रत्यक्ष रूप से कैसे देखा? विष्णु जीने कहा—हे ब्रह्मन्! यह और कुछ नहीं, यह केवल तेरे चित्त का ही भ्रम है? यह जितना कुछ जगत तू देख रहा है, सब तेरे चित्त में ही स्थित है। इस समग्र पञ्चभौतिक का विस्तार एक तेरा चित्त ही है। तूने जितने भ्रम देखे हैं, सब चित्तने ही दिखाये हैं। तेरा चित्त वासनामय है, इसी से यह ऐसे २ प्रतीत हुआ। जो चित्त वासना रहित होता है उसमें भ्रमरूप पदार्थ कोई कहीं उत्पन्न होते। अतः पहले अपने चित्तको स्थिर कर? हे ब्रह्मन्! यह चित्त--स्थान साधारण नहीं है, इसमें कोटि २ ब्रह्माण्ड स्थित हैं। जब यह ऐसा महा कोष है, तब इसमें चाण्डाल अवस्था का उत्पन्न होना क्या आश्चर्य है? तिस पर तू कहता है कि मैंने बड़ी आश्चर्य रूप माया देखी है, क्या इसीको माया कहता है! यह तो कुछ नहीं है। जैसे २

वह फिर-फिर दुर्वासा से वह प्रसङ्ग पूछने लगा। दुर्वासा ने कहा-- हां, यह ऐसा ही है। तब महा आश्चर्यवान हो गाधि ने ज्यों-त्यों करके रात्रि व्यतीत की और प्रातःकाल होने पर एकान्त में बैठकर विचार करने लगा कि-ओहो, मैंने कैसा भ्रम देखा है। परन्तु जिसे मैंने भ्रमवत देखा, उसीको ब्राह्मण ने प्रत्यक्ष कैसे देखा। सो, अब उस देश को चलकर देखूँ कि जहाँ मुझे चाण्डाल का शरीर मिला था। हे रामजी! ऐसा विचार कर वह मनोराज के भ्रम को देखने चला। चलते २ कान्त देश में जा पहुँचा। वहाँ देखता क्या है कि कितने ही चाण्डाल बसे हैं और मैं यहाँ था, यह मेरा राज-महल था, वहां मेरी खेती होती थी और यहाँ मेरी वाटिका थी और यह हड्डियाँ मेरे हाथ की फेंकी हुई थीं और यहाँ-यहाँ मैं चाण्डाल के वेष में रहा। यह सब देखकर यह आश्चर्यवान हुआ और मन ही मन बोला कि हे देव! यह क्या आश्चर्य है कि चित्त का भ्रम अब मैंने देखा है। ओहो, बालक अवस्था में मैंने यह क्रीड़ा किया था, यह मेरे भोजन का स्थान था, यहाँ बैठकर मैंने मद्य पिया था इत्यादि। यह सब बारम्बार देखकर उसने यहां के निवासियों से पूछा कि हे साधो! पूर्व समय में यहां एक चाण्डाल बड़े श्याम शरीर का होगया है। क्या आप लोग उसके सम्बन्ध में कुछ जानते हैं? यदि जानते हों तो मुझसे कहिये। जब इस प्रकार गाधि ने पूछा तब नगरवासियों ने कहा हे ब्राह्मण! तुम्हारा कहना ठीक है। जैसा तुम कहते हो, अवश्य ही उस शरीर का एक ऐसा चाण्डाल यहाँ उत्पन्न हुआ था और ऐसे २ आठ वर्ष तक इस कान्त देश का राजा रह चुका है। किन्तु जब उसका चाण्डालत्व सबको ज्ञात हुआ तब इस-इस प्रकार से नगर निवासी शोकाकुल हो पश्चाताप करते हुए अग्नि चितामें जल कर भस्म हो गये और अन्त में वह स्वयं भी जल मरा। अब उसको मरे हुये बारह वर्ष बीत गये हैं। हे रामजी! नगरवासियों के मुखसे ऐसा सुनकर वह गाधि ब्राह्मण बड़ा ही चिन्तित हुआ और कहने

काल भी तुझको एक पदार्थ के समान स्फुरित हुआ। सो इसके सम्बन्धमें मैं तुझे अधिक विस्तारसे क्या कहूँ, मुख्य कारणको इतनेही में जान ले कि चित्तमें पदार्थ कालसे भासते हैं और काल पदार्थों से भासता है। जैसे जाग्रत के एक मुहूर्त में स्वप्न के अनन्त कालका अनुभव होता है वैसे ही यह सब चित्तका फुरना ही है। जैसे २ चित्त फुरता है, वैसे २ ही भासता है। हे साधो! जिसे कभी देखा न हो, ऐसा पदार्थ भी इस चित्तमें भास आता है। जैसे त्रिकालज्ञ को भविष्य का वृतान्त भी वर्तमान के सदृश्य भासमान होता है, वैसे ही तुझको भी अनुभव हुआ है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि प्रत्यक्ष का अनुभव किया भी भूल जाता है। यह सब माया रूप चित्तका ही भ्रम है। जब तक चित्त आत्मपद में स्थित नहीं होता तब तक ऐसे ही अनेक भ्रम भासते हैं किन्तु चित्त के स्थित होने पर केवल एक अद्वैत आत्मतत्व ही भासित होता है। तेरा चित्त अब तक वश नहीं हुआ है, इसी से तुझे ऐसे-ऐसे भ्रम भासित होरहे हैं। किन्तु आत्मपद में लगते ही इन सबका लय हो जावेगा। 'मैं' तुम--ये 'यह जो कुछ शब्द हैं' सब अज्ञानी के चित्तमें दृढ़ रहते हैं, किन्तु ज्ञानी इसमें बन्धायमान नहीं होता। जैसे जल में तूनड़ी नहीं (तुम्बी) डूबती, वैसे ही अहं त्वं आदिक शब्दों में ज्ञानी नहीं डूबता। समस्त शब्द चित्त में ही बसते हैं। ज्ञानी का चित्त अचित्त होता है। इससे तू भी ज्ञानी बन, इसके लिये तपस्या कर। दश वर्ष की तपस्या के पश्चात् तेरा हृदय शुद्ध हो जायगा और आत्मपद की प्राप्ति होगी। तब जगत-भ्रमके यह सारे संशय आपही आप नष्ट हो जायेंगे। हे रामजी! जब ऐसा कह कर विष्णुजी अन्तर्ध्यान होगये तब उनके वचनोंको हृदय में धारण कर गाधि तप करने लगा। दश वर्षमें उसकी अक्षय समाधि लग गई। फिर तो उसे शुद्ध चिदानन्द आत्माका साक्षात्कार हुआ और इस प्रकार इसके सारे संशय नष्ट होगये।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का बत्तीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३२ ॥

तूने जन्म लिया वैसेही वैसे तेरे अनेक कुटुम्बी हुए, कहाँ-कहाँ तू रहा, राज किया, चिता में जला, अतिथि ब्राह्मणसे मिला । फिर जाकर सब स्थान देखे यह क्या है-यह भी उसी माया का खेल है ; परन्तु हे साधो! यह सब तेरे चित्तने ही किया है। जैसे मद्यपान करने वाले को सब पदार्थ भ्रम से दीखते हैं, वैसे ही यह संसार भी भ्रम से भासता है। 'जैसे नौका रूढ़, चलत जगत देखा' वाली बात है, वैसे ही यह जगत भ्रम से भासता है, और चित्त को स्थित होनेसे जगत भ्रम नष्ट हो जाता है। इसका नष्ट होना क्या है? यह तो अपने ही पर निर्भर है। जब चाहे देखे, जब चाहे बन्द कर दे। क्योंकि यह मायामात्र है। इसमें कोई पदार्थ सत्य नहीं है। अतः इस भ्रमको त्याग कर तू अपने ब्राह्मण का कर्म कर ? हे रामजी! जब ऐसा कह कर विष्णुजी उठ खड़े हुए, तब ऋषीश्वरों सहित गाधि ने उठकर उनकी भली भांति पूजा की और वे भगवान् अपने स्थान, क्षीर-सागर में चले आये। पश्चात् वह गाधि ब्राह्मण फिर भ्रम को देखने चला। क्रान्त देशमें पहुँचा। वहां उसे सब बातें फिर प्रत्यक्ष जैसी की तैसी देख पड़ीं। उससे वह फिर आश्चर्य चकित हुआ और फिर विष्णु जी की आराधना करने लगा। जब कुछ काल व्यतीत हुए तब विष्णुजी फिर आये और उससे बोले--हे ब्राह्मण! अब तू क्या चाहता है? गाधिने कहा--महाराज! इस जगत से मेरा भ्रम अभी तक दूर नहीं हुआ। मैं क्रान्त देश में फिर गया था और वहां मुझे फिर वही सब बातें दिखलाई पड़ीं। सो हे प्रभो! इतना अधिक काल मुझे इतने अल्प समय में ही कैसे भासित हुआ। कृपाकर मेरी यह शङ्का दूर कीजिये। श्रीभगवान् बोले—हे विप्र! इस सारे जगत को मेरी माया ने रचा है, इससे मैं तुझे क्या बतलाऊँ ? जो कुछ तुझे भास रहा है, सब माया मात्र है। चित्त के भ्रमसे भासित होरहा है। उस चाण्डाल की अवस्था तेरे चित्त में भास आई थी, इसीसे तुझे उस अवस्था में प्रवेश करना पड़ा। कालका रूप आकार कुछ नहीं, पर

साथ और ब्रह्मविद् शास्त्रों के विचार से यह चित्त आत्मपद में स्थित होवेगा। सन्तजन जैसा बतावें इस रीति से अभ्यास करते हुए उनके साथ और उनके श्रीमुख से शास्त्रों का श्रवण और मनन करके बारम्बार उसमें चित्त को लगावो। इस प्रकार से चित्त आत्म पद में स्थित हो जावेगा और वह नाभिचक्र अथवा संसार-चक्र के स्थित होने का तुम्हारा मन्तव्य पूर्ण हो जावेगा। उस अभ्यास में तुम्हें संसार को स्वप्नवत जानकर इससे एक मात्र वैराग्य धारण करना चाहिए। तब एक ओर सन्तों की वाणी, दूसरे उनके द्वारा बतलाई हुई युक्तियों से शनैः शनैः दृढ़ अभ्यास और तीसरे शास्त्र विचार और चौथे वैराग्य, बस इन चार युक्तियों से चित्त वशमें हो जाता है। अन्य उपाय व्यर्थ हैं। हे रामजी! इन चारों युक्तियों के साथ ही तुम दान दो, दान लो, सबसे बोलो चालो, कोई दोष नहीं परन्तु उनके भीतर चित्त को न जाने दो अर्थात् उनसे निष्प्रिय रहो और यह सब करते हुए भी अपनी वृत्तियों को सर्वदा उस साक्षीरूप अनुभव-आत्मा की ओर लगाये रहो। उस अभ्यास काल में तुम्हें कहीं युद्ध करना पड़े तो वह युद्ध भी करो किन्तु अपनी वृत्तिको उस साक्षी की ओर ही लगाये रहो, उसीको अपनारूप जानो और उसीमें सर्वदा स्थित बने रहो। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध यह जो पाँचों विषय इन्द्रियों के हैं इन्हें नहीं त्यागा जा सकता। हाँ अपनी स्थिति उस साक्षीभूत में ही रहनी चाहिए क्योंकि वह चिदाकाश ही अपना आप स्वरूप है। बिना उसका बारम्बार अभ्यास किये चित्त स्थित नहीं होता, और जब तक चित्त स्थित न होगा तब तक जगत का भ्रम नष्ट न होवेगा। हे रामजी! जब तक चित्त लगा रहेगा तब तक संसार भी बना रहेगा। जैसे जब तक मेघ है तब तक वर्षा भी है और जब मेघ नष्ट हो जावेगा तब वर्षा भी नष्ट हो जावेगी। जब तक चन्द्रमा की ज्योति में शीतलता है तब तक चन्द्रमण्डल में तुषार है, वैसेही जब

तेतीसवां सर्ग

मोक्षोपदेश वर्णन

हे रामजी! यह गाधि की कथा मैंने तुम से माया की विषमता समझाने के हेतु कही है। इसको सुनकर अब तुम्हें ज्ञात हुआ होगा कि ईश्वर की माया कितनी प्रबल और कितनी विस्तृत रूप दुर्गम और महामोह को देने वाली है। आत्मतत्व के विस्मरण से यह मनुष्य को आश्चर्य रूप भ्रम दिखाती है? अन्यथा, कहाँ केवल दो मुहूर्त और कहाँ इतना काल? यह सब उसकी माया नहीं तो और क्या है? हे रामजी! जब तक बोध नहीं होता तब तक यह माया अनेक भ्रम प्रकट करती रहती है।

वशिष्ठजी के इतना कहने पर रामजी ने पूछा--हे भगवान्! निश्चय ही परमात्मा की माया बड़ी प्रबल है और इस संसार चक्र का वेग बड़ा तीक्ष्ण है। यह समस्त अङ्गों का छेद डालता है। तब जिस प्रकार यह चक्र रुके और इस संसार का भ्रम छूटे-हे मुनीश्वर! आप वही युक्ति बतलाइये? वशिष्ठजी बोले--हे रामजी! यह तुम भली प्रकार जानते हो कि इस संसार-चक्र का वास नाभि चक्र में है अथवा मनुष्यों का नाभि--चक्र ही संसार चक्र है। वही चित्त है, वही चक्र है। जब उसको रोका जाय, तब यह सब कुछ स्थित हो जावे। संसाररूपी चक्र की चित्तरूपी नाभिको रोके बिना वह चक्र स्थित नहीं होता। इसलिये सर्व प्रथम उस नाभि चक्र को स्थित करने का यत्न करना चाहिए। जब वह स्थित हो जाता है, तब जगत-भ्रम स्वयं ही नष्ट हो जाता है और तब वह पर-ब्रह्म परमात्मा प्राप्त होता है तथा और भी जो कुछ करना अभीष्ट होता है उस पर सफलता पाकर जीव कृत कृत्य हो जाता है अर्थात् उसे फिर कुछ पाना नहीं रहता। इससे तुम्हारी जितनी भी तपश्चर्यायें हों उन्हें त्यागकर चित्त को ही स्थिर करने का यत्न करो। सन्तों के

जाता है। क्योंकि आत्मा परम पद और आनन्द रूप है, उसके पा जाने से विष भी अमृत तुल्य होजाता है। जो पुरुष आत्मतत्वमें स्थित है वह सर्वसे श्रेष्ठ है। उसके निकट त्रैलोक्य की सम्पदा व्यर्थ है, वह जगत के सर्व पदार्थों को तुच्छ जानता है। उसके प्रकाश के आगे सूर्यका प्रकाश भी कुछ नहीं है अर्थात् सूर्य भी वैसा प्रकाश नहीं कर सकता जैसा कि आत्मपद में स्थित पुरुष का प्रकाश होता है वह सर्व कल्पनाओं से रहित अद्वैत स्वरूप है। हे रामजी! तुम उसी पद में स्थित रहो। जिसने उस स्वरूप को नहीं प्राप्त किया जानो उसे कुछ नहीं प्राप्त हुआ, जिसका जीवन व्यर्थ और निःसार है? जो इस महान ऐश्वर्य से सम्पन्न नहीं है अर्थात् जो आत्मपद से विमुख है, वह गर्दभ है, उसको तुम विष्टा के कीटसे भी निकृष्ट जानो। जीवन तो उसी का श्रेष्ठ, है जिसने आत्म पदके लिये यत्न किया है। पर जिसने यत्न नहीं किया उसका जीवन वृथा है। देखने में वे भलेही संसार में यत्नवान होवें और चैतन्य बने रहें किन्तु वे मृतक हैं, उनका वह चैतन्य शरीर शव के समान है। हा अभिमान ने उन्हें दीन कर रक्खा है। वे चित्त के हाथ पड़े हुए नाना प्रकार का कष्ट भोग रहे हैं। भोगों का तृष्णा उन्हें नष्ट किए देती हैं। भोगों के आवरण ने उन्हें आत्म पदसे दूरातिदूर फेंक दिया है। जैसे बड़े मेघ के आवरण से सूर्य नहीं भासता वैसे ही अनात्म अभिमान से आत्मा का भान नहीं होता। भान तो तब होता है, जब भोगों की तृष्णा निवृत हो जाती है और चित्त क्षीण हो जाता है तब अवश्यमेव इसका दर्शन होता है। हे रामजी! यह चित्तरूपी सूर्य बड़ा ही भयानक है और इसे ज्यों-ज्यों वासना रूपी दुर्गन्ध, और भोगरूपी वायु और शरीर में दृढ़ आस्थारूपीमृत्तिका मिलती जाती है त्यों-त्यों यह बड़ा होता जाता है और इस प्रकार जब उन पदार्थों से बड़ा हो जाता है तब लोह रूपी विष से जीव को मारते इसे विलम्ब नहीं होता। अतः ऐसे दुष्टरूपी सर्प को जहाँ तक शीघ्र हो

तक चित्त है तब तक संसार का भ्रम है। जैसे जब तक माँस का स्थान श्मशान है, तब तक वहाँ पक्षिगण अवश्य रहेंगे, वैसे ही जब तक चित्त है तबतक रागद्वेष भी अवश्य रहेंगे। किन्तु ज्योंही चित्तका अभाव हुआ कि समस्त विकारों का भी अभाव हो जायगा। हे राघव! जैसे पिशाच, दानव आदि की चेष्टा रात्रि में ही होती है, दिनमें नहीं, वैसे ही राग, द्वेष, भय, इच्छा आदि का विकार चित्त में ही होता है, अचित्त में नहीं। जैसे अग्नि के बिना उष्णता, शीतलता के बिना बरफ, सूर्य के बिना प्रकाश नहीं होता, वैसे ही चित्त के बिना किसी प्रकार का भय नहीं होता। हे रामचन्द्र! चित्त का नष्ट होना ही शान्ति है, शिवता है, सर्वज्ञता है और चित्तका अचित्त अर्थात् उसका अभाव ही आत्मा और तृप्तता भी है। पर यदि चित्त नष्ट नहीं हुआ तो इतने पदों में एक भी नहीं है। हे राघव! जब चित्त नष्ट होजाता है तब एक अद्वैत आत्मसत्ता ही भासती है। अतः चित्तको स्थिर करनेका यही उपाय है कि सन्तों का साथ किया जाय, शास्त्रों के निर्णय एवं उनके अर्थों का अभ्यास किया जाय। जब इस प्रकार के अभ्यास में दृढ़ता हो जावेगी तब चित्त नष्ट हो जायगा और ऐसा कठिन अभ्यास न हो सके तो भी सन्तोंके साथ और सतशास्त्रोंको सुनकर शक्ति लगाइये तो सहज ही में चमत्कार हो जावेगा। जब मनको मन से मथियेगा तो ज्ञानरूपी अग्नि अवश्य निकलेगी और उससे आशारूपी फाँसी अवश्य जल जायेगी। किन्तु जब तक प्राणी आत्मपद से विमुख रहता है उसे संसार का भ्रम अवश्य कष्ट देता है। पर आत्मपद में स्थित होने से क्षोभ मिट जाते हैं और उस देव का दर्शन हो जाता है कि जिसके साक्षात्कार से कालकूट विष भी अमृत हो जाता है। परन्तु जब प्राणी उस निर्मल निरञ्जन अंश एवं आत्मसंवित से च्युत होता है, तब संसार का कारण मोह उसे घेर लेता है और उसी प्रकार जब प्राणी उस शुद्ध सत्तामें स्थित होता है तब संसार-सागर से तर

मंत्र दियाजावे तब यह शान्तहोवें। हे रामजी ! इस चित्तकी चञ्चलता को निःसंकल्पसे त्यागदो। जैसे ब्रह्मास्त्रसेही ब्रह्मास्त्र छिदता है वैसेही मन को मन से ही छेदो। इस प्रकार जब यह चित्तरूपी वानर स्थिर होवेगा तभी शरीर रूपी वृक्ष दुःखों से मुक्त होवेगा।

श्रीयोगवशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का तेतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३३ ॥

--::❀::--

चौंतीसवाँ सर्ग

उद्दालक विचार वर्णन

हे रामजी ! यह मनकी वृत्ति महान् अनिष्टकारक और खड्ग की धार के समान तीक्ष्ण है। इसमें तुम प्रीति मत करो यह व्यर्थ है। जहाँ तक शीघ्र हो इसका त्याग करो। क्योंकि तुम मन नहीं हो चित्त नहीं हो, तुम शुद्धचेतन रूप हो। बड़े भाग से यह पञ्च भौतिक शरीर मिला है। जब तक यह हृष्ट पुष्ट, जब तक मिलन-ता को प्राप्त होकर पृथ्वी पर नहीं गिरा है तभी तक बुद्धिको उद्धार करके संसारसे मुक्त होजाओ। भला ऐसा क्या है कि जो अभ्याससे सिद्ध न होवे। तुम शुद्धबोधके विचार एवं उसके दृढ़ अभ्यास से अनात्म अभिमानको त्यागकर शीघ्र ही आत्मपद को त्याग करो। हे रामजी ! इसी प्रकार पूर्व समय में उद्दालक नामक एक बुद्धिमान ब्राह्मण हो गया है। तुम्हारे बोध के लिये मैं उसकी कथा सुनाता हूँ, ध्यान देकर सुनो। हे राघव ! उद्दालक बड़ा विद्वान् और शास्त्र कुशल था किन्तु परमपद को न पाने से वह अर्द्ध प्रबुद्ध था। उसके विचार इतने उत्तम थे कि वह अपनी युवावस्था के पहले से ही यम नियम को साधने लगा। किन्तु उसके बारम्बार विचार करने पर भी उसका चित्त स्थितनहोता था। वह विचारता था कि मुझे विश्राम कब मिलेगा। यह संसार बड़ा कठिन है। हे देव ! मेरा मन अपने मनन भाव को त्यागकर कब विश्राम पावेगा, चित्त का दृश्यरूपी हस्ती जो अभिमान रूपी मद से उन्मत्त हो रहा है इस पर विवेक रूपी अंकुश का प्रहार कब होवेगा। हा ! इस तृष्णा रूपी नदी का

मार डालने में ही कल्याण है। यद्यपि इसका विष प्रत्येक के शरीर में प्रवेश कर गया है तथापि यदि जिज्ञासु विचाररूप गरुड़ मन्त्रका चिन्तन किया करे तो विष उतर जावे, अन्यथा विष उतरने का कोई उपाय नहीं है। हे रामजी! अनात्म भाव और पुत्र, स्त्री आदिक मोहमें पड़कर ही चित्त बड़ा हो जाता है। तब अहङ्कार रूपी विकार मोहरूपी कीड़ा और यह मेरा है, यह मैं हूँ आदि २ की भावनाओं से चित्त कठिनहो जाता है। हे रामजी! यह चित्तरूपी विषका एक ऐसा वृक्ष है कि जो इस शरीर रूपी पृथ्वी पर लगा हुआ है और संकल्प विकल्प ही इसके फूल हैं यथा दुराशारूपी पत्र और सुख-दुःखःरूपी आधि-व्याधि एवं मृत्युरूपी इसके फल हैं। यह अहङ्काररूपी कर्मों का जल पाकर बढ़ता है और चिन्तारूपी इसके फल हैं। यह अहङ्काररूपी इसकी वेलि बड़ी विशाल है। जब इसको वैराग्य रूपी कुठार से काटा जावे तब शान्ति प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं। क्योंकि यह चित्तरूपी वानर बड़ा चञ्चल है। जब देखो तब प्रतिक्षण इधर-उधर किया करता है। कभी किसी पदार्थ में दौड़ता है तो कभी किसी और ही ओर को धावता है, कभी स्थिर नहीं रहता? फिर यह इतना दृढ़ है कि इसने समस्त संसारको बांध रखा है। जैसे एक तागे के साथ अनेक दाने पिरोये रहते हैं, वैसे ही इस एक चित्तने समस्त देहधारियों को अपने में बांध रखा है। यह बड़ा प्रबल है। इसको कोई मार नहीं सकता। जब विचार रूपी गरुड़ उत्पन्न होवे तब यह नष्ट होता है, और बिना इसके नष्ट हुए आत्मरूपी निधि नहीं प्राप्त होती। इसे न तो कोई शस्त्र काट सकते हैं और न अग्नि जला सकती है। अर्थात् यह किसी अन्य प्रकार से भी नष्ट नहीं हो सकता। यह केवल सत्सङ्ग और सच्छास्त्र विचार और अभ्यास से ही नष्ट होता है। हे रामजी! यह चित्त रूपी गढ़े का एक ऐसा दुःखदायक मेघ है कि जिसमें भोगों की तृष्णा रूपी बिजली चमककर बोध रूपी क्षेत्र और शम, दम रूपी कमलों को नष्ट कर देती है। जब विचाररूपी

चित्त फिर भोगों की ओर निकल जावे, कुछ समय भी न ठहरे, इस प्रकार जब चित्त से व्यग्र होकर उद्दालक ने बाह्य विषयों को त्याग कर चित्त को अन्तर्मुख किया और भीतर वह दृष्टि दिखलाई पड़ी तो भी वह विषयोंको चिन्तने लगा और निर्विकल्प नहोवे और जब हठ पूर्वक रोक रखे तब सुषुप्ति और निद्रा में ही चित्त रहे। इस प्रकार जब उद्दालक चित्त को वश करने में थक गया और चित्त वशमें नहुआ तब वह उठकर गन्धमादन पर्वत की एक ऐसी कंदरा में आ स्थितहुआ कि जो सर्वदाही फूलोंसे युक्त था, और जो सुन्दरपशु पक्षीऔर मृगोंसे रहित एकान्तस्थान था और जो देवताओंकोभी देखना कठिन था। न तो वहाँ अधिक प्रकाश था और न अन्धकार। न अधिक उष्णता थी और न विशेष शीत। जैसे मधुर कार्तिक मास होता है वैसे ही वह निर्भय एकान्त स्थान था। फिर तो उद्दालक उसी कन्दरा में कमलों का आसन लगा, उस पर मृगछाला बिछा-कर बैठा और समस्त वासनाओं का त्याग कर दिया। जैसे ब्रह्माजी जगत को उत्पन्न करके त्याग देते हैं, वैसे ही वह सारी कल्पनाओं को त्याग बैठा और विचार करने लगा कि रे मूर्ख मन ! तू कहाँ जाता है यह संसार तो माया मात्र है। तू इतने काल तक जगत में भटकतारहा और तुझे शांति न मिली, फिरभी व्यर्थमें दौड़ताही रहा। सो हे मूर्ख मन ! भोगों की ओर क्यों जाता है। उपशम की ओर नहीं आता अमृतको त्यागकर विषका बीजारोपण क्यों करता है। यह तेरी चेष्टा दुःख का कारण है। तू अपनेसे आपही सङ्कल्प उठा कर बन्धन में क्यों पड़ता है और आत्म पदमें स्थित क्यों नहीं होता भला इस प्रकार की दौड़ धूपसे मुझे शान्ति कैसे मिलेगी ! जिव्हा के साथ मिलकर यह दर्दुर के समान तू क्यों बोलता है, कानों के साथ मिलकर जो तू शुभ अशुभ क्या ग्रहण कर मृग की नाईं नष्ट होता है, त्वचा के साथ मिलकर जो स्पर्श करता है वह तुझे नाश कर डालेगा। जिव्हा के स्वाद के पीछे पड़ा हुआ तू नष्ट हो

बोधरूपी बेड़े से कब पार करूँगा। यह अज्ञान रूपी अंधकार ज्ञानरूपी सूर्य से कब नष्ट होगा। हे आत्मदेव! मुझे निर्लेप और अकर्ता कब बनाइयेगा। जैसे जल में कमल निर्लेप रहता है, वैसा ही निर्लेप मैं कब होऊंगा। मेरा परमार्थ रूपी प्रकाश वपु कब उदय होगा कि जिसको पाकर मैं इस जगत की गति को हँसूंगा। मेरे हृदय में कब सन्तोष होगा और पूर्णबोध विराट आत्मा के समान मैं कब होऊंगा। हे देव! मेरा वह समय कब होगा कि जब मुझ जन्मान्ध को ज्ञानरूपी नेत्र प्राप्त होगा और मैं परमबोध पद को देखूंगा। मेरी अज्ञान दशा का अन्त कब होवेगा और ज्ञान दशासे कब प्राप्त होगी। मेरा वह समय कब आयेगा कि जब मैं प्रयत्नरूप से इस मन और शरीर आदिक प्रकृतियोंको देखकर हँसूंगा फिर मेरा वह समय कब आयेगा कि जब मैं इस संसार के कर्मों को बालक की चेष्टा के समान मिथ्या जानूंगा और यह सारा जगत मुझे सुषुप्ति की नाईं प्रतीत होगा। मुझे वह निर्विकल्प पाषाण शिला के समान अक्षय समाधि अवस्था कब प्राप्त होगी कि जब मैं सर्व से निःसङ्ग बन बैठूंगा। फिर मुझे उस अवस्था का दर्शन कब होगा कि जब इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में मेरे चित्त की वृत्तियाँ चलायमान न होंगी और मैं विराट रूप सर्वात्मा हो जाऊंगा। वह समय मुझे कब प्राप्त होगा कि जब मेरा सम असम आकार शान्त हो जावेगा और मुझे कोई इच्छा न रह जावेगी। मुझे उपशम पद कब प्राप्त होगा। मैं इस चेतन शरीर को अशरीर कब देखूंगा। मुझे ग्रहण त्याग से रहित सन्तोष कब प्राप्त होगा। जरामरण रूपी तरङ्गों से रहित कब होऊंगा। यह संसार रूपी नदी कब पार होगी। अपना स्वप्रकाश कब प्राप्तहोगा। मैं अपने स्वभावमें कब स्थित होऊंगा। हे रामजी! इस प्रकार उद्दालक बारम्बार विचार कर चित्त को निर्विकल्प करना चाहता, किन्तु यह चित्तरूपी वानर दृश्योंकी ओर विकल होजाता था और स्थित न होता। तब वह फिर ध्यानकरे और

घ्राण में पृथ्वीका अंश स्थित है और वही गन्धको ग्रहण करता है। फिर तू उससे मिल कर क्यों कष्ट उठाता है? रे मूर्ख! इसप्रकार तो सभी इन्द्रियां अपने २ विषय को ग्रहण कर रही हैं, फिर तू इनमें अभिमान क्यों करता है? भला तू कितना मूर्ख है कि दूसरे के धर्म को अपना बना लेता है और उसके पीछे जला करता है। इससे मैं तुझे बारम्बार समझाता हूँ कि रागद्वेष से रहित होकर अपनी चेष्टा कर, नहीं तो महान कष्ट को प्राप्त होगा। वासना सहित कर्म बन्धन का कारण है। तू बड़ा मूर्ख है कि विचारसे काम नहीं लेता। तेरे साथ मिल कर मैं भी बड़ा कष्ट पाता हूँ। इससे अब मैं तेरा साथ न करूँगा। क्योंकि तेरे साथ मिलने से मैं बड़ा तुच्छ हो गयाहूँ। मेरा तेरा क्या प्रयोजन है? अब मैं तेरा साथ त्याग कर परम चिदाकाशसे जामिलूंगा क्योंकि मैं निर्विकार और अहं, त्वं की कल्पना से रहित हूँ। अब देखूंगा कि तू कैसे अहं अहं करता है। इस देह में तू अहं करने वाला और कोई नहीं–तू एक चोर है। अब मैंने तुझे पकड़ लिया है और अब त्याग देता हूँ। अब मुझे पूर्णरूप से ज्ञात हो गया है कि तू अज्ञान से उपजा हुआ असत्यरूप है तूने ही सबको दुःखी कररखा है। जब तू नाश होगा तभी आनन्द मिलेगा। तेरी उत्पत्ति महान दुःख का कारण है। हा, जैसे कोई ऊंचे पर्वत से गिरकर कुयें में जा पड़े और कष्ट को प्राप्त होवे वैसेही मैं तेरे साथ आत्मपद से गिरा हुआ शरीराभिमान रूपी गढ़ेमें रागद्वेषरूपीदुःखको प्राप्त हुआ हूँ। किन्तु अब तुझे त्याग कर निरहङ्कार रूपी उस उत्तम पद को प्राप्त हुआ हूँ कि जो पद न प्रकाश है, न मत है न एक है, न दो है, न बड़ा है न छोटा है। वह अहं, त्वं से रहित चिन्मात्र रूप है। यह, जरा, मृत्यु, राग, द्वेष और भय सब तेरे संयोग से ही होते हैं। अब मैं तेरा त्याग का शुद्धबोध पद को प्राप्त होता हूँ। रे मूर्ख मन! अब मुझे पूर्णतः ज्ञात हो गया है कि तेरा उत्पन्न होना दुःख का कारण है। हा, तेरे साथ से मैं महा तुच्छ

जावेगा। गंध लेने की इच्छा से तू भँवरे के समान नाश हो जावेगा सुन्दर स्त्रियों की इच्छा से तू वैसाही जल मरेगा जैसे दीपक के मोह में पतङ्ग जल मरते हैं। रे मूर्ख मन ! जो एक भी इन्द्रिय का स्वाद लेते हैं वे नष्ट हो जाते हैं तू तो पञ्च विषयों का सेवन करता है। तब भला तेरा नाश क्यों नहीं होगा। अतः तू अपनी सारी इच्छा को त्याग कर शान्तिमान हो। यदि तू इन भोगों की इच्छा को न त्यागेगा तो देख, अब मैं तुझे ही त्याग दूँगा। तेरा तो असत्य रूप है। तेरा मुझसे क्या सम्बन्ध है ? सो अब विचारों के द्वारा मैं तुझे त्यागूँगा। रे मूर्ख मन ! जो तू इस देह में अहं, अहं करता है सो तेरा यह अहं किस परमार्थ का है। मैं तेरे इस व्यर्थ अहङ्कार को कुछ नहीं समझता। यह अग्नि मांस का ढेर अहं करने के योग्य नहीं है और इसमें श्वास रूपी वायु भी पोल और आकाश रूप है। यह पञ्च तत्वों से युक्त शरीर अहं रूप वस्तु नहीं हो सकता। फिर तू अहं-अहं क्यों करता है ? यह तू क्यों कहता है कि मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं सूंघता हूँ, मैं स्पर्श करता हूँ और मैं स्वाद लेता हूँ। तू इसके योग्य नहीं है। फिर राग द्वेष से जल कर वृथा की कष्ट क्यों उठाता है ? यह सब तो इन्द्रियों के गुण हैं। नेत्र रूप को ग्रहण करते हैं और उस तेज का अंश उसमें स्थित है। इसी प्रकार सब अपने २ विषयके ग्रहण करने वाले हैं। फिर तू इनके साथ मिल कर तप्त क्यों होता है ? शब्द की उत्पत्ति आकाश से हुई है और आकाशका अंश श्रवणमें स्थित है। फिर तेरा इसमें क्या लगा है ? स्पर्श इन्द्रिय की उत्पत्ति वायु से हुई है और वायु का अंश त्वचा में स्थित है और वही स्पर्श को ग्रहण करता है। फिर तू इसके राग-द्वेष से क्यों तप्त होता है ? रसना इन्द्रिय की उत्पत्ति जलसे हुई है और जलका अंश जिह्वा में स्थित है, वही रस को ग्रहण करती है। फिर इससे मिलकर तू व्यर्थ ही क्यों तप्त होता है। घ्राण इन्द्रिय गंध से उत्पन्न हुई है और

करने वाला भी कोई मिथ्या ही है। तब भला मैं इस मिथ्यासे मिल कर देहादिक इन्द्रियोंको इष्टानिष्टमें क्या राग-द्वेष करूं। इसका और मेरा कुछ संयोग नहीं। मैं सर्वदा निर्लेप शुद्ध अद्वैत आत्मा हूँ। मैं स्वयं ब्रह्म हूँ, मेरा किसी से संयोग नहीं। देहादिक असत्य है, इससे मैं इसका सम्बन्ध नहीं चाहता। अब तक अज्ञानने मुझे भले ही सताया पर अब मैं इसके हाथों नहीं पड़ूंगा। जैसे अज्ञानसे बालक को अपनी परछाहीं में बैताल का भय रहता है, वैसे ही अज्ञान बस यह विचार सबको दुःख देता है। अन्यथा, आत्मा अनात्मा नहींहोता और न आत्माही आत्मा होता है, वरन्‌जैसे सूर्यकी किरणों में जल और जेवरी में भ्रमवश सर्प का भान होता है, वैसे ही अज्ञान वश आत्मा में अहंकार भासता है। विचार किया जाय तो अहंकार का पता नहीं लगता। जैसे लोहे और वट्टे का संयोग नहीं होता, वैसे ही आत्मा और चित्तका योग नहीं होता। पर महान् आश्चर्य है कि यह अहंकार करने वाला कौन है? मुझे तो यही प्रतीत होताहै कि अब तक मिथ्या अहंकार अज्ञान से ही दुःख देता था। अन्यथा आत्मा अनात्मा नहीं होता और अनात्मा आत्मा नहीं होता। विचार करनेसे यह अहंकार दूर हो जाता है किन्तु जहाँ अहंकार होता है वहाँ दुःख भी आ जाते हैं। जैसे जहाँ मेघ होता है वहाँ बिजली भी होती है, वैसे ही जहाँ अहंकार होता है वहाँ दुःख रूपी मञ्जरी भी बढ़ती है। पर हाँ, जैसे गरुड़ की उपस्थिति में सर्प नहीं रहते वैसेही आत्म विचार की उपस्थिति में अहंकार का पता नहीं लगता। इस प्रकार निश्चय होता है कि चित्तादिक सब मिथ्या हैं और केवल अज्ञानवश भासते है। तब भला जब यही असत्यहै तब इनका रचा हुआ जगत कैसे सत्य होगा। यह सर्वथाही अकारण और मिथ्या भ्रम से भासता है। जैसे भ्रम वश आकाशमें दूसरा चन्द्रमा भासित होता है और चलती हुई नौकामें बैठने पर तट के वृक्षादिक चलते हुये भासते हैं और जैसे

रूप हो गया! अब तू जितने ही शीघ्र निवृत्त होगा, मैं उतने ही शीघ्र शुद्ध होऊँगा। जब तू निवृत्त हो जायगा तब निश्चय ही मुझे अपने आप आत्मा का भान होवेगा। रे चित! तू मिथ्या ही राग-द्वेष क्यों करता है। इन्द्रियों से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, सब अपने २ विषय में तत्पर हैं। इनमें अहं वस्तु कुछ नहीं। इनको तूने ही एकत्र किया है। अतः तू इन सबको लेकर अपना मार्ग ले अर्थात् निर्वाण होजा। इसी में तेरी जय और विजय है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम-प्रकरण का चौंतीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३४ ॥

-❁:❁-

पैंतीसवां सर्ग

उद्दालक विश्रान्ति वर्णन

हे रामजी! इतना कह कर उद्दालक फिर मनसे कहने लगा—रे मूर्ख मन! तेरे संयोग से मैंने बड़े बड़े भय पाये हैं। तू शरीर में व्यर्थ ही अहं-अहं करता है। भला तेरा इस शरीरसे क्या सम्बन्ध है शरीर तो रक्त मांस का पिंड है, इन्द्रियाँ और मन आदिक सभी जड़ हैं तो भला इसमें अहंकार करने वाला तू कौन है। आत्मा तो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और स्थूल से भी स्थूल है और वही शुद्ध निर्विकार और शान्त स्वरूप भी है। जो आत्मा है वही मैं अचिंत्य और चिन्मात्र रूप हूँ। मुझमें कोई विकार नहीं और मैं जन्म मरण आदिक समस्तविकारों से रहित हूँ। मुझमें जो विकार भासते हैं, वह मेरे नहीं चित्त के कल्पित हैं। क्योंकि आत्मा और मुझ में कोई विकार नहीं है। मेरा न तो जन्म है और न मरण है। मैं सर्व विकारों से रहित हूँ। मुझमें जो विकार भासते हैं, वह केवल चित्त का दोष है। इस मूर्ख चित्त ने ही सब असत्य पदार्थोंको सत्य बना रखा है। नहीं ज्ञात कि इसका रूप क्या है? यदि अहंकार कहूँ तो अहंकार का भी कुछ रूप नहीं ज्ञात होता। इससे सिद्ध हुआ कि यह नाम संज्ञायुक्त सभी पदार्थ मिथ्या हैं और अहंकार का ग्रहण

कोई प्रयोजन नहीं है। मैं इनसे सर्वथा ही भिन्न हूँ। मैं शुद्ध सच्चिदानन्द आत्मा हूँ। यह सारा जगत मेरे ही आश्रय है। सर्व में मैं ही व्याप्त हूँ।

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! ऐसा विचार कर उद्दालक ब्राह्मण विषयों से विरक्त हो पद्मासन लगाकर बैठ गया 'और अ, उ म्, "ऊँ ऐसे प्रण व मन्त्र का जाप करने लगा। साथ ही उसने हठ-योग की क्रियाओं को आरम्भ किया और उस प्रकार प्राणायाम द्वारा रेचक पूरक और कुम्भक करके मन को वशीभूत कर लिया। उस क्रिया और ध्यान से उसे सफलता मिली और उसने जो चाहा सो कर लिया।

रामजी ने पूछा—हे मुनीश्वर! उसके प्राणायाम का क्या क्रम रहा—कृपाकर यह भी बतलाइये। वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! अकार ब्रह्मा, उकार विष्णु, मकार शिव और उसमें जो अर्द्ध मात्रा तुरीया है, उसको क्रम से करने लगा। पहले प्रकार से रेचक प्राणा-याम करे जिसकी ध्वनि के साथ जिज्ञासु के शरीर से सब प्राण [श्वास] भीतर से बाहर निकल जाती है और हृदय शून्य और शुद्ध हो जाता है। इसी रेचक से अगस्त्य मुनि ने समुद्र को शून्य कर दिया था कि जिससे उठी हुई ध्वनि ब्रह्मा विष्णु और रुद्र के पास तक पहुँच गई थी। उसी प्रकार उद्दालक ने रेचक-प्राण द्वारा अपनी पुर्यष्टका को ब्रह्मरन्ध्र में स्थित किया। हे रामजी! हठ करने से दुःख होता है, इससे जब तक उसे रेचक में अर्थात् श्वास को बाहर रखने में सुख रहा तब तक तो उसने उसे बाहर रखा और जब श्वास रोकी न जा सकी तब उसको ऊँ, मन्त्र से विष्णु का स्मरण करके भीतर किया अर्थात् कुम्भक प्राण करके वायु को आधार-चक्र में रोका। उस क्रम से वायु न तो ऊपर जा सकती है और न नीचे आती है। जब वैसा करने से स्थित प्राण सङ्कट में हुए तब उससे एक ऐसी अग्नि निकली कि, जिससे उसका पाप पुण्यरूपी शरीर

गन्धर्व नगर मिथ्या ही भासता है, वैसे ही यह जगत मिथ्या ही भ्रम से भासित होरहा है। जब चित्त नष्टहोवे तब इसका भी अन्त हो जावेगा अर्थात् चित्त के अभाव होनेसे जगतका भी अभाव होजाता है। फिर देहाभिमानही तो समस्त दुःखोंका कारण है। इसकी उत्पत्ति अविचार से होतीहै। विचार होनेसे यह भी नष्ट होजाता है। परन्तु चित्त और अहङ्कार यह दोनों ही मनसे उत्पन्न हुये हैं और आत्म-साक्षात्कार के लिये यह दोनों ही परमवाधक परम शत्रु हैं। इनके रहते आत्मदर्शन नहीं होपाता। इस प्रकार हे मन! तेरे साथसे मुझे वड़ा दुःखमिला है। अब मैं तुझे नहीं चाहता। फिर यह तो वतलाकि तेरा और इस शरीरका क्या सम्बन्ध है। तू इससे मिलाप क्योंकरता है इसके मिलन से तो मुझे रञ्चमात्र भी सुख नहीं मिलता और दुःख ही मिलता है। पर तू कितना वड़ा मूर्ख है कि फिर इसी ओर दौड़ता है। तू जानता है कि इससे मुझे सुख मिल रहा है, पर इससे तेरा नाश होताहै। जैसे पतङ्ग दीपकको सुख रूप जान कर उसकी ओर दौड़ताहै और नाश होजाता है और जैसे मछली माँस की इच्छा से काटों में धँसकर नष्ट हो जाती है, वैसेही तैं इस शरीर की इच्छा करके दुःख रूपी काँटों में फँसकर नाश को प्राप्त होता है। तब—तू इसका अभिमान क्यों नहीं त्याग देता। फिर इस शरीर का कोई अस्तित्व भी तो नहीं है केवल मन का एक विकार मात्र है। पञ्चतत्वों से रची हुई इस देह की कोई वास्तविकता नहीं है। यह केवल मनका स्फुरण मात्र है। अतः तू स्फुरण को त्यागकर आत्मपद में स्थित होजा। इसी प्रकार तुझको शान्ति प्राप्त होगी। मेरा क्या है, मैं तो तुम सबसे परे, शुद्ध चिदानन्द स्वरूप हूँ। मेरे पास मन और इन्द्रियाँ कोई नहीं हैं। मैं शुद्ध आत्मतत्व हूँ। मेरा भोगों से क्या सम्बन्धहै? मैं उनसे मिलकर दीनताको क्यों प्राप्तहोऊं? ये भोग चाहे सर्वकालही स्थित रहें, अथवा तत्काल ही नष्ट हो जावें, इनके लाभ हानि से मेरा

आवश्यकता नहीं है और अब तुम्हारे लिये स्वर्गका द्वार खुला हुआ है, तुम वहाँ चलकर उत्तम सुखका भोग करो उद्दालक समझ गयाकि यह लोग हमको आत्मपद से गिराने आये हैं। उसने उन्हें अतिथि जान कर सत्कार तो किया किन्तु स्वर्ग जाने मे इन्कार किया। सिद्ध लोग कुछ दिन तक उसके पास रहकर फिर निराश हो चले गये। उद्दालक उसी प्रकार अपने तप में लीन रहा और अन्त में आत्मपद को प्राप्त हुआ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का पैंतीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३५ ॥

-:-❀-:-

छत्तीसवाँ सर्ग

ध्यान-विचार-वर्णन

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! जैसे उद्दालक ऋषि आत्मपद को प्राप्त हुये हैं, उसी क्रम से तुम भी अपने आपको विचारो। इसी में तुम्हारा कल्याण है और यही परम कर्तव्य है कि जैसा गुरू बतलावें और जैसे शास्त्र के वचन हों उनको धारण कर जगत-भ्रम से मुक्त होवे। बिना आत्म-अभ्यास के शांत पद नहीं प्राप्त होता। इसके लिये पहले गुरू और शास्त्रों के उपदेश को सुनिये और समझिये। फिर उसका जो भविष्य भूत अर्थ है उसमें दृढ़ अभ्यास कीजिये। इस प्रकार की दृढ़ता से ही आत्मपद का दर्शन होता है। यह सुनकर रामजी ने पूछा---हे त्रयकालदर्शी गुरुदेव! समाधि किसको कहते हैं? यदि मैं इस विषय का पात्र होऊं तो कृपाकर मुझे यह बतलाइये। वशिष्ठजी बोले---हे रामजी! समाधि का लक्षण यह है कि--यह जो गुणों का समूह, गुणात्मक तत्व हैं--जो इनको अनातमरूप देखते हुये अपने आपको केवल इनका साक्षीभूत चेतन जानता है और जिसका चित्त स्वभावसत्ता में लगकर शीतल हो गया हो उसे समाधिस्थ समझना चाहिए और वही समाधि है। फिर जो मयत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा आदिक गुणों में स्थित है और जो

जल गया। पश्चात मकर की ध्वनि से रुद्र का ध्यान करके उसने पूरक प्राणायाम किया कि जिससे सब स्थान वायु से परिपूर्ण होगये और चित्तकला उलटी होगई। उसे उर्द्ध गति प्राप्त होने से वह स्वयं पवित्र होकर औरों को भी पवित्र करने वाला हो गया। इस प्रकार उसने प्राणवायु पर विजय प्राप्त करली। फिर तो कहना ही क्या था वह पद्मासन बाँध इन्द्रियों को रोक कर एक गुफा में जा बैठा और तुरीया पद के निमित्त यत्न करने लगा। तब उस प्रकार अर्द्ध उन्मीलित नेत्रों से ध्यानावस्थित हो उसने प्राण अपान को मूल चक्र में रोका। वैसा करनेसे नवों द्वार रुक गये और चित्त स्थित होगया। हे रामजी! इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य के बल से उसने मनरूपी चंचल मृग को पकड़ा। फिर तो जो सात्वकी वृत्ति की उसको भी त्यागकर स्थित हुआ। उस क्रम से मन मूर्छित होगया। हाँ, मन मूर्छित तो होगया पर उसी समय उसे राजस तामस ने आ घेरा किन्तु अभ्यास में वह परिपक्व हो चुका था इससे उसने झट आत्म विवेक से उसे दूर हटा दिया और उस विवेक बल से फिर चित्तकला में लग चित्त की वृत्ति से आत्म-साक्षात्कार कर लिया। किन्तु इस चित्त का वेग वड़ा कठिन होता है, उतना करने पर एक क्षण तो स्थित रहा और फिर वाहर दौड़ा गया। तब उद्दालक ने फिर अभ्यास किया और उसे परमानन्द शान्त स्वरूप में लगाया। हे रामजी! वह पद ऐसा अमृत-मय है कि एकबार उसमें लग जाने से फिर नष्ट नहीं होता। जिसको उस पद का अनुभव हुआ है वह भोगों की इच्छा नहीं करता। जैसे जिसने स्वर्ग का नन्दनवन देखा हो उसे फिर कुंजवन देखने की इच्छा नहीं रहती, वैसे ही ज्ञानीजन भोगों की इच्छा नहीं करते और उन्हें कभी शोक नहीं उत्पन्न होता। हे रामजी! जब इस प्रकार उद्दालक स्थित था तब उसे कठिन तपस्वी जानकर आकाश से सिद्ध देवता उसके पास विमान लेकर आये और बोले कि हे तपस्वी! तुमने वड़ा तप किया है, इससे स्वर्ग चलो अब तुम्हें यहाँ रहने की

अचल हो जाता है। ऐसे चित्त की अचल-स्थिति कहते हैं। वह ध्यान में केवली मात्र से स्थित होता है किन्तु जिसके चित्तमें वासना रूपी गन्ध होती है और उसी में कर्तव्य का अभिमान फुरता है और वह उसी के कारण सर्वदा दुःखी रहता है। वासना नष्ट होने से मुक्त होता है। किन्तु जो चित्त से निर्वासनिक हो चुका है उसे शोक नहीं होता और वह स्वस्थ आत्मा है। उसको समाधि कहते हैं। और जिसके हृदय से संसार का राग-द्वेष मिट गया है और जो शांति को प्राप्त हुआ है उसको सदिव्य समाधि में स्थित जानो। अतः जो चित्त में पदार्थभाव है उसको त्याग कर निज स्वभाव में स्थित हो जावो, तब चाहे घर में रहो अथवा बनमें, तुम्हारे लिये दोनों ही समान हैं। क्योंकि समाहित चित्त दोषों से रहित होता है। इससे वह ज्ञानी कुटुम्बियों के साथ रह कर भी अपने को बन में बैठा हुआ ही देखता है। किंतु जो अज्ञानी है वह अपने चित्तकी अस्थिरता के कारण कहीं भी शांति को नहीं पाता। वह चित्त उत्थान में स्वरूप से गिरा हुआ नाना प्रकार के जगत-भ्रम को देखता है और जब चित्त निर्वाणप्रद आत्मा में स्थित होजाता है तब उपशम होता है। हे रामजी! सर्व भावपदार्थों में आत्माको अतीत जानना समाहित चित्त कहलाता है। और समाहित चित्त चाहे कितने ही जनों के समूह में क्यों न स्थित रहे, उसका किसी से सम्बन्ध नहीं रहता। क्योंकि उसका चित्त सर्वदा ही अन्तमु ख रहता है। वह सोते बैठते और चलते हुये सर्वदा ही जगत को आकाशरूप देखता है। ऐसा पुरुष अन्तमु खी कहलाता है। क्योंकि उसका हृदय आत्मज्ञान से शीतल रहता है और उसको सारा जगत शीतलरूप भासता है। वह जब तक जीता है तब तक विगतज्वर रहता है। पर, जिसके हृदयको तृष्णा जलाती रहती है उसके लिये सारा जगत दावाग्नि से ही तप्त भासता है। क्योंकि यह जगत चित्त में ही स्थित है, जैसी भावना चित्त में होती है उसी के अनुसार

आत्मदर्शन कर शान्तिमान हुआ है, उसको समाधि कहते हैं। हे रामजी! जिसको यह निश्चय हो जाता कि मैं शुद्ध-चिदानन्द स्वरूप हूँ और दृश्यों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, वह चाहे बनमें रहे अथवा गृह में उसके लिये दोनों ही समान हैं। अन्तःकरण का शान्त ही होना महान तपों का फल है। किन्तु जिसने ऊपरसे इन्द्रिय दमन तो कर लिया है और मन से जगत के पदार्थों की चिन्ता किया ही करता है, उसकी समाधि व्यर्थ है। उसका समाधि में बैठना वैसा ही है जैसे कोई उन्मत्त के समान नृत्य करे। पर, जो मन से वासना रहित है और देखने में व्यवहार करता है। उसको बुद्धिमानों की समाधि के समान जानो। हे रामजी! ज्ञानियों में भेद क्या है? कोई ज्ञानी व्यवहार करते हैं और कोई व्यवहार से रहित हो बनमें समाधिस्थ हो बैठते हैं, परमपद के सम्बन्ध में दोनों ही समान हैं? उनके लिये कर्तव्य अकर्तव्य कुछ भी नहीं। वे सर्व व्यवहार करते हुए भी अकर्तवान् ही बने रहते हैं। किन्तु अज्ञानी कुछ न करते हुए भी अपनी वासनाओं के वश कर्तव्यभाव को प्राप्त होता है। जैसे कोई पुरुष कथा सुनने को जाय और कथा में मन न लगावे। बैठे-बैठे इधर उधर चित्त दौड़ता हो तो वह सुनता हुआ भी नहीं सुनता है, वैसे ही ज्ञानी का चित्त आत्मपद की ओर लगा रहता है इससे सब कुछ करते हुये भी उसे कर्तापन का अभिमान नहीं होता और वह अकर्ता ही कहलाता है। हे रामजी! ऐसा पुरुष अपनी समाधि में केवल भावसे स्थित रहता है और जिसमें कर्तापन का अभिमान है और समाधि में भी बैठा है तो उसको व्युत्थान जानो। हे रामजी! चित्त को चलायमान करने का कारण स्मृति है। जब वह स्मृतियों को लेकर बैठता है तो स्मृतियां चित्त को वासनाओं में फैला देती हैं। फिर तो जैसे बीज से अंकुर उत्पन्न होकर फैल जाता है, वैसे ही वासना की स्मृति से चित्त फैल जाता है। फिर उसी प्रकार जब मन से जगत की वासनाओं का अन्त हो जाता है, तब चित्त

स्थित रहता है, और किसी में मोह-ममता नहीं रखता । ऐसा सत्य पुरुष अहं ममता से परे, जगत-विभाग की कलना से रहित और चैतन्य-अचैतन्य से परे, आकाशवत स्वच्छ, निर्मल, राग-द्वेष से परे और क्रोधादिक विकारों से सर्वदाही दूर रहते हुए भी काष्ठ और लोष्ठ के समान बना रहता है । इसकी दृष्टि में समस्त भूत-प्राणी एक समान होते हैं और वह पराई सम्पदा की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता द्वन्द के भय से नहीं बल्कि वह स्वभाव से ही उसे नहीं चाहता। उसकी दृष्टि में केवल सत्य भाव ही दिखलाई पड़ता है । वह असत्य तो जानता ही नहीं और इसी प्रकार वह ज्ञान, अज्ञान, जड़ और चैतन्य को भी वह नहीं देखता और केवल अद्वैत-तत्व को ही देखा करता है । उसका चित्त सदैव ही उस महाशांत पद में स्थित रहता है । उसके लिये उठना, बैठना, उदय, अस्त कुछ भी नहीं है । वह चाहे बड़े-से-बड़े भोगों में क्यों न लगा रहे अथवा बन में ही क्यों न बैठा रहे, मद्यपान करके उन्मत भी रहे और नृत्य भी करे किन्तु सब बराबर है । वह चाहे गयादिक तीर्थों में निवास करे शरीर में अगर चंदन का लेप करे, कीचड़ में ही पड़ा रहे या उसका शरीर अभी ही कटकर गिर पड़े या चिरकाल पर्यन्त यों ही बना रहे पर उसको स्वप्न में भी कुछ कलंक नहीं लगता । यह सुवर्ण के समान ही सर्वदा दोषों से रहित रहता है और ऐसे ज्ञानी को कर्त्तापन का लेश नहीं लगता । हे रामजी ! इस संवित चेतन में अहंता का होना ही दोष है । इसी के कारण जीव को दीन दशा प्राप्त होती है । अहंता वश ही जीव नाना प्रकार के दुःख सुख को भोगता हुआ परम्परागत जन्मों को देखता है, भय पाता है । अहंता न होवे तो दुःख कोई भी न प्राप्त हों और शांति भी मिले ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम—प्रकरण का छत्तीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३६ ॥

जगत भासता है। देश, काल, पृथ्वी, स्वर्ग लोक पाताल, वायु नदियाँ और आकाश आदिक जो कुछ जगत है, वह सब चित्तके ही अन्तःकरण में विद्यमान है और वही इस प्रकार से विस्तृत होकर भास रहा है। जैसे वेल के बीज में वेल फैल जाता है वैसे ही चित्त में जगत विस्तार पाता है। वाह्य जगत में यह सूर्य आदिक जो कुछ जगत है, वह सब चित्त के ही अन्तःकरण में विद्यमान है और वही इस प्रकार से विस्तृत होकर भास रहा है। जैसे वट के बीज में वट फैल जाता है, वैसेही चित्तमें जगत विस्तार पाता है। वाह्य जगत में यह जो सूर्य आदिक भासते हैं, वे भी चित्तके भीतर ही स्थिर हैं। जिस प्रकार फूल खिलता है तो उसके भीतर की सुगन्ध बाहर भासती है किन्तु वास्तव में न कुछ भीतर है, न बाहर किंचनता वश चैतन्य से स्फुरण होता है—वैसे ही वही सत्ता जगत रूप होकर भासती है। पर, यह सारा जगत आत्मरूप ही है। इसमें न कुछ सत्य है न असत्य। केवल आत्मसत्ता ही ज्यों की त्यों स्थित है। ज्ञानियों को ऐसा ही सर्वदा भासता है। शान्तिमय के लिये सब शान्त स्वरूप है और अज्ञानी नाश होता है, भय पाता है और उसे किसी प्रकार भी शान्ति प्राप्त नहीं होती। उसके लिए देश काल, स्वर्ग, पृथ्वी, आकाश, पाताल, वायु, पर्वत, नदियाँ सब कुछ प्रलय कालकी अग्नि के समान ही जलता हुआ दिखलाई पड़ता है। पर—जिसको आत्मज्ञान है, वह शान्तरूप ही भासता है। जैसे अन्धे को सारा जगत अन्धकार-स्वरूप भासता है और नेत्र वाले को प्रकाशरूप ही भासता है। हे रामजी! एक समाहित चित्त होता है। ऐसे आत्मप्रीति वाले पुरुष इन्द्रियों से कर्म करते भी हैं तो भी वे हर्ष शोक के वशीभूत नहीं होते। उनका प्रधान लक्षण यह है कि वे सबको आत्मरूप देखते हैं, चित्त को नहीं देखते, भविष्य की इच्छा नहीं करते और वर्तमान में भी उनका कोई राग-द्वेष नहीं होता। वह पूर्वापर गतिको देखकर हँसता है और समपद में

अड़तीसवां सर्ग

राजा सुरघ को माण्डव्य मुनि का उपदेश ।

वशिष्ठजी कहते हैं–हे रामजी ! आगे एक प्राचीन इतिहास हो चुका है, सुनो । उत्तर दिशा में एक सुगन्धित पृथ्वी है जो देखने में ऐसी जान पड़ती है कि मानों कपूर से लिपी हुई है । उसका नाम है, कैलाश पर्वत । यह शिवजी का प्रधान स्थान है । यहाँ कल्पवृक्ष लगे हुए हैं और बड़े वेगसे गङ्गाका प्रवाह चलता है। उसी प्रवाह से यह सब बड़ी २ नदियाँ निकली हैं । उसी हिमालय के नीचे स्वर्णवत जटा वाले कान्तों का वास है। इसी से उस देश का नाम कान्त देश पड़ा है। वहाँ का राजा सुरघ बड़ा ही प्रतापी और यशस्वी था। वह बुद्धि में बृहस्पति के समान और महात्मा शुक्र के समान तेजस्वी था उसकी नीति परायणता के आगे इन्द्र भी कुशल न थे। उसका प्रजा पालन धर्मयुक्त और यथोचित था । पापियों को दण्ड और धर्मात्माओं की रक्षा करना ही उसके जीवन का मुख्य ध्येय था। न कभी हर्ष और न कभी शोक ! जब जैसा कर्म आन प्राप्त होता तब वैसा ही आचरण करता था। एक समय वह अपने स्थान में बैठा था कि उसके मनमें कुछ विचार उठा और संशय रूपी वायु से उसकी बुद्धिरूपी पक्षिणी चलायमान हो गई उसने सोचा कि मैं राजा होकर लोगों को कष्ट देता हूँ-- यह बड़ा अनर्थ है मुझे चाहिये कि मैं सबको धन दूँ और किसी को भी कष्ट न दूँ ? पापियों को मैं क्यों कष्ट देता हूँ । मुझसे वे बड़े दुखी हैं और कष्ट न दूँ तो उनके मारे राज्य शासन नहीं चलता। दोनों ही प्रकार से मुझे चिन्ता है। हे रामजी ! इस विचार में वह राजा पड़ा ही था कि जैसे इन्द्र के घर में नारदजी पहुँच जाँय वैसे ही एक दिन उसके राज-सदन में मांडव्य मुनि जा पहुँचे । मुनि को देखकर राजा ने भली प्रकार उनका पूजन सत्कार किया

सैंतीसवां सर्ग

भेद—नैराश्य—वर्णन

हे रामजी ! यह जो चित्त आदिक जगत है, वह आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है । जैसे मिर्च से तीक्ष्णता भिन्न नहीं है और इक्षु से मधुरता भिन्न नहीं है, वैसेही देश, काल और जगत आत्मासे भिन्न नहीं है । जैसे पाषाण में कठोरता और जड़ता स्वतः ही विद्यमान रहती है, वैसेही आत्मा में अहंता स्वतः ही विद्यमान है । जैसे फूल, फल और पत्ते वृक्ष से भिन्न नहीं होते, वैसे ही आत्मा से अहंता भिन्न नहीं है । जैसे अग्नि में उष्णता, बरफ में शीतलता, सूर्य में प्रकाश और गुड़ में मधुरता होना स्वाभाविक है, वैसे ही आत्मा में जगत स्वभावतः सिद्ध और स्थित है । हे रामजी ! जैसे अमृत में स्वाद शक्ति विद्यमान रहती है, वैसेही आत्मामें देश, काल शक्ति विद्यमान रहती है । और जैसे मणि में प्रकाश होता है, वैसे ही आत्मा में अहंता आदिक विद्यमान रहती हैं । हे रामजी ! यह जो कुछ जगत दृष्टिगोचर होरहा है, वह सब आत्मतत्व का ही प्रकाश है । उससे भिन्न कुछ नहीं है । जैसे आकाश निज स्वभाव में ही स्थित है, वैसे ही आत्मा में सत्य स्थित है । यद्यपि वह स्वयं निष्किञ्चन है तथापि किंचनता भी उससे भिन्न नहीं है । और उसी किंचनता वश अथवा उसी संवेदन-वश वह निष्किंचन आत्मा संवेदनरूप होकर भसता है और जैसे जल में द्रवता और वायु में गमनता प्रतीत होता है, वैसेही ज्ञानरूप आत्मा में अहंतावश रूप, देश, काल और जगत भासता है । ज्ञानी जन सब कुछ जानते हैं । आत्मसत्ता ही सर्वत्र फैल रही है । उसमें और जगत में कुछ भेद नहीं है । वह अशब्द है, उसमें वाणी की गम नहीं । उसके प्रति जितने शब्द कहे गये हैं, वह जिज्ञासु को जताने के लिये हैं । पर, वस्तुतः उसमें द्वैत वस्तु कोई नहीं है । अतः तुम, उस एक आत्मतत्व को ही अपने हृदय में धारण कर स्थित हो जाओ ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का सैंतीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३७ ॥

उसीसे चल रहा है। अन्यथा इसका चलना कठिन हो जाता है। वह निराकार होते हुए भी इतने विस्तृत जगत को लीलामात्र चला रहा है। पर वास्तव में जगत से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह जगत को चित्त में फुरता है और चित्तरूपी ही इसके साथ लीला किया करता है। अस्तु, यह जगत वास्तव में कुछ नहीं है। फिर मैं इसमें संग्रह असंग्रह की चिन्ता क्या करता हूँ। यह गुणों का एक प्रवाह मात्र है, इसमें मुझे शोक नहीं करना चाहिए। पर, बड़ा आश्चर्य है कि यह मिथ्या–भ्रम भी मुझको सत्य सा प्रतीत होता था। किन्तु अब मैं अपने निश्चय से प्रबुद्ध हुआ हूँ। अब मुझ में दृष्टि दोष नहीं रहा। अब मैंने अलक्ष दृष्टि को देखा है। अब मैं अचैत्य चिन्मात्र तत्वको प्राप्त हुआ हूँ। अब मैंने पाने योग्य पदको पाया है। अब निश्चय ही दृश्यों से मैं मुक्त हुआ हूँ। इससे अब मैं अपने आप में स्थित हूँ। अब मुझे ग्रहण और त्याग कुछ नहीं है। न कुछ दुःख है, न कुछ सुख है। सब ब्रह्म है। फिर मुझे राग-द्वेष किसका होवे? अब तक मैं अपनी मूर्खता वश व्यर्थ ही कष्ट झेलता था। किन्तु अब मेरा कल्याण हुआ है और अब मैं प्रबुद्ध होकर अपने स्वभावमें स्थित हुआ हूँ। अन्यथा इसी आत्माके साक्षात्कार बिना अब तक मैं मोहमें पड़ा था पर अब मोह को क्यों प्राप्त होऊँगा। अब तो यह सारा जगत मेरे लिये आत्मरूप ही है। फिर मैं इसमें अन्य को कैसे और कहां देखूं। हे आत्मदेव! तुम्हारी दृष्टि निष्कलंक है, मैं सम्यक ज्ञानी हूँ। अस्तु मेरा मुझको ही नमस्कार है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम–प्रकरण का उन्तालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३९ ॥

—::-❀-::—

चालीसवां सर्ग

सुरघ वृतांत समाप्ति

वशिष्ठजी बोले–हे रामजी! ऐसा विचार कर राजा सुरघ

नहीं है, न मैं जगत हूँ, न यह मेरा जगत है। यह पृथ्वी भी मेरी नहीं है और न मैं पृथ्वी हूँ, न मैं कान्त हूँ और न यह मेरे भाई बन्धु हैं। मेरा किसी से कुछ सम्बन्ध नहीं है। न मैं नगर हूँ और न यह मेरा नगर है। फिर यह जो हाथी, घोड़े, मन्दिर, धन, स्त्री, और पुत्र आदिक हैं वह भी मेरे नहीं हैं और न मैं उनका हूँ। तब मैं व्यर्थ ही में इनका साथ क्यों करता हूँ, न मैं इनका हूँ और न यह मेरे हैं। न मैं इसका राजा हूँ और न यह राज्य मेरा है। मैं एक मात्र शरीर हूँ और इनसे ममत्व करना वृथा है। इनमें मुझे अहं-भाव न करना चाहिये। क्योंकि इनमें मेरा कुछ भी शब्द नहीं है। वह भी हाड़, माँस और रक्त युक्त एक समान हैं। पर मैं यह तो नहीं हूँ। यह जड़ हैं, मैं चेतन हूँ। फिर इससे मेरा क्या सम्बन्ध। जैसे कमल को जल स्पर्श नहीं करता वैसे ही ये मुझको स्पर्श नहीं कर सकते। इन कर्मेन्द्रियों से मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह तो स्वभावतः ही जड़ हैं। मैं चेतन हूँ। इनसे परे मन है। सो, मैं मन भी नहीं हूँ। क्योंकि मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार ये सभी जड़ हैं। अविद्या वश मेरा इनका साथ होगया है। भ्रम वश मैं इन्हें अपना स्वरूप जानता था पर यह सब भूतों का कार्य है, मेरा नहीं है। मैं चिन्मात्र हूँ। हा, अब तक व्यर्थ ही मैं इनके जाल में पड़ा था। भला, मेरा इनसे क्या सम्बन्ध ? कहाँ, मैं एक निर्विकल्प चेतन, अनन्त आत्मा और सर्व में व्याप्त हूँ और कहां यह इन्द्रियादिक भूत गण। मैं तो इन सबका आत्मा हूँ। यह आत्म-भगवान् ही तो सबमें व्याप्त हैं बड़ा लाभ हुआ वो अब मैंने अपने आपको पाया है। निश्चय ही अब मैं निज स्वरूप में जागृत हुआ वह मेरा स्वरूप उदय अस्त से रहित और सर्व विकारों से वंचित है। वही सबको प्रकाश देता है और ब्रह्मा से तृण पर्यन्त सब उसी की आत्मा हैं, उसी आत्मारूपी तागे में संसाररूपी मोती पिरोया हुआ है। कारण--कार्य, सब कुछ वही है। यह शरीर रूपी रथ

है और जब दीपक का प्रकाश पाता है तब भय नष्ट हो जाता है, वैसे ही इस संसार रूपी घोर अन्धकार में पड़ा हुआ पुरुष दुःख पाता है और जब ज्ञान रूपी दीपक उसे मिलता है तब निर्भय हो जाता है। हे रामजी! यह मार्ग ऐसा ही कंटकाकीर्ण है। बिना आत्म विचार के मनुष्य का चित्त शान्त नहीं होता। इससे उसे चाहिये कि वह विचार का आश्रय कर संसार सागर से पार होवे। आत्म विचार रूपी बल्ली का सहारा पाकर ही वह अवश्य ही पार हो जावेगा। ऊपर जो मैंने पवित्र दृष्टि बतलाई है उसको तुम अपने हृदय में विचार करो। तब जो निश्चय होवे. उसके साथ मिलकर अभ्यास करो अर्थात् विचार पूर्वक जब तुम्हें जो करना अभीष्ट है उसके साथ तन्मय होजावो और ऐसे लगे रहो कि जैसे उसे छोड़ कर तुम्हें और कुछ करना नहीं है। यह समाधि अवस्था है। जब तुम इस प्रकार प्रतिक्षण आत्म विचार में दृढ़ रहोगे तब उस प्रकार तुम समस्त पृथ्वी का आभूषण बने रहोगे। फिर चाहे जहाँ विचरो तुम्हें कोई चिन्ता न रहेगी।

यह सुनकर रामजी ने पूछा—हे महा मुनीश्वर! क्या यह कोई समाधि की अवस्था है। यदि ऐसा प्रसंग है तो कृपाकर इस समाधि को भी बतलाइये, क्योंकि अब भी मेरे चित्तमें कदाचित काल स्फुरण हो जाता है। संभव है इससे मुझे दृढ़ स्थिति प्राप्त हो जावे।

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! अच्छा तो सुनो, अब मैं तुम्हें महात्मा सुरघ और राजर्षि पर्णाद का सम्वाद सुनाता हूँ। इसको सुनने से तुम्हें अवश्य ही उस समाधि की अवस्था प्राप्त हो जायगी। राजर्षि पर्णाद का पहला नाम था—परघ। अपने राज्य-शासन में उन्होंने बड़े २ कार्य किये थे। एक समय इनके राज्यों में घोर दुर्भिक्ष पड़ा। प्रजा अन्न-जल से मरने लगी। लोग परघ का राज्य छोड़ दूसरे राज्यों में जाने लगे। राजा परघ ने दुर्भिक्ष हटाने की बड़ी चेष्टा की। परन्तु, प्रजा के पापों ने पुण्य का कुछ प्रभाव न

परमानन्द को प्राप्त हुआ। वह उस प्रकार के विचार अभ्यास से ऐसे ही दिव्य एवम् ब्रह्मरूप होगया जैसे गाधि-पुत्र विश्वामित्र तपस्या करके क्षत्रिय रूप से ब्राह्मण हो गया था। फिर तो वह रागद्वेष से रहित होकर अपना राज्य चलाने लगा। अब उसकी वृत्तियाँ शान्त हो गईं थीं और वह जलवत भाव धारण करके सम असम के विचार से परे हो राज्य करने लगा। तब उसको संसार भाव को फुरना न रह गया और जैसे वायु से रहित दीपक प्रकाशता है वैसे ही उसने शुद्ध प्रकाश को धारण कर लिया। तब वह दया भी करे परन्तु उसको दृष्टि में दया नहीं और निर्दयता भी करे तो उसे निर्दयता का भाव न प्रतीत होवे। तब उसके लिये सुख, दुःख, अर्थ-अनर्थ कुछ न जान पड़े। सब पदार्थों में एक भाव आत्मा ही को जाने और हृदय से वैसाही शीतल रहे जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा शीतल होता है। यह जगत को आत्मा का किंचन रूप जानता था और उसको सुख, दुःखका कोई भाव न रह गया। जैसे सूर्योदय से अन्धकार लोप हो जाता है वैसे ही उसका सुख, दुःख नष्ट हो गया। सब कुछ करता पर कभी भी विषयों के राग-द्वेष में न पड़ता था। सर्वदा सबसे निःशंक भाव रखता था। इस प्रकार से रहते हुये वह अन्त में जीवन्मुक्त हुआ और बहुत काल बीतने पर उसने शरीर का त्याग किया। फिर तो जैसे बरफ के सूर्य के तेज से देखते देखते लुप्त हो जाते हैं वैसे ही उसका शरीर अपने भाव को त्यागकर उज्वल भाव को प्राप्त हुआ और वह संकल्प-विकल्प रूपी मल से रहित हो निर्मल ब्रह्म हो गया।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम-प्रकरण का चालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४० ॥

-❀:❀-

इकतालीसवाँ सर्ग

हे रामजी! तुम भी इसी दृष्टि का आश्रय करो। इस क्रम से तुम्हारा भय नष्ट हो जावेगा। जैसे घोर अन्धकार में बालक डरता

आधि-व्याधि रहित हुए हैं। सो आज प्रत्यक्ष देखता हूँ कि अब तुम्हें विषयों की कोई चिन्ता नहीं है और न अब वह तृष्णारूपी सर्पिणी तुम्हें डसती ही है। हे मित्र! हमारी तुम्हारी मित्रता अवश्य थी किन्तु जो मैं ऐसे मार्ग में चला आया था कि फिर मुझे तुमसे मिलनेकी आशा न थी। किन्तु इस महत्वशाली आत्मज्ञानने ही हम दोनों को फिर मिला दिया। ईश्वरकी नीति जानी नहीं जाती। नहीं तो कहाँ तुम रहे और कहां हम रहे। सुखके बाद दुःख और दुःख के बाद सुख आ ही जाता है। संसार की दशा आगमापायी है। संयोगके बाद वियोग और वियोगके बाद संयोगका आना स्वाभाविक है। वैसे ही तुम्हारा हमारा भी संयोग का वियोग होगया था और अब फिर वियोगके बाद संयोग होगया है। ईश्वरकी नीति कितनी आश्चर्यमय है। हे साधो! परमात्मा की गति जानी नहीं जाती। वह महान्, गम्भीर, आश्चर्यमय और दुर्ज्ञात है। वियोग ने एक दूसरेको दूर से दूर करदिया और संयोगने फिर लाकर मिला दिया। ईश्वर की नीति आश्चर्यमय है। हे मित्र! मुझसे जो तुमने कुशल पूछी—सो, तुम्हारे शुभागमनसे मेरा आश्रम पवित्र होगया, मेरे बड़े ही पुण्य उदयहुए/जो आज तुम्हें यहाँ उपस्थित देखरहा हूँ। आज तुम्हारे दर्शन से मुझे क्या नहीं मिला। सन्तों का आगमन यश और सम्पदा की खानि है, सो आज मैं तुम्हें पाकर महान् सुखी हुआ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम—प्रकरण का इकतालीसवां सर्ग समाप्त ॥ ४१ ॥

-:::-❀-:::-

बयालीसवां सर्ग

हे रामजी! इस प्रकार दोनों मित्र परस्पर वार्तालाप कर रहे थे कि परघने पूछा—हे साधो! तुम तो मुझसे बहुत पहले से ही ज्ञान साधन में लगे हो सो बतलाओ कि समाहित चित्त किसे कहते हैं। सुरघ ने कहा—हे राजन्! तुम्हीं क्यों नहीं कहते? और यदि मुझसे ही पूछना चाहते हो तो सुनो। उन ज्ञानियों की विचित्र दशा है।

होने दिया। तब प्रजाको अत्यन्त कष्ट होवे और राजा को कुछ भी दुःख न प्राप्त हो-यह महान् शोक का विषय है-ऐसा सोचकर परघ पहाड़ की एक कन्दरा में जाकर तप करने लगा। उसका वह घोर तप वैसाही कठिनथा, जैसे किसी समयमें जितेन्द्रि ने किया था। तपकाल में परघने सूखे पत्तोंको खाकर ही अपने शरीर को जीवित रक्खा था-इस कारण उसका नाम पर्णाद होगया। एक हजार वर्ष तक उसने अपने चित्त की वृत्ति को आत्मपद में लगा रक्खा था। तब उस अभ्यास के वल से उसका चित्त स्थित हुआ और केवल ज्ञानरूप आत्मतत्व की प्रभा से हृदय निर्मल हुआ और उसकी सारी तप्तता मिट गई। वह राग-द्वेष से रहितहो निष्क्रय, आत्मदर्शी और जीवनमुक्त होकर विचरने लगा। अब वह सिद्धोंसे जा मिला और सर्वदर्शी हो गया। एक समय वह विचरते-विचरते अपने मित्र महात्मा सुरघ के आश्रम पर जा पहुँचा। सुरघने अपने प्राचीन मित्र को देखकर स्वागत किया। उसके उत्तर में परघ ने कहा--अहो, मित्र आज तो आपका अपूर्व दर्शन मिला। आज मैं आपको अपने स्थान में पाकर वैसा ही आनन्दित हो रहा हूँ, जैसे कोई चंद्रमा के मण्डल में जाकर आनंदित होता है। सत्य ही है, वहुत काल का जो वियोग होता है तो वहुत प्रीति वढ़ती है। जैसे वृक्ष को ऊपर काटेसे वढ़ता है, वैसे ही प्रीति बढ़ती है हे साधो! अब मैं भी ज्ञानवान हुआ हूँ और तुम भी माण्डव्य मुनि की कृपा से ज्ञान को प्राप्त हुए हो। सुरघ ने कहा-हे मित्र! सत्य ही है, अब तुम अवश्य सब दुःखों से मुक्त हो गये हो। देखो, आत्मज्ञान का कैसा प्रभाव है। अब जाओ देखो कि तुम्हारा राज्य कैसा समृद्धिशाली हो गया है। मैंने अपनी ज्ञान दृष्टि से देखा है कि अब तुम्हारी प्रजा वहुत सुखी है कहीं भी आधि व्याधि नहीं है तुम्हारा ही यश चारों ओर फैल रहा है। यहां तक कि ग्रामवासी कन्यायें अब तुम्हारा यशोगान करती हैं। तुम्हारीप्रजा, तुम्हारा नौकर, पुत्र और कलत्र सब

तो नहीं जैसे उष्णता के बिना अग्नि नहीं होती और शीतलता के बिना बरफ नहीं होता और श्यामता के बिना काजर नहीं होता, वैसे ही आत्मा के बिना जगत नहीं होता । तब भला ज्ञानी को जगतमें भिन्नता कैसे प्रतीत होगी । वहसर्वदा और सर्वप्रकार आत्मामें ही स्थित है। उसके कार्य-प्रकरण का कोई विभाग नहीं । वह आत्म-तत्व में ही स्थित है । तब भला उसको समाहित असमाहित–चित्त क्या कहा जाय ? समाधि और जाग्रतका कोईभेद नहींहोता । क्योंकि आत्मतत्व सर्वदा ही अपने आप में स्थित है। ज्ञानीजनों का ऐसा ही विचार है ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा–उपशम–प्रकरण का बयालीसवां सर्ग समाप्त ॥ ४२ ॥



तेतालीसवां सर्ग

इतना कहकर सुरघ फिर बोले हे राजन् ! इस सम्बन्ध में और कहां तक कहा जाय तुम तो स्वयं ही सर्व प्रकार से विज्ञ हो चुके हो में देखता हूँ कि अब तुम्हें परम पद की प्राप्ति हुई है । अब तुम्हारा अन्तःकरण वैसाही शोभायमान और शीतल हो गया है कि जैसे पूर्णिमाका चन्द्र शीतल होता है और शोभायमान होताहै अब तुम्हारी गम्भीरता मुझे भासित हुई है । नहीं तो कहाँ तब तुम थे और अब कहाँ पहुँच गये हो । अब तो तुमको सर्वत्र ही स्वस्थता और सन्तुष्टताही ज्ञात होती होगी और किसीमें एकताहोगी । देखो न अब तुम कैसा बीतराग होकर विराज रहे हो । निश्चय ही अब तुम सार और असारको विचार कर लिया है। फिर क्या अब, तुम संसाररूपी समुद्रसे पार होगये हो । अब तुम्हारे लिये जगतमें सम और असम पदार्थ कुछ नहीं है । क्यों अब तो तुम्हारा वह आशय कि मुझे प्रसन्नता प्राप्त हो, शान्त होगया होगा ? अब तुमको इष्ट अनिष्ट तो कुछ नहीं होगा ? हे राजन् ! इस जगत में ग्रहण करने योग्य वस्तु कुछ नहीं है । यह जो कुछ दिखलाई पड़ता है, सब अभास

दे चाहे मौन रहें, चाहे जगत के सर्व कार्य करते रहें परन्तु उनका चित्त कदापि चंचल नहीं होता। क्योंकि वे सर्वदा ही आत्मतत्व में स्थित रहते हैं। उनको प्रति समय समाधि अवस्था ही प्राप्त रहती है, किन्तु जो आत्मपद में स्थित नहीं रहते वे चाहे प्रति समय पद्मासन बाँधकर बैठे ही क्यों न रहें किन्तु उनको शान्ति नहीं मिलती और उन्हें समाधि का दर्शन नहीं होता। हे साधो! यह परमार्थ मार्ग ऐसा ही है कि समस्त आस्थारूपी तृणों को जला देती है। आशा रहित रहना ही इस समाधि का मुख्य ध्येय है। मौन रहने का नाम समाधि नहीं है। जिसके हृदय में संसार की सत्यताका क्षोभ नहीं है, जो अहंकार रहित है और अनउदय ही उदय हुआ है वह पुरुष समाधि में स्थित कहाता है ऐसे बुद्धिमान पुरुष सुमेरु पर्वत के समान सर्वदाही स्थित बने रहते हैं। हे साधो! जिस पुरुषको आत्मतत्व ही भासता है, जिसको ग्रहण त्याग कुछ नहीं है और जो निश्चिन्त है, वह समाधिस्थ है। जिसका चित्त एक क्षण के लिये भी आत्मतत्व में स्थित ही जाता है, उसको अत्यन्त समाधि हो जाती है और वह क्षण क्षण बढ़ती जाती है, निवृत्त नहीं होती। जैसे अमृत के पान किये उसकी तृष्णा बढ़ती जाती है, वैसे ही समाधि भी बढ़ती जाती है। जैसे सूर्योदय से सबको दिन भासता है, वैसे ही ज्ञानी को सब आत्मतत्व ही भासता है, भिन्न नहीं, और जैसे नदी का प्रवाह किसी से रोका नहीं जाता, वैसेही ज्ञानी की दृष्टि वे रोक होती है। और जैसे कालको अपनी गति एक क्षण को भी नहीं भूलती वैसे ही ज्ञानी को आत्मदृष्टि एक क्षणके लिये भी नहीं विस्मृत होती। जैसे वायु ठहरा भी हो किन्तु उसे अपना गमन भाव नहीं भूलता। वैसे ही ज्ञानवान को चिन्मात्र सत्ता का विस्मरण नहीं होता। वह जब जहाँ ही देखता है, उसे आत्मतत्व ही दिखलाई पड़ता है। जैसे दर्पण में देखने से अपना ही मुँह दिखलाई पड़ता है, वैसे ही ज्ञानीको सर्व प्रतीत होता है। फिर आत्मा के बिना जगत होता भी

सर्वदा उसी में स्थित रहो । राग, द्वेष, इच्छा ग्रहण और त्याग आदिक सर्व विकारमात्र हैं । अधिक क्या कहूँ, जिसने बासनाओं को नष्ट कर दिया है वह उपशमवान होकर कल्याण मूर्ति बन गया है । उसको संसार सागर का कोई भय नहीं है । वह सर्व प्रकार से परम पद को प्राप्त हो चुका है ।

श्रीयोगवशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४३ ॥

चौवालीसवां सर्ग

कारणोपदेश

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! सुरघ के इस निश्चय से राजर्षि परघ को सन्तोष प्राप्त हुआ और वे कुछ समय के लिये अपने मित्र सुरघ के उस स्थान में ठहर गये । फिर दोनों मित्र इसी प्रकार से तत्वविवेचन करते रहे । अब उनमें मित्र भाव नहीं था । अब दोनों ही महात्मा एक दूसरे को अपना गुरु समझते थे । हे रामजी ! तुम भी इसी प्रकार से तत्व-विवेचन करते रहो और सर्वदा इन पर विचार किया करो । इस क्रम से तुम्हें परमबोध की शक्ति प्राप्त होजावेगी और तुम्हारे हृदय में यह जो संकल्प का अहङ्काररूपी बादल उठा करता है वह सर्वथा ही नष्ट हो जावेगा । हे रामजी ! आत्मा ही सत्य और सर्व आनन्दों की सम्पदा है, तुम उसी में स्थित होओ । जो पुरुष नित्य अन्तर्मुख होकर उस अध्यात्ममय चिदानन्द में चित्त को लगाता है वह सर्वदा ही सुखी रहता है । उसको शोक कभी नहीं होता और कलंक कभी नहीं लगता । जैसे कमल जल में रहकर भी उससे ऊँचा दिखलाई पड़ता है और उसको जल स्पर्श नहीं करता, वैसे ही ज्ञानीको जगत-व्यवहार के राग-द्वेष स्पर्श नहीं करते । क्योंकि जब एक बार जिसका मन पूर्णरूप से शान्त हो गया तब उसको जगत इष्ट अनिष्ट पदार्थ चलायमान नहीं कर सकते । जैसे सिंह को मृग दुःख नहीं दे सकते, वैसे ही ज्ञानी का

रूप और अदृश्य हैं। तब भला इसमें किसको ग्रहण किया जाय। और यदि यह कहिये कि नहीं यह ग्रहण करने योग्य नहीं है, इनका त्याग ही करना चाहिये तो यह भी नहीं हो सकता। क्योंकि जब ये अभावरूप ही हैं तब इनका ग्रहण और त्याग क्या? किस को ग्रहण किया जाय और किसको त्याग किया जाय। क्योंकि जब इनका कोई अस्तित्व ही नहीं है तब ये सभी तुच्छ अतुच्छ पदार्थ हैं फिर इनका कौनसा अङ्ग त्याग किया जाय? यह जगत तो बिल्कुल ही निःसार है, और इसमें उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ तुच्छ अतुच्छ हैं। चाहे कोई बड़ा पदार्थ हो या छोटा। कोई अल्प समय रहने वाला हो चाहे कोई चिरकाल पर्यन्तका हो—किन्तु वे सभी तुच्छ हैं। अल्प में अल्प और अधिक में अधिक गुणदोष भी हैं। इससे एक को तुच्छ और एक को अतुच्छ कहा जाता है। कोई छोटा और कोई बड़ा नहीं है, नष्ट तो सभी होजांयगे। तब जबकि दोनों ही नष्ट होने वाले हैं तब किसकी इच्छा करूँ। फिर मेरे इस लोक के पदार्थों की तो बात ही क्या है, मुझे त्रैलोक्य के भी पदार्थ नहीं चाहिये। मुझे उसकी रमणीयता की आवश्यकता नहीं। सभी तुच्छ और नाश रूप हैं। अविचार से जीवों को भासते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध जो इन्द्रियोंके विषय हैं वे सब निस्साररूप हैं। जगत में स्त्री को बड़ा पदार्थ मानते हैं किन्तु वह भी देखने में ही सुन्दर है और भीतर से रक्तमाँस विष्टा और मूत्र का थैला ही है और उसमें भी कुछ सार नहीं है। फिर पर्वत, ईंट, पत्थर, समुद्र जल और वनस्पतियां आदिक काष्ट-पात्र जो कुछ भी चर अचर पदार्थ हैं सब आपातरमणीय हैं और अविचार से ही सुन्दर जान पड़ते हैं। इनको इच्छा करना मूर्खता और नष्टता है। अज्ञानी ही इनकी इच्छा करते हैं। समदर्शी और ज्ञानवान जगत के किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं करते और सर्व भाव से उनको अरमणीय ही जानते हैं। इनसे हे साधो! आत्मतत्व ही सर्वश्रेष्ठ है तुम

बँधा हुआ है । इसे जरावस्था रूपी पत्थर जर्जरी भूत कर देते हैं, और यह भोग रूपी गढ़े में गिरकर कर्मरूपी भार को लिये हुये जन्मरूपी बन में भटकता हुआ, कर्म कीचड़ में फँस कर रागद्वेष रूपी मच्छरों से कष्ट पाता रहता है । जब स्नेहरूपी रथ को पकड़ कर अपनी ओर खेंचता है तब पुत्र, स्त्री आदि के मोहरूपी कीचड़ में ऐसे गोते खाता है कि फिर निकलना कठिन हो जाता है । हे रामजी ! यह जीवरूपी ऐसा ही बैल है । अब तुम उससे सत्संग और सत्शास्त्रों की सहायता से निकलने का यत्न करो । जब उस क्रम से तत्वों का अनुसन्धान करोगे तब निश्चय ही संसार सागर से तर जाओगे । हे रामजी ! जो इस संसार सागर को पार कर देते हैं उन्हीं की युक्ति से इस संसार को पार हो जाओगे अन्यथा दूसरी कोई युक्ति नहीं है । जहाँ सन्त नहीं रहते, जहाँ एक रात्रि भी वास नहीं करना चाहिये । वह भूमि मरुभूमि के समान ही त्याज्य है । क्योंकि इस अपार संसार में सन्तजन ही एक ऐसे कल्प-वृक्ष हैं कि जिनकी स्निग्धता और शीतलता से समारोह रूपी तप्तना नष्ट होती है अन्यथा दूसरा कोई भी उपाय नहीं है । सो पुरुष सन्तों के निकट जाता है उसकी तप्तता अवश्य ही नष्ट हो जाती है और वह परम शान्ति को लाभ करता है । हे रामजी ! अपना आत्मा ही अपना मित्र है और अपना आप ही अपना शत्रु है । इससे विचार कर अपने आपको कीचड़ में न डालो आत्म अभ्यास से उद्धार होता है । वह अभ्यास भी कैसा है ? देखो, पहले यह विचार करना चाहिये कि जगत क्या है, कैसे उत्पन्न हुआ और कैसे निवृत्त होगा । मैं कौन हूँ, सार क्या है और असार भी क्या है ? तब जो सार हो उसको ग्रहण करो और जो असार हो उसको त्याग दो । हे रामजी ! न धन कल्याण करता है, न मित्र और न बांधव, और शास्त्र भी कल्याण नहीं करते । अपने आप ही से उद्धार होता है । इससे अपने मनरूपी

जगत के पदार्थ दुःखी नहीं बना सकते। उसे विषयों की तृष्णा नहीं रहता और न वह विषयों के लिये कभी दीन होता है। भला नन्दवन में स्थित रहने वाले पुरुष को कंटकों के वृक्ष की क्या इच्छा होगी ? उसी प्रकार जब जिस पुरुष ने एक बात इस जगत को अविद्या रूप जान लिया तब उसे जगत के पदार्थ कष्ट नहीं दे सकते। उसके हृदय में भोगों की दीनता वैसे ही नहीं उपजती जैसे नन्दन वनमें कण्टक का वृक्ष नहीं उत्पन्न होता है। देखने में तो वह जगत का सार कार्य करता है किन्तु कोई भी कार्य उसे स्पर्श नहीं करते। जैसे आकाश में अन्धकार दिखलाई पड़ता है किन्तु आकाश को स्पर्श नहीं करता वैसे ही ज्ञानी भी जगत में रहता और उसके सर्व कार्यों को करता रहता है किन्तु कोई भी कार्य उसे स्पर्श नहीं कर पाते अर्थात् न तो वह किसीमें लिप्त होता है और न कोई कार्य उसे अपने मोहपाश में बाँध सकते हैं। हे रामजी ! एक विद्या है, एक अविद्या। विचार को विद्या और अविचार को अविद्या कहते हैं। अविद्या से विषय भोग का स्वाद मिलता है और विद्या से आत्मानन्द की प्राप्ति होती है। विद्या एवं ज्ञान में ऐसी अद्भुत-शक्ति है कि उसके प्राप्त रहने से प्राणी इन्द्रियों के व्यवहार में अन्धा नहीं हो पाता। उसे रागद्वेष रूपी निशाचर नष्ट नहीं कर सकते। वह मोह को नहीं प्राप्त होता। उसका जन्म लेना सार्थक हो जाता है। वह अपने कुल को सफल कर देता है। जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा अमृत से पूर्ण रहकर अपने में शीतल होता है वैसे ही ज्ञानी पुरुष आत्मचिन्तन में अभ्यासरत एवं शान्तिमान होता है। हे रामजी ! जब जीव को आत्मपद प्राप्त होता है, तब उसके समस्त क्लेशों का अन्त होजाता है और वह सर्वभाव से सुखी हो जाता है। किन्तु जिसने आत्म चिन्तन नहीं किया वह अभागा है। ऐसे पुरुष को जीवन पर्यन्त कष्ट ही भोगना पड़ता है। हे रामजी ! यह जीव रूपी बैल है जो अनेक आशारूपी फाँसियों से

मानों सम्पूर्ण जगत का गृह वही है। उसके उत्तरी भाग में फलों से लदे हुये बहुत से सुन्दर वृक्ष और फूलों से भरे हुए कितने ही तालाब हैं। कहाँ तक कहें, उसकी रचना स्वर्ग के समान है। वहाँ अत्रि नामक एक बड़े ज्ञानी महर्षि रहते हैं। कुछ समय बाद उनके पास दो तपस्वी और आकर कहने लगे। पश्चात् उन दोनों की कुटी में दो अत्यन्त ही सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुये। एक का नाम भास और दूसरे का नाम विलास पड़ा। जब वे बड़े हुये तो उन दोनों में परस्पर बड़ी प्रीति हो गई, मानों वे एक ही थे। कुछ ही समयमें उनका सूर्य चन्द्रमा के समान सुन्दर प्रकाश होगया उनके ज्ञान की सीमा न रही। परन्तु काल बड़ा बली है, उसके आगे किसी का वश नहीं। कुछ काल पश्चात् उनके माता पिता स्वर्ग-गामी हुये। उनके शोकमें भास और विलास का मुख कुम्हिला गया शरीर की शोभा नष्ट हो गई। हे रामजी! जैसे ऊजड़ बन के वृक्ष जल के बिना सूख जाते हैं और कुम्हिला जाते हैं, वैसे ही उन दोनों भाइयोंका शरीर सूख गया। वे दोनों विगत-ज्वर होकर विचरने लगे। परन्तु वे अर्द्ध प्रबुद्ध थे और उन्हें जैसा चाहिये था वैसा निर्मल ज्ञान प्राप्त न हो सका था, इस कारण वे एक दूसरे से पृथक होकर भी कुछ काल पश्चात फिर आ मिले और पुनः साथ-साथ रहने लगे। नित्य ही विचार विमर्श होता, नित्य ही एक न एक नवीन प्रश्न उपस्थित ही रहते। एक दिन विलास ने कहा—हे भाई! निश्चय ही जीवनरूपी समुद्र अमृत का एक वृक्ष है कि जिसमें सुखरूपी वृक्ष फले हुये हैं। तुम इतने दिन तक उसी में सुखी रहे हो। परन्तु यह तो कहो कि इतने दिनों तक जब कि तुम मुझसे पृथक रहे हो उस अवधि में कैसी क्रिया करते रहे, मुझे तो ऐसा प्रतीत होरहा है कि अब तुमने अपने चित्तको अवश्य ही कुछ निर्मल किया है और अब तुम आत्मपदको पाये हो। अब तुम शोक रहित जान पड़ते हो। ऐसा ज्ञान होता है कि अब तुमको विद्या का फल कुछ मिला है और अब

मित्र के साथ मित्रता करो। वही मित्र है। वही शत्रु है। जब मनमें दृढ़ वैराग्य का अभ्यास होता है तब संसार बाण से छुटकारा मिल जाता है। अन्यथा यह जीवरूपी हाथी जन्मरूपी गढ़े से गिरा हुआ तृष्णा रूपी जंजीर में बँधा हुआ कामना रूपी मद से सर्वदा ही उन्मत्त बना रहता है। जब यह छोड़े तब कहीं मुक्ति प्राप्त हो। हे रामजी! इस हृदयरूपी नेत्र में अनातम अभिमानरूपी ऐसा मल रक्त हो गया है कि वह विचार रूपी औषध के बिना कदापि नष्ट नहीं हो सकता। हे रामजी! और कुछ उपाय चाहे करो या न करो किन्तु इस शरीर का अभिमान तो अवश्य ही त्याग दो। यदि यही करलोगे तो भी आत्मरूपी सूर्य का प्रकाश होजावेगा और जब इस प्रकार अहंकार रूपी बादल नष्ट होजाँयगे तब आत्मरूपी सूर्य का प्रकाश नष्ट हो जावेगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का चौवालीसवां सर्ग समाप्त ॥ ४४ ॥

-❀❀❀-

पैंतालीसवाँ सर्ग

अन्तर प्रसंग वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! अपने मनसे ही मनको छेदकर अहंभाव का नाश करो। जब तक मन नष्ट नहीं होगा तब तक संसार का दुःख दूर नहीं होगा। हे रामजी! जैसे प्रलयकाल में अनन्त दुःख उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही मनके होने से अनन्त दुःख उत्पन्न होते रहते हैं। इस पर एक प्राचीन इतिहास है, सुनो। हे रामजी! सब पर्वतों में बड़ा एक सह्याचल नाम का बहुत ही सुन्दर पर्वत है उस पर सर्वदा ही नाना प्रकारके फूल फूले रहते हैं, हंस कलोल करते चलते रहते हैं और उस पर मोतियों की बहुतसी खानें हैं। कहीं देवताओं के स्थान हैं और कहीं पक्षी शब्द करते हैं। उसके नीचे कान्त जाति का वास है और ऊपर सिद्ध और विद्याधर वास करते हैं। उसके पृष्ठ भाग में मनुष्य रहते हैं और नीचे भागमें नाग रहते हैं

वासनारूपी जाल में पड़कर महा दुःख को प्राप्त हुई है। हे साधो! 'यह मैंने किया है, यह करता हूँ और यह करूँगा' यही वासना-रूपी जाल है। इससे एक क्षण भी विश्राम नहीं मिलता। इस प्रकार चित्त रूपी कमल को राग-द्वेष रूपी हाथी सर्वदा ही चूर्ण किया करता है। यह मेरा मित्र है, यह मेरा शत्रु-इसी प्रकार अहं-कार हमको सर्वदा मारा करता है। शुद्ध आत्मारूप को त्याग देने से ही यह दीनता को प्राप्त हुआ है। देहादिक का मोह ही इसे मार रहा है, नहीं तो इसे क्या कष्ट होता? किन्तु जैसे राज्य से रहित राजा कष्ट पाता है, वैसे ही यह आत्मभाव से रहित होने के कारण कष्ट पा रहा है। अन्यथा इसको जन्म-मरण का दुःख क्यों भोगना पड़ता? इसकी कुशल तो तब होवे, जब यह देहाभिमान का त्याग करे। अन्यथा इसको कुशल और सुख दुर्लभ है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम-प्रकरण का पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४५ ॥

छियालीसवां सर्ग

हृदय-सङ्ग-विचार वर्णन

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! भास के इस कथन से विलास को बड़ा लाभ हुआ और वह अपने उस भाई के साथ मिलकर अभ्यास में तल्लीन हो गया। फिर तो उसको वह निर्मल ज्ञान बहुत ही शीघ्र प्राप्त हो गया कि जिसके प्राप्त हो जाने पर मोक्ष पद हाथ में आजाता है। इससे हे रामजी! कल्याण के हेतु ज्ञान के अति-रिक्त और कोई नहीं है। परन्तु जो आशाओं में बंधा रहता है और ज्ञान का आश्रय नहीं लेता, वह संसार सागर को नहीं पार कर सकता। जैसे पंख टूटा हुआ पक्षी समुद्र को नहीं पार कर सकता, और बीचही में गिरकर गोता खाने लगता है, वैसे ही जिनके वैराग्य और अभ्यासरूपी पंख टूटगये हैं, वे संसार सागरको नहीं पार करसकते और बीच ही में गोते खाने लगते हैं। किन्तु जैसे गरुड़ समुद्र को पार कर जाता है, वैसे ही वैराग्य और अभ्यास से ज्ञानीजन संसार को

तुम निश्चय ही कुशल रूप हुए हो। भास ने कहा-हाँ ! भाई जैसा तुम कहते हो, सब कुशल ही है, और नहीं तो इस जगत में कुशल कहाँ ? सुख कहाँ ? हे साधो ! जब तक ज्ञेयने परमात्मतत्व को नहीं प्राप्त किया, जब तक चित्त ने भूमिकाओं को नहीं पार किया और जब तक संसार समुद्रसे नहीं पार हुये तब तक हमको तो क्या, किसी को भी सुख कहां है ? सुख तो तब होता जब हमारे विचारों में आशारूपी बेलि न लगी होती। परन्तु अभी तो ऐसा नहीं है अभी तो हमको वह आत्म विचाररूपी हँसिया नहीं प्राप्त हुआ कि जिससे वह आशा रूपी कण्टकों की बेलि काटी जाती है। फिर कुशल कहाँ है ? कुशल तो तब होगा. जब आत्मज्ञान हो गया होता। हे साधो ! यह संसार रूपी एक विशूचिका रोग है कि जो आत्मरूपी औषधि से दूर होता है। समस्त जीव नित्य ही एक न एक ऐसी क्रिया करते रहते हैं कि जिससे उनको दुःखही प्राप्त होता है और सुख का दर्शन भी नहीं हो पाता। सुख प्राप्त भी तो कैसे होवे यह अस्थि पंजर युक्त शरीर तो नित्य ही दुःखों का घर है। इसकी तीनों अवस्थायें एक से एक बढ़कर दुःखदायी हैं। इसको अंत में काल का भक्षण होना ही पड़ता है। तब यह फिर उत्पन्न होता है और फिर नष्ट हो जाता है। अस्तु, इसमें सुखका लेश नहीं यह चित्त रूपी हाथी को तृष्णारूपी हथिनी दूर से भी दूर भगा ले जाती है जैसे चील्ह पक्षी मांस की ओर दौड़ जाता है, वैसे ही यह चित्त विषयों की ओर दौड़ जाता है और आत्मरूपी चिन्तामणि की ओर नहीं जाता। फिर इसको सुख कैसे प्राप्त होवे? इसको प्राण रूपी कण्टक और तृणरूपी जल सर्वदा ही कष्ट दिया करते हैं। यह सर्वदा ही चैत्य दृश्य में ही मग्न रहता है। यह चित्तरूपी ध्वजा काल रूपी वायु से सर्वदा ही हिलती रहती है। इस चित्त रूपी समुद्र में ही नित्य चिन्ता रूपी लहरें उठ रही हैं, जिसमें जीव रूपी तृण कष्ट पा रहा है, और यह बुद्धि रूपी पक्षिणी

वह सर्वतो भाव से शुद्ध है और उसमें द्वैत शब्द कोई नहीं है। ज्ञानी को द्वैत का स्फुरण नहीं होता, पर जो अज्ञानी है उसको द्वैत कलना उठती है। हे रामजी! इसी प्रकार समस्त जीव दुःखी हैं परन्तु वास्तव में जीव अदुःख रूप है–अज्ञान वश अपने आपको दुःखी देख रहा है। जैसे अविचार वश, अपने घर में भी चोर की भावना होवे वैसे ही आत्मा में अविचार वश दुःख की भावना होतीहै। इस जीवका न रूपहै और न इसका कोई शब्दहै परन्तु कलना के वश अपने आपको सम्बन्धी जानता है। जैसे स्वप्न में कोई वाराङ्गना आकर बंधन करे और अपने गृह में भी बैताल का भय होवे वैसे ही निज कल्पनावश जीव बंधायमान होता है। हे रामजी! देह औ आत्मा का सम्बन्ध वैसे ही असत्य है कि जैसे जल और नौका का सम्बन्ध असत्य होता है। जब हृदय में ऐसा निश्चय हो जाताहै और हृदयसङ्ग रहित होजाता हैतब देहको कुछ भी दुःख नहीं होता। जैसे जल और पत्थर इकट्ठे रहते हैं परन्तु भीतर से सङ्ग का अभाव है इससे उन्हें कुछ दुःख नहीं होता, वैसे ही जब हृदय सङ्ग से रहित हो जाता है तब इंद्रियों के होते हुये भी दुःख का कुछ भी स्पर्श नहीं होता और जीव दुःख रहित पद को प्राप्त हो जाता है परन्तु जो देहाभिमानी है उसके हृदय रूपी वृक्ष में मोह रूपी अनेक शाखायें उत्पन्न होती रहती हैं और वह उसी प्रकार सर्वदा एक न एक दुःख से आहत होता रहता है। वह जिधर ही देखता है उधर ही जगत का नानात्व प्रकार दिखलाई पड़ता है। इसके विपरीत जो देहादिकों में बन्धनवान नहीं है वह एक आत्माभाव को ही देखता है और उसके शुद्ध चित्त में एक आत्मा ही भान होता है। उसके निकट संसार की कोई सत्ता नहीं होती, वह संसार से मुक्त हुआ रहता है। किन्तु जो सर्व व्यवहार को तो त्याग बैठते हैं और तप भी करते हैं, और जिनका चित्त आसक्त है वह बंधन में है। बस यही बंध और मोक्ष है। जो हृदयसे सङ्ग रहित है वह कर्त्ता हुआ भी अकर्त्ता है है, सब आत्मरूप है। मनरूपी चितेरेने सङ्गरूपी रङ्गसे शून्य आकाश

पार कर जाते हैं ऐसे देहातीय महात्मा चिन्मात्र में स्थित रहकर सर्वदा ही ऊँचे की ही ओर देखते हैं अर्थात् उनकी दृष्टि विशाल होती है और वे देहादिक की कुछ भी परवा नहीं रखते और उसे देखकर हँसते हैं। वे देहादिक दुःख से कदापि खेदवान नहीं होते। वे मनके क्षुभित होने से कदापि क्षुब्ध नहीं होते और सर्वदा ही आत्मतत्व से लीन रहते हैं। उनके आत्मतत्वमें कुछ भी क्षोभ नहीं होता। जैसे तरङ्गों पर धूलि पड़ती है, परन्तु उससे समुद्रको कुछ भी क्षोभ नहीं होता, वैसे ही मनके शुद्ध होनेसे आत्मा को कुछ भी क्षोभ नहीं होता। हे रामजी! जैसे जल और हंस का और जल और नौका का कोई सम्बन्ध नहीं होता। वैसेही देह और आत्म का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। जैसे जल और पत्थर का सम्बन्ध नहीं किन्तु उनका साथ हो जाने से उस पर वृक्ष एवं काष्ट उत्पन्न हो जाते हैं वैसेही देह और आत्मा के संयोग से चित्तवृत्ति फुरती है। हे रामजी! यह जीव के सङ्ग होने से दुःखी हो रहा है। निःसङ्ग रहे तो कोई दुःख न होवे। यह मेरा है, यह तेरा है, इसी अभिमान ने समस्त दुःखों को उत्पन्न किया है। जहाँ अभिमान नहीं है, वहाँ दुःख भी कोई नहीं है। हे रामजी! अभिमान में बड़ी शक्ति है, बड़ी प्रबलता है। इससे वेग में पड़ा हुआ जीव दुःखों से मुक्त नहीं होता। पर जब वही अहंभाव देह में नहीं रहता अर्थात् उसका संसर्ग जाता रहता है, तब कोई भी कष्ट नहीं होता। तब यह जीव ऐसा निर्मल हो जाता है कि जैसे दर्पण निर्मल हो जाता है और जैसे निर्मल दर्पण में सारे दृश्य प्रतिबिम्बित होते हैं वैसे ही अहं के विकारों से रहित हुआ शुद्ध आत्मा निर्मल हो जाता है और उसमें सब कुछ भासने लगता है। किन्तु जैसे दर्पण में सारे दृश्य प्रतिबिम्बित होते हैं किन्तु उसका उन सबसे कोई स्पर्श नहीं होता वैसे ही शुद्ध आत्मतत्व के निकट जगत की कोई भी क्रिया समर्थित नहीं होती क्योंकि यह सर्वथा ही संवित मात्र और आत्मत्व मात्र स्थित है।

परम्परा उदय होती है। जैसे गढ़े के वृत्त के कण्टक होवैं ऐसे ही सङ्ग से दुःख उत्पन्न होते हैं। जैसे नासिका में रस्सी डालकर ऊँट, बैल और गधे भार उठाते फिरते हैं और मार खाते हैं वैसे ही विषयों में संसक्त पुरुष आशा रूपी फाँसी से बँधकर दुःख पाते हैं। बस, यही संसक्त और यही सङ्ग, यही बन्धन और यही एक देशी दोष–पाप है कि जिसके वश होने से ही जड़ चेतन सभी शीत और उष्ण आदि का अनन्त कष्ट भोग रहे हैं। संसक्तता ही उन्हें योनियों के गर्त में गिरा रही है। यह संसक्तता भी दो प्रकार की है। एक बन्ध और दूसरी बन्धन करने योग्य। इन्हीं दोनों के आश्रित होकर जीव कष्ट पा रहे हैं। आत्मतत्त्व से गिरकर क्या नहीं भोगता। देहाभिमानी मूर्ख है। वह संसार में बारम्बार जन्मता और मरता है। किन्तु जिसको आत्मतत्व का ज्ञान हुआ है और जिसकी आत्मा में निष्ठा है, वह वन्दना करने योग्य है, वह आवागमन के चक्कर में नहीं पड़ता। वह सर्वथा ही मुक्त–स्वरूप और वन्दना करने योग्य है। परन्तु जो देहादिक भाव में संसक्त हैं वे बन्ध हैं। उनको जन्म, जरा और मृत्यु से कभी छुटकारा नहीं मिल सकता। वे सर्वदा ही कष्ट पाते रहते हैं। हे रामजी! जिनको देहाभिमान है वे यदि देखने में उदार भी जान पड़ें तब भी उनको भोगों के गर्त में गिरा हुआ ही जानो। जब वे भोगों को देखते हैं तब उसकी ओर वैसे ही दौड़ते हैं, जैसे चील्ह माँस के टुकड़ों की ओर झपटती है। हे रामजी! सङ्ग की बड़ी विलक्षण लीला है। आकाश पाताल और स्वर्ग तथा मृत्युलोक में यह जितना कुछ प्रपञ्च तुम जान रहे हो, सब उस सङ्ग की ही महिमा है। यह सङ्ग इतना प्रबल है कि इसीके नीति नियम में बँधे हुए जीव समस्त सृष्टियों एवम् समस्त लोकों में व्याप्त एवं विचर रहे हैं। जिससे जैसा सङ्ग किया है, उसे वैसा ही स्थान मिला है। सङ्ग एवं कर्मवश ही जीव उर्द्ध और अद्ध गति को जाते हैं। इससे जो कुछ जगत

और जो हृदय से संग रहित नहीं है चाहे वह सब कुछ का त्यागी क्यों न होवे पर यह असंग नहीं कहा जाता। कर्ता अकर्ता का भेद चित्त से माना जाता है, शरीर से नहीं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का छियालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥४६॥

सैंतालीसवाँ सर्ग

सङ्ग-असङ्ग-विवेचन

वशिष्ठजी के इतना कहने पर रामजी ने पूछा—हे भगवन्! संग किसको कहते हैं कि जिससे बंधन होता है और उससे छूटने का क्या उपाय है, सो आप कृपा करके मुझे बतलाइये। वशिष्ठजी ने उत्तर दिया—हे रामजी! देह और देही का जो विभाग है उसको त्याग करो। देह के साथ मिलकर जो करताहै और जो यह कहता है कि 'यह मेरा है, मैं इतना ही हूँ'—ऐसे विश्वास को ही सङ्ग और बंध कहते हैं। क्योंकि आत्मतत्व अनन्त है। उसमें अभिमान करके अहंभाव से देही को मान लेना अथवा शरीर से सुख की इच्छा करना—यही वन्ध है। इसी को सङ्ग कहते हैं और इसीसे सब प्रकार के दुःख प्राप्त होते हैं। किन्तु जिसको यह निश्चय होता है कि सब कुछ आत्म ही है, मैं किसको ग्रहण करूँ और किसको त्यागूं वह असङ्गी और जीवन्मुक्त कहलाता है। उसके लिये 'न मैं हूँ, न यह जगत है'—वह सर्व अभाव को त्यागकर अद्वैत सत्ता में स्थित रहता है और वही असङ्ग कहलाता है, और इसी प्रकार जिसको आत्मतत्व का पूर्ण निश्चय हो जाता है, वह राग, द्वेष, हर्ष, शोक के वशीभूत नहीं होता, वह असंसर्ग कहलाता है। उसको कोई भी कर्म बाँध नहीं सकते। उसको आगे समस्त सम्पदायें करबद्ध विद्यमान रहती हैं। किन्तु जो संसक्त हैं, वे कष्ट पाते हैं, कारण कि उन्हें अपने भोक्तापन का अभिमान है और वे भोग रूपी खाई में गिरे हुए हैं। उससे उनको अनन्त दुःख प्राप्त होता है। हे रामजी! सङ्ग के कारण ही दुःखों की

अड़तालीसवां सर्ग

शान्त योगोपदेश

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! यह जो उपदेश मैंने तुमको दिया है, यदि इसको विचार कर ऐसा अभ्यास करोगे तो निश्चय ही तुम सर्व काल और सर्व-स्थानों में सुखी रहोगे। देखो, समस्त कर्मों का करने वाला यह चित्त है। तुम इसको देहादिक में मन संयुक्त करना और इसे केवल आत्म–चिन्तन में ही लगाये रहना। हे रामजी ! जगत की सारी वस्तुयें असत्य हैं। उनको सत्य जानकर उनमें चित्त को न लगाओ। जब ऐसा-ऐसा अभ्यास करोगे तब निश्चय ही आत्मतत्व में स्थित हो जाओगे। अस्तु ! आकाश, पाताल, अध उर्ध्व, दिशा, बाहर, भीतर, प्राण, हृदय, मूर्धा, तालू, भृकुटी, नासिका, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तम, प्रकाश, श्याम, रक्त, पीत, श्वेत, स्थिर, चल, आदि, अन्त, मध्य, दूर, निकट, चित्त और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तथा कलना अकलना में कहीं भी चित्त को न लगावो, और चारों ओर से चित्तको रोककर चेतन-तत्वमें ही विश्राम करो और द्वैतको लेकर चेतन तत्व का आश्रय न करो। हे रामजी ! इस प्रकार जब सबसे निराश होकर आत्मतत्व में स्थित होवेगा तब विगत सङ्ग होनेसे जीव का जीवत्व भाव नष्ट हो जावेगा और तुम केवल चिदात्मा होकर स्थित होवोगे। तब सब कुछ करते हुए भी तुम अकर्त्ता ही बने रहोगे और तब तुम्हें स्वभावतः ही सारे तत्व अद्वैतरूप जान पड़ेंगे। जैसे बादलों के दूर होने से सूर्य स्वभावतः ही स्पष्ट दिखलाई पड़ता है वैसे ही विकल्पों के नाश होने से चेतन तत्व भास आता है और प्रकाश रूप चिन्तामणि स्वभावतः ही भास आती है। फिर तुम्हारे कर्म बीजरूप न बनेंगे और जैसे कमल का जल स्पर्श नहीं करता, वैसे ही तुमको क्रिया, कर्म कुछ भी स्पर्श न करेंगे और चित्त आत्मगति को पाकर निर्वाण रूप हो जावेगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम–प्रकरण का अड़तालीसवां सर्ग समाप्त ॥ ४८ ॥

है, सब आत्मरूप है। मनरूपी चितेरेने सङ्करूपी रङ्गसे शून्य आकाश में जो देहादिक जगत लिखा है वह सब असत्य रूप है। जैसे समुद्र की लहरें उठती और मिट जाती हैं वैसे ही जीव ब्रह्माण्डों में उपजते और विनष्ट होते रहते हैं। क्योंकि वे संसक्त हैं, इससे उनके शरीर पाने की संख्या नहीं। मेरु के शिखर से लेकर उसके चरणों तक गङ्गा का प्रवाह चले तो भी उसके कण को भले ही गिन लिया जाये किन्तु संसक्त जीवों के शरीर की गणना नहीं हो सकती। जो कुछ आपदा है, सब उनको प्राप्त होती है। जैसे समुद्र में ही सारी नदियाँ जाती हैं, वैसे ही समस्त आपदायें उस एक संसक्त पुरुष को जा लगती हैं और वे उस प्रकार विषयों का सेवन करते हुए यहां तो कष्ट भोगते ही हैं अन्त में भी रौरव और कालसूत्र आदिक नरकों में जाकर जलते हैं। इस प्रकार जितने भी दुःख के स्थान हैं, सब उस एक संसक्त जीव को ही प्राप्त होते हैं। किन्तु जो असङ्ग-सङ्गति जीव हैं उनको तो समस्त विभूति ही प्राप्त होती हैं। जैसे वर्षाकाल में नदियां और मानसरोवर में सब हंस आन स्थित होते हैं, वैसे ही असंसक्त चित्त पुरुष को सारी सम्पदायें आन प्राप्त होती हैं। इस प्रकार जिसको देहाभिमान नष्ट हो जाता है उसको अमृत रूप जानो। विष ज्यों २ बढ़ता है, त्यों-त्यों जीव को अमरत्व प्राप्त होता जाता है। अस्तु, हे रामजी! जिस पुरुष ने देहाभिमान का त्याग कर स्वरूप से सङ्ग किया है, वह सर्वथा ही सुखी है पर जिसने अपने हृदय में दृश्यों का साथ किया है उसको तो यह संसक्त रूपी अङ्गार जलावेगा ही और इसी प्रकार जिसके हृदय में सङ्ग नहीं है अर्थात् जो निसंग है वह असङ्ग रूपी अमृत से तृप्त होकर चन्द्रमा के समान शीतल और मुक्तरूप होगा। फिर उसको अविद्यारूपी विशूचिका रोग न लगेगा और वह सर्व प्रकारेण शान्त रूप हो जावेगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का सैंतालीसवां सर्ग समाप्त ॥ ४७ ॥

आत्मतत्व ही होजाता है। जैसे नट सर्व स्वांगों को धरता है किन्तु किसी में उसको अभिमान नहीं रहता, वैसे ही सुषुप्ति बोध पुरुष देखने में तो जगत की सारी क्रियायें करते हैं किन्तु किसी में बन्धायमान नहीं होते और जीवन्मुक्त होकर अचल भाव से स्थित रहते हैं। हे रामजी! तुम भी उसी प्रकार सुषुप्ति-बोध का आश्रय करके जगत के सारे कार्य करो, किन्तु उस क्रिया, कर्म और कर्तापन में त्रिपुटी का आश्रय न लो तो तुमको कुछ दुःख न होगा और न ग्रहण और त्याग कुछ प्रतीत होगा और तब तुम यथा प्राप्त में स्थित रहोगे। बस, ऐसी जो सुषुप्ति बोध अवस्था है उसमें स्थित रहकर जो कुछ करता हैं वह उन सर्व कर्मों को करते हुए भी कुछ नहीं करता और उसे कर्तापन का बीज नहीं लगता। हे रामजी! ऐसा निश्चय धारण करके तुम्हारी जो इच्छा हो करो। जब कर्त्तापन का अभिमान ही न रहेगा तब फलों का स्पर्श कैसे होगा। हे रामजी! जब चित्त अचित्त होजाता है तब उसके लिये यह जाग्रत जगत सुषुप्तिरूप होजाता है और यह चाहे जो कुछ करे उसे किसी कर्म का स्पर्श नहीं होता। जब ऐसी सुषुप्तावस्था प्राप्त हो जाती है तब हृदय शीतल होकर रागद्वेष से रहित होजाता है और तब वह पुरुष आत्मानन्द से पूर्ण होकर ऐसा ही शीतल और शोभायमान होजाता है कि जैसे पूर्णमासीका चंद्रमा पूर्णशीतल और शोभायमान होता है। हे रामजी! ऐसी अवस्था वालों को संसार का कोई भी क्षोभ चलायमान नहीं कर सकता। जैसे पर्वत कभी क्षोभवान नहीं होता वैसेही ज्ञानीजन कभी क्षुब्ध नहीं होते। पर यह दशा साधारण नहीं है, बिना अभ्यास-योग के इस अवस्था का प्राप्त होना महान् कठिन है। परन्तु अभ्यास योग से यह अवस्था प्राप्त होजाती है, और जब प्राप्त हो जाती है तब इस दशा को योगीजन तुरीयावस्था कहते हैं। तुरीयापद में पहुँचने पर सारे दुःखों का नाश होजाता है और जीव परमानन्द रूप होकर असंसक्त हो जाता है। इस प्रकार जब

उनचासवाँ सर्ग

हे रामजी ! निसङ्ग पुरुष चाहे ध्यान करे अथवा व्यवहार करे वह सर्वदा ध्यान में ही स्थित और शोक रहित जान पड़ता है। बाहर से वह भले ही दुःखी जान पड़े किन्तु उसका हृदय सर्व सङ्कल्पों से रहित है और वह सम्पूर्ण लक्ष्मी से शोभता है। वह अपने चित्त अचैत्य के बल से सर्वथा ही अचल और विगतज्वर है। उसको दुःख कुछ स्पर्श नहीं होता। वह स्वयं निर्मल रहकर दूसरों को निर्मल करता है। इस प्रकार जो आत्मतत्व में लीन रहता है वह देखने में तो भले ही क्षुब्ध दृष्टि आवे, किन्तु उसे क्षोभ कदापि नहीं होता। जैसे सूर्य की छाया देखनेमें भलेही क्षुब्धमान जान पड़तीहै किन्तु सूर्य को कदाचित भी क्षोभ नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी पुरुष बाहर से भले ही मोरपुच्छ के समान चंचल जान पड़ें किन्तु भीतर से वे वैसे ही अचल हैं कि जैसे सुमेरु पर्वत अचल होता है। कारण कि वह आत्मपद में स्थित हुआ है और उसको सुख दुःख अपने वश में नहीं कर सकते। जैसे स्फटिक मणि पर कोई दूसरा रङ्ग नहीं चढ़ता वैसे ही ज्ञानीको सुख दुःखादि का राग-द्वेषरूपी मल स्पर्श नहीं करता। इसीसे वह उस अवस्था में रहकर भी जो कुछ कर्म करता है, उसके फल का भागी नहीं होता क्योंकि वह निरहंकार हो जाता है। हे रामजी ! ऐसे आत्मध्यानी पुरुष सर्वथा ही मुक्त और अशंसक्त हैं। उनके लिये जाग्रत भी सुषुप्तिरूप होजाता है और वे सर्व प्रकार से निरहङ्कार रहते हैं। जैसे मन्त्र की पुतली अहंकार से रहित चेष्टा करती है और उसमें कोई संवेदन नहीं है और इसीसे उसको कोई दुःख नहीं होता वैसेही अहङ्कार और संवेदन रहित पुरुष निर्दुःख और निर्लेप कहलाते हैं। हे रामजी ! यह इष्टानिष्ट और भावाभाव रूप जगत तो चित्त में ही होता है। जब चित्त आत्मभाव को प्राप्त हो जाता है तब बन्धन नहीं होता और तब वह सर्व भाव से

न होवेगा। हे रामजी! तुम इस शरीर को अपना जानकर इसके राग-द्वेष में मत जलना क्योंकि यह अवश्य ही नष्ट हो जावेगा। इस कारण तुम इस भ्रम को न स्वीकार करो। तुम्हारा इसमें कुछ भी सन्निवेश नहीं है। तुम सर्वदा ही ज्यों के त्यों स्थित हो। ज्ञानीजन ऐसा ही जानते हैं। वे देह के नाश हुए, देह के स्थित हुए शोक और हर्ष नहीं करते। उनको देहसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। वे तत्वदर्शी हैं और सर्व की प्राप्ति समझकर निर्दोष और अभिमान रहित होकर विचरते हैं। उस दशा में मनकी वृत्तियाँ सर्व विकारों से रहित होकर आतमपदमें ऐसे ही स्थित होजाती हैं कि जैसे शरत्काल की रात्रिमें चंद्रमासे आकाश निर्मल होजाता है। उस दशामें वृत्तियां संसार की ओर वैसेही नहीं गिरतीं जैसे योग, मन्त्र, तप और सिद्धियों से सम्पन्न पुरुष आकाशमें उड़ जाता है और पृथ्वी पर नहीं गिरता। उसी प्रकार हे रामजी! तुम भी अपने प्रकृत आचार में स्थित होकर यथा प्राप्त कर्मों को करते हुए निर्द्वन्द हो विचरण करो अधिक क्या कहें, अब तुम भी स्वरूप के ज्ञाता होगये हो। अब तुम्हें शोक नहीं है। अब तुम निश्चय ही शरत्काल के निर्मल आकाश के समान ही शोभित होवोगे। हे रामजी! इस जगतका आदि अन्त कोई नहीं है यह केवल चिदानन्द स्वरूप मात्र है। इसमें तुम अहं, त्वं आदिक भ्रमों से रहित होकर उसमें स्थित होवो। आत्मा का शरीर के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। वह चिन्तनाओंसे रहित और केवल अव्यक्त रूप है। उसमें आत्मा आदिक नाम भी उपदेशके लियेही कल्पित किये गये हैं किन्तु वह नाम, रूप भेद और भयसे रहित अशब्दपद है। वही अशब्दपद जगत रूप होकर स्थित हुआ है। उससे जगत कुछ भिन्न नहीं। जैसे जल तरङ्गरूप भासता है और वह जल से भिन्न नहीं है वैसेही आत्मा से जगत कुछ भिन्न नहीं है। जैसे पट और तन्तु में भेद नहीं होता वैसेही जगत और ब्रह्ममें कुछ भेद नहीं होता। हे रामजी! इस प्रकार यद्यपि उस आत्मा में द्वैत कुछ नहीं है

मनके सङ्कल्पों अर्थात मन के मननभाव का नाश हो जाता है तब ज्ञानी को परम सुख की प्राप्ति होती है और वह सर्व प्रकार से परमानन्द को प्राप्त होता है। तब वह इस संसार रचना को लीला रूप देखता हुआ सर्वशोक से रहित और निर्भय होजाता है । फिर उसको संसार का कोई भ्रम नहीं रहता और वह संसार में फिर नहीं गिरता। ऐसे विचारवान पुरुष परमपावन पद में स्थित होकर संसार की अवस्था को देखकर हँसते हैं। वह आत्मानन्द को पाकर संसार के कार्यों को केवल दुःख रूप ही जानते हैं। हे रामजी! तुरीयावस्था सर्व प्रकार से आनन्द रूप और सर्व कल्पनाओं से रहित है। जब अभ्यासी को यह अवस्था प्राप्त हो जाती है तब वह जन्म मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है और तब वह अहं आदिक कल्पनाओं से रहित हो परम ज्योति में लीन हो जाता है। जैसे समुद्र में नमक जलरूप होजाता है, वैसे ही वह भी आत्मरूप हो जाता है।

श्रीयोगवशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का उनचासवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४६ ॥

पचासवां सर्ग

संसार योगोपदेश वर्णन

हे रामजी! जब तक यह अवस्था रहती है तब तक अभ्यासी को जीवन्मुक्त पदमें स्थित हुआ कहा जाता है और जब वह इसके उपरान्त तुरीयातीत पद में जाता है तब उसे विदेहमुक्त कहा जाता है। वह पद वाणी का विषय नहीं। उस पद से विश्रान्त भी दूर है. विदेहमुक्त ही उसे पाता है। अभी तुम कुछ काल तक इसी सुषुप्ति अवस्थामें ही स्थित रहो, फिर तुरीयातीत पदमें जाना। तुरीयातीत बड़ा ही निर्द्वन्द पद है, इससे उसमें अभी मत जावो। क्योंकि उसमें पहुँचकर तुम फिर कुछ न कर सकोगे और इधर अभी तुम्हें बहुत कुछ करना है। इससे अभी तुम इसी सुषुप्ति अवस्था में ही पड़े रहो। क्योंकि जब इसमें स्थित रहोगे तब तुम जगत के सब कार्यों को करते हुए भी सर्वदा पूर्ण रहोगे और तुमको उदय अस्त का भाव कदाचित भी

पदके आदिमें हकार होता है उसका उच्चारण हृदय से होता है। इस प्रकार उपरोक्त आठों स्थानों से ही वर्गों का उच्चारण होता है। तब भला तुम्हीं सोचो कि आत्मा से इन सबका क्या सम्बन्ध है? आत्मा तो सर्व से निर्लेप है। जैसे बाँसुरी वायु से ही शब्द करती है वैसे ही इन पञ्च तत्वों से शब्द होता है। फिर इनमें आत्माभिमान करना मूर्खता नहीं तो क्या है। सभी इन्द्रियाँ वायु से ही चेष्टा करती हैं। तुम इनके भ्रम में न पड़ो। आत्मा इन सर्व से पृथक और आकाशवत सबमें पूर्णरूप से विद्यमान है। जैसे आकाश सर्वत्र ही पूर्ण है किन्तु जहाँ चित्त होता है वहीं प्रतिबिम्बत होता है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा का प्रतिबिम्ब चित्त में है। चित्त के अहंभाव से ही भासता है। इसी प्रकार यह सारा जगत आत्मा से ही प्रतिबिम्बित है और आत्मा ने ही समस्त जगत की रचना की है। परन्तु भूतों का कारण उनका अन्तःकरण ही है और आत्मतत्व सबसे परे है। इस कारण यही कहा जायगा कि संसार का कारण चित्त है। उसी को चित्त, जीव, अन्तःकरण और मन चाहे जो कुछ भी कह लो, सब एक ही है।

रामजीने प्रश्न किया—हे मुनीश्वर! चित्त की इतनी संज्ञा कैसे हुई? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया—हे रामजी! सर्व भाव पदार्थों में एक परमात्मतत्व की ही प्रधानता है। संवेदन वश अनेक रूप भासमान होता है। जैसे जल वही है परन्तु उसी को कहीं तरङ्ग कहीं बुदबुदे और कहीं भँवर आदिक संज्ञा कही जाती है वैसेही एक आत्मा ही चित्त आदिक संज्ञा को धारण करता है। परन्तु वह सब जलरूप ही है। स्पन्दता वश एक से अनेक भासित होता है। निस्पन्द होने से वही शुद्धरूप भासता है। और जहां अज्ञान संसारता है वहीं वह अनन्त आत्मा जीव कहलाता है। इस प्रकार अहंता के वश होने से वही जीव रूप होता है और जहाँ निश्चय वृत्ति से फुरता है वहां उसको बुद्धि कहते हैं। इसी प्रकार

तथापि तुम्हारे में उपदेशके लिए कहता हूँ कि द्वैत भी कुछ है। देखो, इस शरीर के साथ तुम्हारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। जैसे धूप और छाया का कुछ सम्बन्ध नहीं होता, प्रकाश और अन्धकार का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही इस देह से आत्मा का कुछ सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि यह शरीर जड़ और मलिन है और आत्मा निर्मल, चेतन और सत्य है। फिर इसका शरीर से सम्बन्ध कैसे हो सकता है। जैसे शीत और उष्ण का सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही आत्मा और देह का सम्बन्ध नहीं है। जैसे अग्नि के लगाने से बनवासी जीव दुःखी होते हैं वैसेही अहंभाव के लगानेसे यह शरीर दुःखी होता है। हे रामजी! जैसे मरुस्थल में जल का आभास देखकर मूर्ख मृग दौड़ते हैं वैसेही मूर्ख मनुष्य इस शरीर को ही आत्मा मान लेते हैं। किन्तु आत्मा निर्मल, नित्य और स्वयं प्रकाश रूप है। उसमें देहका सर्वथा ही अभाव है। फिर आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध कैसे? आत्मा में तो देहका सर्वथा ही अभाव है। आत्मा तो केवल एक अद्वैत तत्व अपने आपमें ही स्थित है। उसमें द्वैत का रञ्चमात्र भी समावेश नहीं है। सबके भीतर बाहर वही एक तत्वरूप में स्थित है। हे रामजी! यह जानना कि-'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं मूर्ख हूँ'-इस मिथ्या दृष्टिको दूर से ही त्याग दो। तुम केवल आत्म-रूप हो। दृश्यों से महान् दुःख प्राप्त होता है। हे रामजी! यह शरीर जो चलता है, जो बोलता है, सो वायुके बलसे चलता-बोलता है। देखो, हृदय, कंठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु-ये आठ ऐसे स्थान हैं कि जिनके सहायता से ही शब्दों का उच्चारण होता है। क, ख, ग, घ, का उच्चारण कण्ठ से और च, छ, ज, झ, का उच्चारण तालु से और ट, ठ, ड, ढ-का मूर्द्धा से और त, थ, द, ध का दन्त से और प, फ, ब, भ, म-का ओष्ठों से उच्चारण होता है किन्तु ङ, म, न और ण-का उच्चारण नासिका से होता है। इस प्रकार जिह्वाका उच्चारण जिह्वामूल में और जिस

वह सङ्कल्प-विकल्प से मन और चिन्ता करने से चित्त कहलाता है। फिर प्रकृति भावसे वही प्रकृति रूप भी होजाता है। प्रकृति जड़ है और जीव चेतन है। वेद, शास्त्र और उपनिषदों में जीव के अनेक रूप बतलाये गये हैं और अन्य शास्त्रोंने तो बहुत व्यर्थ की कल्पना की है। तुमको उनने प्रपंच में जाने की क्या आवश्यकता है, संक्षेप में यही जान लो कि जब तक चित्त में अहंभाव लगा हुआ है तभी तक जगत-भ्रम होता है, अन्यथा नहीं। इस शरीर में अहंभाव ने ही चित्तको उत्पन्न किया है और उसी कारण यह जगत का सारा प्रपंच प्रतीत हो रहा है। किन्तु चित्त का अभाव होते ही जगत भ्रम जाता रहता है। शरीर में आत्म बुद्धि करनी मूर्खता है। शरीर नाशवान है, आत्मा अमर है। शरीर के नाश होने से आत्मा का नाश नहीं होता। जैसे वृक्षके पत्तोंका नाश होने से वृक्षका नाश नहीं होता, वैसेही शरीरके नाश होने से आत्मा का नाश नहीं होता। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर नवीन वस्त्र धारण कर लेताहै वैसेही यह आत्मा जीर्ण शरीरको त्यागकर नवीन शरीर धारण कर लेता है। मूर्ख इसी को तो मृत्यु कहते हैं। किन्तु देह के नाश होने से आत्मा का नाश कुछ नहीं होता। हे रामजी! वह मूर्ख है जो देह के नाश हुए आत्मा को भी नाश हुआ समझता है। अज्ञान से ही आत्मा में मृत्यु भासता है। जैसे एक स्थानमें अज्ञान से ही वैताल भासता है और उसे माता के स्तनों में मूर्ख बालक को वैताल भासता है, वैसे ही अज्ञानवश आत्मा में मृत्यु भासती है। किन्तु जैसे कोई एक देश से दूसरे देश को जाता है और उसका अभाव नहीं होता, वैसेही आत्मा एक देह को त्यागकर दूसरे देह को प्राप्त करता है किन्तु उसका अभाव नहीं होता। जैसे जलमें तरङ्ग फुरकर फिर लीन हो जाता है और फिर कहीं अन्य स्थान में नहीं प्रकट होता है, जैसे पक्षी उड़ता २ दूर चला जाता है और दिखलाई नहीं पड़ता परन्तु उसका नाश

नहीं होता वैसेही एक शरीरके नाश होने पर आत्मा अन्य दूसरे शरीर में जाकर प्रकट हो जाता है और उसका नाश नहीं होता। हेरामजी! वासना के वश होने से ही यह जीव एक शरीर को त्यागकर दूसरे शरीर को प्राप्त होता है और इस प्रकार वासना के वश होने से ही जीव इधर–उधर फिरता है। कभी उर्द्ध्व लोक को जाता है और कभी मनुष्य लोक में घटी यन्त्र की नाईं भटकता है, और उसी कारण जरा मरण और जन्म आदिक दुःख पाता हुआ कभी स्वर्ग और कभी पाताल और कभी मध्य स्थान में जाता है, कभी शान्ति नहीं पाता। इस कारण हे रामजी! जो वासना ऐसी दुष्टा है उसे तुम शीघ्र ही त्याग दो। तभी अपने स्वरूप में स्थित हो सकोगे।

वाल्मीकिजी कहते हैं कि सब वशिष्ठजी ने ऐसा कहा तब सूर्यदेव अस्त हो गये और सारी सभा स्नान के लिये उठी और परस्पर एक दूसरे को नमस्कार कर सब लोग अपने २ स्थान को चले गये। फिर दूसरे दिन सूर्य के उदय होते ही यथा स्थान आ विराजे।

श्रीयोगवशिष्ठ भाषा उपशम–प्रकरण का पचासवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५० ॥

इक्यावनवां सर्ग

मोक्ष–विवेचन

वशिष्ठजी बोले–हे रामजी! आत्मा अविनाशी है। शरीर के नाश हुये से तुम्हारा नाश नहीं होता क्योंकि तुम निष्कलंक आत्मा हो और शरीर के साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। जो शरीर के नाश होने में अपना नाश मानता है, वह मूर्ख है। ऐसे अर्द्ध चेती पुरुषोंको धिक्कार है। शरीर का सम्बन्ध इन्द्रियों से है न कि आत्मा से। इन्द्रियों के नाश होने से आत्मा का नाश नहीं होता। शरीर के प्रति मनुष्य जो इतना शंकित, भयभीत और दुखी रहता है उसका यही कारण है कि वह शरीर में अहंभाव रखता है और अहं-भाव से ही उसे रागद्वेष आकर कष्ट देते हैं। क्योंकि शरीर पञ्च-

वैसे ही तुम आत्मपद में स्थित होकर देहादिक भूतों को प्रत्यक्षरूप में देखोगे। जैसे सूर्यकान्त मणि सूर्यके प्रकाश करते ही अपने परम प्रकाश को प्राप्त हो जाता है वैसे ही जब तुम इन देहादिक भूतों को देखकर इनका त्याग करोगे तब आप ही आप परम प्रकाश को पा जाओगे और तब तुम्हें स्वयं ही ऐसा ज्ञान हो जावेगा कि जिस से तुम्हारा द्रष्टा, दर्शन, दृश्य सब कुछ जाता रहेगा और तुम सारी वस्तुओं को यथातथ्य जानने लगोगे। जैसे मद्य से मत्त हुआ मनुष्य कुछ नहीं जानता और ज्यों ही उसका मद उतर जाता है कि उसे सब यथातथ्य ज्ञान होने लगता है वैसे ही फुरना रहित होने से तुम्हें यथातथ्य ज्ञान हो जावेगा। आत्मतत्व में स्फुरण का होना ही चित्त है। इससे चित्त भी अवस्तुरूप हुआ जैसे समुद्र में लहरों का प्रकट होना कुछ वस्तु नहीं है, वैसे ही चित्तादिक भी कुछ वस्तु नहीं भ्रान्तरूप हैं। ज्ञानीजनों को यही भाव दृढ़ रहता है और इसी से वे महा बुद्धिमान वीतराग हो निष्प्राणरूपी जीवन्मुक्त हो शान्त पद में विचरते हैं। उनको कोई स्पन्द नहीं होता, उनको कोई कलना नहीं उठती, वे सर्वदा ही व्यवहार कलना से रहित रहते हैं। उन्हें कर्तापन का कुछ अभिमान नहीं होता वे भोगों की प्राप्ति और नष्टता में कुछ भी हर्ष और शोक नहीं करते। हे रामजी! जिस मनमें जगत के किसी पदार्थ की मननवासना नहीं फुरती और उस चित्त में यदि कुछ स्फुरण होवे तो भी वह वास्तविक नहीं होता बल्कि वह विलास मात्र होता है, और वह ज्ञानी के बन्धन का कारण नहीं होता। पर जिस चित्तमें अहं, स्व, की भावना है परन्तु हृदय से उसकी सत्यता बुद्धि है तो वह निश्चय ही जगत के सर्व जालों को फैलाता है। किन्तु यह जितने कुछ दृश्य हैं सब असत्य रूप हैं। सत्य है तो एक अव्यक्त रूपही सत्य है। जब उसका आश्रय करे तब हर्ष शोक नहीं प्राप्त होता, और जो कुछ दृश्य जगत भासता है सब असत् रूप ही है। सत्य है तो केवल वही ज्यों का

भौतिक है। इसकी अन्तिम गति भी पंचभौतिक ही होती है। और इस प्रकार जब पंचभौतिक शरीर पंचभूतों में लीन हो जाता है तब उसीको मृतक हुआ कहते हैं। इससे यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इस पंचभौतिक शरीर में लोग आत्मभावना करते हुए अपनी मूर्खतावश हर्ष और शोक को प्राप्त करते हैं। हे रामजी! न कोई पुरुष है न कोई स्त्री। इनके निमित्त मूर्ख रुदन करते हैं। स्त्री, पुरुष और पुत्र पौत्र आदि का जो कुछ भी सम्बन्ध है, सब व्यर्थ है। जैसे मिट्टी के खिलौने आपस में मिलते हैं किन्तु वे निःस्सार ही हैं वैसे ही जगत का यह सारा सम्बन्ध भी निःस्सार और व्यर्थ है। इसमें तुष्टवान और खेदवान होना बड़ी मूर्खता है। ज्ञानीजन इनका खेद नहीं करते। क्योंकि वे यह भली भांति जानते हैं कि जैसे मिट्टी के खिलौने और जैसे काठ की पुतलियाँ होती हैं वैसे ही जगत के ये सारे सम्बन्ध निःस्सार हैं। फिर इनसे करना कैसा? इन्द्रियों से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर इनके लिये शोक क्यों करूँ। जैसे तृण और जल का संयोग होता है और फिर जल का प्रवाह ही तृण को इधर उधर कर देता है और जल को उसका कुछ भी हर्ष शोक नहीं होता वैसे ही इस देहभूत आत्मा का योग है, इस से इनके योग और विछोह का दुःख नहीं होता। इससे हे रामजी! तुम अपने स्थित भाव को ही प्राप्त होवो। क्योंकि आत्मा और है और देह, मन, प्राण, इन्द्रिय में और बुद्धि आदि यह कोई एक और ही विलक्षण भाव है। इनके उदय और क्षय होने में दोनों के परस्पर में कुछ भेद नहीं आता। चित्तके उदय होने से ही आत्मा अनात्मा बन जाता है इससे तुम चित्त को त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित होवो। जब तुम अपने ऐसे व्योम रहित भाव को प्राप्त होवोगे तब तुम्हें अपने आपको ज्ञान होकर यह प्रत्यक्ष हो जायगा कि शरीर कुछ और है और मैं कुछ और हूँ। जैसे आकाश मंडल को प्राप्त हुआ जीव पृथ्वी मंडल के समस्त जीवों को देखता है।

वह यह है कि मैं ही आकाश हूँ, मैं ही दिशा हूँ, मैं ही सूर्य हूँ, मैं ही अध हूँ, मैं ही उर्द्ध हूँ और मैं ही देवता, दैत्य, प्रकाश, तम, मेघ, पर्वत, पृथ्वी, समुद्र, वायु, धूलि और अग्नि आदिक जो कुछ स्थावर जङ्गम सारे जगत में हैं मैं ही विद्यमान हूँ। जिसके हृदय में ऐसा निश्चय होता है उसको सब जगत आत्म स्वरूप ही भासता है। उसे कभी हर्ष और शोक नहीं होता। वह सारे जगत को मनो मात्र ही देखता है और उसमें उसे अपना और पराया कुछ नहीं प्रतीत होता। वह आत्मा से भिन्न कुछ नहीं जानता। बस, यह दृष्टि ज्ञानी को सर्वदा अचेत भाव में स्थित रखती है। हे रामजी! एक और विचार है। देखो, अहङ्कार तीन प्रकार होता है। उसमें दो प्रकार का अहङ्कार तो सात्विक और निर्मल है और उससे ज्ञान की उपलब्धि होकर मोक्ष और परमार्थ की प्राप्ति होती है और तीसरे से संसार की प्रतीति होती है। एक अहङ्कार तो यह है कि जैसा मैं कई बार कह चुका हूँ कि सारे जगत को अपना ही रूप देखे अथवा 'अहं अस्मि ब्रह्म' और दूसरा यह कि जो परम अणु में साक्षीभूत अव्यक्त रूप है—वह मैं ही हूँ। यह दोनों अहङ्कार मोक्ष के देने वाले हैं। परन्तु तीसरा अहङ्कार यह है कि नख से शिखा पर्यन्त अपने को शरीर रूप जानना। यह अहङ्कार दुःख रूप और संसार का कारण होता है। इससे शान्ति नहीं मिलती। किन्तु इसमें एक विचार और है कि इन तीनों से परे होकर रहे—यह सर्व सिद्धान्त का कारण रूप है। जैसी तुम्हारी इच्छा हो करो। परन्तु आत्मा सबसे प्रतीत और परे है। वही अपनी सत्ता से इस सारे जगत को पूर्ण कर रहा है और वही सबको प्रकाश देने वाला है। उसके प्रति कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता और वह अनुमान आदिक सत्यवाद से रहित है। वही सर्वकाल सबको अपने प्रकाश में प्रकाशता है और वही सर्वात्मा सबका ईश्वर है। उसमें न तो दृश्य है न दर्शन है। वह सूक्ष्म, स्थूल और सत् असत् सबसे रहित है। वही सर्वरूप है और

त्यों अपने आपमें स्थित है। फिर इन असह्य रूप दृश्यों के पीछे तुम क्यों कष्ट उठाते हो, क्यों मोह को प्राप्त होते हो। असम्यक दृश्यों को त्यागकर सम्यकदर्शी बनो। हे कमल नेत्र रामजी ! सम्यकदर्शी को मोह नहीं प्राप्त होता, वह साक्षात् शरीर ही मोक्षरूप है। दर्शन और दृश्यों के साथ मिलकर रहने वाले मूर्ख हैं, उनको सर्वदा ही भ्रम दिखलाई पड़ेगा। हाँ दृश्य, दर्शन के मध्य में जो अनुभव सत्ता है वह अवश्य ही सुख रूप है। किन्तु जो दृश्य के साथ लगा है वह बन्धन में है जो दृश्यों से परे रह कर संवित में स्थित है वह मुक्तरूप है। वह संसार सागर को अवश्य ही पार करेगा। क्योंकि वह अवस्था सुषुप्तिरूप है और उसको प्राप्त हुआ परम प्रकाश को पाता है और इसी अवस्था को मुक्त अवस्था कहते हैं। किन्तु जो दृश्य और दर्शन के साथ बँधा है वह बन्ध है। आत्मा ही सबको अनुभव करने वाला है। न वह स्थूल है, न अणु है। न प्रत्यक्ष है, न अप्रत्यक्ष है। न जड़ है, न चेतन है। न सत्य है न असत्य है। वह सर्वथा ही अहं त्वं से परे एक और अनेक से रहित अस्ति नास्ति से परे रहने वाला है। वह न निकट है, न दूर। पदार्थ है न अपदार्थ। न सर्व है, न असर्व। न पञ्च भौतिक है, न अपञ्च भौतिक। उसमें जो कुछ दृश्य जाति है सब मन सहित षटेन्द्रियों से भाव को प्राप्त होता है। इससे वह निष्किञ्चन रूप है। सम्यक ज्ञान होने पर ऐसा ही भासता है। हे रामजी। यह जानकर ही तुम अपने स्वरूप में स्थित होवो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम-प्रकरण का इक्यावनवां सर्ग समाप्त ॥५१॥

-❀:❀-

बावनवां सर्ग

आत्म विचार

वशिष्ठजी बोले--हे रामजी ! अब एक और दृष्टि सुनो। इस दृष्टि को पाकर मनुष्य अचल हो आत्म स्वरूप को देखता है।

है और इसी को त्यागकर शुद्ध आत्मा में जो चित्त का लगाना है इसी का नाम मोक्ष है। जब हृदय से गुणोंका त्याग कर दिया जाय तो सम्यक ज्ञान की उपलब्धि हो जावे। उसीको तत्ववेत्ता जन मोक्ष कहते हैं। हे रामजी! यह जीव तभी तक दुखी रहता है कि जब तक इसे यथातत्वों का ज्ञान नहीं हो जाता। ज्ञान हो जावे तो दुःखों से मुक्त हो जाता है, इससे तुम अन्य सभी युक्तियों को त्यागकर भक्ति पूर्वक मोक्ष की वाँछा करो। जब दीर्घ काल तक ऐसी साधना करोगे तब चित्त आप ही आप वश में हो जायगा और तब मोक्ष की कौन कहे अनेकों मोक्ष की वांछा न करेगा और तब यह विचारेगा भी नहीं कि मोक्ष किसे कहते हैं और मोक्ष किसका नाम है। हे रामजी! इसके अतिरिक्त मोक्ष पाने की और कोई युक्ति नहीं है। आत्मज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है। क्योंकि जब चित अचित हो जाता है तब जगत के सारे भ्रम आप ही आप नष्ट हो जाते हैं, और आत्मतत्व का प्रकाश प्राप्त हो जाता है इस कारण वन्ध और मोक्ष की कल्पना सर्वथा ही तुच्छ है, तुम उसका त्यागकर चक्रवर्ती सम्राट बन जावो। इस प्रकार से प्रजा पालन करते हुए तुम्हें कर्त्तापन का कुछ भी स्पर्श न होगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का बावनवां सर्ग समाप्त ॥५२॥

तिरेपनवाँ सर्ग

नैराश्यपद-मौन-विचार वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! यह सारी जगत सङ्कल्प से ही उत्पन्न हुआ है। अज्ञानसे ही मनुष्य अपने आपको शरीर जानता है जैसे सूर्य की किरणोंमें मरुस्थलका जल भासता है, वैसे ही असम्यक ज्ञानसे आत्मा में जगत का भान होता है। स्फुरण ही सारे प्रपंचों को फैलाने वाला है? मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार शरीर और इन्द्रियाँ आदिक जो कुछ ज्ञात होरही हैं सबके उत्पन्न होने का एक मात्र कारण स्फुरण ही है। इस प्रकार एक स्फुरण से इतनी संज्ञायें उत्पन्न हो

वह किसी वाणी का विषय नहीं है। यह जो अनेकता भासती है, उससे पृथक नहीं है। उसके निकट आत्मा आदिक नामों से कल्पना किया है। पर वह सर्वत्र तीनों काल में स्थित और प्रकाशरूप है। वही अपने स्फुरण से सूक्ष्म और स्थूल भाव को प्राप्त होकर सर्वत्र जीव रूप से प्रकाश दे रहा है वही जब चित्त संवित में स्फुरण होता है तब जीवरूप से भासता है। परन्तु वास्तव में वह आत्मा चेतन सर्वत्र व्यापक और व्याप्य भाव से कभी किसी भाव को नहीं प्राप्त होता। जैसे सर्व पदार्थ अपने भाव में स्थित हैं वैसे ही वह ईश्वर परमात्मा अपने स्वभाव में स्थित है। परन्तु उसका भासना पुर्यष्टका में ही होता है। जैसे बिना वायु के धूलि नहीं उड़ती—और बिना प्रकाश के पदार्थ नहीं भासता वैसेही पुर्यष्टका के बिना आत्मा का भासना नहीं होता। देखो, जैसे सूर्य के उदय होने पर ही जीवों का व्यवहार होता है और सूर्य के अस्त होते ही सबके व्यवहार बन्द हो जाते हैं परन्तु सूर्य दोनों से निर्लेप है, वैसे ही आत्मा सबका प्रकाश और निर्लेप है। शरीर के व्यवहार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, और वह सर्व प्रकार से जैसा का तैसा ही व्यवहार कर रहता है। उसके अज्ञान से ही जीव को असत्य भाव प्राप्त होता है अन्यथा वह आदि अन्त से रहित अज और अविनाशी है और वह अपने आप से भिन्न नहीं है। वह सर्वथा ही इच्छा, त्याग और देश काल, वस्तु के भेद से रहित है। फिर उसमें बन्ध और मोक्ष कहाँ ? वह सबका अपना आप ही है। मूर्खजन व्यर्थ ही में रुदन करते हैं। हे रामजी ! तुम मूर्खों के समान न होवो और मेरी इन युक्तियों से शोक का त्याग करो। न बन्ध के त्याग की इच्छा करो, न मोक्षके प्राप्ति की। बन्ध और मोक्ष दोनों ही कल्पनायें मिथ्या हैं। क्योंकि 'मोक्ष' ऐसा शब्द अथवा पदार्थ आकाश में भी नहीं है और पाताल में भी नहींहै। चित्त का निर्मल होना ही मोक्ष है। अनात्मा के साथ अपने आपका मिला देना और उसमें आत्माभिमान करना ही मोक्ष

पर यह अविद्या नष्ट होजाती है। इसी प्रकार जब जीव अविद्याको पहचान लेताहै तबयह अविद्या मनको अपनी ओर नहीं खैंचसकती जैसे मृगतृष्णाकी नदीको जब मृग जान लेताहै तब प्यास होने पर भी वह मनको नहीं खैंच सकती, इसी प्रकार जब परमार्थ सत्ता का भान हो जाता है तब वासना का समूलतः विनाश हो जाता है। जैसे दीपक के प्रकाश से अन्धकार नष्ट होजाता है, वैसेही आत्मज्ञान से वासना नष्ट हो जातीहै। अन्यथा यह अविद्या तो अविचारसे ही सिद्ध है। शास्त्रोंके विचार प्राप्तिसे यह नष्ट होजाती है। जैसे सूर्य की गर्मी पाकर बरफ गलकर जल होजाता है वैसेही विचारसे अज्ञान नष्ट होजाता है। हे रामजी! देह जड़ है, आत्मा चेतन है, इसलिये देहके निमित्त भोगोंकी चिन्ता करनी मूर्खता है। ज्ञानीजन इनको जानकर बन्धनोंको तोड़ डालते हैं। जब यह आशारूपी आवरण दूर होता है तब हृदय शीतल होजाता है। जैसे दरिद्रको त्रिलोकी का राज्य मिलने से वह आनन्दवान हो जाता है, वैसे ही ज्ञानवान को आत्मसाक्षात्कार होनेसे वह आनन्दित होजाता है। इस प्रकार जब भोगों की वासना नष्ट होजाती है तब प्राणी वैसा ही निर्मल और शोभायमान होजाताहै कि जैसे शरत्कालका आकाश निर्मल और शोभायमान होता है। हे रामजी! ज्ञानी पुरुष अपने आपमें नहीं समाता, वह सारी आशाओं को त्यागकर आत्म-मौन हो जाता है। जैसे अग्नि लकड़ीको जलाकर धुऐं से रहित हो अपने आपमेंही स्थित होजाता है, वैसेही चित्तकी वृत्तिसे रहित हुआ आत्मपद में लगकर निर्वाण हो जाता है। जैसे अमृत को पाकर कोई आनन्दित होवे वैसे ही परमानन्द से पूर्ण होकर पुरुष अपने आप में प्रकाशता है एवं आनन्दित होता है वैसे ही वायु से दीपक प्रकाशता है। शुद्ध शरीर अपने प्रकाश से ही प्रकाशताहै वैसेही ज्ञानीका मन अपने आप से ही प्रकाशता है। हे रामजी! ज्ञानीजन अपने आपको ऐसा ही जानते हैं, और जानते हैं कि जो कुछ हूँ, मैं ही हूँ, मैं ही सर्वात्मा

जाती हैं। परन्तु जो चित्त है वही अहङ्कार है, जो अहङ्कार है वही मन है और जो मनहै वही बुद्धि है। मन और बुद्धि में कुछ भेद नहीं होता। एककी नष्टता में दोनोंही नष्ट होजाते हैं। इससे मनमें जो कुछ स्फुरण होता है उसका त्यागकर तुम मोक्ष की इच्छा को भी त्याग दो और बन्ध वृत्तिको भी त्याग करो। हे रामजी! इस प्रकार वैराग्य और विवेक का अभ्यास करने से ही मन निर्मल होता है। बिना मन के निर्मल हुए मन का मनन भाव नष्ट नहीं होता। हे रामजी! आत्मातत्व सबसे परे है। जब मन का मननभाव नष्ट होजाता है, तब बन्ध क्या है और मोक्ष क्या है-यह कुछभी नहीं ज्ञात होता? हे रामजी! आत्मा सर्व क्रियाओं से परे है और यह जितने भी पदार्थ ज्ञात होरहे हैं सब आत्मारूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित मानते हैं। जैसे दीपक के प्रकाश से ही सर्व पदार्थ भासते हैं, वैसे ही आत्मा के प्रकाश से सर्व पदार्थ प्रकाशित होते हैं। परन्तु उसमें अहं त्वं आदि की कलना कुछ नहीं है फिर जहां कोई स्फुरण ही नहीं है वहाँ कोई दुःख और सुख कैसे हो सकता है? आत्मा निरंकार और निराकार, उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही नहीं हैं। यदि उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व भासता है तो वह अज्ञान से ही भासता है। हे रामजी! यह मनरूपी एक ऐसा मृग है कि जिसने अज्ञानरूपी मदिरा पीकर अपने की उन्मत्त कर लिया है, इसको सत् असत् का विचार नहीं है। जैसे मृगतृष्णा की नदी असत् ही सत् भासती है और मृग उसको सत् जानकर पान करने के लिये दौड़ता है वैसे ही यह जीव इस असार संसार को सार वस्तु जानकर इसकी ओर दौड़ता है। किन्तु जब इसको आत्मसत्ता का सम्यक् ज्ञान होता है तब यह अविद्या नष्ट हो जाती है और इस अविद्या को जीव पहचान लेता है, तब वह वैसे ही लुप्त होजाता है कि जैसे ब्राह्मणमण्डली में जाकर चाण्डाली बैठ जाये और जब ब्राह्मणलोग उसे पहचान लेवें कि यह चाण्डालनी है, तब वह भाग जाती है--इसी प्रकार इसे वास्तव रूप में जान लेने

प्रतीत होता है। ऐसे मुक्त पुरुष संसार को देखकर हँसते हैं और कदाचित उन्हें जगत के पदार्थों की कल्पना नहीं फुरती। वे जगत को तृण के समान जानकर त्याग किये रहते हैं। हे रामजी! मैं उनकी क्या उपमा दूँ। उनको तो उदय, अस्त और अहं त्वं की कोई कल्पना नहीं रहती वे आत्म-स्वभाव को ही प्राप्त हुए रहते हैं। ऐसे पुरुषों के लिये सुमेरु पर्वत एक टूटे वृक्ष के समान भासता है। और दिशायें डिब्बी के समान भासती हैं। वह समग्र त्रिलोकी के ऐश्वर्य को भी तृण के समान तुच्छ जानता है। उसके लिये सङ्कटों का समूह कुछ नहीं के समान ही जान पड़ता है। उसके निकट उदय अस्त अहं त्वं की कोई कल्पना नहीं होती। तब भला उस भगवान आत्मा को कौन तौल सकता है। उसको तो वही तौल सकता है कि जो उसके समान होवे। हे रामजी! यह जगत मिथ्याही भ्रम रूप है। जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा और मरुस्थल में नदी का भान होता है और वहां जल की आशा व्यर्थ है वैसे ही यह जगत मिथ्या भ्रम से ही भासता है। इसकी आशा व्यर्थ है। हे राम जी! तुम तो बुद्धिमान् और पंडित हो। फिर मूर्खों के समान मोह क्यों करते हो? यह मैं हूँ, यह मेरा है, इन सब व्यर्थ की कल्पनाओं को चित्त से त्याग दो। क्योंकि यह वास्तव में कुछ है नहीं। सारा जगत आत्मरूप ही है और इसमें कुछ भी नानात्व नहीं है। ज्ञानीजन ऐसा ही जानते हैं और ऐसे दृढ़ निश्चय के कारण ही उनको स्वप्न में ही खेद नहीं उत्पन्न होता। उनके आगे माया नहीं ठहरती और वह पूँछ दबाकर भाग जाती है। जैसे सिंह के निकट मृग नहीं आता, वैसे ही ज्ञानी के आगे माया नहीं आती। उसके आगे सुन्दर से सुन्दर आभूषण मणि, काञ्चन और अपार धन सब तुच्छ भासता है। न तो वह भोगों से सुखी होता है और न आपदा से दुखी होता है। वह सर्वदा ही ज्यों का त्यों बना रहता है उसे सुख दुःख चलायमान नहीं कर सकते। वह कामदेव के चलाये बाणों को

सर्वगत, ईश्वर, निराकार, सर्वाकार और केवल चिदात्मा भी मैं ही हूँ। मैं अनन्त हूँ और पिछले दोनों माया के भ्रम से ही मैं अपने आपको कर्ता भोक्ता मानता था। परन्तु अब मेरे सब अहङ्कार निवृत्त होगये। इस प्रकार जानकर वह सर्वदा आत्मा में ही प्रीति रखता है और उसका चित्त चारों ओरसे पूर्ण रहता है। वह सर्वदा काम रूपी चक्र से मुक्त होकर जरामरण के बन्धनों को काट देता है और इस प्रकार वह सबको पवित्र करने वाला होता है। उसके निकट रागद्वेष नहीं रहते, और वह अविद्या रूपी संसार समुद्र को तर जाता है। वह सबको आनन्द देता है और आप किसी से बन्धनवान् नहीं होता। वह न किसी को कुछ देता है और न किसी से कुछ लेता है। वह न किसी की निन्दा करता है और न किसी को स्तुति करता है। उसे राग द्वेष में कुछ भी हर्ष शोक नहीं होता। वह सर्व फलों का त्यागकर बाधा रहित और कर्तृत्व और भोक्तृत्व से सर्वथा ही परे होता है। ऐसे पुरुष जीवन्मुक्त कहलाते हैं। हे रामजी ! जैसे कामी पुरुष स्त्री को कण्ठ लगाकर प्रसन्न होते हैं पर वास्तव में उनको प्रसन्नता नहीं मिलती वैसे ही निर्वासनिक पुरुष को होता है। हे रामजी ! वसन्त ऋतु भी अपने फूल के गुच्छों को पाकर वैसा नहीं शोभती जैसा उदारात्मा एवं आत्ममौन पुरुष शोभायमान होते हैं। फिर वासना रहित पुरुष का मन वैसा ही शीतल होता है कि जैसे हिमालय पर्वत में वास करने वाला भी वैसा सुख नहीं पाता। हे रामजी ! केले के वन का प्राप्त हुआ भी ऐसा सुख नहीं पाता कि जैसा वासना रहित मन सुखी होता है। हे रामजी ! वैसा सुख स्वर्ग में भी नहीं मिलता और न वैसा सुख सुन्दर स्त्रियों के स्पर्श से ही होता है कि जैसा सुख निर्वासनिक मनको प्राप्त होता है। वासना रहित पुरुष को वह सुख प्राप्त होता है कि जिस सुख के आगे त्रिलोकी का सुख भी तुच्छ होता है। ऐसे निर्वासनिक पुरुष के आगे सारा भूमण्डल गोपद के समान तुच्छ ही

तब पुरुष बन्धायमान नहीं होता। जैसे वृक्ष से टूटा हुआ फल वृक्षमें फिर नहीं लगता वैसे ही जिसका देहाभिमान नष्ट हो गया है वह फिर नहीं उत्पन्न होता और फिर स्वरूप में अभिमान नहीं होता। जैसे लोहदण्डसे चूर्ण किया हुआ पौधा फिरनहीं उगता, वैसे ही आत्मविचार से चूर्ण किया हुआ मन नहीं फुरता। इस प्रकार जिस पुरुषने इस जगत को अविद्या रूप जान लिया है उसे इसके पदार्थ आसक्त नहीं कर सकते। हे रामजी! जिस पुरुष को आत्म दर्शन हो जाता है उसको अवस्तु में वस्तु का भान नहीं होता। वह सांसारिक वस्तुओं को तुच्छ और द्वेष पूर्ण जानता है। उसके समक्ष चाहे कैसी भी सुन्दर स्त्री नाना प्रकार के वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर क्यों न आवे तो भी वह उसे माँस रक्त की पुतली के सिवा और कुछ नहीं जानता। कारण कि उसने उसकी ही क्या वरन् अपनी समस्त इच्छाओं का दमन कर दिया है। हे रामजी! ज्ञानी को सर्वदा स्वरूप का ही स्मरण रहता है इसी कारण उसे अवस्तु में वस्तुरुप बुद्धि नहीं होती, और एक बार आत्मबुद्धि हो जाने पर फिर उसे नहीं भूलती। जैसे किसी ने किसी के पास गुड़ रखा हो और वह उस गुड़को खा जावे, तो रखने वाला उसे दण्ड ही दे सकता है उसका खाया हुआ रस दूर नहीं कर सकता, वैसेही जिसको आत्म साक्षात्कार हो गया है उसका कोई कुछ नहीं कर सकता। हे रामजी! जैसे किसी कुलटा स्त्री का चित्त किसी पर पुरुष से लग जाता है तो वह घर का काम काज करती भी है तो भी उसका चित्त उसीमें लगा रहता है और समय पाते ही वह उसी ओर को दौड़ जाती है वैसे ही ज्ञानवान समस्त क्रियाओं को करते हुए भी अपने चित्तको आत्मपद में लगाये रहता है और समय पर वैसा ही आत्मोचित व्यवहार करता है। जैसे परव्यसनी स्त्री को उसका पति दण्ड भी देता है तो भी उसके हृदय में जो पराये पुरुष के स्पर्श का सुख है--उसे उसके हृदय से दूर नहीं कर

भी टुकड़े-टुकड़े कर देता है । उसको राग द्वेष अपनी ओर नहीं खींच सकते। सुन्दर बाला स्त्री उसके चित्त को नहीं खींच सकती। वह सर्वदा ही निगु ण,निष्क्रिय, निराकार और अद्वैत रूप है। उस के निकट सुन्दर बगीचे, ताल, शैया और इन्द्रियों के विषय भोग दुःख देनेवाले और व्यर्थ हैं । जैसे ऋतु के अनुसार पर्वत में मीठा और कटु फल होता है तो उसको किसी में राग द्वेष नहीं होता वैसे ही अकस्मात् उसको जो भोग आनकर प्राप्त हो जाते हैं उनको वह भोगता है और हर्ष शोकको नहीं प्राप्त होता। हे रामजी! यथार्थदर्शी इष्ट अनिष्ट में विचलित नहीं होता । वह कर्मेन्द्रियों से कर्म करता है परन्तु उसमें आसक्त नहीं होता और देखने में तो आसक्त जान पड़ता है परन्तु भीतर आसक्त नहीं होता। जैसे शुद्ध मणि कीचड़ में भले ही पड़ी हो परन्तु भीतर से उसमें कीचड़ नहीं लगा है वैसे ही वह ज्ञानी पुरुष होता है और उसको कुछ कलङ्क नहीं लगता। हे रामजी! आत्मा सर्वदा प्रकाशरूप, नित्य, शुद्ध और परमानंद रूप है। वह जब जिसको एकांत में प्रत्यक्ष हो जाता है, फिर विस्मरण नहीं होता। वह शुद्ध-ज्ञान स्वरूप है । हे रामजी! जिसके शरीर से अहं भाव उठ गया है और इन्द्रियों के कर्म करता रहता है तो वह करता भी नहीं करता । जैसे किसी को चिरकालके पश्चात् का मिला हुआ बांधव विस्मरण नहीं होता, वैसे ही जिसने एक बार अपने स्वरूप को जान लिया है, उसको वह फिर विस्मरण नहीं होता। जैसे जब तक भ्रम बना रहता है तभी तक जेवरी में सर्प का भान होता है और भ्रम निवृत्त हो जाने पर वह रस्सी ही भासती है सर्प नहीं, वैसेही जब सम्यक ज्ञान होता है तब भ्रान्तिरूप जगत नहीं भासता । जैसे मरुस्थल में जल बुद्धि निवृत्त हो जाने पर वहाँ फिर जल नहीं भासता वैसे ही आत्मा के जान लेने पर देह भाव नहीं रहता । जैसे पर्वत से नदी उतर जाने पर फिर पर्वत पर नहीं चढ़ती, वैसे ही जब हृदयकी चिद्ग्रन्थि टूट जाती है

ही नाना प्रकारकी युद्धादिक क्रियाओं में लगा रहता था और देवताओं के साथ उसका सर्वदा ही विरोध रहता था परन्तु हृदय में वह सर्वदा ही शीतल रहता था, उसे कभी कुछ क्षोभ न हुआ इसी प्रकार शम्बर दैत्य ने भी अपनी एक पृथक ही सृष्टि रच लीथी और उसे कुछ क्षोभ न हुआ। हे रामजी! उसी प्रकार तुम भी इस समस्त जगत को शाम्बरी माया के ही समान समझते हुए इसमें कुछ राग द्वेष न मानो और सर्वदा ही अपने स्वरूप में स्थित रहो देखो, विष्णु भगवान सर्वदा दैत्यों को मारते ही रहते हैं परन्तु हृदय में अलेप बुद्धि है। फिर देखो कि दैत्यों के गुरु शुक्रजी सर्वदा ही दैत्यों के निमित्त युद्ध करते रहते हैं और लोभी के समान ही उनके अर्थ को संचित करते रहते हैं परन्तु वे भी जीवन्मुक्त हैं। सर्वदा ही हृदय से शीतल रहते हैं और कदाचित् खेदवान नहीं होते। फिर वायु बनवासी प्राणियों के अङ्गों को फेरता और चेष्टा करता है परन्तु खेद को नहीं प्राप्त होता। ब्रह्मा सर्व लोकों को उत्पन्न करता है और प्रलय पर्यन्त उसी की क्रिया में लगा रहता है परन्तु उसे सर्वदा ही स्वरूप का साक्षात्कार बना रहता है और वह सर्वदा ही जीवन्मुक्त बना रहता है। विष्णु भगवान् भी सर्वदा ही युद्ध आदिक द्वन्दों में लगे रहते हैं और जरा मृत्यु आदिक द्वन्द्व में नित्य हो पड़े रहते हैं परन्तु वे भी सर्वदा ही मुक्त स्वरूप हैं। इसी प्रकार सदाशिव त्रिनेत्र अर्द्धाङ्गधारी हैं परन्तु हृदय से किसी में आसक्त नहीं हैं। फिर देखो कि गौरा पार्वती मोतियों की माला कण्ठमें धारण किये रहती हैं परन्तु हृदयसे शीतलही रहती हैं, इससे वे भी जीवन्मुक्त हैं। स्वामिकार्तिक दैत्यों के साथ युद्ध करते थे परन्तु ज्ञान के समुद्र थे, हृदय से शीतल रहते थे। भृङ्गागण सर्वदा ही अपना रक्त माँस माता को देते थे परन्तु इतने धैर्य में थे कि उनको कभी खेद न प्राप्त हुआ, वे नाना प्रकार क्रियाओं को करते हुए भी जीवन्मुक्त और सुखी थे। नारदमुनि भी सर्वदा

सकता वैसे ही जिसको आत्मसाक्षात्कार हुआ है उसको कोई दूर नहीं कर सकता, और जैसे व्यभिचारिणी स्त्री पराये पुरुष का साथ करके दुःख पाती है परन्तु उसको उसके स्पर्श सुख का अनुभव हुआ है इससे जो वह उसके सङ्कल्प से अखण्ड अनुभव करती है इसीसे उसको दुःख नहीं भासता। उसी प्रकार जिसको आत्म सुख प्राप्त हुआ है उसको दुःख सुख कुछ नहीं भासता। हे रामजी! सम्यक् ज्ञान से जिसकी अविद्या नष्ट होगई है वह दुःखों को नहीं देखता। यदि उसके अङ्गप्रत्यङ्ग भी काट डाले जावें तो भी उसे दुःख नहीं होता और शरीर के नष्ट होने से नष्ट नहीं होता। क्योंकि उसके सुख दुःख तो पहले ही नष्ट हो चुके हैं। वह सर्वदा ही आत्म पद में निश्चयवान बना रहता है। वह देखने में संकटवान भी आता है तो भी उसको सङ्कट कोई नहीं होता। वह वनमें रहे अथवा गृह में, व्यवहार करे अथवा समाधिस्थ रहे, पर वह सर्वदा ही ज्यों का त्यों बना रहता है, उसका खेद और कष्ट नाम मात्र को भी नहीं होता।

योगवाशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का तिरेपनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५३ ॥

-:::-❀-:::-

चौवनवाँ सर्ग

मुक्ति-विचार वर्णन

हे रामजी! राजा जनक तो राज्य के सर्व व्यवहारों को करता हुआ भी आत्मपद में स्थित रहता था। पर उसको कोई कलङ्क न लगा और वह सर्वदा ही विगतज्वर बना रहा और तुम्हारा पिता राजा दिलीप भी सब आरम्भों को करता हुआ भी रागद्वेष से विमुक्त ही बना रहा। फिर राजा अज, राजा मान्धाता और राजा बलि आदि भी अपने विशाल राज्यों का संचालन करते हुए भी सर्वदा ही आत्मभाव में स्थित रहे, उनको कभी द्वैत का स्फुरण नहीं हुआ। इसी प्रकार नमचर दैत्यों का राजा सर्वदा

रामजी। जो असत् है वह सत् के समान भासता है और जो सत् है वह असत् के समान भासता है-यही जगत के गुण हैं। तब भला ऐसे भयंकर जगत के हाथ क्या लगना है? इसके हाथ में पड़ने वाला अविवेकी और मूर्ख है, वह मुक्त नहीं होता। पर, जिसका मन क्षय हुआ वह मुक्त रूप है और जिसका मन क्षय नहीं हुआ है वह बन्धनरूप है। मुक्ति की इच्छा करने वालों को आत्मा का ही विचार करना चाहिये। जनक आदिक राजाओं ने इस मार्ग का अनुसरण किया था। इसी मार्ग से चलकर वे राज्य करते हुए भी सर्वदा हृदय से शीतल बने रहे। हे रामजी! तुम भी ज्ञान से चित्त को लीन करो। देखो, मुक्ति दो प्रकार की है। एक जीवन्मुक्ति दूसरी विदेह मुक्त। जो सर्व पदार्थों में असंशक्त बुद्धि रखते हैं और जिनका मन शान्त हो गया है वे मुक्त हैं और जिन्होंने ज्ञानपूर्वक सर्व पदार्थों से अपना स्नेह हटा लिया है वह सर्व व्यवहारों को करता हुआ भी शीतल चित्त बना रहता है और वह जीवन्मुक्त कहलाता है। किन्तु जिसने सर्व भावाभाव पदार्थों से चित्त को हटा लिया है और अद्वैत तत्व को प्राप्त हुआ है और देखने में जिसकी शरीर आदिक क्रिया होती नहीं जान पड़ती, वह विदेहमुक्त कहलाता है। किन्तु जो पदार्थों के स्नेह में पड़ा हुआ है वह मुक्ति के लिये यत्न करता हुआ भी बंधन में पड़ा ही रहता है। परन्तु जो युक्ति पूर्वक यत्न करता है उसके लिये कठिन भी सुगम हो जाता है, इसी प्रकार जो युक्ति से रहित यत्न करता है, उसका गोपद भी समुद्र होजाता है। वह अज्ञानी है, उसे अभीष्ट प्राप्त होते ही रहते हैं और वह उसमें डूब ही जाता है, निकल नहीं सकता। उसके लिये वह गोपद भी समुद्र के समान महान् दुस्तर हो जाता है। अतः तुम सारे उपायों को त्यागकर केवल आत्मपद की प्राप्ति का यत्न करो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम-प्रकरण का चौवनवाँ सर्ग समाप्त ॥५४॥

ही मुक्तभाव में स्थित हैं। उनको भी कभी क्षोभ न हुआ। फिर यह जो विश्वामित्र हैं यह भी सर्वदा ही वेदोक्त कर्मों को करते रहते हैं और यत्र तत्र विचरण भी करते हैं परन्तु जीवन्मुक्त ही हैं सूर्यदेव भी मुक्त हैं और यह कामदेव भी मुक्त हैं। इसी प्रकार इन्द्र और कुवेर आदिक तथा त्रिलोकी में भी और भी ऐसे बहुत से जीव हैं कि जो व्यवहार में शीतल हैं। कोई शिला के समान जड़ हो रहे हैं और कोई परम बोधवान पद में स्थित हो गये हैं। हे रामजी! वस्तु में जो अवस्तु है और अवस्तु में जो वस्तु है वह अवस्तु में वस्तु तब निकलता है जब युक्ति होती है और वस्तु से अवस्तु भी युक्ति से ही दूर होता है। जैसे बालुका अवस्तु है परन्तु युक्तियों से उसमें से भी तेल निकलता है वैसे ही वस्तु अवस्तु और अवस्तु वस्तु हो जाती है। उसी प्रकार इस अवस्तु रूप शरीर में वस्तुरूप आत्मा शास्त्रों की युक्ति से पाया जाता है, और वस्तुरूप आत्मा से ही अवस्तु रूप दृश्यों का अन्त होता है। हे रामजी! जिसको पापों से भय होता है, वह जब धर्म में प्रवर्तता है तब निर्भय होता है। फिर जब दुःखों के भय से जीव आत्मपद की ओर जाता है तब भावना के वश से असत् से सत् को पाता है। हे रामजी! ध्यान और योग आदि की क्रियायें भी शून्य हैं परन्तु यत्न के बलसे सत् को पाया जाता है। जैसे इन्द्रजाल की रचना और बाजीगर के खेल में शीशे के सींग दिखलाई पड़ते हैं, वैसे ही आत्मा में असद्रूप जो जगत है वह अज्ञान से दृढ़ हो जाता है परन्तु कल्प के अन्त में वह भी नष्ट हो जाता है। यहाँ तक कि जो सूर्य और चन्द्रमा दिखलाई पड़ते हैं और इन्द्रादिक तथा सुमेरु आदिक पर्वत, समुद्र और जो उत्तम मध्यम और कनिष्ठ भावाभाव पदार्थ भासते हैं वे सभी माया मात्र और कल्प के अन्त में नष्ट होने वाले हैं, कोई न रहेंगे। इस कारण इनके भावाभाव में हर्ष शोक नहीं करना चाहिए। ममता भाव में ही आनन्द है। हे

डूब ही जाते हैं। जो विषयों का सेवन करता है वह निश्चय ही नष्ट होजायगा। परन्तु जिसने सच्छास्त्र और सन्त वाणी द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लिया है उसको यह वैसे ही दुःख नहीं दे सकता कि जैसे गारुड़ी मन्त्र जानने वाले को सर्प दुःख नहीं दे सकते। हे रामजी! जिसे ज्ञान रूपी धर्म लक्ष्मी प्राप्त होगई है, वह अमृत के समान शीतल, शुद्ध और प्रकाश रूप है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का पचपनवां सर्ग समाप्त ॥ ५५ ॥

-:::-❀-:::-

छप्पनवां सर्ग

आत्म-विचार

हे रामजी! ऐसा विचार कर ही आत्मवेत्ता पुरुष इस जगत से उपशम होकर रहते हैं। तुम भी आत्म विचार का ही आश्रय करो। यह सारा जगत आत्मरूप ही है—ऐसा जानकर हृदय से जगत की सत्यता को उठा दो। जब ऐसा विचार कर लोगे तब देखो कि जगत कहाँ है? हे रामजी! जैसे आकाश कुसुम कहने ही मात्र है। वैसे ही यह चित्र कथन मात्र है और अविचार के कारण ही यह प्रतीत होता है। अन्यथा विचारवान को यह चित्त अचित्त भासता है जैसे नौका पर बैठे बालक को तट के वृक्ष चलते हुए जान पड़ते हैं पर बुद्धिमान को नहीं वैसे ही यह चित्त मूर्खों को सत्य प्रतीत होता है विचारवानों को नहीं। विचारवान के पास चित्त होता ही नहीं। जैसे चक्र पर चढ़ा हुआ बालक फिरता है तो पर्वत आदिक पदार्थ उसको भ्रमते हुए भासते हैं और जब चक्र ठहर जाता है तब स्थिर जान पड़ते हैं वैसे ही चित्त के स्थिर हो जाने से द्वैत कुछ नहीं भासता। चित्त के फुरने में ही नाना प्रकार की तृष्णा उठती है और चित्त के अफुर होने से समस्त संशय और शोक नष्ट हो जाते हैं। सब मनुष्य विगत ज्वर हो जाता है और तब उसे एषणा कोई नहीं रहती। क्योंकि जब चित्त का चैत्य भाव ही

पचपनवां सर्ग

संसार-सागर योगोपदेश वर्णन

हे रामजी ! यह जितना कुछ जगत का प्रपञ्च है सब उस आत्मा ब्रह्म का आभासरूप ही है । विचार करने से शान्त हो जाता है। असम्यक दर्शन से ही यह स्थित हो रहा है। सम्यक दृष्टिसे देखा जाय तो यह शान्त होजाता है। परन्तु बिना आत्म-अभ्यास के इससे तरना कठिन ही नहीं, असम्भव है। यह संसार रूपी सागर मोहरूपी जलसे परिपूर्ण है। इसमें मरण रूपी आवर्त है। तृष्णारूपी भँवर है। फिर इसमें इन्द्रियाँ और मन रूपी चीते और मच्छ हैं। यह क्रोध रूपी सर्पों का केन्द्र है और जीव रूपी नदियाँ आकर इसमें मिली हुई हैं। इससे जो तर जाता है, वही पुरुष है। इसमें स्त्रियों का जो सौंदर्य है वही उनके महा बलवान नेत्र हैं कि जिनसे वे पहाड़ों को भी खींच सकती हैं और मोतियों के समान जो उनके सुन्दर २ दाँत और सुन्दर २ शरीर है वह महा दुःख देने वाले हैं। बड़वाग्नि के समान ही वे पुरुषों को भस्म कर देती हैं। जो इनसे तर जावे वही सच्चा पुरुष है। जो बुद्धि-रूपी जहाज और संत रूपी मल्लाहोंके द्वारा इस जगत रूपी सागर को नहीं पार कर सकता उसको बारम्बार धिक्कार है। हे रामजी ! जो आत्म-विचार नहीं करता वह इस सागर को तर जाता है और जो आत्म साक्षात्कार नहीं करता वह नहीं तर सकता। हे रामजी ! तुम पहले ज्ञानवानों का साथ करके उनसे विचार विमर्श करते हुए बुद्धि से इस संसार समुद्र को देखो। जब तुम इसको ज्यों का त्यों जानोगे तब विलास और क्रीड़ा करने योग्य होजाओगे। तुम तो भगवान हो। फिर विचार पूर्वक इस संसार समुद्र को क्यों नहीं पार कर लेते ? यह बड़ा ही शुभ मार्ग है। जो इस सुन्दर और शुभ मार्गको त्याग कर विषयों की ओर जाते हैं वे संसार समुद्र में

है और स्थिर नहीं होता, वैसे ही यह मन महा चंचल है और कुछ क्षण के लिये भी नहीं ठहरता। जैसे बन्दर कभी इस डाल पर तो कभी उस डाल पर जाकर बैठता है वैसे ही यह मूर्ख मन भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की ओर जाता है, स्थिर नहीं होता। हे रामजी! जब इस प्रकार मनने उसको बहुत दौड़ाया और अधिकार में न आया, तब उसने मनसे कहा–क्यों रे मूर्ख मन! किस लिये विषयों की ओर जाता है। वे विषय तो स्वयं ही जड़ और असतरूप भ्रान्तिमान हैं। तू इनसे शान्ति की क्या आशा करता है। तू अपनी चपलता वश इनकी इच्छा करता है तो यह बड़ा अनर्थ कर रहा है। इनको तू ज्यों-ज्यों ग्रहण करेगा त्यों-त्यों दुःख ही तेरे निकट आवेंगे। क्योंकि यह विषय जड़ और असतरूप हैं, तू भी असतरूप ही है। तब भला इन असाररूप इन्द्रियों सहित तू जड़रूप विषयों में कर्तापन का अभिमान क्यों करता है। क्या तुझे ज्ञान नहीं है कि सबका कर्ता सच्चिदानन्द आत्म भगवान ही सब के साक्षीभूत हैं? तब तू वृथा ही तप्त क्यों होता है। यह सारा जगत भ्रान्तिमात्र ही है। जैसे अज्ञान वश जेवरी में सर्प भासता है वैसे ही अज्ञान वश आत्मा में जगत का भान हो रहा है। परन्तु जैसे सूर्य सबसे पृथक है वैसे ही आत्मा सबसे पृथक है। हे मन! तू कितना मूर्ख है कि विषय रूपी चर्वण को चारों ओर से चबाता हुआ भी कभी तृप्त नहीं होता तब तू ही विचार कर कि तू कैसा नीच और कुत्ते के समान है कि जिधर ही देखो उधर ही दुम हिलाता रहता है। अस्तु। तेरे साथ मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है। रे मूर्ख! तू मिथ्या ही अहङ्कार क्यों करता है। जैसे तेरी वासनायें मिथ्या हैं, वैसे ही तू भी मिथ्या ही है। तब भला तेरे जैसे के साथ उस पवित्र भगवान आत्मा का सम्बन्ध कैसे हो सकता है। कहाँ वह आत्म चैतन्य है और कहाँ तू मूर्ख और जड़ एवम् मिथ्यारूप है। अब मैंने यह अच्छी तरह जाना है कि तूने ही मुझको आवागमन के

न रहा तब इच्छा आदिक गुण कहाँ रहेंगे। जैसे प्रकाश के हुए से वर्ण ज्ञान नहीं रहता, वैसे ही चित्त के नष्ट हो जाने पर इच्छा आदि का विनाश हो जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम-प्रकरण का छप्पनवां सर्ग समाप्त ॥ ५६ ॥



सत्तावनवां सर्ग

बीतव उपाख्यान

हे रामजी! इस पर एक आख्यान कहता हूँ सुनो। एक बीतव मुनीश्वर थे जो संसार की आधिव्याधि से अपने को दूर कर महा वैराग्य रूप धारण कर सुमेरु पर्वत की कंदराओं में विचरण किया करते थे। उस विचरण में वे यही अनुभव करते थे कि संसार की सारी क्रियायें दुःख रूप हैं, इनसे महान् भ्रम प्राप्त होता है। तब इस प्रकार विचरण करते-करते उन्हें यह विचार दृढ़ हुआ कि अब मैं निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करूँ। सो उन्होंने ऐसी इच्छा करके अपने सर्व व्यवहारों को त्याग दिया और केले के पत्तों का आसन बनाकर एकांत में बैठ गये। तब जैसे कोई शुद्ध होकर मौन भाव से स्थित हो जावे वैसेही वह सर्व कल्पनाओं को त्यागकर पद्मासन से शांति उपासना के लिये बैठ गये। इन्द्रियों की सर्व चेष्टाओं को उन्होंने बंद कर दिया और सब प्रकार भीतर बाहर सर्वत्र से उन्होंने अपनी सर्व वृत्तियाँ भी जहाँ की तहाँ ही ठहरा दीं और दोनों हाथ नीचे कर मुख को ऊपर उठा दिया। इस प्रकार उन्होंने योगासन लगाकर समाधि अवस्था प्राप्त करने का पूर्ण यत्न किया परन्तु रुक-रुककर भी मन बाहर निकल जावे और एकाग्र भाव से कभी न ठहरे। तब वह बड़ा आश्चर्यित हुआ कि यह मन महा चंचल है, सर्वदा ही इन्द्रिय जन्य विषयों की ही ओर दौड़ता है। जैसे सूखा पत्ता तरङ्गों में पड़कर नहीं ठहरता और जैसे गेंद को ज्यों-ज्यों ठोकर लगावे वह वैसे-ही-वैसे उछलता

रूप से भासता है और मैं ही सर्वदा अपने आप में स्थित हूँ जैसे जलमें तरङ्ग भी जलरूप ही है वैसेहो सर्व पदार्थ मुझमें ही भासते हैं और मुझसे भिन्न–भिन्न कुछ नहीं है। कुछ कारण तूभी मेरे ही भाव का ग्रहण कर। जब तू मेरे हो समान चिन्मात्र पद को पा जायगा तब मुझे कुछ भी शोक न होगा और तेरा सर्व भिन्न भाव नष्ट हो जावेगा। क्योंकि आत्मतत्त्व सर्व भाव में स्थित और सर्वरूप ही है, उसको प्राप्त कर लेने से तुझे सब कुछ प्राप्त हो जावेगा। यह शरीर और यह जगत सब कुछ ब्रह्म ही है। इस ब्रह्ममें अहं, त्वं की कोई कल्पना नहीं है। तब जब आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है तब तू परिछिन्नता को क्यों प्राप्त होता है। तुमसे कर्त्ता और भोक्ता का कार्य कैसे होता है। फिर यदि तू यह कहता है कि 'मैं सत्–असत्, जड़ और चेतन के मध्य में हूँ तो यह भी नहीं है। क्यों हँसुआ अपने आप कुछ भी नहीं काट सकता, जब मनुष्यकी शक्ति मिलती है तभी वह किसी वस्तु को काटता है, ऐसे ही जब तुमसे आत्मसत्ता मिली हुई है तभी तू कुछ करता है फिर तू किस पर अहंकार करता है? फिर यदि तू यह कहे कि मेरे पर भगवान की कृपा है तो भगवान को करने न करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। वह कर्ता भी है और अकर्ता भी है। वह सभी को बाँधता है परन्तु उसे कोई नहीं बाँध सकता। वह सबसे निर्लेप है। फिर हे मन तू भोगों की इच्छा क्यों करता है? तू जड़ है और यह शरीर भी जड़ है। फिर तू लोगों को भोगने वाला कैसे होसकता है? और यदि तू यह कहे कि मैं परमात्माके लिये भोगताहूँ तो परमात्मा को तो कोई इच्छा ही नहीं होती। वह तो सर्वथाही परिपूर्ण सर्व प्रकाशरूप से अपने ही आप में स्थित है। फिर तू किसकी चिन्ता करता है? हे मन! तू इन सब प्रपंचोंको त्याग कर उस आत्मपदमें स्थित होगा कि जहाँ पहुँचने पर सर्व लोकों का आपही आपशमन होजाता है। यदि तू यह कहे कि परामात्मा के साथ मेरा कर्तापन और भोक्ता का मेरा

चक्कर में छोड़ रखा है । अन्यथा मैं केवल, चेतन और परब्रह्म रूप ही हूँ। इस मिथ्या अहङ्कार ने ही मुझे जीवत्वभाव को प्राप्त कराया है । तेरे ही कारण मैं अपने को देहमात्र जान रहा हूँ। किन्तु अब मैं अपने स्वरूप से जागा हूँ और अब तेरी भावना मुझे कुछ भी कल्याणप्रद नहीं हो सकती। परन्तु रे मूर्ख मन ! तू यह विचार कि भोगों को तू अमृत के रूप कैसे जानता है । हाँ ये भोग तो विष के समान है। यद्यपि पहले ये अमृत के समान जान पड़ते हैं तथापि फिर विष के ही समान हो जाते हैं। यदि यह कहो कि कैसे तो-जब यह भोग मिलते हैं तो अमृत के समान सुख जान पड़ता है और जब यही बिछुड़ते हैं तब विषके समान दुःख देते हैं। फिर तू अपने को कर्त्ता और भोक्ता भी कैसे जानता है? क्योंकि तू न तो कर्त्ता है और न भोक्ता । इन्द्रियाँ कर्त्ता और भोक्ता नहीं होती वरन् जड़ होती हैं। इस प्रकार जब तुम जड़ हो तब तुम्हारे साथ मित्रता कैसी? तू अपने को कर्त्ता और भोक्ता भी मिथ्या ही जानता है। जब मैं तुझे निश्चय करता हूँ तब तू होता है अन्यथा तू है नहीं। तेरे में जो कर्तापन की शक्ति है वह मेरी ही दी हुई है। जैसे शस्त्र हनन क्रिया करता है अथवा उसमें जो हनन शक्ति है वह उसकी नहीं वरन् किसी की दी हुई है और उसे लेकर किसी के प्रहार करने से ही वह हनन करता है वैसे ही तुझ में जो कर्तृत्व और भोक्तृत्वकी शक्तिहै वह मेरी दी हुई शक्तिहै। मेरीही सत्ता पाकर तू अपनी चेष्टा कररहाहै। जैसे सूर्यकाप्रकाश पाकरही लोग अपनी२ चेष्टा करते हैं वैसेही तू मेरीही शक्तियाँ पाकर चेष्टाकरताहै। अज्ञान से ही तेरी उत्पत्ति है और ज्ञानसेही तू लीन हो जाताहै। इससे तू मृतक और मूढ़ है ज्ञान से देखा जाय तो न तो कहीं इन्द्रियाँ हैं और न कहीं तू है। सब मिथ्याही भ्रमसे भासित होरहा है। किन्तु मैं विज्ञान स्वरूप केवली भाव से अपने आप में ही स्थित हूँ। मैं अजर, अमर, नित्य, शुद्ध बुद्ध और परमानन्दरूप हूँ। मैं ही नाना

जावेगा। जैसे सूर्य के उदय होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही अपने आप अनुभव रूप परमात्मा के उदय होते ही तू नष्ट हो जायगा। वासनाओं ने ही उसको ढँक रखा है। वासनाओं का अन्त होते ही वह प्रकाशित हो जावेगा। हे मन ! इस वासना का ही नाम बन्ध है और वासना निवृत्ति को ही मोक्ष कहते हैं। वासनाओं के नष्ट होते ही आत्मा परमात्मा का दर्शन हो जावेगा। किन्तु जब तक वासना नष्ट न होगी तब तक तू और यह इन्द्रियाँ भी रहेंगी। अब मैं जान गया हूँ कि आत्म विचार के बिना तेज सहित इन इन्द्रियों का क्षय न होवेगा। किन्तु आत्मविचार होतेही ये षटेन्द्रियां सर्वथा ही निर्बल हो जावेंगी। क्योंकि इनका आवरण तो तभी तक है जब तक कि आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता। अस्तु ! अब मैं आतमपद पाने एवं अपने कल्याण के लिये वैसा अभ्यास अवश्य करूँगा। अन्यथा यह जीव जब तक तेरे सहित इन इन्द्रियों के साथ लगा रहेगा तब तक इसे अपने स्वरूपकी महत्ता नहीं ज्ञात होगी किन्तु इसे ज्यों ही आत्म दर्शन हो जावेगा त्यों ही उसके समस्त राग द्वेष नष्ट हो जावेंगे और इस प्रकार इसके समस्त विकारोंका अभाव होजावेगा तब भला जिसके दर्शन मात्र से तेरे जैसे सर्व विकारों का अभाव हो जाता है उसका और तेरा सम्बन्ध कैसा ? मेरे विचार से तो जैसे अन्धकार और प्रकाश का सम्बन्ध नहीं होता, जीवित और मृतक का सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही मेरे जैसे आत्मा से तुझ अनात्मा का सम्बन्ध नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा सर्व कलनाओं से रहित है और तू सर्व कलनाओं का मूल है, उद्‌गम स्थान है अथवा तेरे ही में सारे सङ्कल्प ओतप्रोत हैं। तब कहाँ तू मूक, जड़ और अनात्म और कहां यह नित्य, चेतन, निराकार और प्रकाश–स्वरूप ? फिर तेरा आत्माके साथ सम्बन्ध कैसे होगा। तू तो निश्चय ही सब अनर्थों का मूल कारण है। अभिमान वश जगतके सर्व दुःखों को देख रहा है। अभिमानको त्याग दे तो तुझे परमात्मा दिखलाई पड़ेंगे। आत्म

सम्बन्ध है तो यह भी ठीक नहीं वैठता । भला कहीं पुष्प और पाषाण का भी साथ होता है। फिर परमात्मा के साथ तेरा सम्बन्ध कैसा हो सकता है ? हां, पिता और पुत्र का सम्बन्ध होता है बीज और अंकुर का सम्बन्ध होता है, द्रव्य और गुण का सम्बन्ध होता है किन्तु तेरा परमात्मा का सम्बन्ध कैसे होसकता है । क्योंकि तू आकर सहित एक वस्तु मात्र है और परमात्मा निगुण तथा निराकार है तू जड़ है परमात्मा चेतन है । तू यमरूप है, परमात्मा प्रकाशरूप है । तू असत्‌रूप है तो परमात्मा सत्‌रूप है । फिर तेरा और परमात्मा का साथ कैसे हो सकता है ? हे मन ! तेरा वनाव किसी के साथ नहीं है । तू कलङ्करूप है और परमात्मा निष्कलङ्क है । फिर तेरी और परमात्मा की एकता कैसे है ?

श्रीयोगवशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५७ ॥

अट्ठावनवां सर्ग

वीतव उपाख्यान, अनुशासन योग वर्णन

वशिष्ठजी बोले हे रामजी ! इस प्रकार वारम्बार मनको समझाते हुए वीतव मुनि सुमेरु पर्वत की कन्दराओं में विचरण करने लगे। किन्तु मनकी अशान्तता ने उन्हें वहाँ न रहने दिया और वे विक्षिप्त हो विन्ध्याचल पर्वत पर चले आये । तब कहाँ बैठें कहाँ रहें, कैसे शान्ति प्राप्त होवेगी और इस मन को कैसे समझावें इत्यादि विचारों की उधेड़ बुनमें वे एक लम्बी गुफा देखकर उसमें जा बैठे। किन्तु वहाँ भी उनका मन शान्त न होता था । तब क्या करें क्या नहीं, इस विचारमें व्यग्रहो वे फिर अपने मनको समझाने लगे-हे मन ! तू मेरे सङ्कल्प से ही उत्पन्न हुआ है । मेरे उत्थान ने तुझे जन्म दिया है । अन्यथा तेरा और तेरेही साथ इन सर्व इन्द्रियों का भी पता न था । यह देहादिक सर्व इन्द्रियां सङ्कल्प अथवा मेरे अपने आप आत्म प्रमाद के ही कारण उत्पन्न हुई हैं । तब तू जैसे अज्ञान से उत्पन्न हुआ, वैसे ही ज्ञान होने से नष्ट भी हो

जड़ रूप है। जैसे आकाश में वायु नहीं स्पर्श करता वैसा ही तुमसे कर्तापन नहीं स्पर्श करता। जब आत्म विचार से स्वरूप का साक्षात्कार होता है तब अज्ञान वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और मन आदि का वियोग हो जाता है। कल्पनायें नष्ट हो जाती हैं और कर्ता तथा भोक्तापन का अभाव हो जाता है। किन्तु अहं भाव से अपने को भिन्न जानता है वह दुःख ही पाता है। और जब वही अपने स्वभाव में स्थित होता है तब बड़ा ही सुखी हो जाता है। अस्तु! जिसको अपने कल्याण की इच्छाहो उसे चाहिये कि वह केवल आत्म परायण ही हो जावे। क्योंकि यह सारा जगत आत्म-स्वरूप ही है। आत्मा से जगत भिन्न नहीं है। जैसे समुद्र से तरङ्ग आदिक नाना प्रकार भासता है किन्तु वह सब जल रूप ही है, भिन्न नहीं, वैसे ही यह समस्त दृश्यों सहित जगत भी आत्म स्वरूप ही है और भिन्न नहीं। अस्तु! मैं सच्चिदानन्दरूप अपने आप में ही स्थित हूँ। मुझ में द्वैत कलना कोई नहीं है। जैसे समुद्र उष्णता से रहित है वैसे ही परमात्मा सर्व कलनाओं से रहित है। जैसे आकाश में वनका सर्वथा ही अभाव है, वैसे ही परमात्मा में कलनाओंका सर्वथा ही अभाव है। वह सर्व संवेदनों रहित सर्वात्मा और संवितमात्र है। उसका दर्शन होते ही अहं त्वं आदिक सर्व कलनायें ध्वंस हो जाती हैं। क्योंकि वह अनादि और अरूप है। सब में वही है और वही अपने आप में भी स्थित है। वह सबमें पूर्ण निर्मल और नित्य आनन्द स्वरूप है। तब भला उसमें द्वैत कलना का आरोपण करने की किसकी सामर्थ्य है और ऐसा कौन है कि जो आकाशमें भी ऋग्वेद लिखे? आत्मा नित्य, उद्योत सबका सार और अद्वैत रूप है। उसमें नाम मात्र को भी द्वैत कलना नहीं है। सो, अब मैं ऐसेही अपने आप आत्मा को पा गया हूँ कि जिसको पाकर जगत का सुख दुःख नहीं रहता। अस्तु! अब मैं सम और शांत रूप ही स्थिर हूँ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम—प्रकरण का अट्ठावनवां सर्ग समाप्त ॥५८॥

क्षय के कारण ही तुझे इतना दुःख मिल रहा है। आत्म-ज्ञान हो जावे तो अपने साथ जगत का संयोग न भासित होवे। परन्तु अब मुझे यह निश्चय हो गया है कि इन्द्रियाँ और मनके संयोग से ही जगत भासता है। जब इनका संयोग न रहे तब जगत भी न भासे। अब तक जो मैं आत्मा, मन और इन्द्रियों को इकट्ठा करके जानता था सो प्रमाद रूपी मदिरा के नशे में मत्त होकर ही जानता था। किन्तु अब आत्म-विचार को पाकर सुखी हुआ हूँ। यदि विष को पान करके कोई मूर्छित हो तो वह ठीक है किन्तु यहां तो बिना विष के ही लोग मूर्छित हो रहे हैं। इस कारण यदि अनात्मा के साथ इनका संयोग होता है तो सुख दुःख करके रागद्वेष में पड़ना भी ठीक लगता है किन्तु आत्मा तो सुख और दुःख दोनों का ही साक्षीभूत होता है। जब जिसे सुखका संयोगही न होवे और राग-द्वेष से भी जले तो वह मूर्ख ही है। क्योंकि आत्मा तो सुख दुःख का साक्षीभूत है, जैसा अभ्यास होता है, वैसा ही भासता है और विपर्यय भाव को कदापि नहीं प्राप्त होता। किन्तु मूर्ख का मन तो सुख दुःख में राग द्वेष करता हुआ जलता है और आत्मा साक्षी-भूत और निवृत्तियों से क्षीण रहता है। उसको इन्द्रियोंका संयोग नहीं रहता, उसमें कर्तापन और भोक्तापन नहीं रहता। कर्तापन और भोक्तापन तो वहाँ होता है कि जहाँ इन्द्रियों का संयोग होता है और जहाँ चित्त कल्पना होती है किन्तु जहाँ चित्त ही नहीं होता वहाँ कर्त्ता और भोक्ता कैसा? वहां तो कलङ्क रहित मैं ही अपने आपमें विद्यमान हूँ और मैं कर्ता हूँ, न भोक्ता। न मुझमें बन्ध है न मोक्ष, न मैं हंता हूँ न अहंता। मैं सर्वात्मा और निर्लेप हूँ। इससे हे मन? तू भी मैं ही हूँ और यह पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और पंचतत्व सब कुछ मैंही हूँ। फिर तू किस लिए अहं अहं करता है। हे मन! अब तक जो तू अपने में कर्तापन का भाव देखता था सो इन्द्रियों के संयोग से ही देखता था और वे इन्द्रियाँ पत्थर के समान

चित्तरूपी उलूक का नाश होवेगा। और जब तेरा नाश होवेगा तभी आनन्द की प्राप्ति होवेगी। परन्तु जब तक तू नष्ट नहीं होवेगा तब तक शान्ति न प्राप्त होगी। क्योंकि जब तेरा उत्पन्न किया हुआ मोहरूपी कुहिरा और इच्छारूपी धूलि हृदयरूपी आकाश से निवृत्त होती है तभी निर्मल आकाश दिखलाई पड़ता है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार हे चित्त! जब तू नष्ट होवेगा तभी शीतलता प्राप्त होगी। तेरे ही संयोग से बैठे बैठाये स्वस्थ शरीर चिन्ताओं में जा डूबता है और आकाश, प्रसन्नता, गम्भीरता और महत्वता सभी कुछ नष्ट हो जाती है परन्तु तेरे नष्ट होते ही सब गुण आ जाते हैं और प्राणी अत्यन्त ही शोभायमान हो जाता है। हे चित्त मुझे ज्ञात होना चाहिये कि यह स्थावर जङ्गमरूपी जगत जो है सब संवितरूप आकाश में ही स्थित है। परन्तु तेरे ही कारण वह महत् ब्रह्म कुम्भी पाक नरक प्राप्त हुआ है और तू ही सबको भक्षण करने वाला है। परन्तु जैसे जला हुआ पत्र फिर हरा नहीं होता वैसे ही चित्त नष्ट हुआ फिर जन्म मरण को नहीं पाता। किन्तु यदि संसार को सत्य मानकर उसकी ओर दौड़ेगा तो तेरा कल्याण नहीं होगा और आत्मा की ओर जायगा तो तेरा कल्याण होवेगा। परन्तु यदि तू अपनी भावना करेगा तो दुःख को ही प्राप्त होगा। तेरा जीना ही मृत्यु है और तेरा मृत्यु ही जीवन है। अब इन दोनों में तुझे जो अच्छा लगे वह कर। यदि तू अभी से आतमपद में लय होवेगा तो परमपद को पाकर सुखी होवेगा अन्यथा कष्ट तो भोगेगा ही। जो आत्मपद को त्याग करता वह मूर्ख है। तू तो आदि अन्त सर्वत्र से ही मिथ्या है। विचार करते ही तेरा पता नहीं चलता। हाँ इतने समय तक मैं अज्ञान पूर्ण जीव व्यतीत करता रहा और जैसे बालक को अपनी परछाईं में भी बैताल का भय रहता है और विचारवान होने पर उसको वह भय जाता रहता है, वैसे अब तक मैं विचार के बिना भय पा रहा था किन्तु अब तेरे साथ

उनसठवाँ सर्ग

चितोपदेश वर्णन

वीतव मुनि ने कहा–हे मन ! अब तक तेरे साथ मिलकर मैंने बड़ा कष्ट पाया। हे अज्ञानी ! तेरी उत्पत्ति ने मुझे बहुत सताया। पर तू बतला कि विषयों की ओर इतना क्यों दौड़ता है ? ये विषय तुझे शान्ति नहीं दे सकते। जैसे मृग तृष्णा के जलको देखकर मूर्ख मृग उधर ही दौड़ता है और वहाँ जल न पाकर मूर्छित होकर गिर पड़ता है वैसे ही ये विषय तुझे बारम्बार अपनी ओर दौड़ाते और कष्ट देते हैं, परन्तु तू कैसा महा अज्ञानी है कि तुझे तनिक भी चेत नहीं आता। इससे मैं कहता हूँ कि तेरा सङ्ग करके मैंने महान् दुःख उठाया। मैंने ही क्या जितने भी जीवों ने तेरा साथ किया वे सभीकालके मुखमें चले गये। हे मन, हे चित्त ! तू चिन्ताओंको ही उठाने वाला है इससे तू मर्कट के समान ही इस शरीर रूप वृक्षको हिलाता ही रहता है और तनिक भी स्थिर नहीं होने देता। जैसे मेघ सूर्यको घेर लेता है वैसे ही तू मनरूपी मेघने इच्छारूपी कुहरे से आत्मारूपी सूर्य को घेर लिया और सर्वदा ही परम्परा रूपी दुःखों की वर्षा कर रहा है। हे मन रूपी मर्कट ! हे चित्तरूपी पक्षी ! लोभ और लज्जाही तेरे दो पंख हैं। तू इन्हीं दोनों पंखोंसे उड़ कर शरीर रूपी वृक्ष पर बैठता है और यह जो रागद्वेष रूपी तेरी चोंच है इसीसे उस शरीररूपी वृक्षके शुभ गुणरूपी फलों को काटता है। हे चित्तरूपी महान् नीच कुत्ते ! तू भोग वासना रूपी महान् अपवित्र पदार्थों कोही हृदयरूपी स्थानमें एकत्र करके व्यर्थही में भों-भों करता है। हे चित्तरूपी उलूक ! तू अज्ञानरूपी रात्रि में ही विचरण करता और चेष्टा करके प्रसन्न होता है। परन्तु जैसे श्मशान में वैताल शब्द करता है तेरा इस अज्ञानमें रात्रिमें शब्द करना वैसा ही अशुभ सूचक है। इससे जब अज्ञान रूपी रात्रि नष्ट होवे तभी तुझ

अग्नि ज्वाला काष्ठ को भस्म कर शान्त हो जाती है वैसे ही उसके प्राण और मनकी वृत्तियों का स्पन्द मिट गया और वे लिखित चित्र के समान ही स्थिर हो गये। उस अवस्था में कितने ही दिनों तक उनके शिर पर मेघों ने घोर वर्षा की, मराडलेश्वरों ने शिकार खेले, बड़े २ शब्द हुए, रीछ और बन्दरों ने शब्द किया, व्याघ्र और हस्तियों के भी शब्द हुए, वनमें अग्नि लगी, पत्थरों की वर्षा हुई, प्रचराड वायु चली, और कड़ी धूप हुई किन्तु वह अपनी समाधि में ही स्थित रहे और तनिक भी टस से मस तक न हुए। फिर तो जैसे पहाड़ में शिला दबी होती है वैसे ही उनका शरीर दब गया और जब इस प्रकार पूरे तीन सौ वर्ष व्यतीत हो गये अब चित्त में फिर स्फुरण हुआ कि यह मेरा शरीर है, मैं पर्वत के ऊपर कदम्ब वृक्ष के नीचे वैठा हूँ। और सौवर्ष तक तो मैं मौन होकर जीवन्मुक्त रहा और सौ वर्ष तक विद्याधर हो अप्सराओं में विचरण करता रहा। फिर पाँच युग व्यतीत कर इन्द्र हुआ और देवताओंसे नमस्कार लिया।

वशिष्ठजी यह कह ही रहे थे कि रामजी ने पूछा हे मुनीश्वर! पहले वीतव मुनिको यह देश कालकी प्रतिभा अनियमित और अनियम कैसे भासित हुई कि जिससे उसने समाधि लेना ही निश्चय कर लिया? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया—हे रामजी! यह चित्त सर्वात्मा रूप है। इसमें जैसा स्फुरण होता है, वैसा ही भास आता है। अनुभव सत्ता इसमें जैसा तीव्र स्फुरण हुआ कि तत्क्षण वैसाही भासकर वहाँ स्थित हो जाता है। अज्ञानी को जगत भासता है और ज्ञानी को सर्व आत्मा का ही भान होता है। वीतव मुनीश्वर ने जो कुछ देखा, अनुभव किया सब वासनाओं से ही कारण से देखा। अन्यथा जब वह स्वस्थ रूप था, तब उसको सब आत्मा ही दिखलाई पड़ता था और फुरना भी अफुरना था और वासना भी अवासना थी। तब उसे भ्रान्ति कुछ भी न थी। वह सर्वदा ही स्वस्थ चित्त को स्पन्द करके जीवन्मुक्त का ही अनुभव ले रहा था। हे रामजी! जीवन्मुक्त

के छूटने से अपने पूर्व स्वरूप को प्राप्त हुआ और ज्ञान होने से तेरा अभाव हुआ है। हे चित्त ! अब तक तू अविवेक से ही मेरा मित्र था। किन्तु अब ज्ञान होने से तेरा चित्त भाव नष्ट हो गया। अब तू ईश्वर परमेश्वर रूप हो गया और अब सारी वासनायें नष्ट हो गई हैं। पहले तो मुझमें नाना प्रकार की वासनायें थीं कि जिससे महा मलिन और दुःख रूप हो रहा था किन्तु अब वासनाओं के नष्ट होनेसे तू परमेश्वर के समान होगया है। हे चित्त ! तेरी मित्रता ने मुझे बड़ा तुच्छ बना दिया था। किन्तु अब शास्त्रों की युक्ति से निर्णय किया है कि तू न कभी था और न अब है, न फिर होगा। अपने अज्ञानवश ही मैंने तेरा सद्भाव कर लिया था। किन्तु अब मैंने अपने आपको जाना है और अब अपने आप में ही स्थित निर्वाण और शान्त रूप हूँ। अब मेरे सब ताप नष्ट होगये हैं और मैं नित्य शुद्ध चिदानन्द पर ब्रह्म-स्वरूप हूँ। अब मुझमें जगत की सत्यासत्य की कोई कल्पना न रही और हे चित्त ! अब तू निर्वाण हो गया है। किन्तु मैं तो केवल शुद्ध आत्मा हूँ और मेरी प्रतियोगिता में कोई नहीं है। एक चित्त ही फुरता था सो निर्वाण हो गया। इससे अब मैं स्वस्थ संवेदन रहित, सत्तामात्र अपने आपमें ही स्थित हूँ। अब मुझे कलना कोई नहीं और अब मैं वीतराग होगया हूँ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम-प्रकरण का उनसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५९ ॥

साठवाँ सर्ग

मनोयज्ञ वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! इस प्रकार बारम्बार मनमें समझा कर वीतव मुनीश्वर उस विन्ध्याचल पर्वत की कन्दरा में समाधि लगा बैठे। तब आकाश के समान निर्मल चित्त होकर इन्द्रियों को बाह्य दृश्यों से समेटकर अचल कर लिये और फिर ग्रीवा को सीधी और शम करके चित्त को अनन्त आत्मा में स्थित किये। फिर तो जैसे

अद्भुत आनन्द प्राप्त हुआ। जब जागा तो जीवन्मुक्त होकर चिरकाल पर्यंत उसी आनन्दमें विचरता रहा। तब उसे किसी प्रकारका हर्षशोक नहीं होताथा। और यह इन्द्रियोंकी सर्व चेष्टाओं को करता हुआ भी इष्ट अनिष्टकी प्राप्तिमें सर्वदाही समभाव धारण किये रहता था। कभी चलायमान न होताथा। जबकहीं वहजावे, उठे या बैठे, तब यही कहे कि हे इन्द्रियो! अब तुम मरो, मैं अपनी आतमाको पागया। परन्तु देख, विषयोंका त्याग कर देनेसे अब तुझे कैसा सुख है। आत्म-प्रमाद में अब तक तुम्हें कितना दौड़ना पड़ा था। परन्तु अब विचार करके मैंने सारे भ्रमोंको त्यागदिया है। तृष्णा! तुझे नमस्कार है। अब मैं तुझेनहीं चाहता। यद्यपि तू इतने दिनोंतक मेरे साथरही और मेरे साथ को वैसे ही नहीं छोड़ा कि जैसे माता बच्चेके साथको नहीं छोड़ती। परन्तु अब तू जा। अब मुझे तेरी इच्छा नहीं है। तूने स्वयं ही अपने को नाश किया है। मेरा तुझको नमस्कार है। फिर हे दुःख! मैं तुझको इसलिये भी नमस्कार करता हूँ कि यदि तू मुझे इतना कष्ट न देता तो इस प्रकार जागृत भी न होता। तुझको देखकर ही तो मेरे मनमें आतमपदकी इच्छाउत्पन्न हुई। तेरेप्रमादसे ही तो मैं शीतलपदवी को प्राप्त हुआ। हे दुःख! तू तो दुःख ही था परन्तुमुझे तो शीतलता को प्राप्त करा दिया। परन्तु अब जा तेरा कल्याण हो। हे मित्र! क्या करोगे, यह संसारही ऐसा असार है कि जब जिसका संयोग होता है तब उससे वियोग होता है। हा, तूने मेरा बड़ाही उपकार किया है। हे मित्र! तूने अपना नाशकरके मुझको सुख दिया। परन्तु जा, अब मैं तेरा साथनहीं करता, हे दुष्कृतरूप सुकृतो! तुमको मेरा नमस्कार है। आओ, तुमने मेरा बड़ा उपकार किया है। तुम्हारे ही जैसा था कि मुझे घोर नरक से निकालकर बाहर किया। हे दुष्कृतो! तुम भी क्याकरो। यह युवावस्था ही समस्त विकर्मों की जड़ है और वही समस्त दुःखरूपी फलों को उत्पन्न करता है। इससे हे युवावस्था! तुझको भी नमस्कार है। अब तूभी जा। हे मोह! अब तुझेभी मेरी

पद में पहुँचने पर सब ब्रह्म ही भासता है। किन्तु अज्ञानी मन से नाना प्रकारका जगतही भासता है। पर वास्तव में न तो वह जगत है न अजगत है, सब कुछ ब्रह्मसत्ता ही स्थित है। उसमें अज्ञानवश मन प्रसन्न हुआ और वही समस्त जगत को देखता है। परन्तु उसका देखना कुछ है नहीं, जैसे समुद्र में लहरें उठती हैं, वैसे ही चिदाकाश में आकार भासते हैं और चित्त नहीं रहता और तब किसी द्वैत वस्तु का भान नहीं होता।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा—उपशम-प्रकरण का साठवां सर्ग समाप्त ॥ ६० ॥

इकसठवां सर्ग

इन्द्रिय लय योग वर्णन

हे रामजी! जब ऐसे कुछ समय व्यतीत हुआ तब मुनीश्वर को फिर समाधि लगाने की इच्छा हुई। वह फिर विद्याचल पर्वत की एक गुफा में जा बैठा। अब की बार उसे कुछ अधिक कष्ट न करना पड़ा क्योंकि वह पहले जो अभ्यास कर चुका था। उसम उसे बहुत कुछ ज्ञात होगया था और इन्द्रियां दमन हो चुकी थीं। किन्तु समाधि में बैठते ही उसने मन और इन्द्रियों से कहा—हे इन्द्रियो! देखो, मैं तुम्हें पहले ही ध्वंस कर चुका हूँ जिससे अब तुमको अर्थ अनर्थ कुछ नहीं रहा और उसीसे अब मुझमें भी अस्ति नास्ति की कुछ भी कल्पना न रही, तब अब मैं अति नास्ति के पश्चात जो शेष रहता है उसीमें स्थित हूँ। मुझे अब कुछ करना नहीं है और मैं सर्वदाही ज्ञानस्वरूप प्रकाशित हूँ। अब मुझे कुछभी हर्षशोक और इष्ट अनिष्ट नहीं है। अब मैं जगत की ओर से सुषुप्ति रूप समाधि में ही स्थित हूँ। जैसे कोई स्तम्भ स्थित होता है वैसे ही मैं स्थित रूप, नित्य शुद्ध-बुद्ध समान सत्ता में आत्म पद भाव से तिरोमय स्थित हूँ। हे मन! अब मैं ऐसे भाव से पूर्ण होकर समाधि में बैठा रहा हूँ, तुझे उठने की आवश्यकता नहीं। हे रामजी! ऐसा कहकर वीतव मुनीश्वर छः दिन के लिये समाधि में बैठ गया।

समुद्र स्थित होता है, जैसे कुम्हार का चक्र फिरता२ स्थिर होजाता है और जैसे सूर्यास्त होनेसे सर्व जीवोंकी क्रिया जहाँ की तहाँ स्थित हो जाती है, वैसे ही फुरना रहित होने से उसका मन शान्त एवं स्थिर होगया। फिर तो उसने प्रणव का ध्यान करके वृत्तियों के अंत की गति को प्राप्त किया और फिर मंत्र को भी त्याग दिया। इस प्रकार सर्व विकारोंको त्यागकर वह वैसा ही होगया कि जैसे कोई नवजात शिशु पदार्थोंके ज्ञानसे अनभिज्ञ और शोभायमान होवे पश्चात् उसने उस सुषुप्ति पदका आश्रय लिया कि जो सत्तामात्र और आत्म तत्वरूप है। फिर तो वह वैसा ही अचल भावसे स्थित होगया कि जैसे सुमेरु पर्वत अचल और स्थित होता है। हे रामजी! इस प्रकार बीतव मुनीश्वर संसार समुद्रको पारकर उसपरम पदको प्राप्त होगये कि जो पद पा जाने से फिर आवागमन नहीं होता और जो सर्वथाही परमशान्त उपशम और आनन्द पद कहा जाता है। फिर तो जैसे समुद्रमें पड़ी हुई बुन्द भी समुद्र ही होजाती है वैसेही ब्रह्मारूपी समुद्र में पड़कर वह भी ब्रह्म होगया। हे रामजी! यह जो बीतव आख्यान मैंने तुमको सुनाया है वह अनन्त विचारोंसे ओत-प्रोत है। तुमइसको विचारकर सिद्धताके उस सारको प्राप्तकरो कि जिसके प्राप्त होतेही दृश्योंका चिन्तन जाता रहेगा और सर्वथाही शान्तात्मा होजाओगे। हे रामजी! ज्ञानसे ही मुक्ति प्राप्त होती है, ज्ञान ही सर्व दुःखों का नाश करने वाला है। ज्ञान ही से मनुष्य को परम सिद्धता प्राप्त होती है। पाने योग्य वस्तु वही है और उसीसे सर्व दुःखोंका अभाव होता है। बीतव मुनीश्वर ने ज्ञानसेही इस मनको चूर्ण किया था। ज्ञानसेही बीतवके सङ्कल्प नष्ट हुये। हे रामजी! यह जो दुःखहै सब मनसेही होताहै। मनके उपशम हुये से जगत अनुभवरूप होजाता है। क्योंकि मनही जगतरूपहै। मैं तुम और वह बीतव भी मन स्वरूपहीहै। इसीसे ज्ञानीजन मनकी आशा को त्यागकर केवल चिदानन्द आत्मतत्व में स्थिर हो जाते हैं तब उनके रागद्वेष आदिक सर्व विकार आप ही नष्ट हो जाते हैं।

नमस्कार है अब तक जो मैं तेरे साथ बँधा था इसीसे नाना प्रकार का दुःख भोगता था और तू इतना भय दिखलाता था परन्तु अब तुझे नमस्कार है, अब तू जा। और हे पर्वत की गुफा। हे बुद्धि। हे विवेक। हे दंड औ तूम्बी, हे देह। अब तुम सभी मेरे पास चले जाओ। मैं तुम सबको एक साथही नमस्कार करता हूँ। जाओ, तुम सबने मेरा बड़ा उपकार किया है। परन्तु अब मैं तुमको नहीं चाहता, हे ज्ञान! अब मुझे तुम्हारी भी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि अब तुमने मुझे वह परमपद प्रदान कर दियाहै कि जिसकी मुझे इच्छा थी। सो अब तुम भी जाओ। तुमको मेरा नमस्कारहै। हे संसारके सर्व व्यवहारी! अब तुमभी मेरासाथ छोड़दो। तुमकोभी नमस्कार है। हे इन्द्रियो! हे प्राण! हे मन! तुमको भी नमस्कार है। क्योंकि अब हमारा तुम्हारा बहुत दिनों का साथ छूट रहा है। फिर क्या करोगे? यह संसार ही ऐसा है कि जिसका संयोग होता है उसका वियोग भी होजाता है। इसी नियम से अब हमारा और तुम्हारा साथ छूटता है और अब नेत्रों की ज्योति सूर्य मण्डल में जाकर लीन हो जायगी और अब घ्राण इन्द्रिय भी पृथ्वी में जाकर समा जायेगी और प्राण त्वचा भी यथा स्थानको चले जायेंगे। इस प्रकार उसे इन्द्रियाँ जहाँ से आती हैं वह वहीं को स्थिर हो जायेंगी। तब जो काष्ठ के जलने से अग्नि शांत हो जाती है वैसे ही तब मन आदिक शान्त हो जावेंगे।

बासठवां सर्ग

बीतवविश्रान्ति वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! जब इस प्रकार उसने मन और इन्द्रियों को वश में करके समाधि लगाई तो ज्यों ही उसके प्राण प्रधान स्थित हुये कि त्योंही उसने प्रणव का उच्चारण किया और पंच भूमिका को प्राप्त होगया। फिर तो उसके सारे क्षोभ नष्ट होगये और वह सङ्कल्प रहित हो ऐसे ही प्रकाशमान स्थित हुआ कि जैसे चिन्तामणि अपने प्रकाशमें स्थित होताहै। जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा अपने आपमें स्थित होताहै जैसे मंदिराचल पर्वत के निकलने से क्षीर

ही तृप्तरहता है। उसे किसी विषयका राग नहीं होता और वह सर्वदा ही आकाश की नाईं अपने आपमें ही स्थित रहता है वह सुख दुःख में चलायमान नहीं होता और सर्वदा ही नित्यतृप्त और सबसे असङ्ग रहता है। उसको जीवन मरण की वृत्ति नहीं फुरती और वह सबमें समभाव रखता है। उसे क्षोभ कभी नहीं होता। जैसे समुद्र में नदियाँ प्रवेश करती हैं और समुद्र अपनी मर्यादामें स्थित रहताहै वैसेही ज्ञानी भी अपनी मर्यादामें स्थित रहता है और कभी मुक्त नहीं होता। उसे जो कुछ प्राप्त होताहै वह सब कुछको आत्मामें ही अर्पित करता है और उसमें कुछ अपना अर्थ नहीं रखता। उसको किसीका आशय नहींहोता और वह सर्वदा अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है। परन्तु यह उड़ने आदिकी शक्तियां तो योगक्रियाकी एक अल्प युक्ति हैं। योग का एक गुटका होता है कि जिसे मुखमें रखकर योगी जहाँ चाहे चला जावे और जो चाहे करलेवे। वह मंत्रकी एक शक्ति मात्रहै और वह द्रव्य का ही एक गुण अथवा उसे द्रव्य सिद्धिही कहते हैं। जैसे यह सरल वार्ता है कि मारक द्रव्य मारण की और मत्त द्रव्य में मत्त करने की तथा अमृतरूप औषधि आदिमें जीवित करनेकी शक्ति वर्तमान रहती है वैसेही उड़ने आदिकी शक्तियाँ भी वस्तु द्रव्य का ही गुणहै और उसी को योग क्रियासे सिद्धि कर वैसा गुण एवं वैसीही सिद्धि कोई भी प्राप्त कर लेताहै। और इस प्रकार जो गुण होताहै वह वैसा कर दिखलाता है। तब यह शक्ति कोई महान् शक्ति नहीं हुई इसी कारण आत्म जिज्ञासु इसके निकट नहीं जाते और केवल अमृत वस्तु आत्मा को ही पाकर सर्वदा तृप्त रहते हैं। अस्तु। यह उड़ने आदि की क्रिया उस युक्ति के साधन से ही प्राप्ति होतीहै। परन्तु ज्ञानी तो सर्वदा ही तृप्त रहता है और उसे इष्ट अनिष्ट कुछ भी स्फुरण नहीं होता।

इतना सुनकर रामजीने पूछा—हे भगवन्! जब बीतवमुनि तीन सहस्त्रवर्ष तक पाषाणवत् समाधिमें दबेरहे तबफिर उनको बाहरनिकलने का स्फुरणकैसेहुआ?वशिष्ठजीने उत्तरदिया-हे रामजी! जब जिसपदार्थ

त्रेसठवां सर्ग

सिद्धि लाभ विचार वर्णन

हे रामजी ! तुमभी वैसे ही हो जाओ कि जैसे बीतव मुनीश्वर होगया । हे रामजी ! दुःखसुख और कर्म आत्माको स्पर्शनहीं करते । आत्मा सर्वज्ञअजर और अविनाशी है । फिर तुम किसलिये शोकान्वित होते हो । बीतवमुनिके समान ऐसे कितनेही विदितवेद्य होकर पृथ्वीपर विचरते हैं औरकभी हर्षशोकको नहीं प्राप्तहोते । जैसे बन्दर औरमृगाल सिंहके वशीभूत नहींहोते वैसेही जीवन्मुक्त पुरुष विकारोंसे सर्वथाही रहितहोता है । रामजीने पूछा–हे भगवन् ! आपने कहाकि जीवन्मुक्त पुरुष देखनेमें तो शक्तिहीन होते हैं किन्तु वे आकाश गमन भी करते हैं और इसप्रकार जहाँ चाहते हैं उड़ फिर सकते हैं, सो यह क्या है ? उनमें उड़नेकी शक्ति कैसे आजाती है । वशिष्ठजीने उत्तर दिया–हेरामजी ! यह अनुद्योत शक्तियां योगबलसे आती हैं और यह तपादिक कर्मों की शक्ति है । हे रामजी ! गुप्त होजाना फिर प्रकट होजाना यह वस्तु द्रव्य के स्वभाव हैं । जो द्रव्य, क्रिया और कालको यथाक्रमसे साधन करता है उसको यह शक्ति प्राप्त होती है किन्तु ज्ञान से यह शक्ति नहीं मिलती । आत्मज्ञानी को आत्मज्ञानही प्राप्तहोता है । वह आत्मज्ञानमें ही तृप्तरहता है और सिद्धियोंकी ओर नहींजाता क्योंकि सिद्धियां भी अविद्यारूप हैं । इसीसे वह इनमें नहीं फँसता । परन्तु जो अज्ञानी हैं वहसिद्धताके लियेही पदार्थों की साधनाकरताहै । हे रामजी ! साधनाही सबकुछ है । साधन करनेसे इन्द्रादिकके भी ऐश्वर्य प्राप्त हो जाते हैं परन्तुवह शक्तिज्ञानकी नहीं द्रव्यकी शक्तिहै और है वहअविद्या रूप अज्ञानी ही इनकी ओर जाते हैं, ज्ञानी नहीं । क्योंकि उनको तो आत्मामें ही सर्वसंतोष प्राप्त होजाता है । फिर वे सिद्धियां की ओर क्यों जावें । सिद्धियों की ओर जानेसे तो मान, बड़ाई मिलजातीहै, परन्तु सन्तोष नहीं मिलता और आत्मरत होनेसे संतोष मिलताहै । संतोष के आगे सब मिथ्या है । संतोषी एवं आत्मप्रेमी पुरुष सर्वथा

शुद्ध न हुआ । फिर वह नष्ट क्योंहोता। हे रामजी ! योगीके शरीरको वज्रभी चूर्णित नहीं करसकता । उसकेआगे सारी शक्तियाँ कुण्ठितहो जाती हैं । यही कारण है कि बीतवका शरीर ज्यों का त्यों बनारहा ।

उस पर रामजीने प्रश्न किया कि हे मुनीश्वर! जब बीतव मुनि ने इतनी कठिन तपस्याकी तब वह विदेह मुक्त क्यों नहीं हुआ-इसका क्या कारणहै ? वशिष्ठजीने कहा-हे रामजी ! तत्ववेत्ता एवं विदित वेद्य की बुद्धि वीतराग होती है । उनको अभिमान नहींहोता और वे पुरुष स्वतन्त्र ही स्थित होतेहैं । न उनको कोई प्रारब्ध कर्म होता है और न संचित और न क्रियमाण । इससे वे तत्ववेत्ता सबसे मुक्त स्वतंत्र और स्वेच्छासे जहाँचाहें विचरतेहैं और जब जैसी इच्छा करते हैं तब तैसा ही तत्क्षण होजाताहै । बीतव ने जब केवल आकाश के समान ही जीनेकी इच्छा की तब उसे वैसाही स्पंद हुआ और वह उसी रूपमें कुछसमय जीवित रहा । फिर जबउसने संवितमें जीवित रहनेका विचार किया तब फिर स्पंद फुरा और वहविदेह मुक्त हुआ ऐसेही ज्ञानियोंकी स्थितिस्वाभाविक औरस्वतंत्रहोतीहै,जब वे जिसकी इच्छा करतेहैं तबवैसाहीहोता है। उनकामन आत्मपदमें लगारहताहै इससेउनको कुछकरना नहींरहता और इच्छा करतेही वैसाहोजाताहै।

चौसठवाँ सर्ग

चित्त नाश के दो प्रकार

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! चाहेकोई जीवन्मुक्तहो या विदेह मुक्त । दोनों ही अवस्थाओं में चित्त का नाश होजाता है । चित्त न नाश होवे तो दुःख कैसे दूर होंगे। क्योंकि चित्त की सत्यता ही समस्त दुःखोंका कारणरूप है। चित्तनरहे तो सुखजानो । हे रामजी! जब तक चित्त विद्यमान है तब तक अनन्त दुःख होता है । इससे दुःखरूपी वृक्षका बीज चित्तही है । चित्त नष्टहोजावे तो कल्याणहो जाताहै। रामजीने पूछा-हे ब्रह्मन् ! मन किसे कहतेहैं, यह कैसे साथ होताहै और कैसे नष्ट होताहै, यह भी बतलाइये । वशिष्ठजीने उत्तर

में चित्त लगताहै तब वही पदार्थ भास आता है—पदार्थों में यह शक्ति स्वभावतःही विद्यमान रहती है और चाहे कितने भी वर्ष क्यों न व्यतीत होजावें समाधि के बलसे उसका शरीर फिर ज्यों का त्यों होजाता है। क्योंकि चित्त जिस पदार्थमें लगता है उसीका रूप बन जाता है। जैसे मित्रको मित्र भावसे देखता है तो स्वाभाविक ही प्रसन्नता होजातीहै। और शत्रु को देखते ही चित्त में स्वभावतः रोष आ जाता है। उसी प्रकार जब चित्त मीठीवस्तुको देखताहै तब स्वभावतः हीललचा जाता है और कटुमें विरसता आजातीहै, चन्द्रमा से शीतलता प्राप्त होतीहै, सूर्य से उष्णता मिलती है—ऐसा ही योगी जब देह और इन्द्रियों की वासना को त्यागकर समता भावको प्राप्तहोताहै तब उसको समभावका अनुभव होता है। तब यह उसको एक भाव से देखता है, और उसमें अपने और परायेको कुछभी भिन्नता नहींहोती इससे वह सर्व जीवोंमें मिल जाता है। यही कारण है कि उसे घोर जङ्गल में बैठने पर भी व्याघ्र आदिक कोई नहींपूछते। ऐसे सभी हिंसकजीव उसके निकटही आकर चरते हैं, घूमते हैं, परन्तु कोई भी उस पर आक्रमण नहीं करते और वे हिंसाभाव को त्यागकर अहिंसक बन जाते हैं। यही सिद्धांतहै कि जिससे बीतव मुनि इतने दिनों तक पाषाण शिलामें दबे भी रहे और फिर बाहरभी निकलआये। हे रामजी! समताभावमें बड़ी अद्भुत शक्ति है। जहाँ पुर्यष्टका होतीहै वहाँही भास आता है। जैसे सूर्यका प्रकाश सर्वत्रके लिये होताहै परन्तु जहां स्वच्छ स्थान मिलता है जैसे दर्पण जल, खुली हुई भूमि, वहीं भासता है और जहाँ आवरण होता है वहाँ नहीं भासता, वैसेही जहाँ पुर्यष्टका होतीहै वहीं सम्वितका भान होता है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार बीतव मुनीश्वरकी सम्वित जो सम-भावमें स्थित थी तो उसको किसी तत्व और जीवका क्षोभ न हुआ। पंच तत्वोंका क्षोभ तो तब होता है जब प्राणों में स्फुरण होता है और जब प्राण नहीं फुरता तब तत्वोंका क्षोभ नहीं होता। बीतवकी चित्कला शान्त होगई थी और उसमें स्फुरण-शक्ति न थी, इससे उसका हृदय

द्वैतकी कोई कल्पना नहीं फुरती और वह पद परमपावन और निर्मल कहा जाता है। उसमें न गुण है, न अवगुण, न सार है न असार, न लक्ष्मीहै न अलक्ष्मी, न उदय है न अस्त, न हर्ष है न शोक, न तेज है न तम, न दिनहै न रात्रि, न दिशा है न आकाश, न अर्थ है न अनर्थ, न वासना है न अवासना। सत्य है, न असत्य। न सूर्य है, न चन्द्रमा वहसर्व कलनाओंसेरहित शरत्कालके समाननिर्मल औरबुद्धिसेपरेहै। उसमेंऔर किसीकीगमननहीं। वह अपनेहीआप ब्रह्मानन्दमें सर्वदाही लीनरहताहै।

पैंसठवां सर्ग

स्मृति-बीज वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! इस जगतका सबसे बड़ा बीज यह शरीर ही है। इसके भीतर सभी आरम्भ स्थित हैं। जब इनका अंकुर होताहै तब शुभ और जब अशुभका अंकुर उत्पन्न होताहै तब अशुभ करने लगता है। इससे यह शरीरही सर्व संसारका बीजहै। तब जैसे संसार का बीज शरीरहै वैसेही शरीर का बीज चित्त है। और उस में सात्विक रजोगुण तमोगुण रूपी शाखायें लगीहुईहैं। वही जन्म मरण का भण्डार है और वही सुख दुःख रूपी रत्नों का डिब्बा है किन्तु यह शरीरादिक सहित जगत के जितने भी प्रपंचहैं सब असत्य रूपही हैं। चित्तके स्फुरणमें ही नाना प्रकार का प्रपंच भासित होता है। जैसे गन्धर्व नगर और जैसे स्वप्नपुर असत्यही भासित होता है वैसेही यह जगत असत्य है। जैसे मृतिकामें ही घट भाव होताहै वैसे ही चित्तसेजगतकी सद्भावना होतीहै। उसचित्तरूपी अंकुरमें वृत्तरूपी दो टहनियां होतीहैं। एक श्वांस, दूसरी भावना। हेरामजी ! हृदयमें कुल एकसौ एक नाड़ियाँ होती हैं, जब उनकी ओर प्राण स्पन्द होता है तब संवेदना रूप चित्त उदय होता है और फिर उसकी ओर प्राण स्पन्द नहींहोता। जब प्राणोंमेंस्फुरण होताहै तब शुद्ध सात्विक चित्त उत्पन्न होताहै औरउसमें जगत भासताहै। इसप्रकार जबप्राण स्पन्द में संवितकी उपलब्धि होती है तब वहाँ चित्त प्रतिविम्ब रूप होकर

दिया है प्रश्नवेत्ताओंमें श्रेष्ठ रामजी! चित्तका लक्षण तो मैं तुम्हें पहले ही बतला चुका हूँ। परन्तु अबयह सुनोकि चित्त मृतक का क्यालक्षण है। देखो, जो सुख और दुःखकी दशामें धैर्यवान् रहता और अपने स्वरूपसे विचलित नहींहोता वह मृतक-चित्त कहलाता है। मृतकचित्त वालेको दुःखसुख विचलित नहीं कर सकते। क्योंकि ऐसा सर्वथा ही सत्पद को प्राप्त रहताहै और चित्तमें चिन्तायें नहीं उठतीं। जैसे भूने हुये बीजमें अंकुर नहींउठता वैसेही नष्ट चित्तमें चिन्तायें नहीं उठतीं। उसे आत्मासेभिन्न और कुछभी स्फुरण नहींहोता और वहीचित्त मृतक हुआ कहलाता है। और इसप्रकार जिसचित्तमें रागद्वेषकी भावना न उठे और वह ज्योंकात्यों सर्वदाही एकरस बना रहे उसीको मृतक-चित्त कहा जाता है। जीवन्मुक्त भी वहीहै। किन्तु जो संसार के इष्टानिष्ट में रागद्वेष करताहै, जो अभिमानी है और जो अपने को सर्वदा ही दुःखी और सुखी मानाकरताहै, उस चित्तको जीवितचित्त कहा जाता है बस, इसीसे चित्त की सत्यता है और जब संसार से विरक्त होजावे सत्संगकरे, शास्त्रों का श्रवण और मननकरे, निजस्वरूप का अभ्यास करे तब चित्त अचित्त होता है और तभी परमानन्दकी प्राप्ति होती है जीवन्मुक्तपुरुषमेंही मयत्री, करुणा और मुदिता आदिक गुण मिलते हैं। हे रामजी! चित्त में जो संसारकी सत्यता रूपी मैल बैठी हुई है यही चित्तभाव है। जब आत्मज्ञानसे नष्टहोजातीहै तब मयत्रीआदिक गुण आकर प्राप्त होजातेहैं। जैसे सूर्यदेव के उदय होने से अंधकार नष्ट हो जाता है और प्रकाश का उदय होता है, और जैसे चुने हुए बीजका अंकुर जल जाता है और मयत्री करुणा आदिक गुण उदय होते हैं। तब देखनेमें तो चित्त दिखलाई पड़ताहै और वैसीही चेष्टा करता है कि जैसे कोई अज्ञानी चेष्टाकरे। किन्तु अज्ञानीका चित्तआवागमन का कारण होता है और ज्ञानीका नहीं। अज्ञानी जन्म लेताहै और ज्ञानी नहीं जन्म लेता। हे रामजी! इसीप्रकार विदेहमुक्तवालों को भी चित्त नहीं रहता और सभी अवस्थाओंसे परे रहता है। उसमें

जावे तो जानो कि दोनों ही नष्ट होगये। क्योंकि ये दोनों परस्परसे कारण रूप हैं। जैसे बीजसे अंकुर होते हैं वैसेही प्राण स्पन्दसे वासना और वासनासे प्राणस्पन्द होता है और ये दोनोंही चित्तके कारण हैं। जैसे फूलके बिना सुगन्धि नहीं होती और सुगन्धि के बिना फूल नहीं होता वैसेही वासना बिना प्राण और उसके बिना वासना नहीं होती। जब वासना फुरकर प्राणको जगाती हैं तब उसमें जगत उत्पन्न होता है। इस प्रकार वासना और प्राण दोनोंही चित्तके कारणरूप हैं। जब दोनोंमें एकका नाश होजावे तो दोनोंको ही नष्ट जानो। हे रामजी! जब आत्मविचारसे वासनायें नष्ट होजाती हैं तबयह शरीररूपी धुँआँ शान्त होता है। अस्तु! प्राणस्पन्द और वासनाका बीज संवेदन नहीं है जब संवेदन न उठे तब जानो कि वासना और प्राण दोनों ही फुरना रहित होगये। जैसे वृक्षका बीज और जड़ काट डाले जाँय तो वह फिर नहीं उगता वैसेही इनका मूल संवेदन है। जब संवेदन का अभाव होजावे तब दोनोंही नहीं बनते। आत्मसत्ताही संवेदनका बीजस्वरूप है। सारी सत्तायें संवेदनकोही देखती हैं। जब उस चिन्मात्रमें संवेदन का उत्थानहोता है तब 'अहं अस्मि' होनेसे जगज्जाल दिखलाई पड़ता है। किन्तु ऐसा असम्यक ज्ञानके कारणही होता है सम्यक ज्ञान होते ही उसका पता नहीं चलता अर्थात् लीन होजाता है। जैसे अज्ञानता वश जेवरी में भी सर्प भान होताहै वैसे ही अज्ञानतावश आत्मा में संवेदन भावहोताहै। हेरामजी! संवेदनसे महान् दुःख प्राप्त होता है। परन्तु जैसे संवेदनवश दुःखहोताहै वैसेही संवेदन रहित होने से परम सुख सम्पदा की प्राप्ति होजाती है।

छासठवां सर्ग

परमपावन सत्ता विवेचन

हे रामजी! यह जगत एक जाग्रत रूपी समुद्र है कि जिसमें संवितरूपी जल भरा हुआहै और जिसने सब स्थानोंको पूर्णकर रखा है। अन्तरिक्ष, पृथ्वी, पर्वत, आकाश और नदियोंही इस संवितरूपी

सात्विक भागमें स्थित होता है और तब नाना प्रकार से जगत भासने लगताहै। इससे संवितको ही अन्तमुर्ख करना चाहिये तभी कल्याण होता है। जब सम्वित अर्थात् सङ्कल्प नहीं होता तब सारे क्षोभ मिट जाते हैं और अहं का स्फुरण होकर संवेदन रूप चित्त उदय होजाता है। फिर तो उस चित्तसे नाना प्रकार के दुःख उत्पन्न होते हैं कि जो महा अनर्थ के कारण होजाते हैं। हे रामजी! जब चित्त न उत्पन्न होवे तब शान्ति मिलती है। परन्तु यह इस चित्तका वेग तब रुक सकता है कि जब प्राणस्पन्द होसकताहै। हे रामजी! प्राणस्पन्द करनेके लिये ही योगीजन ध्यान और प्राणायाम की क्रिया करते हैं। और जबदीर्घ काल तक वे ऐसा अभ्यास करते हैं तब चित्तकी गति स्थित होती है। हे रामजी! इस प्रकार तो योग क्रियाओं से चित्त शान्तहोता है और अब जो ध्यान से चित्त स्थित होता है उसे भी सुनो। देखो चित्तकी उत्पत्ति वासनाओंसे होतीहै और वासनाओं का स्फुरण अविचार से होता है जैसी भावना होती है, वैसी वासना फुर आती है। जिस वस्तु की तीव्र भावना कीजिये वह वैसाही फुर आता है। हे रामजी! जगत की वासनाओंसेही जगत फुरता है। और जब जगत फुरताहै तब मोह उत्पन्न होजाता है और मोहके उत्पन्न होते ही वह आत्मा से विमुख होजाता है। फिर तो उसे यह भ्रान्ति रूप जगत ही दिखलाई पड़ता है और वह उसे ही सत्य जानता है जैसे मदिरा के पीने से पदार्थ और के और भासते हैं वैसे ही मूर्खोंको वासनाके अनुसारही जगत के पदार्थ सत्य भासते हैं। हे रामजी! अपनी अज्ञानता वश ही जीव दुःखी होरहा है मनकी चिन्तायें ही उसे जला रही हैं। मन उपशम होजावे तो कल्याणही कल्याण है। हे रामजी! तुम जगत के पदार्थों की भावना न करो। सारा जगत अवस्तु रूप है। जब चित्त अचित्त हो जाताहै, आशायें निवृत्त होती हैं तब परमशान्ति और शीतलता उदयमें आ बसती है। अस्तु चित्तमें प्राणोंका स्फुरण और वासनाही इसके दो बीज हैं। यदि इन दोनों में से किसी एक का अभाव हो

है और इस प्रकार वह स्वयं ही बारम्बार मोहके गर्त में गोते खाता है। किन्तु जब सम्वित सत्तामें उसकी स्थिति होतीहै तब वही मोक्ष को प्राप्त करता है। स्वरूप में जो भी भावना दृढ़ होती है वैसी ही सिद्धि मिलती है। हे रामजी! यह सारे पदार्थ आत्मसत्ता से ही सिद्ध हो रहे हैं। सबका अधिष्ठान आत्मसत्ता ही है। गुरुता, लघुता स्थूलता, सूक्ष्मता, द्रव्य, कष्ट, भ्रम, बड़ाई, प्रकाश, अन्धकार, द्रष्टा, दर्शन, किंचन, निष्किंचन, सत्य, असत्य, आश्रम, अनाथाश्रम, जोकुछ है सब उस परम पावन सत्ता में ही सन्निहित है। तुम प्रसन्नतापूर्वक उसी में स्थित होओ।

सरसठवां सर्ग

इतनी कथा सुनकर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा—हे भगवन्! यह जो परम पावन सत्ता का विवेचन आपने किया है उस पद में कैसे स्थित होवें कृपाकर मुझे वह युक्ति बतलाइये कि जिसमें मैं शीघ्र उस पद को पा सकूँ। वशिष्ठजी बोले—हे, रामजी! उस समान सत्तामें स्थित होनेके लिये यत्न ही कर्तव्य है। सो सुनो—जब संसार की जितनी भी वासनायें हैं सबको त्याग कर उस शुद्ध आत्मा में अभ्यास किया जाता है, तब शीघ्र ही आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। उस पद में यदि एक क्षण भी स्थित होजावे तो वह अक्षयभावको प्राप्त होजाताहै कि जो फिर नष्ट नहींहोता। उस समान सत्ता में स्थित होने पर चाहे जो इच्छा हो करो तुम्हें उसके सिवा और कुछ भी भासित न होगा, जो कुछ भासित होगा तब एक उसी का भान होगा। हे रामजी! तुम्हारा जो अनुभव तत्व है वही तुम्हारा स्वरूप है। जब तुम उसके ध्यानमें स्थित होजावोगे तभी खेद रहित हो सकोगे। इसका नाम पुरुष प्रयत्न है। हे रामजी! आत्मतत्व तो प्रत्यक्ष ही है किन्तु अविद्या आवरण के कारण ही भासित नहीं होता। यद्यपि वही सबकी सहायक होतीहै, जोइच्छा करे जिसे देखना चाहे सब उसी से प्रत्यक्ष होता है तथा इस पिशाचनी अविद्या ने

जलकी तरंगें हैं और उसीमें यह सारा जगत उत्पन्न हुआ है किन्तु उसमें द्वैत कुछनहींहै उसमें द्वैत कलनाका सर्वथाही अभाव है। वही एकरूप है और उसको महासत्ता परमसत्ताभी कहतेहैं। वह एक रूप परमसत्ता निर्मलऔर अविनाशी है,उसका कभीनाशनहीं होताऔरवह सर्वथाहीअनुभवरूप है।वहीसबकाबीज हैऔरउसीमेंसबकी प्रकृति उत्पन्न होतीहै उसीपदमें पहुँचनेको जीवन्मुक्त कह जाता है। जीवन्मुक्तको कोईभी फुरनानहींहोती। जैसे बालक मूक और अभिमानरहित होता है।जब यह जीव ज्ञानसे निर्वासनिक होजाताहै और जब उसे उड़ना आजाताहैकि जिससे वह सर्व आत्मिक भावको प्राप्त रहता है। किन्तु जिससे उस सम्बित में दृश्य आते हैं वह मूर्ख है, जड़ है। क्योंकि उसे उस शुद्ध स्वरूप में भी निकृष्ट का दर्शन होता है। वह सम्वित द्वैत के स्फुरण से रहित है वह शुद्ध और अजड़है। किन्तु जो स्वरूप की ओर स्थित होरहा है उसे दृश्यों का स्पर्श नहीं होता और वह अपनी सर्व वासनाओंको त्यागकर निर्विकल्प समाधि में स्थित होता है। फिर तो ऐसायोगी आनन्दमें ही वर्तता है और संवेदन संवित में प्रवेशकर वही रूप होजाता है। उससे मनकी वृत्तियाँ वहाँ स्थिर होजातीहैं और वह बैठते चलते, देखते सुनते स्पर्श लेते और सब कुछ करते हुए भी उसीमें अपने मनको स्थिर रखता है। उसे दृश्यों का अभिमान नहीं फुरता और वह अजड़ कहाता है। उसे सम्वेदन कोई नहीं होता। हे रामजी! यद्यपि इस इष्ट को प्राप्त करने में तो महान् कष्ट होता है किन्तु पीछे वही दुःखोंका नाश करने वाली होती है और वह उसीके सहारे संसार समुद्र को तर जाता है। हे रामजी! तुम भी उसी दृष्टि को प्राप्त करो। जैसे देखने में वट का बीज कितना सूक्ष्म होताहै किन्तु विस्तार को पाकर वही आकाशको स्पर्श करने लगताहै। वैसेही सूक्ष्म सम्वेदनसे जबसङ्कल्प विस्तरित है तब वहीविशाल जगतको धारणकर जन्मके जालको प्राप्त होता है। वह बीज रूपसे अपने आपही आवागमन के चक्कर में पड़ता

कितना भी तीर्थाटन दान और देवी देवताओं की पूजा क्यों न करे यदि उसका मन उसके वशमें नहीं है तो जानो वह कुछ नहीं करता और उस मूर्ख को शान्ति कदापि नहीं प्राप्त हो सकती। वह मन को वश किये बिना कष्ट ही भोक्ता है कभी दुःख से जलता है तो कभी कर्मों के वश स्वर्ग और नर्क को जाता है और कभी सुखी नहीं होता। सुखी तो वही है कि जिसने ज्ञानोपार्जन कर लिया है। वही ज्ञानीहै, वहीबली है और उसीने मोहरूपी शत्रुको मारकर संसार सागरको पार करलिया है। इससे हे रामजी! तुम भी ज्ञानी बनो।

अड़सठवां सर्ग

परम उपदेश वर्णन

हे रामजी! वही पुरुष धन्य है कि जिसने आत्म विचार करके अपने चित्त को थोड़ा भी वशमें कर लिया हो। समय पाकर वह थोड़ा भी किया हुआ कर्म विशेष फल दायक होता है। जैसे सूक्ष्म बीज समय पर बहुत फल देताहै और अद्भुत विकास करता है। वैसे ही समय का किया हुआ थोड़ा कार्य भी महान फल का देने वाला हो जाता है। उसी बीज से वह अभ्यास करके महान फल को प्राप्त कर लेता है। हे रामजी! जिसको सम्यकज्ञान होजाता है वह निर्मल बोधसे यथार्थदर्शी बन जाता है, उसे इन्द्रियाँ चलायमान नहीं कर सकतीं और वह अविद्या रूपी वृक्ष की ओर नहीं जाता। तब वह इतना शुभ प्रद हो जाता है कि संसार के जितने भी शुभ गुण हैं उसी एक आलय में आ बसते हैं। किन्तु जब तक स्वरूप में प्रमाद रहता है तब तक वह आधि व्याधि रोगों से दुःखी ही बना रहता है। इसके विपरीत जो ज्ञानी है उसे कोई भी कार्य दुःखी नहीं कर सकते। जैसे कोई बिजली की चमक को नहीं पकड़ सकता और मूर्ख स्त्री चन्द्रमा को मोहित नहीं कर सकती वैसे ही ज्ञानी को दुःख मोहित नहीं कर सकते। जैसे किसी मतवाले हस्ती को भँवरों की भनभनाहट कुछ बाधक नहीं हो सकती, मच्छरों

उसे ऐसा ढँक रखा है कि कदापि भी दिखलाई नहीं पड़ता और वासनाओं की दृढ़ता के कारण ही अन्तःकरण दुःख को प्राप्त किया करता है। वासनाओं का अंत होवे तो मन और शरीर सभी निदुःख होजावे। किन्तु यह चिरकाल से इतना दृढ़ होरहा है कि इसका समूलतः नाश करना अत्यन्त कठिन है। बिना मन के क्षय हुए उसको क्षय होता नहीं। हाँ वासनायें नष्ट होवें तो समझो कि मन का भी क्षय होगया। ये दोनों परस्पर में कारण रूप हैं। इससे अभ्यास और विचार करके इन भोगों की वासना को दूर करो तभी शान्ति प्राप्ति होती है। जब तत्व ज्ञान, मनोनाश और वासना क्षय का बारम्बार अभ्यास किया जाता है तभी शान्ति प्राप्त होती है। यदि यत्न हो कि इसमें से किसी एक को ही नष्ट करके दूसरा प्राप्त कर लेवे तो यह नहीं हो सकता। जब तीनों को समान भाव से नष्ट करे तभी आनन्द प्राप्त होता है। साथ ही दीर्घ काल तक इसके अभ्यास में लगे रहना चाहिये और तीनों को एक साथ ही नष्ट करने की चेष्टा करनी चाहिये तभी सिद्धता प्राप्त होगी। अन्यथा जन्मों की सत्यता तो इतनी हो रही है कि वह किसी प्रकार भी टूटना नहीं चाहती। जब अभ्यास योग करे तब टूटती हैं। इससे खाते, पीते, सोते, उठते, बैठते प्रतिक्षण इस तत्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय का अभ्यास करते रहना चाहिये। इस अभ्यास में प्राण स्पन्द होनेकी क्रियाके लिये प्राणायाम करना पड़ता है और गुरु की दी हुई युक्तियों आसन और आहार के नियम पालन किये जाते हैं। तब उस प्रकार से स्पन्द को रोक सम्यक ज्ञान से जगत का विचार किया जाता है। तब वासनायें नहीं प्रवृर्तती और जब कोई वासना नहीं उठती तब चित्त भी नष्ट हो जाता है और जब चित्त नष्ट हुआ तब जगत भी नष्ट होजाता है। इससे वासनाओं को क्षय करने का उपाय करना चाहिये। और वह युक्ति सतसङ्ग और सन्यासियों द्वारा ही प्राप्त होती हैं। हे रामजी! यदि कोई

का काटना कुछ प्रभावित नहीं होता वैसेही ज्ञानियों पर रागद्वेष का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। भला कहीं हस्ती को मारने वाले सिंह पर मृग भी आक्रमण कर सकते हैं? जैसे किसी भयानक सर्प को दादुर नहीं भक्षण कर सकते वैसे ही ज्ञानवान को रागद्वेष विचलित नहीं कर सकते। अस्तु! हे रामजी! ज्ञानियों पर विषय वासनाओं का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता और इन्द्रियों के विषय उनको कुछ भी कष्ट नहीं दे सकते। हाँ जो विचार से हीन है, शरीराभिमानी है और जिसको आत्मतत्व नहीं प्राप्त हुआ उसको भले ही विषय उड़ा ले जावे-परन्तु ज्ञानवान को नहीं उड़ा सकता वैसे ही ज्ञानी को सुख दुःख उसके स्वरूप से चलायमान नहीं कर सकते। क्योंकि वह शास्त्र विचार से अथवा आत्मतत्व के बोध से ज्ञानी हो चुका है और उसने अध्यात्म विद्या के विचार से आत्म ज्ञान को प्राप्त कर लिया है जैसे दूध को मथने पर ही मक्खन निकलता है। वैसे ही वारम्वार विचार करने से ही आत्मज्ञान प्राप्त हो जाना है। फिर तो प्राणी तृप्त होकर जीवन्मुक्त होजाता है और तब अपने ही आप में प्रकाशने लगता है। तब वह इन्द्रियों की इच्छा से रहित होकर वैसे ही आनन्दित होजाता है कि जैसे चक्रवर्ती सम्राट को अपने राजा से आनन्द और तृप्ति होती है। तब उसे इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँचों ही विषय आसक्त नहीं कर सकते। न वह कभी किसी स्वार्थ में पड़ता है। उसे पदार्थों की बिलकुल ही इच्छा नहीं होती। वह न तो कभी किसी से भयभीत होता और न कभी किसी पर मोहित होता वरन् सर्वथा ही रागद्वेष और मोहजाल से परे हृदय से शीतल और शान्त बना रहता है। उसके लिये विष और अमृत दोनों ही समान हैं। सम्पदा असम्पदा में वह समान दृष्टि से वर्तता है और कभी हृदय से हर्ष शोक नहीं करता। सर्वदा समभाव में ही स्थिर बना रहता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम-प्रकरण का अड़सठवां सर्ग समाप्त ॥ ६८ ॥ समाप्त ॥

सकेंगे। तब मन का सर्वथा ही अभाव हो जायगा और तुम सन्तोष से रहित आत्म पदको प्राप्त होगे। यद्यपि तब भी मन धर्म में रहेगा परन्तु उसमें अज्ञान न होगा और तब वह आत्मा के आधीन हो जावेगा। जैसे जल का तरंग भाव नष्ट होजाने पर जल स्वच्छ और निर्मल तथा स्थिर हो जाता है, वैसे ही मन भी निर्मल और स्थिर हो जावेगा। जैसे काल वहीं रहता है किन्तु ऋतु बदल जाती है, वैसे ही मन भी वही करेगा पर उसका स्वभाव बदल जायगा। तब तुम्हारी प्रजा भी साधु और शान्त हो जायगी और नौकर-चाकर सभी तुम्हारी आज्ञा में चलेंगे और सब तुमको देखकर प्रसन्न होंगे हे राजन्! इस प्रकार जब तुमको आत्मदेव का दर्शन हो जायगा तब तुम्हारी प्रशंसा सुमेरु और आकाश से भी अधिक होगी तब तुमको विवेक से वह आत्म महत्व प्राप्त हो जायगा कि तुम संसार की तुच्छ वृत्तियों में कदापि न डूबोगे। अन्यथा जिसको देहाभिमान है और जिसके चित्त में वासना है वह सर्वदा ही इस तुच्छ संसार में डूबता ही रहता है। इस कारण हे राजन्! जो वस्तु सत्य है उसको हृदय में धारण करो और असत्य को त्याग दो। तब जो शेष रहेगा वही आत्मा है। परन्तु जब तक समस्त दृश्यों का त्याग न करोगे तब तक उस आत्मपद का दर्शन न होगा। सर्व दृश्याभाव हो जाने पर ही आत्मा का दर्शन होता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम-प्रकरण का अड़तीसवां सर्ग समाप्त ॥३८॥



उन्तालीसवाँ सर्ग

सुरघ वृत्तांत

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! ऐसा कहकर जब मारण्डव्य ऋषि अपने स्थान को चले गये तब राजा सुरघ ने एकान्त में बैठ कर विचार किया कि मैं क्या हूँ, यह जगत क्या है और इससे मेरा क्या सम्बन्ध है, तब उसको ज्ञात हुआ कि इस जगतसे मेरा कोई सम्बन्ध

और अपनी शंका निवृत्त करने के लिये पूछा–हे मुनीश्वर ! आप सर्व धर्मों के ज्ञाता और पुण्यात्मा हैं । हे प्रभो ! आपके आगमन से मैं बड़ा प्रसन्न हुआ और आपका दर्शन करके आज मैं भी पुण्यात्मा हो गया। हे भगवन् ! मुझे एक शंका है, यदि कृपाकर आप उसे निवृत्त कर देवें तो मैं आपका बड़ा ही कृतज्ञ होऊंगा। हे भगवन्! मैंने विचार कर देखा तो मुझे ज्ञात हुआ कि मेरे इस संशयको निवृत्त करने के लिये आपही योग्य हैं। मुझे विश्वास है कि महापुरुषों का संग सर्व प्रकार के संशयों का नाश करने वाला है। हे प्रभो ! संशय ही परम दुःखों का कारण है। इससे आप मेरी शङ्का को अवश्य निवृत्त करें। मुझे यह शङ्का है कि यदि कोई दुष्ट कर्म करता है तो मैं उसे दंड देता हूँ। लेकिन जब वह दंड से दुःखी होता है तब मुझे भी उस पर दया आ जाती है और सोचता हूँ कि हाय २ मैंने इसे क्यों इतना कष्ट दिया। बस यह शंका मुझे मर्माहत किये देती है। इससे आप मुझे वह युक्ति बतलाइये कि जिससे मुझको समता प्राप्त होवे। माण्डव्य ऋषि बोले हे राजन् ! यह शंका तो थोड़े ही में निवृत्त हो जाती है, अपने ही वश की बात है, जब चाहिये निवृत्त कर लिया कीजिये। देखिये समस्त उपाधियाँ मनमें उठती हैं। मन बड़ा तुच्छ है। विचार करने से निवृत्त होता है। जब यह निवृत्त हो पाता है तब समस्त ताप आप ही आप नष्ट होजाते हैं। किन्तु इस तुच्छ मन की मनन शक्ति बड़ी प्रबल है, कहाँ का कहाँ उठाकर फेंक देती है। कभी स्थिर नहीं होने देती। सो इसके लिये विचार शक्ति उत्पन्न करो। विचार-शक्ति से मन का वैसा मनन भाव नष्ट हो जायगा और तुम्हारे लिये सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। विचार यह है कि मैं कौन हूँ, इन्द्रियाँ कौन हैं, यह जगत क्या है, जन्म मरण किसको कहते हैं–ऐसा विचार करते हुए जब तुम अपने स्वभाव में स्थित होगे तब तुमको हर्ष, शोक, क्रोध और राग-द्वेष चलायमान न कर